

विराट आरती

(राग केदार)

हरिजू की आरती बनी !

अति विचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी ।
कच्छप अध आसन अनूप अति डाँड़ी सहसफनी ॥
मही सराव सप्तसागर घृत बाती सैल घनी ।
रवि ससि ज्योति जगत परिपूरन हरति तिमिर रजनी ॥
उडत फूल उडुगन नभ अंतर अंजन घटा घनी ।
नारदादि सनकादि प्रजापति सुर नर असुर अनी ॥
काल कर्म गुन ओर अंत नहिं प्रभु इच्छा रचनी ।
यह प्रताप दीपक सुनिरन्तर लोक सकल भजनी ॥
जाके उदित नचत नाना विधि गति अपनी अपनी ।
'सूरदास' सब प्र[illegible] में अति विचित्र सजनी ॥

प्रभु की ऐसी विचित्र [illegible] रचना है जिस का मन वाणी से परिमाण नहीं किया जा सकता। उस की ऐसी आरती से पूजा की जा सकती है, जिस आरती के स्वरूप का निचला आधार कच्छप है, उस पर सहस्र फणसहित विराजमान शेषनाग ऊपर की डाड़ी है, उनके ऊपर स्थित पृथ्वी ही आरती की कटोरी है, उस में सप्तसमुद्ररूप घृत भरा हुआ है। पृथ्वी के विशाल पर्वत ही इस आरती की बत्ती है, और चन्द्रसूर्यरूप ज्योति इस में जलती हुई 'महदादि सात परकोटों से आवृत ब्रह्माण्डकटाहरूप' प्रभुमन्दिर में उजाला कर रही है। आकाश के तारापुञ्ज ही इस आरती पर पुष्पाञ्जलिरूप से अर्पित हैं, काली कादम्बिनी (बादल) ही इसका धूआँ है। नारद, सनकादि, प्रजापति, सुर असुर आदि ही इस अवसर के स्तुतिपाठक हैं। काल, कर्म, गुणों द्वारा जिस प्रभु का अन्त नहीं, उस की इच्छा से रचे गये इस प्रतापी दीपक से निरन्तर लोगों को प्रभु की आरती उतारनी चाहिए। इस आरती के उदय से ही सब चराचर अपनी अपनी ताल पर नाच रहे हैं। श्री कृष्णचन्द्र के आजन्मसखा श्री उद्धव के अवतार स्वामी सूरदासजी कहते हैं कि नित्य के ध्यान में इस आरती को सँजोकर, इस से उस 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' अखिल ब्रह्माण्ड-नायक श्री हरि की अर्चा करनी चाहिए।

[प्रणत—सं० चिरञ्जीवलाल]

अमोघ महामन्त्र हैं, वे अमानिशा की विद्युत् हैं, वे ब्रह्माण्डभाल के तिलक हैं, वे ईश्वरीय दूत हैं। विश्व में ऐसे महापुरुषों का अवतरण और संचरण आनन्द और शान्ति की विमल मन्दाकिनी बहाने के लिए है। ऐसे पुरुष जिधर चलते हैं, उधर ही चन्दनवाही मलयानिल बहता है, उधर ही दीपावली है, उधर ही श्री-सम्पत्ति हाथ जोड़े खड़ी रहती है, उधर ही सौन्दर्य और सौकुमार्य की नवल धवल ज्योत्स्ना थिरकती है। इनकी प्रत्येक गति लोककल्याण के लिए है, ये ही जगदुद्धरण और साधुसंरक्षण करते हैं, इन्हीं का उद्देश्य कलियुग को सत्ययुग की ओर ले जाना है।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि, जिस भगवद्गीता के ज्ञान पर सारा संसार मुग्ध है, जिसके अमृतमय उपदेश पर बड़े बड़े ऋषि-महर्षि आनन्दसागर में डूबने लगते हैं और जिसके कर्मयोग पर संसार के चोटी के राजनीतिवेत्ता लट्टू हैं, वह गीता भी उपनिषद् ही कही गयी है। इसलिए गीता के प्रत्येक अध्यायान्त में "गीतासूपनिषत्सु" लिखा भी रहता है।

मुख्य बात यह समझिए कि, चाहे जिस [illegible] से देखिए, उपनिषद् वह प्रबल प्रतापी सुदर्शन चक्र है, जिससे समस्त विश्व जीता [illegible] सकता है और उपनिषद् वह अमर महाध्वनि है, जिससे क्षुद्र मानव ब्रह्म में विलीन होकर "सच्चिदानन्द" बन सकता है।

इन्हीं में से परम पावन आठ उपनिषदों का अनुवाद, विशद हिन्दीभाष्य और विस्तृत विवरण के साथ काशीस्थ गीताधर्म के संचालकों द्वारा पाठकों के हाथों में देते हुए देख हमको परम प्रसन्नता हो रही है। इत्यलम्।



उपदेश दिया है। दूसरे अध्याय में महाप्राण अर्थात् परब्रह्म का और पिता पुत्र के सस्नेह सम्बन्ध का विवरण है। तीसरे में इन्द्र ने काशीराज दिवोदास को प्राण और प्रज्ञा का उपदेश दिया है। चौथे में काशीराज अजातशत्रु ने बालाकि नाम के ब्राह्मण को परब्रह्म की शिक्षा दी है।

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक में पाँच भाग या आरण्यक हैं और सब को प्रसिद्ध वेदज्ञ सत्यव्रत सामश्रमीजी ने सायणभाष्य के साथ प्रकाशित किया है। इनमें द्वितीय आरण्यक अर्थात् स्वतन्त्र द्वितीय भाग के चौथे से छठे अध्याय को "ऐतरेय उपनिषद्" कहा जाता है। इसके प्रथम अध्याय में संसार की सृष्टि, दूसरे में जीवों के जन्म और तीसरे में परब्रह्म की समीक्षा है।

सामवेद की कौथुमी शाखा का ब्राह्मण चालीस भागों में परिपूर्ण हुआ है। इसके पचीस भाग को पञ्चविंश वा ताण्ड्य ब्राह्मण, छब्बीसवें से तीसवें भाग को षड्विंश ब्राह्मण, इकतीसवें से बत्तीसवें भाग को मन्त्रब्राह्मण और तेतीसवें से चालीसवें भाग को "छान्दोग्योपनिषद्" कहा जाता है। सत्यव्रत सामश्रमी, ए० सी० वेदान्तवागीश, के० क्रेम, एच० एफ० एलसिंग आदि ने इन ब्राह्मणग्रन्थों को अत्यधिक व्यय करके सम्पादित और प्रकाशित किया है।

छान्दोग्योपनिषद् [illegible] विशाल ग्रन्थ है। इसके पहले और दूसरे भाग [illegible] प्रपाठक में ओंकार, उद्गीथ और साम की आलोचना है। तीसरे में परब्रह्म की विवृत्ति है। इसी भाग में देवकीनन्दन श्री कृष्ण की भी कथा है। श्री कृष्ण घोर आङ्गिरस से धर्मकथा सुनकर भूख प्यास भूल गये थे। चौथे में सत्यकाम जाबाल की कथा है। सत्यकाम ने बाल्यकाल की स्वाभाविक कार्यपरम्परा को ही देखकर परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया था। पाँचवें में [illegible] है—श्वेतकेतु आरुणेय नाम के शास्त्रज्ञाता ब्राह्मण ने प्रवाहण जैबलि और अश्वपति कैकेय राजाओं से परमात्मा का उपदेश पाया था। इन्हीं श्वेतकेतु ने अपने पिता उद्दालक आरुणि से परब्रह्म का ज्ञान पाया था यह बात भी छठे भाग में है। सातवें में उल्लेख है कि सनत्कुमार से नारदजी ने नाम, वाक्य, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा, प्राण और परमात्मा के सम्बन्ध में उपदेश प्राप्त किया था। आठवें भाग या प्रपाठक में परब्रह्म और प्रजापति के सम्बन्ध में अनेकानेक जटिल और निगूढ़ आलोचनाएँ हैं।

सामवेद की ही तलवकारशाखा की "केनोपनिषद्" है। यह इस शाखा का

प्राक्कथन

[ले०—सम्पादकाचार्य श्री रामगोविन्द शास्त्री, त्रिवेदी]

वेद के जिस भाग में मन्त्रों का अर्थनिर्णय किया गया है, जिस में याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिये गये हैं अथवा आलोचनाएँ की गयी हैं तथा नाना विषयों के आख्यान उपाख्यान कहे गये हैं, उस का नाम ब्राह्मणभाग या ब्राह्मणग्रन्थ है। तपोधन और त्यागमूर्ति ब्राह्मणों ने इस भाग का संकलन, संस्मरण और सृजन किया है, इसी लिए इस का नाम ब्राह्मणभाग पड़ा। इस भाग के ग्रन्थों का संक्षिप्त नाम 'ब्राह्मण' भी है।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं, एक शाङ्खायन या कौषीतकी तथा दूसरा ऐतरेय। जिन ऋषि ने, जिन ऋषि के वंश ने या जिन के शिष्यों ने जिस ब्राह्मणग्रन्थ का उपदेश दिया है, उन्हीं के नाम पर उस ग्रन्थ का प्रायः नामकरण भी हुआ है। इन ब्राह्मणों के जो अंश अरण्य या विपिन में पठित और उपदिष्ट हैं, उन का नाम 'आरण्यक' है। इन आरण्यकों के भी जो भाग या खण्ड गहन गम्भीर और सूक्ष्म मनन चिन्तन से परिपूर्ण हैं, उन का नाम 'उपनिषद्' है। उपनिषदों में परमात्मा के सम्बन्ध में जो निगूढ आलोचनाएँ हैं, वे संसार की किसी भी प्राचीन जाति के साहित्य में नहीं दिखाई देतीं।

यों तो जिन उपनिषदों का आरण्यकों से नाममात्र का, नगण्य सम्बन्ध है, उन की संख्या दो सौ के करीब है; परन्तु जिन द्वादश उपनिषदों पर भगवान् शङ्कराचार्य का भाष्य है, उन्हीं के सम्बन्ध में यहाँ परिचयात्मक कुछ शब्द लिखे जा रहे हैं। श्री शङ्कराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र के शारीरक भाष्य में इन बारह उपनिषदों को वेद कहकर बार बार उल्लेख किया है।

ऋग्वेद का जो कौषीतकी वा शाङ्खायन आरण्यक इस समय उपलब्ध है और जिसे ए० बी० कीथ ने अंग्रेजी में भी अनूदित और सम्पादित कर प्रकाशित किया है, उस में १५ अध्याय पाये जाते हैं। इसी आरण्यक के तीसरे से छठे अध्याय का नाम 'कौषीतकी उपनिषद्' है। इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में चित्र गार्ग्यायणि नाम के क्षत्रिय राजा ने उद्दालक आरुणि नाम के विद्वान् ब्राह्मण को



सत्यदर्शन की आकाङ्क्षा (ईश० मन्त्र १५)

સત્યદર્શનની આકાંક્ષા (ઈશ૦ મન્ત્ર ૧૫)



ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

ईशावास्योपनिषद्

विद्याविनोद भाष्य सहित

ग्रन्थारम्भ में शान्तिपाठ किया जाता है, यथा—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अन्वय-व्याख्याः—अदः पूर्णम्, इदं पूर्णम्, पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते, पूर्णस्य पूर्णम् [पूर्णत्त्वम्] आदाय पूर्णम् एव अवशिष्यते ।

भावार्थ—सत्यज्ञानात्मक कारणरूप ब्रह्म पूर्ण है—अनन्त है। आकाश-कालात्मकादि कार्यरूप यह जगत् भी पूर्ण है—अनन्त है। पूर्ण ब्रह्म से यह पूर्ण

१—उप=पश्चात्, अन्ते इति यावत्, निषीदति=तिष्ठति=निवसति, इत्युपनिषद् । अर्थात्—वैदिक ग्रन्थों का परिशिष्ट रूप जो अन्तिम अंश है उसे उपनिषद् कहते हैं। और वेदों का अन्तिम निचोड़ होने के कारण यह भाग वेदान्त भी कहाता है। यह उपनिषद् काण्व संहिता (अन्य भी) नामक यजुर्वेद का अन्तिम ४०वाँ अध्याय है, इस से भी यह वेदान्त है।

२—आदाय=गृहीत्वा, कार्यकारणरूपयोर्द्वयोरनन्तयोः कार्यरूपमेकमपसार्य, इत्यर्थः, मायामयत्वेन शून्यतां नीत्वा, यज्जगतः स्वप्नवन्मायामयत्वं सैवास्य शून्यता। अर्थात्—जैसे रज्जू के विवर्त सर्प में (रस्सी के साँप में) रस्सी की लम्बाई प्रतीत होती है, वैसे ही ब्रह्म के विवर्त आकाशादिकों में ब्रह्म की अनन्तता अनुगत है। यहाँ रस्सी की लम्बाई सत्य है, सर्प की लम्बाई शून्य है। इसी तरह ब्रह्म का आनन्त्य तो सत्य है, और आकाशादिक की अनन्तता शून्य है। इस तरह जगत् की पूर्णता परब्रह्म में विद्यमान है।

जगत् उत्पन्न हुआ है—आविर्भूत हुआ है। और पूर्ण जगत् की पूर्णता अपने में लीन करके पूर्ण [ब्रह्म] ही बाकी रह जाता है।

विद्याविनोदभाष्य—संसार में जितने इन्द्रियगोचर और इन्द्रियाविषय पदार्थ हैं वे सब ब्रह्म द्वारा परिपूर्ण हैं। यह अखिल विश्व परिपूर्ण ब्रह्म से ही अभिव्यक्त हुआ है। उस पूर्णस्वरूप ब्रह्म की पूर्णता जगत् में व्याप्त होने पर भी उसकी पूर्णता की क्षति नहीं होती। भाव यह है कि—पूर्ण ब्रह्म [कारणब्रह्म] से पूर्ण जगत् [कार्यब्रह्म] प्रकट हुआ, फिर भी उस मूल पूर्ण में कोई कमी नहीं आती। जैसे—गङ्गा-प्रवाह से हजारों घड़े जल निकल जाने पर भी उसमें कमी नहीं प्रतीत होती। पूरा कभी घटा नहीं करता। ऐसे पूर्ण की उपासना करनेवाले की सभी आवश्यकतायें परिपूर्ण हो सकती हैं। लोक में राजा अधिक शक्तिशाली समझा जाता है, पर वह अपने अनुयायियों की सभी जरूरतें पूरी नहीं कर सकता। इसी तरह सिद्ध-पितर-यक्ष और देवादि कोई भी किसी की पूर्ति करने में समर्थ नहीं हैं। बस एक वही अद्वय-अपरिमेय-परिपूर्ण तत्त्व है जिसकी उपासना करनेवाला सब कुछ पा जाता है।

यहाँ 'शान्तिः' यह शब्द तीन बार प्रयुक्त हुआ है, इस से मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि—वह त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्तिरूप परम पुरुषार्थ के साधन का उद्योग करे।*

विशेष—यहाँ 'ॐ' यह ब्रह्म का वाचक—सत्यार्थ का व्यञ्जक जो शब्द है, इस का सर्वप्रथम प्रयोग करके यह बताया गया है कि—प्रस्तुत—निगूढ तत्त्व के अति दुरवगाह होने के कारण गम्भीरता के साथ इस का अनुशीलन करना चाहिये। यह ब्रह्मविद्या परमादरणीया है, यह भी इस से सूचित किया गया है। 'अवतीति ओम्' इस व्युत्पत्ति से 'ॐकार' को रक्षक बताया गया है और यह माङ्गलिक[1] भी है। तीन बार 'शान्ति' शब्द की आवृत्ति के विषय में विचारशील कोई विद्वान कहते हैं कि—'वैयक्तिक—शान्ति' 'सामाजिक—शान्ति' और 'सांसारिक—शान्ति' की प्रार्थना करना शान्तित्रिक का अभिप्राय है।

अथवा 'कश्चिद्दुःखभागी न भवतु[2]' इस शुभ-सङ्कल्प के साथ जिज्ञासु यह

---

* आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकञ्च, आधिदैविकम् एतानि दुःखानि,
तेषामत्यन्तनिवृत्तौ मुक्तिः सिद्ध्यति, अयमेव परमपुरुषार्थः।

१—ओङ्कारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

२—सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥

प्रार्थना करता है कि—विधिनिर्म्मित सृष्टि शान्त वातावरण में विकसित हो, विष्णु द्वारा प्रतिपालित जगत् अपने सभी व्यवहार शान्तिपूर्वक सम्पादन कर सके, और रुद्र का किया हुआ संहार-कार्य सभी प्राणी शान्ति के साथ स्वीकार करें। यह भी भाव है कि—प्रत्येक जीव-जात का भूत[1], वर्तमान और भविष्य शान्ति के सहित व्यतीत हो। इत्यादि अनेक अभिप्राय इस शान्तित्रिक के महात्माओं ने बताये हैं, यहाँ उन का दिग्दर्शनमात्र किया गया है।

हरिः ॐ—पहले आत्मज्ञान में समर्थ अधिकारी को लक्ष्य करके श्रुति उपदेश देती है कि—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

अन्वय-व्याख्याः—जगत्याम् (पृथिव्याम्), यत्किञ्च (यत्किञ्चित्), जगत् (नश्वरं स्थावरजङ्गमात्मकम्), इदम् सर्वम्, ईशा (परमेश्वरेण), वास्यम् (सत्ताचैतन्याभ्यामाच्छादनीयम्), तेन (हेतुना), त्यक्तेन (त्यागेन), भुञ्जीथाः (आत्मानं प्रतिपालय), कस्य स्वित् (कस्य चित्), धनम्, मा गृधः (मा काङ्क्षीः)।

भावार्थ—विश्व में जो भी कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक पदार्थ हैं वे सब जगन्नियामक—सृष्टि-स्थिति-लय-करणसमर्थ—ईश्वर से आच्छादन करने योग्य हैं, याने सब ही नाम-रूपकर्म्माख्य-विकारजात वस्तुओं पर ईश्वरशक्ति का अधिकार है। अर्थात्—एक परमेश्वर ही सत्य है, सुवर्ण में कटक-कुण्डलादिकों की तरह उसमें जगत् कल्पित है। इस कारण एषणात्रय त्यागपूर्वक तथा वासनात्याग पुरःसर अपना निर्वाह करो। किसी के धनग्रहण करने की अभिलाषा मत करो। अथवा धन है किस का? इस पर विचार करने से विदित होगा कि—धन सम्पूर्ण जनता का है, व्यक्ति विशेष का नहीं, अतः उस का लोभ त्याग देना चाहिए। व्यवहारदृष्टि में जब कि—सब कुछ आत्मा का ही है, और जड़ पदार्थ चेतन के अधीन रहता है,

१—भूतकाल के साथ भी शान्ति का सम्बन्ध रहना अभीष्ट है, बहुत से लोग अपने बीते हुए समय का स्मरण करके वर्तमान को कटु बना लेते हैं, जिस का भविष्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। अन का भूतकाल भी शान्त रहे, यह अभिप्राय है।

अतः यह धन पुत्र कलत्रादि पदार्थ आत्मा के ही हुए, तब तो अप्राप्त विषय में आकाङ्क्षा करनी व्यर्थ है। और वास्तव में 'आत्मैव सर्वम्' जब यह बात है तो कोई आकाङ्क्षा का विषय ही नहीं रह जाता'। [इस मन्त्र में 'स्वित्' इस शब्द को विद्वानों ने अनर्थक निपात कहा है। पर यह शब्द आक्षेपार्थक है। भला धन किस का है ? धन तो किसी का भी नहीं है जो उस की इच्छा की जाय, अतः आकाङ्क्षा न करो। यह सब आत्मा का ही है, इस प्रकार ईश्वरभावना से यह सभी परित्यक्त हो जाता है] ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—एक और अद्वय आत्मा चराचर में व्याप्त है, सारा संसार उसी में भास रहा है और उसी के आश्रित है। जैसे मकड़ी का जाला मकड़ी से दूसरी वस्तु नहीं है, उसी प्रकार, कारणब्रह्म परमात्मा और कार्यब्रह्म जगत् एक ही है। कारण कार्य को व्याप्त करके रहता है, देखा जाता है कि—मृत्तिका घट-शरावादि का कारण है पर घड़े आदिक से मिट्टी और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। क्योंकि—मृत्तिका ही अवस्थान्तर में शरावादि नाम से प्रसिद्ध है[३]।

सर्वाच्छादक=सर्वव्यापक परमात्मा की प्राप्ति का साधन आत्मज्ञान है, विना विषयवैराग्य के याने विना विषयवासना त्यागे सर्वत्र आत्मभावना हो नहीं सकती। विषयी तो, याने सांसारिक भोगों को ही सब कुछ समझनेवाले लोग तो उलटे आत्मज्ञान से विमुख हो जाते हैं। उसी को समझाने के लिए उपनिषद् की प्रवृत्ति है कि—त्याग से काल यापन करो, किसी का धन न चाहो। कामिनी पुत्रादिकों में धन ही प्रधान है, या यों कहो कि—धन में सभी विषय आ जाते हैं, अतः अपने

१—"लोभ का आश्रय लेकर छल से या बल से किसी के धन की आकाङ्क्षा न करो" इस कथन से वासना के त्याग का विधान किया गया है, कर्मत्याग का नहीं। क्योंकि-कर्मपराङ्मुख होना तो त्याग का दूषण है।

२—'धन' भोगसाधन-यावद् विषयों का उपलक्षण है।

३—यह समझना चाहिये कि—ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य है। वह जगत् में मृत्तिका की तरह व्यापक भाव से स्थित है। किन्तु ऐसा होने पर भी यह जगत्; मृत्तिका के विकार घटादिकों की तरह ब्रह्म का विकार या परिणाम नहीं है, प्रतिभास मात्र है। जैसे अल्पान्धकार में रस्सी को देखकर सर्पभ्रम होता है, प्रकाश पाकर वह भ्रान्ति जाती रहती है, इसी तरह अज्ञान से ब्रह्म में जगत् का भ्रम हो रहा है, किन्तु ब्रह्मज्ञान होने पर उस की निवृत्ति हो जाती है।

तथा पराये किसी के भी धन ग्रहण करने का लोभ मत करो। धन अपना नहीं है, वह राष्ट्र की वस्तु है, वह सब की चीज है, कोई भी उसका व्यवस्थापक हो सकता है, अधिपति नहीं। मालिक तो प्रभु है। उसे परोपकार में व्यय करके जो बचे उस से अपना काम चलाना चाहिये। विषयाकारा बहिःप्रवृत्ति के त्याग किये बिना जीव अन्तर्मुख नहीं हो सकता, इसी से धनादि विषयत्याग का उपदेश दिया गया है।

विशेष—यह मन्त्र "आत्मा सर्वत्र व्याप्त है" इस "विज्ञान-पक्ष" का बोधन करता है। "त्याग करके जीवन यापन करो" इस "समाज-पक्ष" को सूचित करता है। और "किसी के धन पर स्व-स्वत्त्व मत स्थापित करो" इस "धर्म-पक्ष" का कथन करता है ॥ १ ॥

पूर्व मन्त्र में जो त्याग कहा गया है, उस का अभिप्राय वासनात्याग से है, कर्मत्याग से नहीं, प्रकृत मन्त्र में इसी को स्पष्ट करते हैं। अथवा—आत्मज्ञान में जो असमर्थ हैं, उन के प्रति श्रुति भगवती कहती है कि—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

अन्वय-व्याख्याः—कर्म्माणि (अग्निहोत्रादीनि), कुर्व्वन् (सम्पादयन्), एव (हि), शतं समाः (दीर्घकालम्), इह (अस्मिल्लोके), जिजीविषेत् (जीवितुम् इच्छेत्), एवम् (जिजीविषति सति), त्वयि नरे (मनुष्यत्वाऽभिमानिनि), इतः (एतस्माद्वर्त्तमानप्रकारात्), अन्यथा (प्रकारान्तरम्), न अस्ति, (न विद्यते), कर्म न लिप्यते (त्वं कर्म्मणा न लिप्स्यसे) ॥ २ ॥

भावार्थ—जो लोग आत्मा के वास्तविक तत्त्व ग्रहण करने में असमर्थ हैं, उन को शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि नित्यकर्म्म करते हुए दीर्घकाल तक जीवित रहना चाहिये[1]। (इस मन्त्र में 'शतं समाः' का यावज्जीवन या दीर्घजीवन अर्थ है। वेद

१—यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। (गी० १८-५) नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ (गी० ३-८)। स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥ (गी० १८-४५) यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (गी० १८-५)। कर्म अन्तरङ्ग हैं, जीवन बहिरङ्ग है। कर्तव्य पालन करते हुए यदि*

में 'शतायुर्वै पुरुषः' आदिक जो भी वचन मिलते हैं उन का यही अभिप्राय है)। इस के अतिरिक्त केवल मनुष्यत्वाऽभिमानयुक्त-आत्मज्ञानरहित तुम्हारे लिए और कोई दूसरा उपाय नहीं है, जिस से तुम को कर्म लिप्त न कर सकें।

कर्म, अकर्म और विकर्म, कर्म के इन तीन भेदों में यहाँ प्रथम विवक्षित है। सांसारिक लोग तो कर्म करें हीं, किन्तु जीवन्मुक्तों को भी 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इस न्याय से लोकोपकार के लिए कर्मों का आदर करना चाहिए। कहा है—'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि। (गी० ३।२२)। 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इस शास्त्र से और लोकव्यवहार से भी देखा जाता है कि—कर्म तो सभी कर रहे हैं, निकम्मा है कौन? और सदा जीना भी कौन नहीं चाहता? अतः कर्म करने और सौ वर्ष तक (परमायु पर्यन्त) जीवित रहने का उपदेश देनेवाला यह मन्त्र शास्त्रीय यज्ञादि कर्म करने और सदाचारयुक्त जीवन व्यतीत करने की आज्ञा देता है। वह कहता है कि—सदाचारी बनकर पूर्ण आयुष्य भोगो और बराबर विहित कर्म्मों में लगे रहो। कर्मयोगी के सामने कुछ भी कठिन तथा अप्राप्य नहीं रह जाता। शुभ कर्म करने में बड़े लाभ हैं। एक यज्ञ-कर्म को ही ले लीजिये—इस में देवकोटिरूप में प्रभु की उच्च शक्ति तथा बृहत्तर ऐश्वर्य्य की स्मृति होती है। ऋषियों एवं पितरों के प्रति कर्तव्यपालन, वर्तमानकाल के विद्वानों का सत्कार तथा स्व-समान अनेक व्यक्तियों के सत्सङ्ग का लाभ होता है और दान-सम्मान रूप में अनेक दीन-दुःखितों एवं शिल्पी प्रभृतियों को सहायता मिल जाती है। इस से जो अपूर्व (एक तरह का खास पुण्यफल) उत्पन्न होता है उस का प्रतिपादन महर्षियों ने मीमांसादि शास्त्रों में किया ही है।

वि० वि० भाष्य—वासनादोष विवर्जित, निर्विकल्प-समाधि-सम्पन्न, तत्त्ववेत्ता के लिए पहले मन्त्र में सर्वोच्च अधिकार का वर्णन किया गया है। इस मन्त्र में सकाम तथा पुण्यवान् व्यक्ति के लिए दूसरे अधिकार का वर्णन है। विषय-वासना रहते हुए पापप्रवृत्ति को छोड़कर यदि विहित कर्म अर्थात्-साधक नियमित

*शरीर भी जाता रहे तो ठीक है। यहाँ यह समझने की बात है कि—केवल कर्म करने के लिए ही जीवित रहना यह बात नहीं है, बल्कि—उस के लिए काम पड़ने पर जीवनोत्सर्ग तक करने में नहीं चूकना चाहिये।

रूप से पुण्यकर्म में लगा रहे तो उस का अवश्य अभ्युदय (इहलौकिक महोन्नति) होगा, और नियमित अभ्युदय होने से निःश्रेयस (मुक्ति) होना भी निश्चित है।

मनुष्य को लोक-संग्रहार्थ कर्म करना आवश्यक है, उसे ऐसा करते हुए सौ वर्ष तक याने अधिक से अधिक जीवित रहना चाहिये। विषय-रत-मनुष्य की जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है। इस में तर्क या दलील उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं है। छः ऋतुओं तक एक किसी भी सदाचार या दुराचार को पालन करके देखा जा सकता है। जो भोगों में फँसकर अपने कर्मों का त्याग नहीं कर देता ऐसे मनुष्य को कर्मों से होनेवाला दोष नहीं लगता। जो मनुष्य ज्ञानाऽधिकारी है वह देवताओं की सर्वोच्च श्रेणी में परिगणित होता है। जो कर्माधिकार-सम्पन्न है वह नरश्रेणी में गिना जायगा, और जो ज्ञान-कर्म्मोभयाऽभावविशिष्ट है वह असुरों की पङ्क्ति में बैठने योग्य है॥ २॥ *

विशेष—इस मन्त्र में 'समाज-पक्ष' का बहुत ही उत्तम वर्णन किया गया है, यथा—'काम अच्छे करते रहो, अधिक से अधिक जीओ, डरो मत कि—तुम्हें किसी अशुभ कर्मफल में (शुभ में भी) बँधना पड़ेगा, फिर विहित कर्म्मानुष्ठानातिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं है।' इस उपदेश से समाज को कर्मवीर होने का प्रोत्साहन दिया गया है। वैदिक तथा लौकिक सभी सत्कर्म देश की समृद्धि की अभिवृद्धि के कारण हैं, और स्वस्थ एवं अन्ताराष्ट्रीय जगत् में स्वराष्ट्र का सम्मान बढाते हैं॥ २॥

सबल जीवन अव अज्ञानियों की निन्दा के लिए यह मन्त्र आरम्भ किया जाता है, यथा—

* वेदान्तशास्त्र निष्काम कर्म करने पर अधिक जोर देता है, क्योंकि—इस का फल व्यापक होता है। सकाम कर्मफल कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है। निष्काम कर्म का उदाहरण धर्मैकप्रवण सर्वात्मदर्शी, निष्कामकर्मकर्त्ता वे महापुरुष हैं जो आज तक जनता-जनार्दन की आस्तिक-भावना को सुरक्षित रखते चले आ रहे हैं। पर प्रकृत मन्त्र में सकाम सवासन-पुरुषों को विहित कर्म करने की आज्ञा दी गई है, क्योंकि—वे आत्मज्ञानाऽसमर्थ हैं। इस में देशोद्धारैकव्रत, निःस्वार्थ कर्मपरायण, पहले तथा आजकल के वे राष्ट्रीय नेता हैं जो सर्वसाधारण के हितसाधन करने में अपने सर्वस्व की बाजी लगा गये और लगाये हुए हैं। इस मन्त्र में अभ्युदय (लोकोन्नति) के प्रत्यक्ष अधिकार का प्रतिपादन किया गया है, और इस से पहले में निःश्रेयस का साक्षात् अधिकार वर्णित है।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताᳬस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अन्वय-व्याख्याः—असुर्याः (असुरयोग्याः), (नाम प्रसिद्धाः), अन्धेन (अदर्शनात्मकेन), तमसा (अन्धकारेण), आवृताः (आच्छन्नाः), ते (ये) लोकाः (लोकस्थतत्तद्योनयः विद्यन्ते—इति शेषः), ये के च (ये केऽपि), आत्महनः (आत्मस्वरूपज्ञानहीनाः) जनाः, ते प्रेत्य (मृत्वा स्थूलदेहत्यागानन्तरम्), तान् (लोकान्) अभिगच्छन्ति (लभन्ते) ॥३॥

भावार्थ—* जो कोई मनुष्य आत्मघाती होते हैं, वे मरने के बाद घोर, अन्धकारवाले असुर्य[1] अर्थात्—निम्नतम योनियों में गमन करते हैं।

यद्यपि नित्य-व्यापक-आत्मा का घात सम्भव नहीं है, पर जो अपने शरीर को स्वयं नष्ट कर देता है, उस के प्रति लोक में आत्मघाती का व्यवहार किया जाता है। इसी तरह यहाँ पहले मन्त्र में उपदिष्ट जीवित रहने की इच्छा की अवज्ञा करके जो अजर-अमर आत्मा को जरा मरणादि धर्मवाला मानते हैं, वे यहाँ 'आत्महन[2]' कहे जाते हैं। अर्थात्—जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते वे ही प्रकृत में आत्मघाती हैं। अज्ञानी लोग अविद्या के वशीभूत होकर आत्मा के शुद्ध-बुद्ध आदि स्वरूप को न जानकर देह तथा इन्द्रिय प्रभृति के जन्म-मरणादि विविध धर्म

---

* पूर्वमन्त्रेण जिजीविषां विधायानेनाऽऽत्मघातं प्रत्यवायप्रदर्शनमुखेन निषेधयति। अर्थात्-पूर्वमन्त्र में जीने की इच्छा रखने का विधान किया गया है। इस मन्त्र में प्रत्यवाय दिखाते हुए आत्मघात का निषेध करते हैं। यद्यपि साक्षात् निषेध नहीं किया गया, किन्तु—'फलं यस्यानभिमतं कर्माऽपि तदनभिमतम्' (जिस का नतीजा अच्छा नहीं वह कर्म भी ठीक नहीं) इस न्याय से निषेध आ जाता है।

१—सुष्ठु कर्मणि रमन्ते इति सुराः, सर्वप्राणिहिते रताः, आत्मारामा विद्वांसः। तद्विपरीता असुराः कुकर्मरताः प्राणिपीडनशीलाः परघातकाः॥

२—जैसे किसी सच्चे आदमी को मिथ्या दोष लगा देना उस का अशस्त्रवध कहाता है, याने शुद्ध वस्तु में कलङ्क लगा देना ही उस का हनन है। उसी तरह आत्मा में पापित्व आदि जो अध्यास (आरोप) है, वह उस का घात (हिंसा) है। यहाँ परघाती असुरों को जैसा फल मिलता है वैसा ही दण्ड आत्मघाती के लिए भी कहा गया है। जो आत्मघात करने का साहस रखता है उस के लिए परघात करना क्या कठिन है?

आत्मा में आरोप करते हुए असंख्य दुःखों का अनुभव करते हैं। अविद्या के वशीभूत हो वे अज्ञ जन असुर्य याने वृक्षादि स्थावर तथा श्व-शूकरादि निम्नतम योनियों को प्राप्त होते हैं। सुतराम् आत्मज्ञान सम्पादन करने के लिए पूर्व मन्त्र-विधान अवश्य अनुष्ठेय हैं॥ ३॥

वि० वि० भाष्य—मुमुक्षु का अधिकार, पुण्यात्माधिकार और पापात्माधिकार ये तीन स्वाभाविक अधिकार हैं, प्रकृत में तीसरा अधिकार विवक्षित है। इन्द्रियवेग से संचालित होकर अविहित कर्म करने से जो दशा प्राप्त होती है वही इस मन्त्र में कही गई है। इन्द्रियसेवा के द्वारा जीव विषयाकार वृत्ति को धारण करके जितना अधिक विषयी बनता है, उतना ही वह जड़ता को प्राप्त हो जाता है। यही यहाँ 'आत्महन' शब्द का प्रयोजन है। जो इन्द्रियाराम को ही सब कुछ समझनेवाले पापपरायण होंगे उन की गति अवश्य ही अत्यन्त निकृष्ट—निम्नयोनि में होगी, अर्थात् पापभोग के लोकों में होगी, इस में कुछ भी सन्देह नहीं है।

संक्षेप में श्रुति भगवती की आज्ञा है कि—आत्मा को पहिचानो, पहले अपना आपा चीन्हो, फिर आत्मभावना को विश्व में फैला दो। जो असत्यभाषण आदि कुकृत्य करते हैं, वे आत्मा का घात करते हैं, क्योंकि—वह सत्स्वरूप है, उसे असत्कर्म अरुचिकर हैं। इन्द्रियपरवश मत बनो, अन्यथा संसारचक्र में बार-बार चकराते हुए, सब से नीची उन योनियों में जाना पड़ेगा जहाँ अनात्मज्ञ-असुर जाया करते हैं॥ ३॥

विशेष—दधीचि ऋषि की तरह परोपकारार्थ देह त्याग देना, शूर-वीरों का युद्धक्षेत्र में मर जाना, योगियों का स्वेच्छया तनुत्याग और पतिव्रता आदिकों का चिताऽधिरोहण प्रभृति व्यवहार आत्मघात की कोटि में नहीं आता। प्राचीन तथा आधुनिक परार्थदेहोत्सर्गकर्ता धर्मवीर एवं राजनैतिज्ञजन भी इस श्रेणी में नहीं आते। न वे ही इस में गिने जायँगे जो दूसरों की प्राणरक्षार्थ अपना रक्त दान कर देते हैं, और डूबते तथा जलते हुओं को बचाने में खुद डूब या जल मरते हैं। ऐसे लोग तो आत्माराम होते हैं। जो कुकर्मी हैं, स्वार्थी हैं, भोगी हैं और आयुक्षयकर कर्म करते हैं, ऐसे आत्मघाती जिस अधोगति को प्राप्त होते हैं, इसी का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है।

यहाँ उस 'समाज-पक्ष' का दिग्दर्शन कराया गया है जो अपने को सँभालता नहीं है। पहले दो मन्त्रों में आत्मोन्नति के मार्ग का अवलम्बन करना कहा गया है,

जिसने उक्त पद्धति त्याग दी है वह आत्महनन याने आत्मा की अवनति का कारण होता है। 'ऐसा समाज अनिष्ट है' यद्यपि यह वार्ता इस मन्त्र में कण्ठरवतः नहीं कही गई है, पर भावार्थतः यह आ जाती है। अपने को मिटा देना किसी को अभीष्ट नहीं है, न इस से किसी का लाभ है। अतः आत्मपूजक बनना ही श्रेयस्कर है ॥ ३ ॥

जिस आत्मा के न जानने से अज्ञानी लोग आवागमन (जन्म-मरण) के सांसारिक चक्र में घूमते रहते हैं, और उस के ज्ञाता मुक्त हो जाते हैं वह आत्मतत्त्व है क्या वस्तु ? इस आकाङ्क्षा की शान्ति के लिए कहते हैं कि—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

अन्वय-व्याख्याः—तत् (आत्मतत्त्वम्), अनेजत् (निश्चलम्, स्पन्दन-वर्जितम्), एकम् (अद्वैतम्), मनसः जवीयः (वेगवत्तरम्), देवाः (द्योतनाद्देवाः प्रकाशमयानि इन्द्रियाणि), पूर्वम् अर्षत् (प्रथममेव गतम्), एनत् (एतद् ब्रह्मतत्त्वम्) न, आप्नुवन् (प्राप्तवन्तः), तत् (ब्रह्मतत्त्वम्) तिष्ठत् (स्थिरमपि), धावतः (द्रुतं गच्छतः), अन्यान् (मनोवागादीन्), अत्येति (अतीत्य गच्छति), तस्मिन् (ब्रह्मणि सति, तदधिष्ठानेनेत्यर्थः) मातरिश्वा (वायुः सूत्रात्मा), अपः (वारिवर्षणादीनि कार्य्याणि), दधाति (विभजति इत्यर्थः) ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्म स्वयं एक और निश्चल है, अथच मन की अपेक्षा अधिक वेगवाला है। सर्वव्यापक होने से इन्द्रियाँ उसे प्राप्त नहीं कर सकतीं। वह स्वयं अविक्रिय रूप से स्थित है, किन्तु द्रुतगामी वायु-काल-मन आदि का उल्लङ्घन करके सदा आगे स्थित रहता है। कर्मफलविधाता हिरण्यगर्भ उस ब्रह्म की सत्ता से जीव को सब कर्मों का फल दिया करता है। अर्थात्—हिरण्यगर्भ ब्रह्म की सत्ता से सत्तावाला और क्रियावान् होकर प्राणियों की प्राणधारणक्रिया सम्पादन किया करता है। वही अग्नि का दहन तथा ज्वलन, सूर्य का विश्वप्रकाशन और मेघों का वारि-वर्षणादि कर्मसमूह पृथक्-पृथक् रूप से कराता है ॥ ४ ॥ *

* पहले मन्त्र में 'ईशा वास्यम्' ऐसा कहा है, पर वह 'ईश' कैसा है ? यह कुछ नहीं

वि० वि० भाष्य—आत्मा में क्रिया नहीं है, वह एक है, किन्तु मन से भी अधिक वेगवाला है। यहाँ 'वह क्रिया से रहित है, और वेग (क्रिया) वाला है' यह शङ्का नहीं करनी। क्योंकि—मन जिस-जिस पदार्थ का सङ्कल्प करता है, वह वहाँ-वहाँ जाता है पर आत्मा वहाँ पहले से ही पहुँचा रहता है। नेत्रादिकों

कहा। प्रकृत मन्त्र में उसी के गुणों का व्याख्यान किया जाता है—'अनेजत्'—आत्मतत्त्व हिलता-चलता नहीं है, कहाँ हिले-डोले ? क्योंकि—वह सर्वत्र व्यापक है। इसी से वह स्थावर-रूप जड़ पदार्थ से भिन्न है, जड़ तो गतिमान् होता है, क्योंकि-मायिक पदार्थ सदा एकरस रह ही नहीं सकते। 'एकम्'—वह आत्मा अखण्ड है (निरवयव है) इस कारण वह देह से व्यतिरिक्त है, क्योंकि—देह सावयव है। 'मनसो जवीयः'—आत्मा मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार-रूप अन्तःकरण से, जो सुख-दुःख भोक्ता है, उससे भी भिन्न है। जैसे अयःपिण्ड के पीटे जाने पर अग्नि को कोई आघात नहीं पहुँचता है, उसी तरह मन दुःखादिकों से अभिभूत (आक्रान्त) होता है, पर आत्मा नहीं। आत्मा मन से भी वेगवान् है, मन चञ्चल अवश्य है, मन जिस का सङ्कल्प करता है वहाँ जाता है, किन्तु आत्मा वहाँ पहले से ही मौजूद है। 'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्'—आत्मतत्त्व को 'देव' (इन्द्रियाँ) पा नहीं सकतीं, इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं, वे अन्तरात्मा का दर्शन कैसे कर सकती हैं ? यह भी है कि—आत्मा अत्यन्त निकट है, इस से इन्द्रियाँ तथा मन इसे देख नहीं सकते, जैसे आँखें सब कुछ देखती हैं, पर अपने में लगे अंजन (सुरमे) को और मन अपने परिमाण को नहीं ग्रहण कर सकते। 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'—काल, वायु आदि दौड़ते हुए दूसरे पदार्थों से भी पहले वहाँ वह आत्मा पहले ही विद्यमान है, जहाँ वे दौडकर पहुँचना चाहते हैं। व्यक्ति में इन्द्रियाँ दौड़-भाग मचा रही हैं, समाज में मनुष्य भागा-दौड़ी कर रहा है, विश्वअण्ड में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तक अहर्निश गर्दिश कर रहे हैं। वे या कोई भी चाहे कितना ही भागा-दौड़ी करे पर उस ब्रह्म से अधिक नहीं दौड़ सकते। ये जहाँ जाते हैं ब्रह्म पहले ही वहाँ पहुँचा रहता है। 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति'—प्राण आदिकों से भी आत्मा भिन्न है, क्योंकि—आत्मतत्त्वयुक्त देह में मातरिश्वा (प्राणवायु) हृदय-स्पन्दन, रस-रक्त-संचालन आदि कर्म करता है, इस से प्राणादि आत्मा की अपेक्षा रखते हैं, पर आत्मा निरपेक्ष है।

'प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति' यह शङ्कर भगवत्पाद का वचन है। ठीक ही है—मन आदि चिदाभास (अविद्यायां शुद्धचैतन्यस्याऽऽभासः) की सत्ता से ही सत्तावाले होते है। 'तस्मिन्नपो०' इस वाक्य को विद्वानों ने कई तरह लगाया है, पर भाव एक ही निकलता है॥

से भी वह वहाँ पहले ही स्थित है जहाँ वे जाना चाहते हैं। इन्द्रियों का स्वभाव बाहर ही बाहर दौड़ने का है, वे अन्तरात्मा को कैसे जान सकती हैं? आत्मा सुमेरु पर्वत की तरह निश्चल है, तो भी शीघ्र गमनशील वायु-मन आदि को उल्लङ्घन करके आगे जाता है और उस परमात्मा से प्रेरित हिरण्यगर्भरूप समष्टिवायु सब प्राणियों के कर्म को कराता है। इस संसार में जो जो व्यापार हो रहे हैं वे सब चेतन आत्मतत्त्व के आधार पर ही हो रहे हैं, बिना उसके कोई चेष्टा सिद्ध नहीं हो सकती।

यह सिद्ध है कि—प्रभु ही सर्व शक्तियों का आश्रय है, अतः उसी से अभीष्ट सामर्थ्य प्राप्त करनी चाहिये। जो अल्प हैं, जो खुद दूसरे की शक्ति से शक्तिशाली हैं, उनसे माँगनेवालों की सभी इच्छायें पूर्ण नहीं हो सकतीं, आश्रय ले तो पूरे का ले, शरणागत को समर्थ ही उबार सकता है। लोक में यह दृष्टान्त भी है कि—गहन वन में शिकार खेलने के लिए किसी राजा को अपने साथियों से बिछुड़कर रास्ता भूल जाने के कारण एक जंगली भिल्ल की झोंपड़ी में रात को विश्राम लेना पड़ा। प्रातःकाल जाते समय सत्कार से तुष्ट राजा ने अपना पता बताकर उस आरण्यक को अपने यहाँ आने को कहा। कुछ दिन बाद वह वनवासी राजा के यहाँ उस समय पहुँचा जब कि—वह पूजा-पाठानन्तर हाथ जोड़कर ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था। यह देख जंगली मनुष्य के 'तुम किस को हाथ जोड़ रहे थे? क्यों जोड़ रहे थे?' ऐसा पूछने पर राजा ने जवाब दिया कि—'मैं प्रभु को हाथ जोड़ रहा था और उस से आशीर्वाद तथा वरदान माँग रहा था कि—मेरी रक्षा करे, मेरे पास किसी वस्तु की कमी न रहे, याने वह मेरे योग-क्षेम की पूर्ति करे।' यह सुन वनमानुष बोला—'तब तो मैं भी उससे वह वस्तु माँग लूँगा जो सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न समझकर आप से याचना करना चाहता था।' ऐसा कहकर वह सरलस्वभाव वनवासी मनुष्य रोकने पर भी उसके वैभवपूर्ण महल से बाहर हो गया।

विशेष—इस मन्त्र में 'विज्ञान—पक्ष' का प्रतिपादन किया गया है। जिस के जानने से सब कुछ जाना जाता है उसी के गुण इस मन्त्र में दिखाये गये हैं। यहाँ 'ऋष् गतौ' धातु से 'अर्षत्' शब्द बना है, उस का अर्थ है गति-स्फूर्ति देनेवाला, याने संचालक, प्रयोजक तथा प्रेरक। इस श्रुति में 'देव' का अर्थ है 'इन्द्रियाँ'। 'दिवु धातु' के क्रीड़ा-विजिगीषा आदि बहुत अर्थ हैं। इसी को लेकर किसी विद्वान् का कथन है कि—देवों के 'व्यक्तिगत-देव' 'मानवसमाजस्थ-देव' और 'विश्वस्थित-देव' ये तीन क्षेत्र हैं। व्यक्ति में स्थित आँख-कान आदि देव (इन्द्रियाँ) बहिर्मुख होने से अन्तरात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाते। नृप, शूर, विद्वान, शिल्पी,

व्यापारी आदि समाज के देव भी अपने कामों में अहर्निश व्यग्र रहने के कारण परमात्मतत्त्व का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। और विश्व के देव सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा वायु आदि भी उसे नहीं जान सकते। स्वल्प बृहत् को ठीक नहीं जान पाता। मशक आकाश में कहाँ तक उड़ेगा? हाँ जो निःसङ्ग हैं—बाह्य व्यापारों से उपरत हैं, एवं अन्तर्मुख हैं, वे उसे जान सकते हैं।

यहाँ 'अपः' इस शब्द का 'कर्म' अर्थ है। (अप इति कर्मनाम, इति निघण्टुः)। बात यह है कि—अग्निहोत्रादि जितने भी श्रौतकर्म हैं, उन में सोमरस, घृत और दुग्ध की आवश्यकता होती है, वे उक्त सोमादिकोंके बिना निष्पन्न नहीं होते, इस सम्बन्ध से अप्शब्द का कर्म्मों में प्रयोग किया गया है। या यह अर्थ करना कि—प्राणियों के चेष्टारूप जो अपः याने कर्म हैं, अथवा—अग्नि, सूर्य आदिकों के जो ज्वलन, प्रवहन, प्रकाश तथा वृष्टिलक्षण अप् याने कर्म हैं, उन को उन-उन कर्म करनेवालों में पृथक् स्थापित करता है या धारण करता है, कौन? 'मातरिश्वा'। इस को ज्ञान–क्रिया–शक्तिमान् हिरण्यगर्भ भी कहते हैं—समष्टि-सूक्ष्म-शरीर-सहित चेतन को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। एवंभूत होकर वह ब्रह्म ही सब कुछ कर-करा रहा है ॥ ४ ॥

जो बात एक बार कही गई, मन्त्रों में उसे दुबारा प्रतिपादन करने की शैली देखने में आती है। 'कही हुई बात को दुबारा न कहा जाय' मन्त्रों में यह आलस्य अङ्गीकार नहीं किया जाता। यहाँ पुनरुक्ति के दोष की आशङ्का भी नहीं करनी, क्योंकि—श्रुति भगवती मुमुक्षुओं को दृढ-अभ्यासार्थ बार-बार एक ही विषय का उपदेश दिया करती है। क्योंकि—आत्मतत्त्व इतना गहन है कि—उसे पुनः पुनः कहने सुनने तथा मननादि करने पर भी अन्तर्मुख–समाधिनिष्ठ–योगी तक बड़ी कठिनता से हृदयङ्गम करने में समर्थ होते हैं, फिर दूसरों का तो ठिकाना ही क्या है? इसी से उक्तार्थ का फिर वर्णन करते हैं, यथा—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

अन्वय-व्याख्याः—तत् (आत्मतत्त्वम्), एजति (चलति), तत् न एजति (स्वतः नैव चलति च), तत् दूरे, तत् उ (अपि), अन्तिके (समीपे), तत् अस्य, सर्वस्य, अन्तः (मध्ये), तत् उ (अस्य सर्वस्य विश्वस्य), बाह्यतः (बहिरपि वर्तते—इति शेषः) ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मा वास्तव में एकरस है, पर उस में उपाधिभेद से जो विचित्रता आ गई है, उसे ही प्रकारान्तर से कहते हैं—आत्मा तो स्वभाव से ही क्रियाहीन (निश्चल) है, किन्तु उपाधि की क्रिया उस की क्रिया प्रतीत होने से वह चल प्रतीत होता है, इसी से कहा है कि—वह वाय्वादिरूप से चलता है। वह ईश्वररूप आत्मतत्त्व अविक्रिय होने से स्वतः नहीं चलता। वह अज्ञ लोगों से दूर है, क्योंकि—उन्हें वह ज्ञात नहीं है, अज्ञजन करोड़ों जन्मों में भी उसे जान नहीं सकते। किन्तु विद्वानों के वह अत्यन्त समीप भी है, क्योंकि—वे उसे प्रत्यग्रूप से (व्यापकत्वेन) जानते हैं। आत्मा इस दृश्याऽदृश्य चराचर सब जगत् के मध्य में स्थित है, और प्रियत्वाऽप्रियत्वादि प्रकार के प्रतीतिविषयक—नामरूपात्मक इस अखिल जगत् के बाहर भी निरतिशय सूक्ष्म होने से आकाशवत् व्यापक है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—यदि किसी को तत्त्वकथन (यथार्थवाद) करना आता हो तो उसे समझाने में आलस्य नहीं करना चाहिये, चाहे एक ही बात प्रकारान्तर से बार-बार ही क्यों न कहनी पड़े। यह उपदेश इस प्रकृत मन्त्र से मिलता है। क्योंकि—मन्त्रों में जामिता नहीं होती, अतः आत्मा के विषय में पहले मन्त्र में कहे हुए को विशेष प्रतिपादनार्थ फिर भी यहाँ कहते हैं, आत्मा वास्तव में निष्क्रिय होकर भी गमनादि व्यापार करता है, इस से यह बड़े आश्चर्य की वस्तु है। पर इस का अभिप्राय यह है कि—निरुपाधिक आत्मा का स्वरूप गमनादि से सर्वथा रहित है, किन्तु देहादि—उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा में गमनादि प्रतीत होते हैं, पर वे भ्रम सिद्ध हैं। यह भी आश्चर्य है कि—आत्मा दूर भी है और समीप भी है, अज्ञानियों को वह करोड़ों जन्मों में भी दूर ही रहेगा, किन्तु ज्ञानियों के वह अत्यन्त समीप है, क्योंकि-वह तो उन का स्व-स्वरूप ही है, और वह आत्मतत्त्व सर्व प्रपञ्च के भीतर-बाहिर परिपूर्ण है।

ऐसे अतुलशक्ति—भाण्डागार, सुलभ, सुगम आत्मदेवता की उपासना छोड़

१—उपाधि = भेदक धर्म। जैसे आकाश सर्वव्यापक है, किन्तु घट और गृह प्रभृति द्वारा परिच्छिन्न (सीमाबद्ध) हो वह घटाकाश, गृहाकाश से व्यवहृत होता है। घट तथा गृह उपाधियाँ उस अनन्त महाकाश को घटाकाश—मठाकाश रूप में पृथक् कर देती हैं। उसी प्रकार सर्वव्यापक आत्मा की देह—इन्द्रियाँ और बुद्धि प्रभृति उपाधि हैं, आत्मा स्वतः निष्क्रिय है, केवल उपाधि द्वारा सक्रिय हो रहा है।

२—जामिता—आलस्यम्।

कर जो यक्ष-भूतादि तुच्छ-स्वल्पसामर्थ्य जीवों की आराधना करते हैं उन्हें ऐसा न कर उसकी शरण जाना चाहिये, जिसकी प्राप्ति के लाभ से बढ़कर और कोई परम लाभ ब्रह्माण्ड में हो ही नहीं सकता। भक्त लोग राम, कृष्ण आदि व्यष्टि को आत्मदेवता की समष्टिरूप में देखते हैं, इसी से उन्हें प्रतिपरमाणु में रमारमण-राम ही रमा दिखाई देता है। इसी आधार पर तुलसी-स्मृति में 'सियाराममय सब जग जानी' कहा गया है, अन्यथा-कुत्ते या पत्ते को कोई सियाराम कैसे मान लेगा?॥५॥

विशेष—प्रथम मन्त्र में जो 'ईशावास्यम्' कहा है, उसी का इस मन्त्र में भी स्पष्ट करके उपदेश दिया गया है, तथा आश्चर्य का भी समन्वय किया गया है। मनुष्य का सर्वात्मभाव जितना-जितना बढता जायगा वह उतना ही उन्नतावस्था को प्राप्त होता रहेगा। जब कि—आत्मा सब के अन्दर है, तब अपने भीतर भी अवश्य होगा और अन्य मनुष्यों के मध्य में भी जरूर होगा, तब तो आत्मतत्त्वभावना का अभ्यास अपने से ही करना प्रारम्भ कर देना चाहिये। फिर उस भावना को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस धारणा के साथ अपने कुटुम्ब, अनन्तर अन्य अन्य मनुष्यों, पश्चात् प्रणिमात्र और बाद में अखिल विश्व में फैला दो। इस के अनन्तर उसे असीम में जा मिला दो। इस सोपानाऽधिरोहणोपासना-क्रम का जो फल होगा उसे सन्त-जन ही बता सकते हैं। हमारे जैसे ऐरे-गैरे के बस की यह बात नहीं है। इस मन्त्र में 'विज्ञान-पक्ष' का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है॥ ५॥

पहले जो आत्मघात का निषेध किया गया है, वह अज्ञानी जन का उद्देश्य लेकर किया गया है। प्रकृत मन्त्र में ज्ञानी पुरुष को लक्ष्य करके आत्महनन का निराकरण करते हैं, यथा—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

अन्वय-व्याख्याः—यः, तु[1], सर्वाणि, भूतानि, आत्मनि, एव[2], अनु-पश्यति[3], सर्वभूतेषु, च, आत्मानम् (अनुपश्यति) (सः) ततः (तस्मात् एव दर्शनात्) न, विजुगुप्सते (घृणां न करोति)॥ ६॥

१—तुशब्दः पक्षान्तरं निरूपयति, एवार्थको वा॥

२—एवकारो भूतानामात्मना सह भेदव्यावृत्त्यर्थः॥

३—गुरूपदेशोपदिष्टहितश्रुत्यनुकूलविचारेणावलोकयति॥

भावार्थ—पहले दो मन्त्रों में जो ईश के गुणों का वर्णन किया गया है, उस का केवल वाचारम्भणमात्रैक फल नहीं है। जैसे काव्य में शब्दाडम्बर या अर्थाडम्बर को पढ-समझकर क्षणिक आनन्द का अनुभव कर लिया, और बाद में उसे छोड़ दिया जाता है। इस तरह यहाँ आत्मतत्त्व का निरूपण केवल शाब्दिक बोध के लिए ही नहीं किया गया, उसे मनुष्य अपने आचरण में ले आवे, मन में बैठा ले, स्वभाव में दाखिल कर ले और कार्य में परिणत कर लेवे, इस लिए प्रतिपादन किया गया है। ऐसी स्थिति में मनुष्य में जो समबुद्धि उत्पन्न होती है उस का इस मन्त्र में प्रतिपादन किया गया है। अर्थात्—आत्मनिरूपण का यही फल है कि—मनुष्य समदर्शी हो जावे, यथा—

जो विद्वान् आ—ब्रह्म स्तम्बपर्यन्त प्राणिमात्र को आत्मस्वरूप परमेश्वर में ही साक्षात् जानता है—अवलोकन करता है वह सर्व भूतों में आत्मा को 'अहमेव सर्वभूतेष्ववस्थितः' याने मैं ही सब प्राणियों में स्थित हूँ ऐसा देखता है। अर्थात्—जैसे आकाश में सर्व भूत अवस्थित हैं और आकाश सब प्राणियों में (वस्तु मात्र में) अनुस्यूत (गुथा हुआ) है, ऐसे ही सब जीवात्मा परमात्मा में टिके हुए हैं और परमात्मा मणिकों में धागे की तरह सब में पोया हुआ है। अच्छा तो उक्त कथन से प्रकृत में (जो बात चल रही है उस के बारे में) क्या परिणाम निकला ? इसका उत्तर यह है कि—'ततो न विजुगुप्सते' याने जब मुमुक्षु को अभेद-ज्ञान हो गया तब वह क्यों किसी की निन्दा करने लगा ? क्योंकि—वह अपने से किसी को भिन्न तो देखता ही नहीं है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले जिस आत्मतत्त्व का निरूपण किया गया है, उस के यथार्थ ज्ञान का जो फल होता है, इस मन्त्र में उस का प्रतिपादन किया गया है। जो विवेकशील पुरुष ब्रह्मा से आदि लेकर चिऊँटी पर्यन्त सब भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है, तथा उन भूतों में आत्मा को अधिष्ठान-सत्ता-स्फूर्ति-प्रदातारूप से जानता है, ऐसा विवेकी पुरुष कभी किसी की निन्दा नहीं करता, अतएव वह किसी दुःख को भी नहीं प्राप्त होता।

निन्दा किसी की भी नहीं करनी चाहिए, परदोषप्रकटनव्यापार ही तो निन्दा है। इस से लोकसंग्रह का विघटन होता है, अपना अमूल्य समय बरबाद हो जाता है, स्व-पर को अशान्त होना पड़ता है, फिर 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' का प्रसङ्ग आ जाता है ॥ ६ ॥

विशेष—अभिप्राय यह है कि—अज्ञ-अनजान को तो विचार होता नहीं, वह तो सर्वत्र भेद ही देखेगा, इससे किसी के प्रति घृणा भी हो सकती है, वह पुष्ट होकर-बढकर—तीव्र क्रोध में परिणत हो जायगी, उससे आक्रान्त जन आत्मघात तथा पर-घात में प्रवृत्त हो जाता है। जितनी भी निन्दायें हैं वे विषमदर्शी के मन में फुरती हैं, समदर्शी; ऐसी कृषि के लिए अनुर्वर भूमि है, याने समदृष्टि के मन में निन्दा का भाव पैदा नहीं होता। इसी से वह सब तरह की जुगुप्सा—गर्हणाओं से रहित होने के कारण उदारदृष्टि हो जाता है—'वसुधैव कुटुम्बकम्'—हो जाता है। उस के लिए विश्व-प्रेम, जगद्बन्धु हो जाना स्वाभाविक बात है। सर्वत्र समदर्शन होने से उस की दोषदृष्टि जाती रहती है। वह यह समझ लेता है कि—'न किंचिदपि तत्रा-नभीष्टम्, सर्वं तत् सुकृतम्' यह जो ईश्वरप्रेरित—संसारचक्र घूम रहा है सो ठीक ही है। इस प्रकार की जो दृढ निश्चयात्मिका शान्ति उदय होती है उसी को 'विश्व-प्रेम' कहते हैं।

इस मन्त्र में जो सामाजिक-पक्ष, धार्मिक-पक्ष तथा वैज्ञानिक-पक्ष का वर्णन किया गया है, यदि मनुष्य उस पर ध्यान दे तो संसार के अधिकांश बखेड़े अपने आप ऐसे समाप्त हो जायँ जैसे कपूर खुद उड़ जाता है।

वस्तुमात्र में आत्मा और उसमें सब ही समा रहे हैं, यह सर्वोच्च विज्ञान है। भूतमात्र का जुगुप्सा-तिरस्कार नहीं करना, यह सामाजिक पुष्टि है। और उक्त उप-देशों को संशयरहित होकर प्रतिपालन करना, यह धर्म है॥ ६॥

केवल जुगुप्सा याने निन्दा से ही आत्मघात नहीं होता, किन्तु शोक मोहादिकों से भी ऐसा होता है। अतः ज्ञानारूढ दशा में जुगुप्साऽभाव का प्रतिपादन करके, अर्थात् मनुष्य जब ज्ञान प्राप्त करता है उस समय उसे निन्दा करने की भावना नहीं रहती; इस बात को कहकर, इस समय ज्ञानपरिपाकदशा में याने अच्छी तरह ज्ञान हो जाने पर शोक-मोहादि नहीं रहते इसका प्रतिपादन करते हैं कि—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

अन्वय-व्याख्याः—यस्मिन् (काले, यथोक्तात्मनि वा), सर्वाणि, भूतानि, आत्मा, एव, अभूत् (सम्पन्नो भवति), विजानतः (परमार्थ-विदः), एकत्वम् (आत्मतादात्म्यम्—सर्वत्र आत्मैकत्वञ्च), अनुपश्यतः (अनुभवतः मनुष्यस्य), तत्र (तस्मिन् काले आत्मनि वा, तस्याम्

अवस्थायां वा), कः मोहः, कः शोकः ? तत्र अविद्याजातयोः शोकमोहयोः असम्भवप्रदर्शनेन संसारनिवृत्तिरपि सूचिता भवति, इति निष्कर्षः ॥ ७ ॥

भावार्थ—सर्वत्र आत्मवद्भावविषयक जो वार्ता पहले कही गई है उसे ही फिर कहते हैं कि—जिस काल में या जिस ईश्वरस्वरूप परमात्मा में ज्ञानवान् पुरुष; ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सब चराचरात्मक भूतों को 'सर्वभूतात्माऽहमेव' इस बोध से अपनी ही आत्मा समझ ले, उस काल में या आत्मा में सब जगह एकात्म-ज्ञानवान् पुरुष को आत्मा को छिपा लेनेवाला मोह और विक्षेप करनेवाला शोक नहीं होता। क्योंकि-जब मूलाविद्या नष्ट हो गई तो फिर उस से उत्पन्न होनेवाले मोह-शोक बिलकुल, कतई रहेंगे ही नहीं।

वि० वि० भाष्य—जिस विद्वान् ने ज्ञान होने पर चराचर भूतों को अपनी आत्मा ही समझ लिया है, तथा जिस ने गुरु-शास्त्रोपदेश से आत्मा की एकता निश्चय कर ली है, उस विवेकी पुरुष को ज्ञानकाल में, या आत्मा में आवरणरूप मोह की तथा विक्षेपरूप शोक की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञानी के खाली शोक-मोह ही दूर नहीं होते, किन्तु उन का कारण मूलाऽविद्या भी नष्ट हो जाती है। इस से बीज नाश होने पर वे मोह-शोक पुनः अङ्कुरित ही नहीं होते। ब्रह्मज्ञान और मोह शोक; तेजस्तिमिरवत् एकाधिकरण में नहीं रह सकते यही विरोध की बात नहीं है, ज्ञानसद्भावदशा में समूल-मोह-शोक रहने ही नहीं पाते।

सारा संसार मोह-शोक के चक्कर में पड़ा दुःखी हो रहा है, वस्तुओं को इष्ट मानकर उनमें गुड़ में चिऊँटे की तरह ऐसा चिपट जाता है कि—अपना आपा तक भूल जाता है। संसारी जीव चाहता है कि—मेरी प्यारी चीजें नष्ट न हों, भ्रष्ट न हों, मुझ से दूर न हों और मुझे अप्राप्य न हों। पर माया के पदार्थों में सदा एक-रसता सम्भव ही नहीं है, वे या उनका कोई अंश सदा बदलता ही रहेगा, तथा वे बिगड़ती ही रहेंगी। ऐसे अवश्यंभावि-भावों के लिए मोह-शोक काहे का ?

अतः अपने लिए वस्तुओं का संग्रह कम से कम करो, जहाँ तक हो सके अपनी आवश्यकतायें घटाओ। प्रारब्धवशतः कभी पदार्थों का संग्रह करो तो उन्हें दूसरों के लिए करो। मोह में मत फँसो। जो इष्ट वस्तु नष्ट हो गई, या वह मिल न सकी, अथवा किसी दूसरे को मिल गई तो उस के लिए शोकाकुल मत होओ। उद्योग में उद्यत रहो, पर मोहशोक त्याग कर। मोह-शोक की आत्यन्तिकी निवृत्ति के उपाय का जो उपदेश इस मन्त्र में दिया गया है—इसे आचरण में लाने का यत्न करो ॥ ७ ॥

विशेष—जिस समय पर जिस आत्मा में सर्वभूतमात्र आत्मा के साथ एकाकार और अभिन्न प्रतीत हो जाते हैं, उस अवसर पर अद्वैतदर्शन-सम्पन्न आत्मज्ञानी के लिए शोक ही क्या है ? और मोह भी क्या है ? क्योंकि—मोह-शोकादि वृत्तियों से उसको कोई बाधा नहीं होती है। यहाँ पर मोह-शोक सभी तरह के चित्त-विकारों के उपलक्षण हैं, तात्पर्य यह हुआ कि—सर्वात्मद्रष्टा ज्ञानी को मोह-शोक का होना तो क्या, कोई भी चित्तविकार नहीं होने पाता, इन उपद्रवों की जड़ ही कट जाती है[1]। इसी से एकत्वदर्शी ज्ञानवान् को मोहनाम—काम, क्रोध, लोभादिकृत प्रमाद, और शोकनाम वित्त, पुत्र, कलत्रादिकों के नाश से उत्पन्न होनेवाला मानसिक ताप रह ही नहीं जाते। जब कि-ज्ञान से प्रपञ्च मिथ्या प्रतीत होने लगा, तो मोह-शोकादि भी विधिप्रपञ्च (सृष्टि) रूप होने के कारण अलीक ही मालूम होने लगते हैं। "प्रपञ्चः सत्यः" माने 'यह जगत् सच्चा है' ऐसा जाननेवाले के हृदय में वासना-जाल उत्पन्न होता है, उससे राग-द्वेषादि, फिर उनसे मोह-शोकादि पैदा हो जाते हैं। जब कि—ज्ञानी ने सब जगत् को आत्मस्वरूप समझकर उसे[2] मिथ्या समझ लिया तो उस का वासनाजाल स्वयं शान्त हो जाता है। तब तो राग-द्वेषकृत मोह-शोकादिकों का न होना सुतरां सिद्ध हो जाता है।

इस मन्त्र में दिये गये सर्वात्मदर्शन के उपदेश को आचरण में लानेवाला मनुष्य सर्वोच्च भूमिका का अधिकारी हो जाता है। पूर्व मन्त्रों में जिस आत्मा का प्रतिपादन किया गया है "उस आत्मा को सर्व भूतों में, तथा सर्व भूतों को उस आत्मा में" ओत-प्रोत-द्रष्टा, तथा "आत्मैकत्त्व की महिमा" के अनुभव करनेवाले ज्ञानयोगी की इस मन्त्र से "यह अखिल विश्व आत्मा ही है" या "आत्मशक्ति से निर्मित है" "शक्ति-शक्तिमान् में कोई भेद नहीं होता" इत्यादि भावनायें दृढ हो जाती हैं। इस मन्त्र में इसी विज्ञान-पक्ष का प्रतिपादन किया गया है ॥ ७ ॥

उपर्युक्त मन्त्रों से जिस आत्मा का वर्णन किया गया है, वह अपने स्वरूप से कैसे लक्षणोंवाला है, इस विषय को यह मन्त्र बोधन करता है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

१—अविद्या-अज्ञान-ही नष्ट हो जाता है।

२—प्रपञ्च को।

अन्वय-व्याख्याः—शुक्रम्[1] (शुद्धः—ज्योतिष्मान्, इत्यर्थः) अकायम् (अकायः—लिङ्गशरीरवर्जितः), अव्रणम्, (अव्रणः—छिद्रविशेषो न विद्यते यस्य सः), अस्नाविरम् (स्नावा-शिरास्तद्वर्जितः), [अव्रणमस्नाविरमिति विशेषणाभ्यां श्रुत्या स्थूलदेहस्य प्रतिषेधः कृतः] शुद्धम् (शुद्धः) अपापविद्धम् (अपापविद्धः-धर्म्माधर्मजनकपापादिशून्यः), कविः (सर्वदर्शी), मनीषी (मनसः प्रभुः सर्वज्ञः), परिभूः (नानारूपैः परितः समन्ताद्भवतीति परिभूः सर्वेषामुपरि वर्तमानः), स्वयम्भूः (निर्हेतुकः) सः (ईश्वरस्वरूपाऽभिन्न आत्मा) पर्यगात् (परितः समन्तात्सर्वं व्याप्तवान्), [स हि] याथातथ्यतः (यथाभूतकर्म्मफलसाधनतः) शाश्वतीभ्यः (निरन्तरेभ्यः) [नित्याभ्यः] समाभ्यः (संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यः), अर्थान् (कर्तव्यपदार्थान्), [चेतनाचेतनरूपपदार्थान्] व्यदधात् (यथानुरूपं विभज्य दत्तवान्) [विविधं कल्पितवानित्यर्थः] ॥ ८ ॥

भावार्थ—आत्मा दीप्तिमान्, अक्षत, कारण[2]-सूक्ष्म[3]-स्थूल[4] शरीर से रहित, निर्मल, धर्माधर्मवर्जित, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वोपरि वर्तमान और स्वयम्भू है। वह स्वयंप्रकाश परमात्मा समस्त वस्तुओं को व्याप्त करके विद्यमान है। तथा उसने संवत्सराधिपति चिरन्तन प्रजापतियों के कर्तव्य—विषयसमूह को यथायथ रूप से विभक्त कर दिया है ॥ ८ ॥

१—'शुक्रम्' इस से लेकर 'अपापविद्धम्' यहाँ तक जितने विशेषण हैं उन्हें पुंल्लिङ्ग में परिणत कर लेना, क्योंकि मन्त्र में 'सः' इस पुंल्लिङ्ग से उपक्रम (प्रारम्भ) और 'कविः' आदिक से पुंस्त्वेन उपसंहार (समाप्ति) किया गया है।

२—शुद्ध सत्त्वगुण-युक्त-माया ईश्वर का कारणशरीर है, और मलिन-सत्त्वगुणसहित तथा वासनामय अनादि अविद्या—अंश जीव के कारणशरीर हैं।

३—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पाँच प्राण तथा श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण ये पाँच ज्ञानइन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मइन्द्रिय और मन (चित्त) बुद्धि (अहङ्कार) इन सत्रहं तत्त्वों के समुदाय को जीव का सूक्ष्मशरीर कहते हैं और समस्त जीवों के सूक्ष्मशरीर मिलकर ईश्वर का सूक्ष्मशरीर कहा जाता है।

४—जीवों का स्थूलशरीर तो व्यष्टिरूप से (एक-एक) प्रत्यक्ष ही है, और समस्त स्थूल ब्रह्माण्ड ईश्वर का स्थूलशरीर है। इन्हीं शरीरों में पाँच कोश अन्तर्गत हैं।

वि० वि० भाष्य—श्रुति भगवती मुमुक्षु-जिज्ञासुओं को बार-बार आत्मदेव का परिचय कराती है, क्योंकि—आत्मतत्त्व अतिगहन है, इसी लिए इस के बोधन करने में वेद आलस्य नहीं करता। यथा—आत्मा व्यापक है, स्वयंज्योति है, लिङ्गशरीर, नाड़ी और व्रण से रहित है। व्रण-नाड़ी के अभाव से स्थूलशरीर से रहित होना सूचित होता है। शुद्ध है, इस से कारणशरीर से रहित है। धर्म अधर्म से रहित सब का द्रष्टा है। मन को प्रेरणा करनेवाला है, और परिभू है। भाव यह है कि जो सब के ऊपर है और स्वयम्भू याने आप ही नीचे तथा आप ही ऊपर है, वह परमात्मा प्रजापतिरूप से सर्व-प्राणियों के कर्मों को एवं उन कर्मों के फलों को यथार्थ रूप से धारण करता है।

परमात्मा 'परि-भू' याने सब से श्रेष्ठ है, और 'स्वयम्भू' याने अपनी सामर्थ्य से स्थित रहनेवाला है, उसे किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है। इस मन्त्र में आत्मदेव के और भी जो गुण वर्णन किये गये हैं उन्हें ज्ञान से अनुभव करनेवाला ज्ञानी भी उन गुणों करके युक्त हो जाता है—'सेवत तुम्हहि तुम हीं होइ जाई'। इसी भावना से कहा गया है—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है।

विशेष—वह यथोक्त आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष जगत् का बीजभूत-तेजोरूप जो सृष्टि रचने की शक्ति से सम्पन्न है, ऐसे 'शुक्र' को सर्वदेश तथा सब काल में जानता है। इस मन्त्र में 'शुक्र' करके पुत्रोत्पादनपरायण—सांसारिकजनसेवित-

---

१—ब्रह्मज्ञानी जहाँ जिस अवस्था में जैसे रहता है वहीं ब्रह्मतत्त्व को देखता है, क्योंकि—ज्ञानी के चित्त में ब्रह्मतत्त्व का सदैव स्फुरण होता रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि—ज्ञानवान् का चित्त सदा व्याधिरहित होता है। स्वाध्याय करनेवाले का चित्त हमेशा स्वस्थ रहता है। वस्तुतः स्वाध्याय (वेदाध्ययन) कर्तव्य कर्मों में सब से पहला काम कहा गया है। श्री शङ्कर भगवत्पाद ने कहा है कि—'वेदो नित्यमधीयताम्' याने वेद प्रतिदिन पढना चाहिये। 'वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तः कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' याने जो वेदान्तशास्त्र का श्रवण म न तथा निदिध्यासन करता है उस अखण्ड सदाचारपरायण से बढकर कोई भाग्यवान् (कृतकृत्य) नहीं है।

२—सारे संसार के प्राणी 'शुक्र' के व्यापार में प्रवृत्त हैं, यथा—ज्ञानी जन तो जगद्बीजभूत 'शुक्र' (ब्रह्म) में रत हैं और संसारी लोग सन्तान-बीजभूत-शुक्र (वीर्य) में लगे हुए हैं।

रेतोरूप (वीर्य) नहीं लिया गया है, किन्तु उस से विलक्षण-ब्रह्मरूप का ग्रहण किया गया है। अतएव यहाँ 'अकायम्' से लेकर 'अपाप-विद्धम्' तक जितने पद हैं वे 'शुक्रम्' के विशेषण जानने[1]। यथा—[शुक्र] ब्रह्म 'अकायम्' याने शरीरसम्बन्ध से शून्य है, इतर 'शुक्र' की तरह कायावाला नहीं है। वह 'अव्रणम्' अर्थात्—क्षतो-पदंशादि सम्बन्धलेश रहित है। वह 'अस्नाविरम्' याने नाड़ी का भी सम्बन्ध नहीं रखता, जैसे इतर 'शुक्र' नाड़ियोंवाला होता है। ब्रह्म 'शुद्धम्' अर्थात् पवित्र, घृणा के अयोग्य है, दूसरा 'शुक्र' घृणास्पद होता है। वह 'अपापविद्धम्' पापवेध से वर्जित है, याने पाप-तत्फलसम्बन्धलेश शून्य है, दुनियावी 'शुक्र' की तरह जारकर्मादि दुरपनेय (जो बड़ी मुश्कल से दूर हो सके) पापसम्बन्ध से युक्त नहीं है। ऐसे गुणोंवाले 'शुक्र' नामक ब्रह्म[2] को जो जानता[3] है वह जीवन्मुक्त होता है। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' इन विशेषणों से यही दिखाते हैं कि—वह पुरुष 'कवि' याने अतीत-दर्शी, 'मनीषी' अलौकिक बुद्धिवाला, 'परिभू[4]' वासनाबद्ध जीवभावातिक्रमणकर्ता और 'स्वयम्भू' अर्थात्—स्वतःसत्ताक हो जाता है।

यही नहीं, उक्त-यथोक्त—आत्मतत्त्वज्ञ में ब्रह्मभाव के बाद आचार्यत्व भी स्वतः आ जाता है। वह यथायोग्य ठीक तरह से श्रुति-स्मृति विषयक शास्त्रार्थों का उपदेश तथा आचरणों से विधान करता है—बोधन करता है।

इसका परिणाम क्या निकला ? इसका उत्तर यह है कि—वह आत्मतत्त्वज्ञ आचार्यपदाधिरूढ होकर अनन्त वर्षों तक याने चिरकाल तक लोकसंग्रहार्थ सना-

१—'अथवा षडपि पदानि क्रियाविशेषणानि' याने किसी ने इस मन्त्र के 'शुक्रम्' आदि पदों को क्रियाविशेषण शैली से लगाया है।

२—एवंविधविशेषणोपेतं शुक्राख्यं ब्रह्म यः पर्यगात् स जीवन्मुक्तो भवतीत्युच्यते—कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूरिति।

३—पर्यगात्—परि, परितः सर्वतः सर्वदेशे सर्वकाले च, अगात्, प्राप्तवान्, ज्ञातवान्, अधिगच्छतीत्यर्थः, यत्र कुत्र तिष्ठति तत्रैव ब्रह्मतत्त्वं जानाति।

४—परिभवति-तिरस्करोति वासनाजालमिति परिभूः। नानारूपैः परितः समन्ताद्भवतीति वा।

५—स्वयं स्वयंरूपतः केवलात्मरूपतो भवतीति स्वयम्भूः। स्वरूपावस्थितो ब्रह्मभावः।

६—याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधादिति, यथातथाभावेन तत्त्वतः व्यदधात्-विहितवान्। यथानुरूपं यथाकर्मादित्यर्थः।

तनधर्म-वेदमार्ग के अविच्छिन्न प्रवाह के लिए उपदेश-व्यापार करता रहता है। जीवन्मुक्त की आचार्यकर्म में प्रवृत्ति; प्रारब्धवश से स्वाभाविक ही हुआ करती है, किसी तरह के फल-लोभ-लाभ के उद्देश्य से नहीं। हाँ लोकसंग्रहात्मक फल तो स्वतः ही हो जाता है।

इस मन्त्र का उपर्युक्त व्याख्यान्तर भी वेदान्तकेशरी (शतश्लोकी ४४) के आधार पर आचार्याभिमत ही है। प्रतीत होता है कि इसी तत्त्व के आधार पर आज तक परमहंस विद्वान् संन्यासी वेद, वेदान्त, वेदाङ्ग और रहस्यादि (पुराणेतिहासादि) का प्रचार करते चले आ रहे हैं। वे महामण्डलेश्वररूप-आचार्य * पीठाधिष्ठित होकर अनेक दिगन्तरों में जिस आर्यधर्म का प्रचार कर रहे हैं, उससे सर्वसाधारण सुपरिचित हैं। इस मन्त्र में 'विज्ञान-पक्ष' 'धर्म-पक्ष' और 'समाज-पक्ष' इन तीनों का प्रतिपादन किया गया है॥ ८॥

यहाँ ज्ञान का प्रकरण समाप्त हो गया। जो पहले यह कहा गया है कि— 'आत्मतत्त्वं न जानति-इत्यादि' याने जो आत्मतत्त्व को नहीं जानता, और जो

१—अयत्नसिद्धैव।

२—आनुषङ्गिकम्।

* श्रुतौ यद् आचार्य्यस्याऽऽवश्यकत्वं प्रतिपादितम्, तदवलोकयन्तु लोकाः स्फारचक्षुष्काः। यथा—'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुतियों से तत्त्वज्ञान वेदवाक्य से ही हो सकता है, वेदवचनों को आचार्य के मुख से सुना जाय तभी वे सफल होते हैं। कहा है— 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि' (ऋग्वेद सं० ३-१२-९-७)। 'आचार्य्यमुखेन यो जानीते स तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते' (नृसिंहपूर्वतापिनी १-५)। 'आचार्य्यवान् पुरुषो वेद' (छान्दोग्य० ६-१४-२)। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्डकोप० १-२-१२)। 'आचार्य्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' (छान्दो० ४-९-३)। 'यस्य देवे पराभक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' (विष्णुपुराण-व्यासोक्तिः)। 'गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम्' (श्वेताश्वतरो० ६-२३)। 'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति, (तैत्तिरीयारण्यक ११-१)। 'आचार्य्यस्तु ते गतिं वक्ता' (छान्दोग्य ४-१४-१)। 'आचार्य्याऽधीनो भव' (मन्त्रपाठ ब्राह्मण २-६-१४)। 'आचार्याधीनो वेदमधीष्व' (आश्वलायनगृहसूत्र १-२२-२)। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' (श्रीमद्भगवद्गीता ४-३४)। 'भगवाञ्ज्ञायते शास्त्राच्छास्त्रं च ज्ञायते गुरोः' (स्पन्दप्रदीपिका उत्पलाचार्य ५२)॥

संसार में अत्यन्त प्रीतिमान् होने के कारण संन्यास (निवृत्तिमार्ग) का अनधिकारी है, उस के प्रति 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादि वचनों से प्रस्तुत कर्म का और देवतोपासना का समुच्चय दिखाते हुए उन में एक की निन्दा करते हैं। अर्थात्—कर्म और उपासना दोनों को साथ करना चाहिए। यह न हो कि—इन में एक को छोड़कर दूसरे का ही अनुष्ठान किया जाय। अतः इस मन्त्र में केवल एक के करने की निन्दा की गई है, यथा—

अन्धन्तमः प्रविशन्तिः येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः ॥९॥

अन्वय-व्याख्याः—ये, अविद्याम्[1] (केवलं कर्म), उपासते (अनुतिष्ठन्ति), ते, अन्धन्तमः (तत्त्वज्ञानाभावात् अहंममादि-अभिमानम्), प्रविशन्ति। ये, उ (तु), [पुनर्वा] विद्यायाम्[2] (कर्मत्यागेन केवल-देवज्ञाने), रताः, ते, ततः (तस्मात्पूर्वोक्तात्तमसः), भूयः (अत्यधिकम्) इव (एव) तमः (अज्ञानम्) प्रविशन्तीति शेषः ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो धनाभिलाषी अविद्वान् केवल ज्योतिष्टोमादि कर्मों का अनन्य-चित्त हो—एकाग्रता से (बड़े ही प्रेम से) अनुष्ठान करते हैं, वे 'मैं' 'मेरा' इस अभिमानरूप घोर अँधेरे में जा पहुँचते हैं, (या संसार में जा गिरते हैं)। केवल-कर्मकाण्डियों में 'मैं ऐसा कर सकता हूँ' 'मैंने ऐसा कर दिया' 'मेरी ही यह सामर्थ्य है' और 'मैं स्वर्ग को जीत लूँगा' इत्यादि अभिमान भर जाता है।

तब क्या कर्म को छोड़कर उन को देवताओं की उपासना करनी चाहिये? इस के उत्तर में कहते हैं कि—जो अज्ञ कर्ममार्ग का त्याग करके केवल देवतोपासना में अनुरक्त हो जाते हैं, वे उक्त अन्धकार की अपेक्षा और भी अभिमान के गहरे अँधेरे में जा पड़ते हैं। क्यों कि—वे अज्ञानी तत्-तत् देवताओं के ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अधिक आसक्ति में फँसे रहते हैं। या—यही संसार है, इस तरह के चक्कर में पड़ते हैं।

वि० वि० भाष्य—आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए चित्तशुद्धि प्रधान साधन है, याने दिल का साफ होना जरूरी है। चित्त-शोधन के कारण कर्म और

१—'अविद्याम्' कर्म।
२—'विद्यायाम्' उपास्यदेवोऽयमिति देवतोपासने।

उपासना हैं। प्रकृत मन्त्र में उन की निन्दा की गई है, ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः कर्मोपासना की निन्दा नहीं की गई, किन्तु उन के अलग-अलग अनुष्ठान करने के प्रकार की निन्दा की गई है। यह निन्दा समुच्चय[1] के विधान के लिए है। जो कर्म को त्याग कर उपासना करता है, तथा उपासना को छोड़कर कर्म करता है, याने इन्हें अलग-अलग करता है, अर्थात्—साथ नहीं करता, उस की इस मन्त्र में इस प्रकार निन्दा की गई है कि—'जो मनुष्य केवल कर्म ही करते हैं वे ऐसे अन्धकार में चले जाते हैं जहाँ कुछ भी नहीं दिखाई देता।' लोग आजन्म कर्म करते रहते हैं, पर प्राप्य वस्तु की प्राप्ति नहीं कर सकते। जो मनुष्य चिरकाल तक भी चलता हुआ अपने गन्तव्य-स्थान तक न पहुँच सके तो उसे निराशा या असफलता के अन्धकार में पड़ना पड़ता है। और जो केवल उपासना में ही लगे रहते हैं वे तो और भी अधिकाधिक अँधेरे में चले जाते हैं। क्योंकि वे अपने-अपने उपास्यदेव की विभूतिप्राप्ति की चाह में अपनी सारी जिन्दगी बिता देते हैं। हाँ, कर्म और उपासना, दोनों के साथ करने में यह बात नहीं है। क्योंकि—जब ये दोनों साथ किये जाते हैं तो कर्तव्य समझकर किये जाते हैं, कर्तव्य-पालन में अभिमानादि दोष नहीं आते ॥ ९ ॥

विशेष—इस मन्त्र तक जीवन्मुक्ति का प्रस्ताव समाप्त हो गया। अब 'अन्धतमः' यहाँ से लेकर 'सोऽहमस्मि० १६' इस सन्दर्भ तक 'अमृत-लाभ' का प्रस्ताव करते हैं। वह अमृतलाभ (परमानन्द की प्राप्ति) कर्मसहित ज्ञान[2] से ही हो सकती है। अतः पहले प्रस्तुत तीन मन्त्रों में कर्म और ज्ञान का समुच्चय दिखाया जाता है। जैसे—

ज्ञानमार्ग का त्याग करके जो लोग केवल अग्निहोत्रादि कर्मों में लग जाते हैं या दुनियाँ के अन्य झंझटों में फँस जाते हैं, अथवा तेली के बैल की तरह घर के,

१—'समुच्चय' नाम—साथ रहने का प्रकार—सहयोग की रीति—जैसे उपासना करनी और उसी समय साथ ही कर्म भी करना।

२—किसी विद्वान् ने 'विद्यायाम्' इस का देवतोपासना अर्थ न करके ज्ञान अर्थ किया है—उस पक्ष को लेकर यहाँ विचार किया जाता है।

३—अन्धम् = अदर्शनात्मकम्-विचाररहितमित्यर्थः। तमः = अज्ञानम्, भ्रान्तिमिति यावत्। प्रविशन्ति = भ्रान्ता भवन्ति। न याथातथ्यतोऽर्थान् विदधतीति भावः। के? ये अविद्याम्, विद्याया ज्ञानादन्या अविद्या ताम्, कर्मेत्यर्थः। अविद्यापदेनाऽत्र कर्मैव ग्राह्यम्। याने इस मन्त्र में अविद्या करके कर्म ही ग्रहण करना।

गली-कूचे बाजार के तथा ग्राम-नगरादिकों के और जाति एवं राष्ट्र के कामों में जुटे रहते हैं, वे अनजानपने (अज्ञान) की भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। इन कर्मियों में जोश तो होता है, पर होश (ज्ञान) नहीं होता, और जो कर्म को छोड़कर केवल ज्ञान में रत हो जाते हैं वे और भी अधिक-उपर्युक्त भ्रान्त अवस्था से भी ज्यादः—अन्धकाराच्छन्न हो जाते हैं, क्योंकि—ज्ञान के साथ कर्म का न होना ऐसा है जैसा विना विवेक का त्याग। ज्ञान-कर्म; ये दोनों पंख मनुष्य को गरुड़ की तरह चाहे जिस लोक में पहुँचा सकते हैं। याने ज्ञानी-कर्मी जिस देश का आश्रयण करेगा उसे ही बाहुप्रतापार्जित कर लेगा।

'विद्या' नाम 'ज्ञान' का है, वह सर्वव्यापक होने से स्पन्दरहित है-स्थिर है। 'अविद्या' नाम 'कर्म' का है, वह परिच्छिन्न होने से स्पन्दात्मक है, इस से विद्या और अविद्या में विपरीतता है। चिन्ताशील का (विचारवान् का) कर्म शिथिल हो जाता है, और कर्मवीर की चिन्ता शिथिल हो जाती है, इस से विपरीतत्व आता है। 'अविद्या प्रेयोविषया, विद्या श्रेयोविषया' यह भगवान् शङ्करपाद का वचन भी विद्या-अविद्या का विपरीत भाव दृढ करता है। उक्त कथनों का यहाँ यह तात्पर्य है कि-विद्या और अविद्या, दोनों तेजस्तिमिरवत् जब कि—विपरीत हैं तो फिर इन में समुच्चय (दोनों का एकत्रावस्थान) कैसे हो सकता है ? इस का उत्तर यह है कि—जीवन्मुक्त ज्ञानी के भी प्रारब्धकर्म * रहते ही हैं। भोग से प्रारब्ध कर्म जैसे-जैसे क्षय होते जाते हैं वैसे-वैसे ज्ञान बढता जाता है। इस के अनन्तर कर्मों के समूल नष्ट हो जाने पर ज्ञान से ही अमृतसिद्धि होती है। इस प्रकार ज्ञान और कर्मों का समुच्चय-साहचर्य-होना सम्भव है। इस में विरोध की आपत्ति नहीं है।

इस मन्त्र में समाज—पक्ष का बहुत उत्तम वर्णन किया गया है। समाज को जैसे विद्या का याने आत्मज्ञान का जानना आवश्यक है, उसी प्रकार उसे अविद्या का याने संसार का भी जानना जरूरी है। समाज में दोनों तत्त्वों के प्रचार की आवश्यकता है। महाभारत के बाद हमारे देश की ऐसी स्थिति हो गई कि—ज्ञान-कर्म के समुच्चय को भूलकर किसी एक पर ही अधिक जोर दिया जाने लगा। जैसे कर्मी वीरों की बाढ आई तो ज्ञानवृक्ष को बहाकर ले गई, और ज्ञानियों का जमाना आया तो कर्म-धर्म सब हवा हो गये। राजपूताने के कर्मवीर मरना-मारना तो जानते थे, पर समय पर युद्धक्षेत्र से बच निकलने को शान के खिलाफ समझते थे।

*—राजभुक्तकपित्थादिवत्, बाधिताऽनुवृत्तिरूपेण।

लाखों शत्रुओं के सामने मुट्ठी भर योद्धा दीपक पर पतंग की तरह नष्ट हो जाते थे, और ज्ञानियों ने तो साफ ही कह दिया था कि—चार दिन की जिन्दगानी के लिए अनित्य संसार को छोड़कर जंगलों में चले जाओ। वस्तुतः आवश्यकता ऋषियों की भी है और शूरों की भी। तभी ज्ञान-कर्म का समुच्चय-समतुलन (वाइलेंश) ठीक रहेगा।

आचार्य भगवत्शङ्करपाद का कथन है कि—'अविद्या प्रेयोविषया, विद्या श्रेयो विषया' अर्थात्—जगद्विद्या से अभ्युदय और अध्यात्मविद्या से निःश्रेयस प्राप्त होता है। अभ्युदय नाम—ऐहिक-उत्कर्ष, सांसारिक-उन्नति, दुनियावी कामों में लगे रहते हुए भी ऊँची स्थिति तक पहुँच जाना, और निःश्रेयस नाम—अपनी आत्मशक्ति का विकाश करना, अपने में उस शक्ति का संचय कर लेना जो सदा सुख-शान्ति का हेतु बनी रहे, याने मोक्ष, स्वतन्त्रता, बन्धनराहित्य। जो व्यक्ति इहामुत्र—इहलौकिक तथा पारलौकिक विद्याओं में से किसी एक का आदर करता है, याने एक में रत रहता है और दूसरी को छोड़ बैठता है उसकी कैसी अवनति होती है, इस मन्त्र में उस दशा का बड़ा ही अच्छा वर्णन किया गया है।

श्रुति भगवती का उपदेश है कि—मनुष्य इस संसार को सुखदायक बनावे, इस से घबराये नहीं, प्रत्युत इस विश्वक्षेत्र में ऐसा बीज बोवे कि—जिस से उत्पन्न महावृक्ष पर कैवल्य का अपूर्व-अनुपम फल लगे। अर्थात्—संसार को सुखद बनाने का विचार करता रहे तथा तदनुकूल यत्न करता रहे। इस की सिद्धि के और चाहे कितने ही उपाय क्यों न हों, पर सब से सरल-सफल-सुलभ उपाय सत् शास्त्रों का अवलोकन और महात्माओं का सत्सङ्ग है॥ ९॥

कर्म और उपासना, इन में प्रत्येक की निन्दा की गई है, इस से क्या इन का कुछ भी फल नहीं है ? ऐसी शङ्का होने पर उन दोनों का फलभेद कहते हैं कि—

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥

अन्वय-व्याख्याः—विद्यया (देवज्ञानेन, देवतोपासनेन), अन्यत् (कर्मफलात् पृथक्), एव, आहुः। अविद्यया (कर्म्मणा), अन्यत् (पृथक्), आहुः। ये (आचार्य्याः), नः (अस्मभ्यम्), तत् (कर्म च देवज्ञानञ्च),

१—इस के लिए इतिहास देखिये।

विचचक्षिरे १(व्याख्यातवन्तः), [तेषाम्] धीराणाम् (विदुषाम्), इति (एवंप्रकारं वचनम्), शुश्रुम (वयं श्रुतवन्तः) ॥ १० ॥

भावार्थ—देवतोपासना से देवयानरूप फल की प्राप्ति कही गई है, अर्थात् विद्या से देवलोक प्राप्त होता है, और कर्म से पितृलोकप्राप्तिरूप फल मिलता है[२]। जिन्हों ने हम लोगों के निकट इस तत्त्व की व्याख्या की है उन्हीं वेदवेत्ताओं से हमने यह सुना है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—पण्डित लोग कहते हैं कि—देवताज्ञानरूप विद्या का फल अग्निहोत्रादि कर्मों के फल से भिन्न है। जिन्होंने अपने तपोबल से कर्म तथा देवज्ञान के तत्त्व की व्याख्या करके हमें तथा सभी को समझाया है, उन्हीं ज्ञानी गणों के मुख से हम ने इस तरह सुना है ॥ १० ॥

विशेष—'ज्ञान[३] और कर्म के पृथक् आचरण करने से फल में परस्पर भेद है' इसी के प्रतिपादन में श्रुति का तात्पर्य नहीं है, किन्तु—'प्रस्तुत अमृतसिद्धि में वे कुछ भी उपकारी न होने के कारण अतितुच्छ हैं' इस में भी तात्पर्य है। इसी से इस मन्त्र में 'अन्यत्' इस सामन्यनिर्देश से उन की उपेक्षा की गई है, विशेषतया नामतः कुछ निर्देश नहीं किया गया। अर्थात्-'ज्ञान का यह फल है' 'कर्म का यह है' ऐसा किसी फल का नाम नहीं लिया, केवल अन्यत् कहकर छोड़ दिया। इस का अभिप्राय यह है कि—'न केवल ज्ञान से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है, और न केवल कर्म से ही।'

विद्या नाम—ज्ञान, याने आत्मबोध। आध्यात्मिक ज्ञान होने से मनुष्य में एक ऐसी आत्मशक्ति बढ जाती है जिस से वह निर्भय हो जाता है, उस की भेद-बुद्धि जाती रहती है, क्योंकि—द्वैत से ही भय है। वह सर्वत्र सच्ची शान्ति के आनन्द का अनुभव करता है।

इसी तरह अविद्या नाम—कर्म, याने जगत् के वैदिक-लौकिक नानाविध कर्म-कलाप। विद्या और अविद्या याने आत्मज्ञान और वैदिक-लौकिक नानाविध कर्म। इन में से यदि मनुष्य आत्मचिन्तन में ही लगा रहे तो उस का इहलौकिक-जीवनयात्रा-

१—लोकानां हितकाम्यया प्रोक्तवन्तः तेषामयमागमः पारम्पर्यागतः।

२—'अविद्यया-एव' यहाँ ऐसा एवकारसहित तो पाठ है नहीं। इस से चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति भी कर्मों का फल है, ऐसा सूचित होता है।

३—किसी विद्वान् ने यहाँ 'विद्या' का अर्थ ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान—किया है।

व्यवहार दूसरों के अधीन हो जाता है। फिर तत्त्ववेत्ता शान्त वातावरण में मनुष्यलोक को स्वर्ग बना सकते हैं—मनुष्य को देवता कर सकते हैं, पर जगत् की बिगड़ी हुई दशा को ठीक नहीं कर सकते, क्योंकि कामिनी-काञ्चनलोलुप आततायी किसी के कैसे भी अच्छे उपदेश को सुनते ही नहीं हैं, उन्हें तो कर्मयोगी ही रास्ते पर ला सकते हैं। अतः केवल ज्ञान-आत्मज्ञान भी इष्ट नहीं है। इसी तरह केवल कर्मानुष्ठान भी ठीक नहीं है। यदि मनुष्य कर्म ही करता रहे तो वह कदाचित् ऐश्वर्यवान् भी हो सकता है। कर्मवीर को संसार के नानाविध प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है। बहुत से लोगों को हम महाजगज्जाल में फँसे देखते हैं, उन से शान्ति कोसों दूर रहती है। अतः केवल कर्म भी किसी काम का नहीं। इस से ज्ञान और कर्म दोनों का साथ रहना आवश्यक है। बिना ज्ञान के सहयोग के कर्मों से इष्टसिद्धि की आशा करनी ऐसी है जैसे रामेश्वर की ओर जानेवाले की बद्रीनारायण पहुँचने की अभिलाषा। इस मन्त्र में समाजपक्ष की सिद्धि के लिए ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय की आज्ञा दी गई है ॥ १० ॥

पूर्वमन्त्रोक्त धीर[१]वृत्तिवाले पुरुष को उक्त दोनों विद्याओं से किस प्रकार लाभ लेना चाहिए, यह इस मन्त्र में कहते हैं, यथा—

विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

अन्वय-व्याख्याः—यः, विद्याम् (देवताज्ञानम्) च, अविद्याम् (कर्म) च, [तत्] उभयम् सह, (एकेनैवानुष्ठेयमिति) वेद (जानाति), [सः] अविद्यया (कर्म्मणा) मृत्युम् (स्वाभाविकं कर्म ज्ञानञ्च), तीर्त्वा (अतिक्रम्य), विद्यया (देवताज्ञानेन), अमृतम् (देवत्वम्) अश्नुते (प्राप्नोति) ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो अधिकारी देवतोपासना और अग्निहोत्रादि कर्म, इन दोनों को 'इन दोनों का एक मनुष्य को साथ ही अनुष्ठान करना चाहिये' ऐसा जानता है और जानकर करता है, वह मनुष्य स्वाभाविक कर्म-ज्ञानात्मक मृत्यु को अतिक्रमण करके देवतोपासना से उपास्यदेवतोपासनारूप अमृत को प्राप्त होता है। इस का

१—दोनों विद्याओं से लाभ लेनेवाला विज्ञपुरुष ही यहाँ 'धीर' कहाता है।

अभिप्राय यह है कि—जो लोग विद्या और अविद्या का एक साथ अनुष्ठान करते हैं वे अविद्या द्वारा मृत्यु को उत्तरण करके विद्या द्वारा अमृतत्व प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—जो मनुष्य कर्म तथा उपासना को साथ ही करता है वह मृत्यु को त्याग करके अमृतत्व को प्राप्त होता है[१]। यहाँ निषिद्ध कर्मों का करना ही मृत्यु है, और देवभाव को प्राप्त होना अमृतलाभ है। दर असल प्राणवियोगानुकूल व्यापार याने देह से साँस निकल जाने का नाम ही मौत नहीं है। मौत तो बुरे कर्मों का करना है, ये कुकर्म मनुष्य को बार-बार मृत्यु के चक्कर में डाला करते हैं। जिस के कर्म खराब हैं वह मानो अपने से-स्वजाति से-समाज से मर गया। इसी तरह देवभाव याने श्रेष्ठपुरुषों की ऊँची श्रेणी में गिना जानेवाला व्यक्ति अमृत याने जीवित है। उन्हीं का जीना जीवन है, जो देवताओं की तरह स्व-परहितार्थ सुख-शान्ति के कार्य करने को अपने जीवन का इतिकर्तव्य समझते हैं ॥११॥

विशेष—विद्या-आत्मा का ज्ञान और अविद्या-कर्म-कर्ममय-सृष्टि का ज्ञान ये दोनों मनुष्य की उन्नति के समान उपयोगी हैं। आत्मविद्या से आत्मिक बल बढता है, और कर्मों से उत्कर्ष के साधन प्राप्त होते हैं। जो व्यक्ति ऐसा समझ गया वह मृत्यु नाम दुःख, अशान्ति, पराधीनता, अपमृत्यु तथा अपमानादि सभी झंझटों से छूट जाता है। फिर उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं रह जाती। ...का ...प्रा।

यदि मनुष्य आत्मा को समझ ले, याने यह जान जाय कि—यह म...ी है, देहावच्छिन्न आत्मदेव सभी शक्तियों का आगार है, तो वह उन्नत अवस्था को... करने के यत्न में लग जाय। मनुष्य में किस या किन दिव्य विभूतियों का ...नुष्य में नहीं हो सकता? ऐसा निश्चय करनेवाले ब्रह्मलीन हो चिर-सुख-शान्ति-के अधिकारी हो जाते हैं। इस मन्त्र में 'विज्ञानपक्ष' का वर्णन प्रधानतः किया गया है[३] ॥ ११ ॥

१—अविद्यया-तुच्छैहिकपुत्रवित्ताद्यकामना... र्मणा मृत्युं तीर्त्वा... हिकाऽल्पकालिकं पुनःपुनर्भावि-मृत्युमप्राप्य, उपासनया अमरत्वं प्राप्नोति ।...

२—यहाँ मृत्यु करके विश्व भर के यावत् दुःखों का ग्रहण कर सकते हैं।

अथवा—मृत्यु नाम-स्वाभाविक मरणभय। वह वासनाजन्य होता है। कर्म से वासना के क्षय होने से हृदय के दुर्बलतारूप भय को पार करके मुमुक्षु आत्मबली होकर आत्मप्राप्ति की योग्यता को प्राप्त हो जाता है। इसी से श्रुतियों में कहा है कि—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुण्डक) 'आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (केन)।

३—इस मन्त्र में 'तीर्त्वा' इस असमापिका क्रिया का उल्लेख किया गया है, इस का...

अब व्यक्त और अव्यक्त उपासनाओं का समुच्चय करने की इच्छा से प्रत्येक की निन्दा की जाती है, यथा—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ँ रताः ॥१२॥

अन्वय-व्याख्याः—ये, असम्भूतिम् (जगत्कारणभूतां प्रकृतिम्), उपासते (भजन्ति), [ते] अन्धन्तमः (अदर्शनात्ममज्ञानम्) प्रविशन्ति। ये, उ (अपि) [पुनः] सम्भूत्याम् (उत्पत्तिशीले हिरण्यगर्भादौ—हिरण्यगर्भाख्ये कार्य्यब्रह्मणि), रताः (संसक्ताः) ते, ततः (अपि) भूयः, इव (एव) तमः [प्रविशन्तीत्यर्थः] ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो अज्ञ अव्याकृत नामक, जगत्कारणरूपा प्रकृति की उपासना[१] करते हैं, वे जिससे भला-बुरा कुछ भी सुझाई न दे, ऐसे 'मैं' 'मेरा' रूप अभिमान को[२] प्राप्त होते हैं। अथवा वे अव्याकृतोपासक, संसार के चक्कर में पड़ते हैं। और जो लोग व्याकृतरूप हिरण्यगर्भ के चिन्तनपरायण होते हैं, वे उपर्युक्त अन्धकार से भी अधिक गहरे अँधेरे में या दुनियावी भारी बखेड़े में पड़ जाते हैं।

वि० वि० भाष्य—पहले विद्या और अविद्या के दो विलासक्षेत्र दिखाये गये हैं, परमात्मा के स्व-स्वरूप को लक्ष्य कराने के लिए ऐसा किया गया है। अब [illegible] की भूमिका दिखाने के लिए यह मन्त्र कहता है कि—मूल प्रकृति (जो विद्या

---

*अभिप्राय यह है कि—'मनुष्य केवल अग्निहोत्रादि कर्मों से मर्त्यलोक को पार करके स्वर्ग चला जाता है, पर वहाँ जाकर फिर पतित होता है, याने वहाँ से निकाल दिया जाता है, वहाँ वह अमृतत्व (सच्चे सुख) को नहीं भोग सकता। हाँ जब ज्ञानसहचरित कर्म करता है, याने ज्ञान के साथ कर्मों का अनुष्ठान करता है, उस काल में कर्मों से मनुष्यलोक को तैरकर (तप करके) ज्ञान से स्वर्गलोक में अमृत को भोगता है, फिर वहाँ से पतित नहीं होता, वहीं ठहरा रहता है।

१—'मैं प्रकृति हूँ' ऐसा निरन्तर ध्यान करते हैं।

२—आजकल के भौतिकवादी-प्राकृतिक पदार्थों को ही सब कुछ माननेवाले विदेशीय अपने बड़प्पन के अभिमान से कुछ तो मिट गये, बाकी विनाश की ओर हैं, और जो सुखी से-प्रभावशाली से-प्रतीत हो रहे हैं, वे अन्तःकलह से जरजरित हो चिन्तित हैं।

और अविद्यारूप से विभक्त होने के पहले की अवस्था है, उस अव्याकृत प्रकृति) की उपासना करने से भी स्व-स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती, आत्मा का आवरण रह ही जाता है। दूसरी ओर यदि एक ब्रह्माण्ड के अभिमानी देवाधिदेव की भी उपासना की जाय तो आवरण अधिक हो जाता है। परमात्मा के स्व-स्वरूप की उपलब्धि में बाधा बढती है, घटती नहीं।

विद्या और अविद्या दोनों अवस्थाओं से अव्याकृत प्रकृति की अवस्था सूक्ष्मातिसूक्ष्म और उन्नत है, परन्तु वह स्व-स्वरूप नहीं है। और विनाशशील ब्रह्माण्ड के अभिमानी हिरण्यगर्भ की अवस्था भी ब्रह्माण्ड के समान परिवर्तनशील है। इसी कारण कहा गया है कि—असम्भूति की उपासना में अन्धकार का भय है, क्योंकि—आत्मतत्त्वातिरिक्त पदार्थों में भटकनेवाले प्रकाश नहीं पा सकते। और सम्भूति की उपासना में उस से भी अधिकतर अन्धकार की भीति है, क्योंकि—इस में अणिमा आदि ऐश्वर्यों में फँसने[2] की अधिक सम्भावना रहती है।

विशेष—कर्म के साथ आचरित जिस ज्ञान से अमृत के लाभ का होना कहा गया है, वह ज्ञान कैसा हो ? इस जिज्ञासा की शान्ति 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' इत्यादि तीन मन्त्रों से की गई है। कर्मसहित भी केवल ज्ञान अमृत-प्रद नहीं हो सकता, किन्तु उसके[3] विषय में कुछ अन्य प्रकार भी आवश्यक है, 'तमेव विदित्वा प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इस श्रुति से ज्ञानोदय के बाद भी अमृत लाभ के लिए जिस एक [खास] प्रज्ञाविशेष का आश्रयण करना आवश्यक है, वह यह है कि—विरोधी-यज्ञानतिरस्कारपूर्वक-निरन्तर नित्यानित्यज्ञानप्रवाह में चित्तवृत्ति का समाहित रहना।

कोई विद्वान् इसी मन्त्रस्थ 'असम्भूति' शब्द का अर्थ 'विनाश' और 'सम्भूति'

१—ऐसे वर्णन से कोई यह न समझ ले कि—ऋषि, देवता, पितृ अथवा एक ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यगर्भादि की उपासना का वेद खण्डन करता है, वस्तुतः परमात्मा के 'एकमेवाद्वितीयम्' इस स्व-स्वरूप को लक्ष्य कराने के लिए ही इस प्रकार का वर्णन किया गया है।

२—अव्याकृत-प्रकृतिरूपिणी असंभूति में ऐश्वर्य का फँसाव नहीं है। और ब्रह्माण्ड के ईश्वर में अणिमा, महिमा आदि नाना ऐश्वर्यों के देने की शक्ति होने के कारण, तत्प्राप्त विभूतियों में फँसने का अधिक भय है, यह विवेक है।

३—ज्ञान के।

का 'अविनाश' अर्थ करते[1] हैं। [आगे आनेवाले 'सम्भूतिञ्च विनाशञ्च' इस मन्त्र में 'असम्भूति' पद के स्थान में विनाश पद का प्रयोग किया गया है। अतः तद्विपरीतत्वेन 'सम्भूति' पद का 'अविनाश' अर्थ सुतराम् हो गया]। वे कहते हैं कि— जो मनुष्य वस्तुमात्र को विनाशशील मानता है, किसी पदार्थ को भी अविनाशी नहीं मानता, वह भ्रान्ति में पड़ जाता है, वस्तुमात्र को एक जैसी मान लेना बुद्धिमानी नहीं है।

किसी पण्डित के मत में 'सम्भूति' शब्द का अभिप्राय 'संघ' 'जमाव' 'समाज' और 'असंभूति' का 'असंगठित अवस्था' अर्थ है। वे कहते हैं कि— जो असम्भूति याने असंगठित अवस्था की उपासना करते हैं, याने केवल वैयक्तिक-स्वातन्त्र्य का ही आदर करनेवाले हैं, वे अन्धकार में जाते हैं, अर्थात्—उन्हें स्व-पर-हित नहीं सूझता, और जो केवल संघशक्ति बढाने के लिए व्यक्ति का स्वातन्त्र्य नष्ट करनेवाले हैं, वे उस से भी अधिक नासमझी की ओर अग्रसर होते हैं। क्योंकि— संघ के नियमों से जकड़ा हुआ होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को धीरे-धीरे परतन्त्र होने की आदत पड़ जाती है। इस लिए सम्भूति और असम्भूति याने वैयक्तिक शक्ति और संघीय शक्ति की उपासना, याने साथ ही दोनों की अभिवृद्धि का यत्न करना चाहिये। यह न हो कि—एक का आश्रय लेकर दूसरे पक्ष का बिलकुल त्याग कर दिया जाय। इस मन्त्र में 'समाजपक्ष' का अच्छा वर्णन किया गया है। समाज को जैसे संघशक्ति की अभिवृद्धि अपेक्षित है, उसी प्रकार व्यक्ति की अभ्युन्नति भी आवश्यक है ॥ १२ ॥

पहले जो दो उपासना कही गई हैं उन का फलभेद कहते हैं, याने दोनों के अलग अलग फल दिखाते हैं, यथा—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

अन्वय-व्याख्याः—सम्भवात् (हिरण्यगर्भोपासनात्) [कार्य्यब्रह्मोपासनरूपात्] अन्यत् (पृथक्) एव, [फलम् अणिमाद्यैश्वर्य्यलाभरूपम् उत्पद्यते, धीराः-धीमन्तः इति] आहुः (वदन्ति) । असम्भवात् (अव्याकृतो-

[1]—सम्यग्भवनं सम्भूतिः, सत्यत्वं, नित्यत्वं, पारमार्थिकत्वमविनाशित्वमिति यावत्। तद्विपरीता असम्भूतिः, मिथ्यात्वमनित्यत्वं मायिकत्वं विनाशित्वमिति यावत्, तम्।

पासनात्) अन्यत् (पृथक् फलम्—अन्धतमःप्राप्तिं, प्रकृतिलयश्च) आहुः, ये, तत् (फलद्वयम्) नः (अस्मभ्यम्) विचचक्षिरे (व्याख्यातवन्तः) [तेषाम्] धीराणाम्, इति (एवं वचनम्) [वयम्] शुश्रुम (श्रुतवन्तः) ॥ १३ ॥

भावार्थ—हिरण्यगर्भरूप कार्यब्रह्म की उपासना से अणिमा-गरिमा आदि ऐश्वर्यप्राप्तिरूप और ही फल मिलता है, और अव्याकृतोपासना से प्रकृतिलयलक्षण भिन्न ही फल प्राप्त होता है। अर्थात्-कारणरूपा माया की उपासना से माया में लयरूप फल की प्राप्ति होती है[1]। जिन बुद्धिमानों ने हम लोगों के समीप इस व्याकृत और अव्याकृत उपासना का फल कहा है, उन लोगों के निकट हम लोगों ने ऐसा उपदेश श्रवण किया है ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—कर्मावस्था अविद्याजनित है, और देवभाव विद्याजनित है। जैसे अविद्याजन्या-कर्मावस्था से विद्याजनित देवभावप्राप्ति की अवस्था ऊँची है, क्योंकि—अविद्याजनित कर्म इन्द्रियाऽधीन होते हैं, अतः उन से असुरभाव बढता है। वैसे ही इस उदाहरण के अनुसार समझना उचित है कि—ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यगर्भ की उपासना से सब की कारण मूलप्रकृति की उपासना भिन्न है। दोनों का फल भी पृथक्-पृथक् है। पहले में ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होने से उस में फँसने का डर अधिक रहता है, और दूसरे में इतना नहीं रहता ॥ १३ ॥

विशेष—इस मन्त्र में 'अन्यत्' इस पद का जो सामान्यतया निर्देश किया गया है, उस का अभिप्राय यह है कि—सम्भूति और असम्भूति अर्थात् या तो सभी वस्तुओं को केवल विनाशी मान लेने का, या सभी को केवल अविनाशी स्वीकार कर लेने का जो फल होता है वह भ्रान्तिमूलक होने के कारण अनुपादेय है—स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि—वह तुच्छ है। विश्वभोग में कोई पदार्थ विनाशशील हैं और कोई अविनाशी हैं। ये पदार्थ जैसे हैं इन को वैसा ही समझना यह तो प्रमा हुई। और इन सभी को या तो एक दम विनाशी मान लेना, या अविनश्वर समझ बैठना भ्रान्ति है। श्रुति भगवती कहती है कि—न केवल सब के विनाशित्व

१—माया में लय होना जो फल कहा गया है, इस से उपासक का क्या लाभ है? एतद्विषयक उत्तर में कहते हैं कि—जैसे सुषुप्ति में लय होने से विक्षेप की निवृत्ति होती है, वैसे ही माया में लय होना भी फल हो सकता है।

दर्शन से और न केवल सभी को अविनाशी समझने से अमृतलाभ हो सकता है, किन्तु दोनों को साथ ही समझना चाहिये।

किसी विद्वान् ने 'सम्भूति' का अर्थ 'संघभाव' और 'असम्भूति' का 'असंघ-भाव-माने व्यक्तिसत्तावाद' अर्थ किया है। चाहे जो अर्थ किया जाय इन दोनों विभूतियों के एक साथ अनुष्ठान करने से ही फलावाप्ति है—इसी से समाजपक्ष का लाभ होगा ॥ १३ ॥

अब उक्त दोनों उपासनाओं का समुच्चय कहते हैं, यथा—

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥ १४॥

अन्वय-व्याख्याः—यः, सम्भूतिम् (अत्र अकार—लोपो दृष्टव्यः ततश्च असम्भूतिम्, अव्याकृताख्याम् प्रकृतिमित्यर्थः, प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात्) च, विनाशम् (व्याकृतहिरण्यगर्भादि—कार्यब्रह्माणम्) च, तत्, उभयम्, सह (एकेन पुरुषेण अनुष्ठेयम्), वेद (जानाति), सः, विनाशेन (हिरण्यगर्भाद्युपासनेन), मृत्युम् (अधर्मकामादिलक्षणम् अनैश्वर्य्यम्), तीर्त्वा (अतिक्रम्य), सम्भूत्या (अव्याकृतप्रकृत्युपासनेन), अमृतम् (प्रकृतिलयलक्षणम्) अश्नुते (प्राप्नोति) ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो उपासक असम्भूति नाम अव्याकृतोपासना और विनाश—विनाशधर्मवाले हिरण्यगर्भ की (कार्यब्रह्म की) उपासना, याने दोनों (कारण-कार्योपासनाद्वय) को पुरुष एक साथ ही कर सकता है, इस को जानता और जानकर करता है, वह मनुष्य; हिरण्यगर्भकार्योपासना से मृत्यु को अतिक्रमण करके अव्याकृतोपासना से अमृत को प्राप्त होता है।

१—यहाँ 'सम्भूति' की जगह 'असम्भूति' ऐसा समझना, क्योंकि—इसमें अकार का लोप हो गया है।

२—विनाशो धर्म्मो यस्य कार्यस्य सः, तेन धर्मिणा अभेदेन उच्यते विनाश इति। अर्थात्-यहाँ विनाश का विनाशी अर्थ है।

३—अव्याकृत और व्याकृत।

४—अनैश्वर्य-अधर्मकामादिदोषजातम्।

५—प्रकृति में लय हो जाना (इस में विक्षेप नहीं रहता अतएव यह अमृत है)।

अर्थात् जो लोग समझ चुके हैं कि—असम्भूति और विनाश अर्थात् अव्याकृत प्रकृति और हिरण्यगर्भ की आराधना एक साथ हो सकती है, वे विनाश के द्वारा याने हिरण्यगर्भरूप कार्य की उपासना से अनैश्वर्य अधर्मरूप मृत्यु को दूर करके प्रकृति में लयरूप फल को प्राप्त होते हैं ।। १४ ।।

वि० वि० भाष्य—'एकमेवाऽद्वितीयम्' इस नित्य स्थित ब्रह्मपद को लक्ष्य कराने के लिए मन्त्र में विनाश शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि—ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ है वह सभी विनाशशील है। विहितकर्म और सकामोपासना दोनों सम्भूतिकोटि के अन्तर्गत हैं। आस्तिकता बिना विहितकर्म नहीं हो सकता और सकामोपासना कर्मफल से रहित नहीं हो सकती। दूसरी ओर कर्म के द्वारा मल की शुद्धि और उपासना के द्वारा विक्षेप का नाश होकर साधक तत्त्वज्ञान का अधिकारी होता है। अतः विनाशपद से सम्बन्धयुक्त विहित कर्मानुष्ठान और उपासना आदि साधनों के द्वारा जब साधक मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं अर्थात् विषय-वासना रहित होकर मर जाते हैं, तब साथ ही साथ प्रकृतिप्रवाह में आत्मसमर्पण करके प्रकृतिलय द्वारा अमृतत्व प्राप्त करते हैं। सम्भूति और असम्भूति का यथार्थ स्वरूप साधक ठीक-ठीक समझकर साथ ही साथ करते हैं अर्थात् कर्म-उपासना आदि का यथावत् साधन, और साथ ही साथ वासनारहित होकर प्रकृतिप्रवाह में आत्मसमर्पण, दोनों एक साथ हो सकते हैं। ऐसा होने पर कर्ता कैवल्यभूमि की ओर अग्रेसर होता है ।। १४ ।।

विशेष—'सत्यानृते मिथुनीकरोति' इस श्रुतिप्रमाण से यह सृष्टि अनादि काल से सत्य और मिथ्या इन रूपों में बराबर चली आ रही है। जब कि यह बात है तो सम्भूति और विनाश—नित्यत्व तथा अनित्यत्व—इन दोनों को विचार कर जो आचरण में लाता है वह विनाश याने असम्भूति—सर्वत्राऽनित्यत्व दर्शन से—अर्थात् सब जगह सत्यत्वदर्शनसहचरित मिथ्यात्व विवेचन से मरण को या संसार को अतिक्रमण करके अमृत को प्राप्त होता है।

१—हिरण्यगर्भ की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्यप्राप्तिरूप ही फल मिलता है, अतः उससे अनैश्वर्यरूपादि मृत्यु को पार किया जा सकता है।

२—अमृतत्व शब्द से निःश्रेयसभूमि में अग्रसर होना समझना चाहिये।

३—जगन्मिथ्या, ब्रह्म सत्य है, इस विचार से।

४—वस्तुतः संसारसन्तरण वासनाक्षय से होता है, वह [वासनाक्षय] सर्वत्र

यहाँ यह समझना चाहिए कि—दृष्टिसृष्टिवाद[1] को लेकर कोई शून्यवादी वस्तुमात्र को मिथ्या मानते हुए सर्वत्र अनित्यदर्शन को ही प्रकृत ज्ञानयोग कहते हैं। इसी तरह सृष्टिदृष्टत्वेन[2] वस्तुजात को सत्य माननेवाले अद्वैतवादी सर्वत्र नित्य-दर्शन को ही प्रकृत ज्ञानयोग कथन करते हैं। न केवल अनित्य देखना या नित्य दर्शन प्रकृत ज्ञानयोग है, किन्तु इस उपनिषद् के मन्त्रषट्करूप सन्दर्भ का तात्पर्य दोनों के साहचर्य में है—दोनों के साथ अनुष्ठान में है।

किसी पण्डित ने 'सम्भूति' का अर्थ 'संघशक्ति' और 'विनाश' शब्द का 'असम्भूति' शब्द के स्थान में प्रयोग करके 'व्यक्ति-सत्ता' अर्थ किया है। व्यक्तियों का नाश हो जाता है पर संघ का नाश नहीं होता। याने संघ में आपेक्षिक चिर-स्थायित्व है। यहाँ विनाश के दो विरोधी अर्थ किये गये हैं। एक तो 'विगतो नाशो यस्मात्' (जिस का नाश न हो), दूसरा 'विशेषेण नाशः' (विशेषरूप से नष्ट होना)। ऐसी स्थिति में मन्त्र का अर्थ हो जाता है कि जो मनुष्य 'संघशक्ति' और 'व्यक्तिसत्ता' का प्रयोग साथ करना जानता है, वह विनाश से याने 'व्यक्तियों के नष्ट होने पर भी संघ रह जाता है' इस ज्ञान से, मृत्यु को, याने अपनी हानि अवनति आदि को दूर करता हुआ 'सम्भूत्याऽमृतमश्नुते' अर्थात्—संघशक्ति की महिमा से अमृत को याने 'शत्रुकृतबाधा-रोग-शोक-चिन्ता-अभाव आदि प्रयुक्त आपत्तियों का जिस स्थिति में लेश भी नहीं है उस पद को, पा जाता है। इस से 'समाजपक्ष' के समर्थन में युक्तियुक्त शिक्षा दी गई है॥ १४॥

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इस उपर्युक्त समुच्चय से कार्य-कारणात्मक-सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष ही संप्राप्य है, उस की प्रार्थना करते हैं, यथा—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये॥ १५॥

---

‡अनित्यदर्शन त्याग से हो सकता है। भोगकृत और त्यागकृत इन भेदों से वासनाक्षय दो प्रकार का कहा गया है। उनमें भोगकृतक्षय कर्म से और त्यागकृतक्षय अनित्यदर्शन से होता है। 'ईशा वास्यम्' इस मन्त्र में जो स्वेच्छात्यागपूर्वक सर्वत्र ईश्वरेच्छा का देखना कहा गया है उस का भी सर्वत्र अनित्यदर्शन वासनाक्षय से ही होना सम्भव है।

१—दर्शन ही सृष्टि है, देखने से अतिरिक्त नहीं, स्वप्न की तरह, याने मिथ्या है।

२—यथा सृष्टं तथैव दृश्यते, याने जैसी सृष्टि है, वैसी ही देखते हैं, उससे अन्यथा नहीं, याने सत्य।

अन्वय-व्याख्याः—हिरण्मयेन (ज्योतिर्मयेण), पात्रेण (आवरण-भूतेन), सत्यस्य (आदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणः), मुखम् (प्राप्तिद्वारम्) [ज्ञानचक्षुषा प्रथमदृष्टस्थानम्], अपिहितम् (आच्छादितम्), पूषन् ! (हे जगत्पोषक !), त्वम्, सत्यधर्माय (सत्यधर्मानुष्ठात्रे मह्यम्) [सत्य-धर्मस्य मम इति वा], दृष्टये (सत्यस्य साक्षात्काराय) [तव सत्यात्मन उपलब्धये इति भावः], तत् (मुखम्—द्वारम्), अपावृणु (अनाच्छादितम् उन्मुक्तं कुरु) ॥ १५ ॥

भावार्थ—देवयान मार्ग से जाता हुआ उपासक; सूर्यमण्डल को प्राप्त होकर जैसा प्रार्थना करता है, उसे कहते हैं कि—हे जगत्पोषक परमात्मन् ! सत्य¹स्वरूप आप का प्राप्तिद्वाररूप जो मुख है वह सोने की तरह देदीप्यमान-चमकीले-पा²त्र से ढका हुआ है। सत्य³-धर्म को आचरण करनेवाले मेरे लिए उस चकाचौंधकारक आवरण को हटा लो, जिस से कि मैं आप का दर्शन कर सकूँ। अर्थात्—हे विश्व को परिपुष्ट करनेवाले प्रभो ! सूर्यमण्डल के द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि का द्वार आवृत हो रहा है, तुम उसे हटाओ, ताके सत्यपरायण मैं उस का दर्शन करूँ ॥१५॥

वि० वि० भाष्य—मुमुक्षुजनों को अद्वितीय ब्रह्म के स्वरूप की उपलब्धि हो जाय, यही उपनिषदों का उद्देश्य है। यहाँ 'पूषन् !' सम्बोधन से ब्रह्मपद का ही निर्देश किया गया है। यहाँ कार्य के सम्बन्ध से कारण अन्वेषण किया गया है। जैसे—जगत् यह कार्यब्रह्म है, इस का सृष्टि-स्थिति-लय जिस से होता है और यह जगत् जिस ब्रह्म में स्थित रहता है उसी द्वैतभावरहित परमात्मा के स्वरूप के निर्देश के लिए इस मन्त्र का आविर्भाव हुआ है। क्योंकि—प्रकृतिलय के बाद आत्मज्ञान का उदय होना ही बाकी रह जाता है, वह अपने आप होता है⁴।

१—त्रिकालाऽबाधित यान्ने जिस का कभी किसी प्रमाण से बाध न हो वह सत्य है।

२—पात्रसदृश ढकनेवाले तेजोमण्डल से।

३—सत्यस्य तपोवासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्। यद्वा—सत्यधर्माय यथाभूतधर्म्मानुष्ठात्रे मदर्थम् ॥

४—मन, वाणी, बुद्धि से अतीत स्व-स्वरूप का उदय प्रकृतिलय के अनन्तर स्वतः होता है। इसमें दूसरा कोई कारण अपेक्षित न होने से परमात्मा से प्रार्थना की गई है। इस प्रार्थना में लक्ष्य स्थिर कराने के लिए सूर्यदेव का अवलम्बन सर्वोपरि है। गायत्री की

जगत् के यावत् ज्योति एवं तेज का केन्द्र जो सूर्यमण्डल स्थूल दृष्टि से देखने में आता है, वह उसका अधिभूत स्वरूप है। जो उस मण्डल का अभिमानी देवता है वह उसका अधिदैव स्वरूप है। किन्तु सूर्यदेव में व्याप्त, सब ज्योतियों का ज्योतिरूप, सर्वात्मा ब्रह्म का जो चिन्मय स्वरूप है वही सूर्य का अध्यात्मस्वरूप है, बस वही स्व-स्वरूपपद से वाच्य है। सुतरां जब तक अधिभूतरूपी स्थूल नेत्र से ग्रहण करने योग्य हिरण्यमय पात्ररूपी अधिदैव स्वरूप से धारणा हटाकर सूर्य के अध्यात्म स्वरूप की अपरोक्षानुभूति मुमुक्षु नहीं कर सके, तब तक स्व-स्वरूप की उपलब्धि असम्भव है।

कर्म तथा उपासना इन दोनों से युक्त जो तत्त्वज्ञानार्थी पुरुष है, वह अधिकारी मरणकाल में आदित्य भगवान् से प्रार्थना करता है कि—हे सूर्य! सत्य परमात्मा का स्वरूप जो आदित्यमण्डल में स्थित है, सो प्रकाशमय पात्र से आच्छादित है, इस से प्रतीत नहीं हो रहा है। अतः सत्य परमात्मा का उपासक जो मैं हूँ, सो मेरी उपासना के लिए आवरण को दूर करो, जिस से मैं सत्य परमात्मा का दर्शन कर सकूँ ॥ १५ ॥

विशेष—सत्य को जिस मण्डलाकार चमकीले ढक्कन ने ढक रखा है, वह मूर्त है। मूर्त मिथ्या हुआ करता है, वह यदि हट जाय तो सत्यात्मा ब्रह्म की स्वरूपोपलब्धि स्वयं ही—अनायास ही—ऐसे हो जाय जैसे परदा हट जाने पर वस्तु स्वयं सामने आ जाती है[२]।

इस मन्त्र में व्यावहारिक-पक्ष को अत्युत्तम रीति से समझाया गया है, यथा—सत्य मिटा नहीं करता, क्योंकि उस में ऐसी सामर्थ्य है, पर वह छिप अवश्य जाता है। सचाई के ढकनेवाले—छिपानेवाले—जितने पदार्थ हैं, उन में हिरण्य याने सोना सब से बढकर है। इसी को प्रकृत मन्त्र में कहा गया है कि—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखम् अपिहितम्'। हिंसा आदि चाहे जितना अनर्थकारी पाप क्यों न हो, वह सोने—चाँदी के पात्रवत् टुकड़ों से छिपाया जा सकता है—

‡उपासना और गायत्रीमन्त्र इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है। सूर्यमण्डल को लक्ष्य कराकर ही हिरण्मय पात्र का प्रयोग किया है।

१—उपलक्षणमेतत्—यह तो उपलक्षण है (सर्वस्याऽपि जनस्य दर्शनार्थमित्यर्थः)।

२—आच्छादक पात्र के संहरण का प्रकार वक्ष्यमाण (अगले) मन्त्र में स्फुट होगा।

३—यह भी यावद्रत्नों का उपलक्षण है, ऐसा कोई कहते हैं। हिरण्य में सभी प्रकाशमान रत्नों का समावेश हो जाता है, ऐसा भी किसी का मत है।

सच्ची हिंसा अहिंसा में परिणत की जा सकती है। घूँस लेकर या देकर सत्य का मुँह बन्द किया जा सकता है। इनाम के नाम पर चाहे जो अनर्थ ढहाया जा सकता है। इसी लिए श्रुति भगवती उपकारपरायण–वर्द्धिष्णु सज्जनों को आज्ञा देती है कि—'सत्यधर्माय दृष्टये तत् त्वम् अपावृणु' याने सचाई को देखने–जानने और तदनुकूल बर्ताव करने के लिए उस द्रव्य के लोभ के परदे को हटा दो।

जो लोग जगत् में सत्य-धर्म का प्रचार-प्रसार करने की अभिलाषा रखते हों और देश-जाति या समाज की सेवा करना चाहते हों वे सोने का लालच छोड़ दें। कामिनी-काञ्चन वह कीचड़ है—वह दल-दल है जिस में फँसा प्राणी भाग्य से ही उबर सकता है। उक्त दोनों बन्धनों में, बाधाओं में काञ्चन अधिक भयानक है, जहाँ सुवर्ण होगा वहाँ सभी अनर्थ शीघ्र एकत्र हो जाते हैं। व्यवहारदशा में सुवर्ण का कोई-कोई आंशिक सदुपयोग भी करते हैं, पर ऐसे लोग संसार में नहीं जैसे ही हैं।

महात्माओं को इस बला से बचकर अपने साधन में लगे रहना चाहिये। जो सुवर्ण के फेर में जितना ही पड़ेगा वह उतना ही सत्य-धर्म से दूर होता जायगा। इसी के पीछे रात दिन दौड़नेवाले–विदेशियों की अशान्त-असन्तुष्ट-और अस्वस्थ दशा को सभी लोग देख रहे हैं। यही बात 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' इसमें सक्षेप से कही गई थी, उसे यहाँ सविस्तर-स्पष्ट समझाया गया है। महात्मा लोग सुवर्ण के फेर में नहीं पड़ते, इसी से वे सत्य-धर्म का पालन करने में समर्थ होते हैं। जिसे अपनी आत्मिक शक्ति उन्नत करनी हो उसे प्रकृति के मोहजाल में–निन्नानवे के फेर में–नहीं पड़ना चाहिये। विश्व में सत्यधर्म को जिसने छिपा रखा है, ऐसे चमकीले-सुनहले-परदे को जगदीश्वर शीघ्र हटा ले, ऐसी प्रार्थना करके यहाँ सचाई के देखने का यत्न किया गया है॥ १५॥

फिर भी कई प्रकार से सूर्य का सम्बोधन करते हुए और कार्य कहते हैं, यथा—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥ १६॥

अन्वय-व्याख्याः—हे पूषन्[१]! (जगतः पोषणात् पूषा रविः—हे

१—ताप, प्रकाश और रस आदि प्रदान करके जगत् का पोषण करता है, अतः सूर्य को पूषा कहा गया है।

जगत्पालक सूर्य्य !) [तथा] एक एव ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः, हे एकर्षे ! (एकाकिमात्रगमनस्वभाव !) [तथा] हे यम (सर्वेषां संयमनत्वात्-सर्वनियमनकारक !) हे सूर्य्य ! (आदित्य ! रश्मीनाम्, प्राणानाम्, रसानाञ्च स्वीकरणात् सूर्य्यः) (प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः) हे प्राजापत्य ! [स्वान्] रश्मीन् (मम चक्षुष उपतापकान् किरणान्), व्यूह (विगमय) [उपशमय] । तेजः (आत्मभूतं व्यापकं ज्योतिः) समूह (उपसंहर) । यत्, ते (तव) रूपम्, कल्याणतमम् (अत्यन्तशोभनम्, मङ्गलजनकम्) तत्, ते (तव आत्मनः प्रसादात्) [अहम्] पश्यामि (दर्शनार्थं भक्त्या याचे) । यः, असौ, (जाग्रदाद्यवस्थात्रयसाक्षी, आदित्यमण्डलस्थः, व्याहृ[1]त्यवयवः) पुरुषः , सः, अहम्, अस्मि, (भवामि) [स्वात्मचिन्तया] क्रियायोगेन सोऽहमिति भावः ॥ १६

भावार्थ—पहले कह आये हैं कि—यदि सूर्य अपने तेजोमण्डल का संहार कर ले तो स्वरूप स्वतः दीखने लगे। पर उस सूर्यमण्डल का संहार और स्वरूप का दर्शन कैसे होगा ? ऐसी आशङ्का होने से उन दोनों का निरूपण करते हुए अमृतसिद्धि के प्रस्ताव का उपसंहार करते हैं, यथा—

हे सब के पोषक ! हे एकाकी विचरण करनेवाले !! हे सर्वनियामक !!! हे सर्वकर्मसु लोकप्रद !!!! यद्वा आकाशचारी होने के कारण सर्वलोकग !!!! हे प्रजापत्युद्भव !!!! अपने किरणसमूह का उपसंहार कर लो—हटा लो, और अपने तीव्र तेज को सङ्कुचित करो। ऐसा करने का कारण यह है कि—आप का जो अतीव कल्याणमय सुन्दर आनन्दात्मक स्वरूप है, आपकी कृपा से मैं उसका साक्षात्कार कर सकूँ। अधिक क्या कहूँ, मैं आप से भृत्य की तरह अन्य (गैर) होकर नहीं माँगता। देखो, आदित्यमण्डल में यह जो परोक्ष[2] परिपूर्ण पुरुष है, वह मैं हूँ। स्वयंज्योतिरूप ही मेरा वास्तव रूप है ॥ १६ ॥

१—'व्याहृत्यवयवः' वह व्याहृतिस्वरूप है, यथा—'तस्य भूरिति शिरः, भुव इति बाहू, स्वरिति प्रतिष्ठा' (बृ० उ० ५-५-३) अर्थात् उस का 'भूः' यह शिर है 'भुवः' ये भुजाएँ है, तथा 'स्वः' यह प्रतिष्ठा (चरण) हैं।

२—शास्त्रदृष्टि से अपरोक्ष।

वि० वि० भाष्य—राजयोग-सम्बन्धयुक्त ब्रह्मोपासना के अभिप्राय से इस मन्त्र में पूषन्! एकर्षे! यम! सूर्य! प्राजापत्य! ये सम्बोधन रखे गये हैं। रश्मि और तेज इन दोनों के द्वारा ही वस्तुतः सूर्यदेव का स्वरूप आच्छादित है। रश्मिसमूह जैसे सूर्य का कार्य प्रकट करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मप्रकृति दृश्य प्रपञ्च उत्पन्न करती है। सुतरां रश्मिरूपी दृश्य प्रपञ्च को हटाकर तेजरूपी निज प्रकृति को सङ्कुचित करके अपने में मिला लेने से स्वरूप का उदय याने मङ्गलमय रूप का दर्शन होता है। दर्शन करनेवाला मैं कोई दूसरा नहीं हूँ, न मैं किसी दीन सेवक की तरह दर्शनों की भिक्षा ही माँगता हूँ। क्यों कि—सूर्यमण्डल में जो पुरुषतत्त्व है, मैं उस से जुदा नहीं हूँ, जो वह है, वही मैं हूँ ॥ १६ ॥

विशेष—हे पोषक! हे प्रधान! हे नियामक! हे प्रेरक! हे प्रजापत्यपत्य! प्रकृति के चकाचौंध के कारण मुझे तेरा स्वरूप दिखाई नहीं देता। तू मेरी आँखों में चकचकाहट करनेवाली अपनी किरणों को हटाकर अपने उत्तापक तेज को समेट ले, जिस से मैं तेरे अभ्युदय और निःश्रेयसप्रदानसमर्थ स्वरूप को देख लूँ। तेरे स्वरूप का साक्षात् करनेवाला जो पुरुष है, अर्थात्—जो तेरा परम भक्त होता है, वही पुरुष मैं हूँ, मैं तेरा अनन्य भक्त हूँ। इसलिए मैं तेरे मङ्गलप्रद स्वरूप को देखना चाहता हूँ।

परमेश्वर 'पूषन्' याने सब का पोषक है, 'एकर्षि' याने वही एक स्व-

---

१—कार्यब्रह्मरूपी जगत् का पोषक कारणब्रह्म, यह 'पूषन्' शब्द का तात्पर्य है।

२—एक और अद्वितीय, अर्थात्—"एकमेवाऽद्वितीयम्" श्रुतिप्रतिपाद्य पद के लक्ष्य-बोधनार्थ 'एकर्षे' सम्बोधन किया है।

३—जब तक शरीर है, तब तक कर्म का बन्धन है और जब तक कर्म है तब तक अनुशासन की आवश्यकता है, इसी कारण तामसिक अधिकारी राजानुशासन, राजसिक अधिकारी शब्दानुशासन और सात्त्विक अधिकारी योगानुशासन के अधीन रहते हैं। अतः वे ही सब के सब प्रकार के शासक होने से यम हैं।

४—रश्मि द्वारा जिस प्रकार सूर्यमण्डल वाष्पराशि का आकर्षण करता है, उसी तरह ईश्वर अपने तेज द्वारा सब जीवों को अपनी ओर अग्रसर होने के लिए आकर्षण करते हैं, अर्थात् अभ्युदय-निःश्रेयस प्रदान करते हैं, इस कारण 'सूर्य' शब्द से सम्बोधन किया है।

५—श्री भगवान् के ब्रह्म, ईश एवं विराट् त्रिभावात्मक रूप के दर्शनार्थ 'प्राजापत्य' शब्द का प्रयोग किया है।

व्यापार में स्वतन्त्र है, 'यम' याने सब को अपने नियम में रखनेवाला है, 'सूर्य' याने प्रकाश देनेवाला है, और 'प्राजापत्य' अर्थात् प्रजापति की सर्व सामर्थ्यों से युक्त जो देव है—जो महाप्रभु है उसी का इस मन्त्र में अन्तःकरण से आह्वान किया गया है। वह इस अधिकार के साथ, इस दावे से कि–मैं आप के आनन्दस्वरूप को देखने की अभिलाषा रखनेवाला आप से अभिन्न हूँ। इस मन्त्र के कथनानुसार साधक को तन्मय होकर परमात्मा की उपासना करनी चाहिये। क्योंकि—'देव होकर देवता का यजन करे' ऐसी आज्ञा है। इस मन्त्र में विज्ञान-पक्ष का समर्थन किया गया है ॥ १६ ॥

मरने के समय उपासक को ऐसा अनुसन्धान–चिन्तन–करना चाहिये कि—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥

अन्वय-व्याख्याः—अथ (इदानीम् मरिष्यतः मम), वायुः (प्राणः), [अध्यात्मपरिच्छेदं हित्वा देहसम्बन्धं परित्यज्येत्यर्थः] अनिलम् (अधिदेवात्मानं सर्वात्मकम्), अमृतम् (सूत्रात्मानम्-हिरण्यगर्भम्), प्रतिपद्यताम्—लभताम्—इति शेषः। इदम्, शरीरम् (अग्नौ हुतम् सत्), भस्मान्तम् (भस्मशेषं भूयात्)। ओम् (ब्रह्मप्रतीकत्वात् सशक्तिकं ब्रह्म, यथोपासनं सत्यात्मकं ब्रह्म), क्रतो! (हे संकल्पात्मकं मनः!), [अधुना कर्तव्यं कर्म] स्मर (चिन्तय), कृतम् (यन्मया यावज्जीवनम् अनुष्ठितं तच्च कर्म) स्मर। ['क्रतो स्मर-कृतं स्मर' इति द्विरुक्तिरादरार्था, स्वदैन्यसूचिका वा] ॥ १७ ॥

भावार्थ—अब मेरी मृत्यु का समय आ गया है, इस समय मेरा प्राणवायु आध्यात्मिक परिच्छेद याने देहसम्बन्ध परित्याग करके अधिदैव-सर्वात्मक और अमृत अनिलरूप याने व्यापक वायु सूत्रात्मा को प्राप्त हो, और ज्ञान (सदसच्चिन्तन), कर्म (शुभाशुभ) के संस्कार से युक्त यह लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) स्थूलदेह से निकल जावे। अनन्तर यह स्थूलशरीर अग्नि में आहुति होकर भस्म में परिणत

१—'भस्मान्तꣳ शरीरम्' अन्त में शरीर जलकर राख हो जाता है, यह संसारी को लक्ष्य करके कहा गया है न कि–संन्यासी को। यहाँ भस्मशब्दार्थ का यह संकोच शास्त्रप्रमाणानुमोदित है।

हो। ओङ्कारस्मरणपूर्वक कहते हैं कि—क्रतो ! हे सङ्कल्पात्मक मन ! अब जो हमारे स्मरण करने योग्य है उस का स्मरण करो, बाल्यकाल से लेकर अब तक जो सब कर्म किये हैं, उन का भी स्मरण करो। या ॐ माने–हे ओङ्काराभिधेयेश्वराऽभिन्न आदित्य ! हे क्रतो ! आदित्याभिन्नसङ्कल्पात्मन् ! हे यज्ञरूपेति वा, अपने उपासक मुझ को स्मरण करो, और मैं ने ज्ञान तथा कर्म का जो अनुष्ठान किया है उस का भी स्मरण करो ॥ १७ ॥

वि० वि० भाष्य—चाहे आरुरुक्षु मुनि हो, चाहे योगारूढ महात्मा हो, सब के मृत्यु का प्रसङ्ग अनिवार्य है। मर्त्यलोक में मृत्यु भी एक आवश्यक प्रयोग है। मृत्यु की अन्तिम घड़ी सँभालने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। शरीर में वायु प्रधान अवलम्बनीय है, वह प्राणस्वरूप है। प्राणशक्ति ही सब कुछ धारण करती है। महात्मा अभ्यासी महापुरुष शरीर त्याग करते समय स्थिर धारणा से यह कहते हैं कि—मेरा प्राणवायु चिन्मय महाप्राण देवता में मिल जाय। प्राण यावत् शक्तियों का केन्द्र है, उसी की शक्ति निःश्रेयस प्रदान करने में समर्थ है, इसी से उसे अमृत कहते हैं। मिट्टी में अन्य पदार्थ मिले रहते हैं, अतः वह शुद्धांश नहीं कहा सकती। भस्म शुद्ध है। शरीर को उस पवित्रता के मार्ग में पहुँचाकर स्वयं ब्रह्मीभूत होना ही इस मन्त्र का अन्तिम फल है। साधक कहता है कि—मेरे प्राण परिच्छिन्न अभिमान का त्याग करके समष्टि वायुरूप हिरण्यगर्भ को प्राप्त हो जायँ। कर्म तथा उपासना के संस्कारसहित जो यह मेरा लिङ्गशरीर है, वह लिङ्ग-शरीर से निकल जाय, और यह मेरा स्थूल देह भस्मीभाव को प्राप्त हो जाय।

अर्थात्—मरणकाल में उपासक मन से कहता है कि—हे मन ! जिस पदार्थ को तू प्राप्त होता है, संकल्पसहित कर्म करके ही प्राप्त होता है। अब समय आ गया है कि—तूने जो बाल्य आदि अवस्थाओं में विहित कर्म तथा विहित उपासनायें की हैं उन का स्मरण कर, ऐसा करने से प्राणप्रयाण शान्ति से होंगे, इष्ट लोक की प्राप्ति होगी ॥ १७ ॥

विशेष—किसी के मत में यह मन्त्र आत्मपरीक्षणपरक है, वे कहते हैं कि यह शरीर तो जलकर खाक में मिल जानेवाला है, अतः इसी को सब कुछ न समझ-कर प्राणवायु को अनिल याने महावायु में मिलाकर विशेष शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। शरीर तो सब का बराबर है, पर महापुरुष लोग प्राणायामादि–विविध-स्वेष्ट-उपायों से उस में एक विलक्षण शक्तिपुंज का संचय कर लेते हैं। साधक अपने मन से कहता है कि—हे मन ! तूने जो कर्म किये हैं–वे चाहे आज-कल, शाम

सबेरे या बहुत काल पहले किये हों, उन पर एक दृष्टि दौड़ा ले। ऐसा करने पर खोटे-खरे का पता लग जायगा, तब अवनति करनेवाले कर्मों का त्याग कर सकेगा। 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' याने अपना उद्धार आप करना होगा। नित्यप्रति अपने कर्मों की पडताल करना आत्मोन्नति में अत्यन्त सहायक है। भूल तभी सुधरेंगी जब कि-उन पर विचार करके उन्हें हानिकर समझ लिया जायगा। इसी का नाम 'आत्म-परीक्षण' है। इस मन्त्र में व्यावहारिक पक्ष को लेकर साधक की आत्मोन्नति का लक्ष्य बताया गया है। शरीर को परिपुष्ट करना श्रेष्ठों के लिए सर्वथा इष्ट होना चाहिये। पर आध्यात्मिक शक्ति बढाने के लिए, न कि-शारीरिक प्रदर्शन करने के लिए। शरीर का क्या ठिकाना ? इस पर भरोसा रखनेवाले हाथ ही मलते रह जाते हैं। बालू की भींत का भरोसा क्या ? हाँ इस में प्रतिष्ठित प्राणवायु की शक्ति को उन्नत करना चाहिये। शरीर सोने की थाली की तरह एक अत्यन्तोपयोगी साधन हो सकता है, पर उस में परोसकर खाया जानेवाला क्षुधाशामक पदार्थ कोई और ही है।

इस मन्त्र में आये कुछ शब्दों पर अलग-अलग विचार कर लेना भी आवश्यक है, क्योंकि—वे पद विशेष भावयुक्त हैं। यथा—'वायुः, अनिलम्, अमृतम्, इदम्, भस्मान्तम्, शरीरम्।' वायुः-प्राणवायु, अमृतम्-अमर अविनाशी याने मरणधर्म से रहित। अनिलम्-प्राणस्य प्राणम्, याने प्राण को भी जीवन देनेवाला, तैजस आदि नाम से वेदान्तप्रसिद्ध जीवभूत[1] अर्थात् आत्मा। जब तक शरीर में जीव रहता है, तब तक प्राणवायु भी रहता है। शरीरं नाम-'अस्थिमांसादिसंघातरूपम्' भस्मान्तम्—भस्म ही है अन्त याने परिणाम जिस का, अर्थात् शरीर भस्मावसान है। वस्तुतः मनुष्य का देह अब भी याने सदा ही राख का ढेर ही है। इस का निगूढ तात्पर्य यह हुआ कि—यह शरीर अतितुच्छ है।

इस मन्त्र में ॐकार का उच्चारण शुभार्थ है, आगे जो वार्ता कही जायगी वह सब के लिए मङ्गलमय होगी, इस से यह सूचित होता है। यहाँ क्रतुशब्द यज्ञ का वाचक है, क्योंकि—यह उपनिषद् यजुर्वेदीय है, यजुर्वेद में क्रतुशब्द यज्ञार्थक है, यज्ञ पारलौकिक होता है, अतः यहाँ क्रतुशब्द से परलोक उपलक्षित होता है। 'क्रतो' यह सम्बन्धमात्र विवक्षा में कर्मणिषष्ठी है, सम्बोधन नहीं, आर्ष होने से विसर्ग का लोप हो गया। अर्थ यह हुआ कि-जीवभूत आत्मा तो अमृत है और यह शरीर भस्मीभूत हो जानेवाला है, इस से 'क्रतोः' नाम स्वर्ग नरकादि परलोकगमन,

१—जीव एवाऽमृतोऽनिल उच्यते, अमृतो यतः स्वरूपतः परमात्मा। अनिलो यतः जीवरूपतः सूक्ष्मो वायुरिव।

पुनर्जन्म का वार्ता को मत भूलो, किन्तु सर्वदा विशेषरूप से स्मरण करो। तथा परलोकादि स्मरणानन्तर तुमने इस लोक में बाल्यकाल आदि से जो धर्माऽधर्मादि अनुष्ठान किये हैं, जिन के अनुसार परलोक में शुभाऽशुभ फल की प्राप्ति होगी, उन को भी स्मरण करो, और स्मरण करके अपने शुभ की इच्छा करते हुए अधर्म, काम आदि दोष-समूह को परित्याग करके सुपथ में गमन करो।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि—'ओं तत् सत्' इस चिरप्रसिद्ध मन्त्र में से 'सत्' अधिभूत विराट् का वाचक है, 'तत्' शब्द अधिदैव ईश्वर का वाचक, और 'ओम्' अध्यात्म ब्रह्म का वाचक है। इस कारण 'ओम्' से बढकर श्रेष्ठ कोई मन्त्र नहीं है। 'ॐ' का यथार्थ ध्वन्यात्मक स्वरूप योगी स्मरण कर सके तो ध्वन्यात्मक ओंकारनाद के अवलम्बन से उस का मन ब्रह्मपद में पहुँच जायगा, और वह स्वयं ब्रह्मीभूत हो जायगा, इस में सन्देह नहीं। इसी कारण मन से कहा जाता है कि—'हे मन! स्थूल और लिङ्ग शरीर की धारणा को भूल करके ओङ्कार-स्मरण पूर्वक ब्रह्म की धारणा करो। यदि ब्रह्मधारणा से च्युत हो तो, उस समय निदिध्यासन सम्बन्धीय अन्तर्याग का स्मरण करो। हे मन! सावधान हो। स्थूल शरीर में न फसो, न लिङ्ग शरीर में फँसो, केवल श्रवण और मनन के फलरूप निदिध्यासन में अन्तःकरण को लगाओ।

तात्पर्य यह है कि—यदि स्थूलशरीर या स्थूलशरीरसम्बन्धीय पदार्थों में मन लगा रहे तब प्रेतत्व होता है, उसी प्रकार लिङ्गशरीर से सम्बन्ध रखने से स्वर्ग, नरक आदि भोगलोकों की प्राप्ति होती है। अतः पूर्वकथित उपायों से सब से अलग होकर केवल ओङ्कार अवलम्बनपूर्वक ब्रह्म में युक्त हो जाओ॥ १७॥

अब उपासनीय देवता की प्रार्थना करके सुमार्ग की प्राप्ति के लिए कर्म का साधनरूप जो देवता है, उसकी प्रार्थना करते हैं, यथा—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥१८॥

अन्वय-व्याख्या१—हे अग्ने! अस्मान्, राये (धनाय-कर्मफल-भोगाय), सुपथा (शोभनेन देवयानाख्यमार्गेण), नय (गमय)। हे देव!! (त्वम्) विश्वानि (सर्वाणि), वयुनानि (कर्माणि-प्रज्ञानानि

१—'उपनिषद्सुबोधिनी' टीका में लिखे अनुसार।

वा), विद्वान् (जानन्), अस्मत् (अस्मत्तः), जुहुराणम् (कुटिलम्), एनः (पापम्), युयोधि (वियोजय नाशयेति)। ते (तुभ्यम्), भूयिष्ठाम् (बहुलाम्), नम–उक्तिम् (नमस्कारवचनम्), विधेम (नमस्कारेण त्वां परिचरेम-प्रसादेयम इति भावः) ॥ १८ ॥

भावार्थ—हे अग्ने ! कर्मफलों के भोगने के लिए कर्मोपासना के समुच्चय का अनुष्ठान करनेवाले हम लोगों को सुन्दर उत्तरायण मार्ग से ले चलो । हे दीप्तिमन् ! देव !! आप कर्मों और उपासनाओं को जानते हुए हम उपासकों के कुटिल-कठिन जो पाप हैं, उनसे हमारा वियोग करा दो । हम आप को बारंबार नमस्कार करते हैं ।

'हे अग्निदेव ! हम को सुपथ से ले चलो' यहाँ 'सुपथ' कहने का तात्पर्य यह है कि हम कर्मियों की दक्षिणायन गति में बहुत बार जाकर जन्म-मरण का दुःख भोग चुके हैं। इस कारण हमें दक्षिण मार्ग से वैराग्य हो गया है। सुतराम् याचना करते हैं कि—बार-बार गमनागमन से रहित शोभन मार्ग से ले चलो, और हमारे अनुकूल फल प्रदान करो ।

हे देव ! तुम हम लोगों के किये हुए कर्म तथा ज्ञान सभी को जानते हो, कुटिल और वञ्चनात्मक (प्रथम प्रिय और परिणाम में दुःखरूपी) हमारे पापों का नाश करो, जिस से हम पापरहित विशुद्ध होकर अपने अभीष्ट (ईप्सित-फल) को प्राप्त कर सकें । परन्तु इस समय (मृत्यु समय उपस्थित होने के कारण) हम तुम्हारी सेवा करने में असमर्थ हैं। इस कारण तुम्हें बहुत-बहुत नमस्कार करते हैं, अर्थात्—केवल नमस्कार द्वारा तुम्हारी सेवा (आराधना) करते हैं[१] ।

१—भाष्यकार का कथन है कि—अविद्या और विनाश की सेवा का फल मृत्यु का अतिक्रमण करना है । तथा विद्या और असम्भूति की सेवा का परिणाम अमृतत्व लाभ करना है । यहाँ द्विविध फलश्रुति देखकर शङ्का हो सकती है। इस विषय की शङ्का तथा समाधान जो भाष्य में लिखा है उस का संक्षेप यह है कि—विद्या शब्द से मुख्या परमात्मविद्या और अमृतत्व से मुख्य अमृतत्त्व (मुक्ति) न लेकर अन्य अर्थ क्यों ग्रहण किया ? यह आपत्ति ठीक है, क्योंकि परमात्मज्ञान के साथ कर्मानुष्ठान का विरोध अपरिहार्य है, तब दोनों का समुच्चय अथवा सहानुष्ठान किसी तरह हो नहीं सकता। इस के उत्तर में कहा गया है कि—'किस का किस के साथ विरोध है, किस का नहीं, इस में केवल शास्त्र ही प्रमाण है।' जब कि—शास्त्र में विद्या और अविद्या इन दोनों के समुच्चय की अनुमति दी गई है तब उस विषय में लौकिक हिंसा से यज्ञीयहिंसावत् विरोध क्या है ? अधिक परिज्ञान के लिए भाष्य अवलोकन किया जा सकता है ।

वि० वि० भाष्य—उपनिषद्सुबोधिनीकार कहते हैं कि—अविद्या और विद्या के प्रभाव के विचार से स्थूल शरीर त्याग करने के अनन्तर जो दशा प्राप्त होती है, उस को उपनिषद्विज्ञानवेत्ता आचार्यों ने 'कृष्णगति' 'शुक्लगति' 'सहजगति' और 'ऐशगति' इन चार श्रेणियों में विभक्त किया है। पहली एक अविद्या के अधीन और शेष तीनों विद्या के अधीन समझी जाती हैं। अज्ञानजननी अविद्या देवी भ्रमजनित अध्यास में फसाकर जीव को बन्धनदशा में बनाये रखती है। जीव अज्ञानजनित मिथ्या अध्यास में फसकर स्थूलशरीर और लिङ्गशरीर को अपना मानकर मृत्यु के अनन्तर या तो प्रेतलोक में जाता है या नरकलोक में, अथवा पितृलोक में, और उग्र पुण्य होने से स्वर्गादि उच्च लोक में भी जाता है। इन इन लोकों में घूमकर बार-बार इस मर्त्यलोक में मातृगर्भ में जन्म लेता है। इसी को आवागमन-चक्र कहते हैं, यही जीवन की 'कृष्णगति' है। जब तक अविद्या देवी का प्रभाव बना रहता है तब तक जीव आवागमनचक्र के फन्दे से कपापि बच नहीं सकता। प्रेतलोक में जीव पछताता है, एवं नरकलोक में तथा गर्भ में भी पश्चात्ताप करता है, तो भी पुनः पुनः जन्ममरण के चक्र में घूमता रहता है। जिस पर परमात्मा की कृपा होती है तथा गुरु अनुग्रह करते हैं वही इसको त्रितापमय समझकर विषय-वैराग्य को प्राप्त करता है, तब विद्या देवी की कृपा प्रारम्भ होती है।

ज्ञानजननी विद्यादेवी की कृपा से विषयवैराग्यसम्पन्न तत्त्वज्ञानी महापुरुष पूर्वकथित 'शुक्लगति' 'सहजगति' और 'ऐशगति' को प्राप्त होता है। ये तीनों ही मुक्ति की देनेवाली हैं[१]। अति उग्र पुण्य, तपस्या और तत्त्वज्ञान के प्रभाव से जीव जब मृत्यु के अनन्तर दिवा-अभिमानी देवता, शुक्लपक्षाभिमानी देवता और उत्तरायण-अभिमानी देवता की सहायता से शुक्ल गति के पथ में अग्रसर होता हुआ भुव, स्व, जन, मह, तप आदि किसी लोक में न भटककर सप्तम ऊर्द्ध्वलोक में तथा सूर्य-मण्डल भेदन करके स्व-स्वरूप की उपलब्धि द्वारा जब ब्रह्मसायुज्य को प्राप्त होता है, तब 'शुक्लगति' का पूर्ण फल उदय होता है।

'सहजगति' और 'ऐशगति' इस से विलक्षण हैं। जीव उग्र तपस्या द्वारा मनुष्यपिण्ड को छोड़कर देवपिण्ड प्राप्त करता है और यम, इन्द्र, वसु, आदित्य आदि बड़े-बड़े पदों को प्राप्त करता हुआ अन्त में एक ब्रह्माण्ड का अधीश्वर होकर ब्रह्मा-विष्णु-रुद्ररूपी सगुण ब्रह्म के पदों में से किसी या किन्हीं पदों को लाभ करके

१—अधिक जानने के लिए मेरे लिखे 'गतिरहस्य' को देखिये।

ब्रह्मीभूत हो जाता है। यही अलौकिक, मन, वाणी से अगोचर 'ऐशगति' का अन्तिम फल है।

इसी मर्त्यलोक में पूर्व जन्मार्जित प्रबल तपस्या और प्रबल पुण्यकर्म तथा ज्ञान-वैराग्य की सहायता से, एक ही जन्म में श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा साधक स्व-स्वरूप की उपलब्धि कर लेता है, और जीवन्मुक्त होकर शरीरपात की अपेक्षा करता है। यही देवदुर्लभ 'सहजगति' का अन्तिम फल है।

यह अन्तिम मन्त्र 'शुक्लगति' की प्राप्ति का निदर्शक है, भाग्यवान् महापुरुष स्थूलशरीर छोड़ते समय इस उपनिषद् का आश्रय लेकर इन तीनों अन्तिम मन्त्रों की धारणा से 'शुक्लगति' की प्राप्ति से कृत-कृत्य होता है। अलौकिकशक्तिसम्पन्न पुरुषविशेष को लक्ष्य करके इस मन्त्र में 'अग्ने' सम्बोधनपद का प्रयोग हुआ है। 'कृष्णगति' रूपी कुटिल पथ को त्याग करके 'शुक्लगति' के मङ्गलमय पथ के निर्देश के लिए 'सुपथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। शुभाशुभ कर्म प्रकृति के स्पन्दन से उत्पन्न होता है, प्रकृति परमात्मा ही की होने के कारण कर्म के यथार्थ गतिवेत्ता एकमात्र परमात्मा ही हो सकते हैं। इस से ज्ञानी भक्त प्रार्थना करता है कि—आप कर्म के द्रष्टा और नियन्ता हैं, कर्म की गति को ऐसी नियोजित कीजिये कि—जिस से मेरी यह 'शुक्लगति' बाधारहित और शान्त हो। यह निःश्रेयस की गति तभी सरल हो सकती है जब बाधा देनेवाली पापरूपी गति का हान हो जाय। इस कारण ऐसी प्रार्थना इस मन्त्र में की गई है ॥ १८ ॥

विशेष—इस मन्त्र में उपासक ने जो प्रार्थना की है वह समाजपक्ष के चरित्रगठन के लिए अत्यन्तोपयोगिनी है। वह कहता है—हे अग्ने! [सब को प्रकाश देकर कर्म-धर्म में लगाने की स्फूर्ति प्रदान करनेवाले परमेश्वर!] हमें सुमार्ग से—लोक-वेदविहित उपाय से—वैभव को—अभ्युदय को—प्राप्त कराओ। हमें धन की इतनी परवाह नहीं है जितनी सुमार्ग पर चलने की-कुमार्ग से बचने की। हमें धन की आवश्यकता तो है, पर वह सुमार्ग पर चलने से प्राप्त होगा तो हमें वह अङ्गीकार है, कुमार्ग से यदि धनलाभ होगा तो हम उसे त्याग कर सुमार्ग को ग्रहण करेंगे, क्योंकि—हम ऐश्वर्य से बढ़कर सन्मार्ग को समझते हैं। तुम सब के प्रेरक हो, अतः हमारी बुद्धि कभी भी कुमार्ग में न जाने पावे, हमारे सदाचार में किसी तरह का फर्क न हो, ऐसी कृपा करो। 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्' तुम हमारी सभी बातों को जानते हो, हम कोई जगह ऐसी नहीं देखते जहाँ तुम से छिपकर कोई कर्म किया जा सके। तुम सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी हो, अतः तुम्हें मन

की बात भी मालूम रहती है, तुम प्राणिमात्र के शुभाशुभ सङ्कल्पों को जानते हो। तुम सर्वशक्तियों के भाण्डागार हो। अतः 'जुहुराणम् एनः अस्मत् युयोधि' हमें भी ऐसी शक्ति दो कि—हम कठिन से कठिन और बड़े भयानक से अतिभयङ्कर पापों से युद्ध कर सकें। तुम सब के अधिष्ठाता हो। हम तुम को दे क्या सकते हैं ? तुम्हारी कृपा के लिए हम तुम को अनेकशः नमस्कार करते हैं।

अन्यत्र—'क्रतो स्मर कृतं स्मर' यहाँ पर इस लोक में किया हुआ कर्म परलोक में फल देता है, इसे ध्यान में रखकर 'अधर्ममार्ग का परित्याग करके धर्मपथ से चलो' कहा गया है। पर धर्माधर्म का विचार करके धर्ममार्ग से कैसे चला जायगा ? ऐसी शङ्का पर कहते हैं—'अग्नेरुपासनेन धर्मपथप्रवर्तनं स्वत एव भवेत्' याने अग्नि की उपासना से धर्ममार्ग में स्वयमेव गमन हो जायगा। क्योंकि—अग्नि देवता में ऐसी सामर्थ्य है। इस अभिप्राय के बोधन करने के लिए प्रकृत श्रुति की प्रवृत्ति हुई है।

यहाँ यह भी विचार है कि–'क्रतो स्मर कृतं स्मर' 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' इन श्रुतियों से अपनी चेष्टा के अनुरूप पुरुषार्थ सूचित किया गया है। 'ईशावास्यम्, इदम्, सर्वम्' इस से सब कुछ का ईश्वरेच्छाधीन होना प्रतिपादन किया गया है। यहाँ विरोध प्रतीत होता है। क्योंकि—जब सब ईश्वर की इच्छा के वश है तो तद्विरोधी पुरुषार्थ का अवसर ही कहाँ रह गया ? इस पर कहते हैं कि–पुरुषार्थ भी ईश्वरेच्छा से ही होता है, या पुरुषार्थ से ही ईश्वरेच्छा प्रकट होती है–दिखाई देती है। प्रकृत में मार्गयाचनसामर्थ्य से पुरुषार्थ का उदय है, जो मार्गयाचन है वही उपासना, प्रार्थना, यजन और स्मरण है। यहाँ प्रार्थना के फल से ही पुरुषार्थ प्रकट हुआ है। क्योंकि 'धियो यो नः प्रचोदयात्' ऐसा कहा भी है। जिन को मार्गयाचन की सामर्थ्य है, उन के लिए पुरुषार्थ का भी अवसर है।

इस मन्त्र में 'अग्नि' का सम्बोधन करके सुमार्ग से वैभव की कामना की गई है। तेजोमय अग्नि से सत्य–धर्म नामक तेजोऽभिन्न ब्रह्म का ही अभिधान किया गया है। इस से ब्रह्मोपासना अग्नि द्वारा होना सम्भव है।

'हिरण्मयेन पात्रेण' इत्यादि मन्त्रों में सूर्य के उष्ण प्रकाशमण्डल को दूर करने की–हटा देने की प्रार्थना की गई है, तब क्यों यहाँ उष्ण प्रकाशरूप अग्नि की उपासना स्वीकार की जाती है ? इस शङ्का का समाधान यह है कि–अग्नि नाम–तापात्मक तेज। अग्नि का जो उष्ण प्रकाशरूप प्रतीक है वह असत् है, और व्यूहित[1] तापात्मक जो तेजोरूप है, वह सत् है, वह सद्रूप ही यहाँ इष्ट है।

१—जिस तेज में चकाचौंध करनेवाली चमक न हो, ऐसा व्यूहित तापात्मक तेज।

'हे अग्ने ! हमें सुमार्ग से धन–वैभव प्रदान कर' इस कथन में यह रहस्य है कि–अग्नि में गमनसामर्थ्य है, 'अगि गतौ' धातु से अग्निशब्द सिद्ध होता है। जब कि उस में गमनकर्तृत्व है तो उस में किसी को कहीं भी पहुँचाने की सामर्थ्य है, अतः 'अग्ने' यह सम्बोधन प्रकृतोपयुक्त ही है।

वैभव प्रदान करके अग्निदेव दारिद्र्य[1] दूर करा सकता है, क्योंकि—सभी रत्न तथा धातुसमूह का सृष्टिकर्ता अग्नि है। कहा है—'अग्नेरेतश्चन्द्रं हिरण्यम्'[2] 'त्वामग्ने[3] वसुपतिं वसूनाम्।'

'अस्मान् सर्वान् जनान्' यह बहुवचन सिद्ध करता है कि—अग्नि का उपासक अपनी तरह समस्त जगत् के सुखी होने की कामना करता है। 'वयुनमिति कर्मनाम' (निघण्टुः) याने इस निघण्टु से 'वयुनानि' का अर्थ 'कर्माणि' करना। 'वयनमिति प्रज्ञानमेवेति निघण्टुः' इस निघण्टु से प्रज्ञान भी इस का अर्थ कर सकते हैं। 'जुहुराणम् कुटिलम्–दृढवेष्टनम्' याने ऐसे टेढ़े-तिरछे या उलटे-पलटे जाल जो प्राणी को जकड़कर बाँध लें। 'एनः–पापम्' याने 'परधन-परदारादिप्रवृत्ति-रूपम्'। जैसे अग्नि का बाह्यताप से सुवर्णादिधातुगत मल की शुद्धि कर देना संसारप्रसिद्ध है, ऐसे ही अन्तस्ताप से मनोगतपापशोधनत्व भी इस का प्रसिद्ध है। अग्नि जातवेदा [जातानि जन्मानि, कर्मफलानि च वेत्ति] याने जन्म तथा कर्मफल को जानता है। इसे पावक [अस्मदीयपापशोधकः], हमारे पापों को शुद्ध करनेवाला भी कहा है।

आर्ष ग्रन्थों में अग्नि के महत्त्व पर बहुत कुछ विचार किया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि—अग्नि की उपासना से सभी श्रेणी के लोगों का सब मनोरथ पूर्ण हो सकता है। लोक में अग्निदेवता का उपयोग सभी जानते हैं। अग्नि 'देवता' है। गुजरात आदि देशों में अग्नि को 'देवता' कहते हैं। अग्नि से बड़ी-बड़ी मशीन चल रही हैं, इसी की सामर्थ्य से इंजिन दौड़ रहे हैं। विद्युत्शक्ति की यही जान है। बहुत से लोग अग्नि प्रज्वलित करके खतरनाक जंगलों में

१—अग्न्युपासकानां न कदापि दारिद्र्यम्। अत्र श्रुतयः—'अग्निमीडे पुरोहितम्, यज्ञस्य देवमृत्विजम्, होतारं रत्नधातमम्' (ऋग्वेद १-१-१) 'त्वमग्ने द्रविणोदा अरं कृते त्वं देवः सविता रत्नधा असि' (ऋग्वेद १-१-३)। 'हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्। चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आवह' (श्रीसूक्त ऋग्वेदीय)।

२—तैत्तिरीय ब्राह्मण (१-२-१-४)।

३—ऋग्वेद संहिता (५-४-१)

हिंस्र जन्तुओं से अपना बचाव किया करते हैं। साधु-सन्त धूनी तपा या रमाकर मरणान्त में रमारमण में रम जाते हैं, और बहुत से सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। बहुतों ने अग्निहोत्रव्रत लेकर कर्मकाण्ड से परमपद पा लिया है। पदार्थों को ताप देकर सरस बनाना अग्निदेव का काम है। यही दूषित-दुर्गन्ध-दुर्दर्शनीय वस्तुओं को शुष्क करके लोकस्वास्थ्य की रक्षा करता है। इस प्रकार अनेक उपयोगी कार्य अग्निदेव की शक्ति से हो रहे हैं। यहाँ तक है कि—वैश्वानर होकर यही सब प्राणियों के अन्न को पचाकर उन्हें जीवित रख रहा है, याने प्राणियों का प्राणाधार अग्निदेवता ही है।

शास्त्रीय रीति से भी पुत्र-वित्तादि की कामना करनेवाले यथाविधि अग्नि की उपासना से स्वाभीष्ट फल प्राप्त करते हैं। इस में 'अयमग्निः सुवीर्यस्येशे महः सौभगस्य। राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहतानाम्।' (ऋग्वेद संहिता ३। १६। १) इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। जो पित्रादिकों के सुख से वंचित हैं, और गृहकलह से जल रहे हैं, वे भी विधिवत् अग्नि की उपासना से आत्यन्तिकी शान्ति लाभ कर सकते हैं, श्रुति में कहा है कि—'अग्निमन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम्' (ऋग्वेद संहिता १०-७-३)। जो रोगग्रस्त हो रहे हैं और शत्रु के पंजे में फँसे हैं, वे भी अग्नि की उपासना से स्वस्थ तथा निश्चिन्त हो सकते हैं, इस में श्रुति प्रमाण है कि—'अग्निर्ददातु भेषजम्' (ऋग्वेदीय ७-२८-१), 'अग्निर्देवानां सेनानीः' (ऋग्वे सं० १०-८७-२३)।

इसी प्रकार आयुर्वेद का परिज्ञान भी अग्नि की उपासना से हो सकता है। अतएव आर्त, चिन्तित आदिकों को अग्नि की उपासना करनी चाहिये। जो लोग हतभाग्य हैं, दारुण दुःखरूपी अग्नि से दग्धहृदय हैं, शोक से नष्टबल और हतबुद्धि के कारण किंकर्तव्यविमूढ हो जीवन से निराश होकर आत्मघातचिन्ता से व्याकुल हो रहे हैं, उन नष्टचित्त-मुरदादिलों के उद्धार के लिए जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र की कल्पना की गई है। उन्हीं के लिए 'कुर्वन्नेवाग्निहोत्रादीनि जिजीविषेत्' का विधान किया गया है। यह कथन 'यः कामयते महत् प्राप्नुयाम्' इत्यादि (शतपथब्राह्मण १४-९-३-१) श्रुतियों से प्रमाणित है। सामवेद में भी अपशकुन, हृदय की दुष्प्रेरणा आदिकों से सूचित अमङ्गल के निवारण के लिए और आनेवाली भाग्य की आपत्ति की शान्ति के लिए अग्निहोत्र का मुख्यरूप से विधान किया गया है।

और भी अग्नि का उपयोग है, यथा—अग्न्युपासना से मन्दिररक्षा, गोसेवा और पितृतर्पण आदि कृत्य सम्पन्न होते हैं। मन्दिरों में यज्ञ-होम आदि कृत्य होने

में जो सौकर्य है, वह घर में नहीं हो सकता, इस से मन्दिरनिर्माण की आवश्यकता है। यज्ञ के लिए घृत-दुग्ध एक प्रधान साधन है, वह गायों से प्राप्त होता है, पर उस दशा में, जब कि उनका पूरा रक्षणावेक्षण हो। जब तक गोरक्षा, गोसेवा न की जायगी तब तक दुग्धादि की आशा करना दुराशा मात्र है। यह भी बात है कि—गोरक्षा के अभाव में देव-पितृकर्म लुप्त होने से ब्रह्मतेज का भी लोप हो जायगा। ऐसा होने पर ब्राह्मणों का भी लोप हो जाना अनिवार्य है। ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि परस्पर सम्बद्ध हैं, इन में किसी एक के लोप हो जाने से दूसरे का लोप भी अवश्य हो जायगा। क्षत्रियों के लुप्त होने से आर्यों को अनार्य दबा लेंगे। ऐसी दशा में आर्यों का अधःपतन हो जायगा और अनार्य (दस्यु) उन्नत हो जाँयगे। तात्पर्य यह निकला कि—गोरक्षणापेक्षित अग्न्युपासना के त्याग के अनन्तर आर्यभूमि और आर्य (वैदिक) धर्म की जो दुर्दशा होगी, उसका वर्णन हम यहाँ नहीं करना चाहते, पाठकवृन्द इसका स्वयं अनुमान कर लेंगे।

जैसे यज्ञ के लिए गोधन परमोपयोगी है, उसी तरह श्राद्ध, अतिथि-सत्कार, बच्चों का पालन, वृद्धों की सहायता और रोगी आदि की परिचर्या प्रभृति अनेक लौकिक व्यवहारों की सिद्धि के लिए भी वह आवश्यक है। 'आयुर्वै घृतम्' के अनुसार गव्य मनुष्यों का जीवन-सर्वस्व है। इस से यह आता है कि अग्न्युपासना से गोरक्षा अनिवार्य-आवश्यक हो जाती है। ब्राह्मणलोग विधिपूर्वक अग्नि की उपासना करें तो उससे देवता प्रसन्न हो जाते हैं, वे तुष्ट देवता राज्य-धर्म-स्वास्थ्य-बुद्धि-बल आदि की रक्षा करेंगे, इससे युद्धों में विजय होगी, शिष्टों का दुष्टों पर प्रभाव पड़ेगा। यों समझना चाहिये कि—पशुओं से मनुष्य श्रेष्ठ हैं, और उससे पितृ-देवता आदि। अतः मनुष्य के लिए हव्य-कव्यादि प्रदान करके उनको तृप्त करना उचित है। तृप्त होने पर वे प्रभूत कल्याण करेंगे। अधिक खर्च के डर से तथा अन्य कारणों से भी अग्निचर्या से पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। वेदों का आदेश है—अग्नि देवताओं की जिह्वा हैं। अग्नि घृत-साकल्य द्वारा देवताओं का मनुष्यों के साथ कथनोपकथन कराता है, और उसीसे आहार ग्रहण करता है। अग्न्युपासकों को देवतान्तर पूजन करने का प्रयोजन नहीं है।

फिर यह भी बात है कि—किसी भी देवता के पूजन—अर्चन में आरती, दीपदान या अन्य प्रकाश द्वारा अग्नि का सत्कार तथा उपयोग तो करना ही पड़ता है। बहुत से लोग व्यापक परमेश्वर की प्रतिमा होने के विषय में शङ्का करते हुए विवाद में प्रवृत्त रहते हैं। उन के पारस्परिक विरोध-वैमत्य दूर

करने के लिए अग्निपूजा का प्रकार बड़ा ही निर्विवाद है। अग्नि को ईश्वर का प्रतीक मान लेने से सब शान्त-शङ्क हो सकते हैं। अग्नि की उपासना में शङ्करजी के बाण (लिङ्ग) की पूजा का समावेश भी हो जाता है, जैसे योनिरूप वेदिका में लिङ्ग रूपी अग्निदेव का घृतरूपी जलधारा से अभिषेक होता है। 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ को साक्षात् विष्णु ही कहा गया है। यज्ञ के लिए जो कहीं हिंसा का वर्णन मिलता है वह प्रक्षिप्त भाग है। जब कि—अहिंसा का सिद्धान्त सार्वभौम है तो उसमें हिंसा को मान लेना व्यापक सिद्धान्त में हस्तक्षेप करना है। चाहे कितने ही अकाट्य युक्ति-तर्कों, प्रमाणों से हिंसा का प्रतिपादन क्यों न किया जाय, किन्तु फलतः है वह अपसिद्धान्त ही। यज्ञ में पशुहिंसा देखकर ही पूर्ण करुणा-वतार–निखिलहृदयराज-भगवान् बुद्धदेव ने वेदों के विरुद्ध होकर अग्न्युपासना का त्याग कर दिया था। वास्तव में वह भी अग्नि–मित्र था, इसे बौद्ध भी मानते हैं, 'गौतमश्चार्कबन्धुश्च' इति स्मरणात्। युद्ध में जो हिंसा का समर्थन है वह अनिवार्य-तया है, अगत्या-लाचारी-मजबूरी से है। 'अहिंसा साधुहिंसा' (महाभारत) 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (यजुर्वेद) 'कृतं स्मर' (यजुर्वेद) 'अग्ने नय सुपथा' 'युयोध्यस्मज्जुहुराणमेन' इत्यादि मन्त्रों में जिस पाप-अधर्म का वर्णन किया गया है, वह जुगुप्सा (निन्दा) जनक होने के कारण हिंसा में आ जाता है।

श्रुति, स्मृति, तन्त्र–ये तीन सनातनधर्म शास्त्र हैं, उनमें श्रुति और तन्त्र देवता-विषयक हैं और स्मृति मनुष्य को लक्ष्य करके विहित है। मनुष्यों से देवता श्रेष्ठ होते हैं। तन्त्र भी वेदवत् होने से स्मृति से उच्च हैं, इनमें जिन धार्मिक कृत्यों का वर्णन है, वे अग्नि की सहायता बिना निष्पन्न नहीं होते। देवताओं के शरीर तेजोमय होते हैं, अतः उनका अग्निदेव से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। 'गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः।' इस स्मृति में द्विजाति मात्र का (ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य का) गुरु अग्निदेव कहा गया है।

अन्त में मैं यह प्रकरण समाप्त करता हुआ कहता हूँ कि—अग्नि आर्यधर्म, तदनुष्ठान आदि सभी कृत्यों की कुञ्जिका है। विवाहादिक तो अग्निसाक्षिक होते ही हैं। उन में गार्हपत्य अग्नि का संरक्षण करना चाहिये। यदि पतिपत्नी इस एक व्रत का पालन करें तो यह अग्नि द्वारा स्वर्गप्राप्ति का साधन हो सकता है। 'अनेन (यज्ञेन) प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' (गीता) इससे प्रतीत होता है कि अग्नि ही स्वर्गारोहण–सोपानपरम्परा है। 'युञ्जानः प्रथमं मन स्तत्त्वाय सविता धियः। अग्ने ज्योतिर्निचाय्या पृथिव्या अध्याभरत्' (श्वेताश्वतरोपनिषद्) 'अग्नयो

वै त्रयी विद्या' (महानारायणोपनिषद्) 'तस्मादग्निर्यष्टव्यश्चेतव्यः श्रोतव्योऽभिधातव्यः' इत्यादि अनेक श्रुतियों के प्रमाण से प्रतीत होता है कि—पूर्वकालीन महर्षियों ने अग्न्युपासना से ही तत्त्वज्ञान का अर्जन किया था, उसी से वे मोक्ष को प्राप्त हुए। इससे सिद्ध होता है कि—अग्नि देवता वैदिक धर्म की कुञ्जिका है। यह कुञ्जी प्राचीन ऋषियों ने उपलब्ध की अतः नवीनों को भी इसकी रक्षा तथा परम्परा का प्रचार करना चाहिये। अग्नि के विषय में यहाँ बहुत ही संक्षेप से लिखा है। सिद्धान्तकौमुदी में 'अग्निग्रन्थमधीते साग्नि' ऐसा लिखा है, सुना है यह अग्निग्रन्थ वेद का कोई अन्तिम-सर्वोत्तम ग्रन्थ है। हम आज उपनिषदों का विचार कर रहे हैं, उपनिषद वेद ही हैं। अतः वेदभाग के अधिकांश का अग्नि से अत्यधिक सम्बन्ध रहने के कारण यहाँ अग्नि के विषय में कुछ प्रकाश डालना सामयिक हो गया, अस्तु।

जब कि--साधक पावक से शुद्ध हो जायगा तो सिद्धि अवश्य प्राप्त कर सकेगा, क्योंकि—मन्त्रसिद्धि के लिए चित्तशुद्धि की अपेक्षा है। अतएव पहले चित्तशुद्धि करके मन्त्रयोग का उपदेश देना चाहिये। अन्यथा—'जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्। मनो दग्धं परस्त्रीभिः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्।' ऐसा होगा।

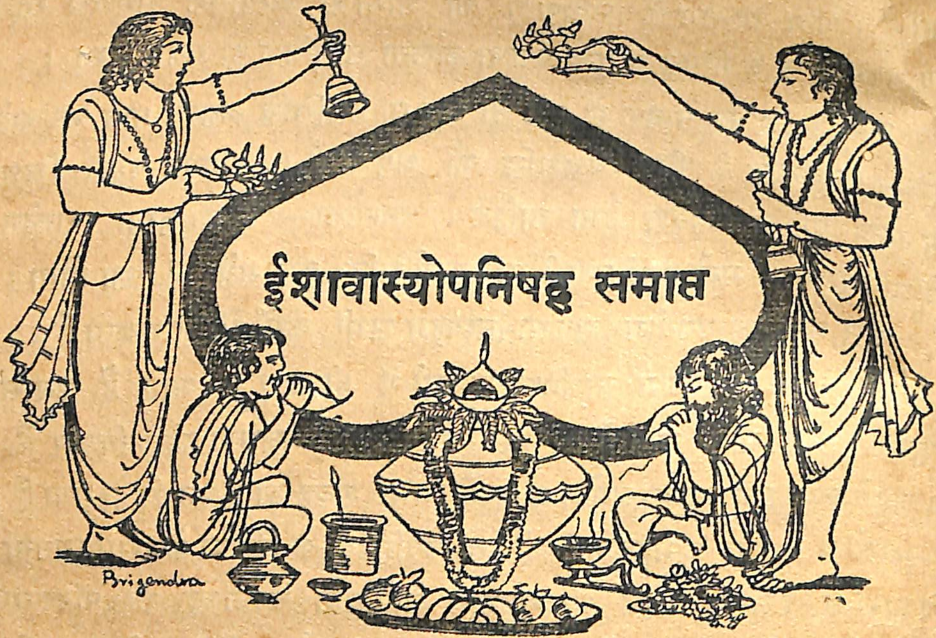
इस मन्त्र का उपयोग सकाम-निष्काम सभी कर्मों में हो सकता है। अतः जो मन्त्रवचन केवल सकाम या निष्काम कर्म में ही काम में आते हैं उन सब की अपेक्षा इसे श्रेष्ठ माना गया है। इस मन्त्र का सर्वसाधारण को अधिकार है, इसी लिए यहाँ 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग न करके 'नमः' शब्द का कथन किया गया है। जब कि—संकोच में कोई प्रमाण नहीं है तो उपनिषदों के विज्ञान के सामन्यतया सभी अधिकारी हैं, इसी से इस मुखस्थानीय सर्वप्रधान उपनिषद् की परिसमाप्ति में 'नमः' शब्द को स्वीकार किया गया, 'स्वाहा' को नहीं। श्रुति भगवती मातृस्थानीया है, उस में किसी के लिए पक्षपात का लेश नहीं है। ईश्वरीय ज्ञान सब के लिए ऐसे ही प्राप्त है, जैसे पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि और सूर्य नक्षत्रादि प्रभु की सभी विभूतियाँ।

इस तरह इस उपनिषद की निर्विघ्न समाप्ति हो गई, इस लिए अन्त में फिर शान्तिपाठ किया जाता है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्' यह मन्त्र इस उपनिषद् में प्रथम मङ्गलाचरण के रूप में एवं अन्त में 'शान्तिपाठ' के रूप में देकर वेदान्तसिद्धान्त का लक्ष्य स्थिर किया गया है। स्वस्वरूप की पूर्णता एवं एक और अद्वितीय पद के प्रतिपादन के लिए इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। इस मन्त्र का अर्थ और त्रिरावृत्त 'शान्तिः' का अभिप्राय पहले कह चुके हैं।

इस प्रकार यह यजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् पर
स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज द्वारा विरचित
विद्याविनोद भाष्य समाप्त हुआ ॥ १ ॥



आत्माम्बुराशौ निखिलोपि लोको मग्नोपि नाचामति नेक्षते च।
आश्चर्यमेतन्मृगतृष्णिकाभे भवाम्बुराशौ रमते मृषैव ॥

समस्त प्राणिवर्ग आत्मारूपी सागर में निमग्न रहते हुए भी, उस सागर का न तो स्वाद ले रहा है, न देख रहा है। इस के विरुद्ध मृगतृष्णा के समान भ्रान्तिमात्र इस संसारसागर में झूँठे ही रम रहा है। यह कैसा आश्चर्य है ?

—आदिशेष (पतञ्जलिः)



ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

केनोपनिषद्

विद्याविनोद भाष्यसहित

'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' अर्थात् बिना पूछे कुछ न कहे, इस मनुवचन का तात्पर्य यह है कि जिस विषय में किसी की जिज्ञासा होती है, वह तद्विषयक प्रश्न करे तो प्रत्युत्तर मिलने पर उसे अधिक तुष्टि होती है और वह विषय उसकी समझ में अच्छी तरह आ भी जाता है। यही नहीं, वह जिज्ञासु के अन्तःकरण में बद्धमूल भी हो जाता है। अर्थात् प्रश्नोत्तररूप से विषय के समझने और समझाने में अधिक सुविधा होती है। इसी कारण इस उपनिषद् का प्रारम्भ ही "केनेषितं पतति प्रेषितं मनः" इत्यादि प्रश्नों द्वारा हुआ है।

श्री भगवत्पाद शंकराचार्य ने इस उपनिषद् पर 'पदभाष्य' और 'वाक्यभाष्य' इन दो भाष्यों की रचना की है। इस से पाठक समझ सकते हैं कि यह उपनिषद् कितनी महत्त्वशालिनी है। एक ही व्याख्याकार एक ही विषय के प्रतिपादनार्थ एक ही ग्रन्थ पर दो दो टीकाएँ लिखे, यह अन्यत्र कम ही देखने में आता है। आचार्य ने यह क्यों किया ? इस का उत्तर स्वामी आनन्दगिरि ने अपनी टीका में दिया है। श्रीमच्छंकर महाप्रभु का आविर्भाव ऐसे अवसर पर हुआ था कि उनको तात्कालिक बाधाओं के दूर करने के लिए खण्डन मण्डन में बहुत अधिक ध्यान देना पड़ा। वह प्रचण्ड बौद्धयुग था, बौद्धलोग अहिंसा का पाठ पढ़ते रहने पर भी प्रमादी और विषयी हो गये थे। इधर कर्मकाण्ड की आड में स्वार्थियों ने देश में हत्याओं का जाल बिछा दिया था। इस से बाध्य होकर कहीं कहीं कर्मकाण्ड का खण्डन करके आचार्य को अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करनी पड़ी थी। इस से पाठक जान सकते हैं कि कर्मकाण्ड का खण्डन भगवान् का निज मत नहीं था, उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। पाठक इसे अच्छी तरह समझ लें।

इस उपनिषद् का शान्तिपाठ आरम्भ किया जाता है, यथा—

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अन्वयः—ॐ, मम, अङ्गानि, वाक्[1], प्राणः[2], श्रोत्रम्[3], अथो, बलम्, सर्वाणि, इन्द्रियाणि च, आप्यायन्तु। सर्वम्, औपनिषदम्, ब्रह्म। अहम्, ब्रह्म, मा, निराकुर्याम्। मा ब्रह्म, मा निराकरोत्। मे अनिराकरणम्, अस्तु, अनिराकरणम्, अस्तु। तदात्मनि, निरते, उपनिषत्सु, ये, धर्माः, ते, मयि, सन्तु, ते, मयि, सन्तु।

भावार्थ—मेरे सब अङ्ग, वाक्, प्राण, चक्षु, कर्ण एवं अन्य सब इन्द्रियाँ परिपुष्ट हों। मेरे लिए उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म प्रकाशित हो। मैं ब्रह्म को अस्वीकार न करूँ और ब्रह्म भी मेरा परित्याग न करे। उस ब्रह्म के साथ मेरा तथा मेरे साथ ब्रह्म का नियत संबन्ध बना रहे; नियत संबन्ध बना रहे। उपनिषदों में कथित जो धर्म हैं, वे आत्मनिष्ठ मुझ में प्रकाशित हों। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों प्रकार के तापों की शान्ति के लिए यहाँ तीन बार 'शान्तिः' शब्द की आवृत्ति की गई है।

विद्याविनोदभाष्य—यह केनोपनिषद् सामवेद की तलवकार शाखा में आई है। इस उपनिषद् से पहले सामवेद के आठ अध्यायों में चित्त की शुद्धि के लिए कर्म और उपासना का वर्णन किया गया है। इस समय कर्मोपासना से

१—'वाक्' यह अन्य कर्मेन्द्रियों का भी उपलक्षण है।

२—'प्राणः' यह अपानादिकों का भी उपलक्षण है।

३—'श्रोत्रम्' यह इतर ज्ञानेन्द्रियों का भी उपलक्षण है।

शुद्धचित्त मुमुक्षु के प्रति ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन के लिए नौवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है। कोई मुमुक्षु ऐहलौकिक पारलौकिक विषयों से विरक्त हुआ और 'आत्मा नित्य है, उस से भिन्न सर्व प्रपञ्च मिथ्या है' इस प्रकार विवेक को प्राप्त होकर शम दमादि साधनों सहित तथा उत्कट मोक्ष की इच्छा से ब्रह्मश्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण को प्राप्त हुआ। क्योंकि गुरुशिष्य द्वारा कथनोपकथन से ब्रह्मविद्या बुद्धि में शीघ्र स्थिर हो जाती है। इसी से प्रश्नोत्तररूप में यह उपनिषद् प्रारम्भ की जाती है।

विशेष—प्रमाणान्तर से अनधिगत ब्रह्म इस उपनिषद् का विषय है। ब्रह्मविद्या द्वारा मुक्ति प्राप्ति प्रयोजन है। विषय के साथ इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव संबन्ध है। एवं साधनचतुष्टयसंपन्न शुद्धान्तःकरण मुमुक्षु इस का अधिकारी है। यह अनुबन्धचतुष्टय साधक की प्रवृत्ति का कारण है। क्योंकि ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन करना है और वह अत्यन्त सूक्ष्म है, अत एव उस के ज्ञान के सुभीते के लिए इस उपनिषद् में गुरुशिष्य संवाद की कल्पना की गई है। क्योंकि आचार्य के द्वारा प्राप्त विद्या ही उत्तम फल प्राप्त कराती है, ऐसा कहा है।

अब यहाँ पहले शिष्य पूछता है—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

अन्वयः—मनः, केन, इषितम्, पतति। केन, युक्तः, प्रथमः, प्राणः, प्रैति। केन, इषिताम्, इमाम्, वाचम्, वदन्ति। चक्षुः, श्रोत्रम्, कः, उ, देवः, युनक्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—मन जो अपने विषय में गमन करता है, याने अपने विषय का चिन्तन करता है वह ऐसा किस की इच्छा से करता है? शरीर के भीतर स्थित जो यह प्राण है, वह किस की प्रेरणा से गमनागमन किया करता है? किस की इच्छा से प्रेरित होकर लोग शब्दोच्चारण करते हैं? तथा कौन देवता इस चक्षु और कर्ण को अपने अपने विषय में नियुक्त किया करते हैं? ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—मन का काम संकल्प विकल्प करना है, पर वह किस की सन्निधि से, याने किस शक्ति की, किस कर्ता की सहायता, प्रेरणा से ऐसा करता है ? वह कर्ता सत् है या असत् ? चेतन है या अचेतन ? एवं भिन्न या अभिन्न कौन है' ? अर्थात् किसी चेतन की प्रेरणा के विना यह जड मन स्वतन्त्रता से कहीं प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि इस को स्वतन्त्र मानो तो यह क्लेशदायक दुष्ट संकल्पों को क्यों करता है ? क्योंकि कोई भी स्वतन्त्र जन जान बूझकर आफत मोल नहीं लेता। अतः कृपा करके कहिये कि इस मन का प्रेरक कौन है ? एवं किस कर्ता की प्रेरणा से अध्यात्मादिभेदभिन्न पञ्चवृत्तिरूप प्राण नीचे ऊपर आदि देशों में गमन करता है ? अर्थात् जिस के बिना किसी इन्द्रिय की चेष्टा नहीं हो सकती, ऐसा सब शरीरों में मुख्यरूप से वर्तमान प्राण किसकी प्रेरणा से अपने व्यापार को करता है ? बात यह है कि प्राण भौतिक है, अतः सक्रिय है, अतः अनात्मा है, इस कारण अवश्य ही इसको प्रेरणा करनेवाला कोई चेतन होना चाहिए। कृपया बताइये, वह चित्शक्ति कौन है ?

१—इच्छा, वाक् और कर्म के द्वारा यह देहादिसंघात मन को प्रेरित किया करता है। जब कि यह बात सर्वजनप्रसिद्ध है तो यह प्रश्न ही नहीं बनता; ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्यों कि जो मनुष्य देहादिसंघातरूप अनित्य धर्म तथा कार्य से निवृत्त हो गया है और इन से पृथक् कूटस्थ नित्य वस्तु को जानने की इच्छा करनेवाला है, वही यह प्रश्न करता है। नहीं तो इच्छा, वाणी और कर्म के द्वारा तो इस देहादिसंघात में प्रेरकता प्रसिद्ध ही है। यहाँ इस प्रश्न का यह मतलब निकला कि 'यह प्रेरकभाव सर्वजन प्रसिद्ध भूत और इन्द्रियों के संघातरूप देह में है ? अथवा उस संघात से भिन्न किसी स्वतन्त्र वस्तु में है जो केवल इच्छामात्र से मन आदि का प्रेरक है ?' इस प्रकार के तात्पर्य को दिखाने के लिए ही 'किस के द्वारा इच्छित और प्रेषित किया हुआ मन अपने विषय की ओर जाता है ?' एतदर्थक 'इषितम्' 'प्रेषितम्' ये दो विशेषण देने ठीक हो सकते हैं।

'मन स्वतन्त्र होने के कारण अपने विषय में स्वयं जाता है' ऐसा कहकर भी इस प्रश्न को असंगत ठहराना उचित नहीं है। क्योंकि मन प्रवृत्ति निवृत्ति में यदि स्वतन्त्र होता तो सब ही को अनिष्टचिन्तन होना ही न चाहिए था। किंतु मन जान बूझकर भी अनर्थ-चिन्तन करता है और रोके जाने पर भी दुःखद कामों में प्रवृत्त हो ही जाता है। अतः प्रकृत प्रश्न उचित ही है। "केन, प्रेषितम्=प्रेरितम्, मनः, इषितम् = इष्टम् (विषयम्), पतति= गच्छति" अर्थात् किस की प्रेरणा से मन वांछित विषय का अनुभव करता है ? ऐसा अर्थ कर दिया जाय तो उक्त शंका समाधान ही नहीं बनते।

तथा किस कर्ता की सहायता से लोग तालु आदि आठ स्थानों में वर्तमान वाणी का उच्चारण करते हैं ? अर्थात् वाक् इन्द्रिय का लोग संस्कृत, भाषा आदि अनेकों प्रकार के शब्दों में जो उच्चारण करते हैं वह किस की प्रेरणा से ? एवं श्रवण इन्द्रिय किस देव की प्रेरणा की हुई नाना प्रकार के शब्दों का श्रवण करती है ? एवं नेत्र इन्द्रिय जो नाना प्रकार के हरे पीले आदि रूपों को देखती है, उसको प्रेरणा करनेवाला कौन देव है ? ॥ १ ॥

विशेष—यद्यपि व्यवहार दशा में मन आदि इन्द्रियों का साक्षात् प्रेरक जीवात्मा ही है, तथापि उस उस इन्द्रिय से तत्तद् विषय ग्रहण का नियम किसने किया है ? याने चक्षु को रूप ही ग्रहण करने को कौन प्रेरणा करता है ? जिस के नेत्र नहीं हैं वह चाहता है कि मुझ को दूसरी इन्द्रियों से ही रूप का ज्ञान हो जाता तो अच्छा था, पर ऐसा क्यों नहीं होता ? अथवा चक्षु से रस का स्वाद क्यों नहीं मिलता ? इन सब का नियन्ता कौन है ? इस सब के कहने का सार यह है कि इस स्थूल सूक्ष्म संघात का प्रेरक कौन है ? सब काम नियम से हो रहे हैं, इस सृष्टि-प्रपंच के इतने बड़े कारखाने को सुव्यवस्थित रूप से संचालन करनेवाली वह शक्ति कौन सी है ? सो सब कृपा करके बताइये।

सभी उपनिषदों का प्रतिपाद्य परमात्मरूपी ब्रह्म है, उसी स्वरूप की उपलब्धि में सहायता देने के लिए प्रश्नरूप से इस मन्त्र की प्रवृत्ति है ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाच ँ स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

अन्वयः—यत्, श्रोत्रस्य, श्रोत्रम्, मनसः, मनः, वाचः, ह, वाचम्, सः, उ, प्राणस्य, प्राणः, चक्षुषः, चक्षुः, अतिमुच्य, धीराः, अस्मात्, लोकात्, प्रेत्य, अमृताः, भवन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—हे शिष्य, तुम जो यह प्रश्न करते हो कि श्रोत्र (कर्ण), मन आदि का प्रेरक कौन है ? इस का उत्तर यह है कि आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र है, मन का मन है, वाणी की वाणी है और प्राण का प्राण है। अर्थात् इन सबकी शक्ति का

कारण है। इस तरह देह इन्द्रियादि को प्रेरणा करनेवाले अथच उन से भिन्न आत्मा को जानकर एवं इस ज्ञान के द्वारा देह इन्द्रियादिकों में आत्मबुद्धि को त्यागकर अधिकारी पुरुष देहान्त होने पर अमृत-स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

द्वि० वि० भाष्य—हे शिष्य, तुमने जो मन आदिकों का प्रेरक पूछा है वह, शब्द के ज्ञान की उपलब्धि का असाधारण कारण जो श्रोत्रइन्द्रिय है, उस का भी श्रोत्र है। उसे आत्मा कहते हैं। क्यों कि सुनने की शक्ति देने वा उस की रक्षा करने से उस को श्रोत्र कहते हैं। और वह मन का भी मन है, अर्थात् दुःखादि ज्ञान के साधन अन्तःकरण को मननशक्ति देने वा उस की रक्षा करने से उस को मन का मन कहा गया है। महात्मा लोग उसे वाणी की वाणी कहते हैं। क्योंकि उसी की कृपा से वाणी अपना कार्य करने में प्रवृत्त होती है। वही परमेश्वर प्राणों का प्राण अर्थात् उन्हें गति देनेवाला है। और वही चक्षु में रूप देखने की शक्ति प्रकट करनेवाला है। अर्थात् उसी ब्रह्म की प्रेरणा वा नियम से मन आदि इन्द्रियसमूह अपने कर्म करने में समर्थ होते हैं। ईश्वर ने जिस जिस पृथ्वी आदि तत्त्व से नासिका आदि इन्द्रियाँ बनाई हैं, वे इन्द्रियाँ कार्यकारणभाव संबन्ध से उसी उसी पृथ्वी आदि तत्त्व के गन्ध आदि गुणों को ग्रहण करती हैं। यह नियम उसी सर्व-नियन्ता ने किया है। जैसे आँख इन्द्रिय को अग्नितत्त्व से बनाया है, यही कारण है कि वह अग्नि के रूप गुण को ही ग्रहण कर सकती है, अन्य को नहीं। ईश्वर इन्द्रियों के विषय का नियन्ता तो अवश्य है पर वह उन में आबद्ध नहीं होता। इस लिए ब्रह्मवेत्ता जीवित दशा में ही शरीर तथा श्रोत्रादि इन्द्रियों के संग को छोड़कर और अन्तःकरण के वासनादि वन्धन से पृथक् होने के कारण मरकर (प्रत्यक्ष धनादि वा देहादि त्याग कर) मुक्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

विशेष—योग्य शिष्य से गुरु ने कहा—' कौन देवता श्रोत्र, चक्षु, मन आदि को स्वविषय में नियुक्त करते हैं ' इस प्रकार तुम ने जिस के विषय में पूछा है, वे उस श्रोत्र के श्रोत्र हैं। यहाँ शङ्का यह है कि प्रश्न के अनुकूल उत्तर नहीं हुआ, पूछा यह था कि प्रेरक कौन है। उत्तर मिला कि जो श्रोत्र का श्रोत्र है वह। अर्थात् बतलाना यह चाहिए था कि अमुक प्रकार के गुणोंवाला व्यक्ति श्रोत्रादि को प्रेरित करता है। उत्तर यह है कि उस प्रेरक का और किसी प्रकार का विशेष रूप नहीं जाना जा सकता। यहाँ खेत काटनेवाले की तरह उस का व्यापारविशेष ज्ञात नहीं।

शङ्का करते हैं—यहाँ 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि पद का क्या अर्थ अभिप्रेत है ? क्योंकि जिस तरह एक प्रकाश को दूसरे प्रकाश का प्रयोजन नहीं होता, उसी तरह एक श्रोत्र को दूसरे श्रोत्र से कोई प्रयोजन नहीं। इस का यह समाधान है— सभी जानते हैं कि श्रोत्र अपने विषय को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, किंतु वह नित्य, असंहत, सर्वान्तरचेतन, आत्मज्योति के रहने पर ही ऐसा कर सकता है, अन्यथा नहीं। अतः उसे 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि कहना उचित ही है। इसी प्रकार मन वाणी आदिकों का भी वह वाणी आदिक है। क्योंकि चितज्योति के प्रकाश के बिना अन्तःकरण अपने विषय संकल्प और अध्यवसाय आदि में समर्थ नहीं हो सकता। अतः वह मन का भी मन है। यहाँ बुद्धि और मन को एक जानना। जो लोग श्रोत्र आदि में आत्मभाव का त्याग करते हैं, वे धीर याने बुद्धिमान् होते हैं। क्योंकि विशिष्ट बुद्धिमत्ता के बिना श्रोत्रादि में आत्मभाव का त्याग नहीं किया जा सकता। जो श्रोत्रादि में आत्मभाव का त्याग करते हैं वे ही अमरणधर्मा हो सकते हैं। यहाँ यही धीरशब्द का अभिप्राय है ॥ २ ॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्। अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

अन्वयः—तत्र, चक्षुः, न गच्छति, वाक्, न गच्छति, मनः, नो। न विद्मः, यथा, एतत्, अनुशिष्यात्, न विजानीमः। तत्, विदितात्, अन्यत् एव, अविदितात्, अथो, अधि। ये, नः, तत्, व्याचचक्षिरे, पूर्वेषाम्, इति शुश्रुम ॥ ३ ॥

भावार्थ—ब्रह्म में चक्षु नहीं जाता, और वाक् तथा मन भी नहीं जा सकता। हम उसको नहीं जानते। इस ब्रह्मतत्त्व का आचार्यगण शिष्य को किस प्रकार उपदेश करते हैं हम इसे भी नहीं समझते हैं। वह चिदात्मवस्तु सकल कार्यों से पृथक् है, एवं सूक्ष्म से अर्थात् अज्ञातरूप कारण से भी पृथक् है। इस तत्त्व की विवेचना जिन्होंने हमारे निकट की थी, हमने उन्हीं आचार्यों से ये बातें सुनी हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—रूप ग्रहण करने में समर्थ चक्षु उस ब्रह्म को नहीं

देख सकता, क्योंकि ब्रह्म रूपादिकों से रहित है। वह वाणी और मन का भी विषय नहीं, क्योंकि अपरिच्छिन्न अपरिमेय वस्तुतत्त्व के वर्णन करने की शक्ति वाणी में नहीं है। इसी तरह मन भी वहाँ नहीं जा सकता, क्योंकि मन का स्वभाव चंचल है, वह स्थाणु ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता।

"न विद्मः" इसी कारण हम लोग सामान्य रूप से उस ब्रह्म को नहीं जानते। क्योंकि पदार्थज्ञान मन और इन्द्रिय के संयोग से ही होता है। **"न विजानीमः"** और हम विशेष रूप से भी नहीं जान सकते। अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि अपने से भिन्न काष्ठ आदिकों को जलाता है, स्वयं अपना दाह नहीं कर सकता, जैसे अपने से भिन्न घट पटादि जड पदार्थों में इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं, वैसे अपने अधिष्ठान आत्मा के प्रकाश करने में श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियाँ समर्थ नहीं हो सकतीं। हे शिष्य! मन इन्द्रियादिकों से ही ज्ञान होता है, आत्मा मन आदिकों का अविषय है। इस कारण अविषय आत्मा को हम मन आदिकों से नहीं जान सकते। और यह भी हम नहीं जानते कि आचार्य अधिकारी पुरुषों को कैसे उपदेश करते हैं। वह ब्रह्म आत्मा कार्य से भिन्न है, तथा कारण से भी भिन्न है अथच कार्यकारण का प्रकाशक है। ऐसे कार्य कारण से भिन्न आत्मा के स्वरूप को हमने उन आचार्यों के मुख से श्रवण किया है, जो हम लोगों को अविषयस्वभाव आत्मा का उपदेश करते रहे हैं।

विशेष—परमात्मा अनुमान विज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता। क्योंकि पूर्वानुभूत वस्तु का ही सुगमता से अनुमान किया जा सकता है। और परमात्मा अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा भी नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वह गुणातीत है। वह अनुभवगम्य अवश्य है। भाव यह है कि वह प्रकृति से परे है, इस कारण कोई भी प्राकृतिक पदार्थ उसे ग्रहण नहीं कर सकता है। ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि ये प्राकृतिक हैं, इस से ये ब्रह्म तक कैसे पहुँच सकते हैं?

अब विचार यह करना है कि जानी हुई वस्तु का उपदेश करना बन सकता है कि अमुक पदार्थ ऐसा है। ईश्वर में इन्द्रियों की पहुँच न होने के कारण वे उस के स्वरूप का उपदेश नहीं कर सकतीं। इस लिए मन्त्र में कहा गया है कि 'तत्' वह ब्रह्म, 'विदितात्' इन्द्रिय द्वारा जाने हुए विषय से और 'अविदितात्' जो कभी नहीं

१—यहाँ चक्षुरादि अन्य इन्द्रियों के भी उपलक्षण हैं। अर्थात् ब्रह्म किसी इन्द्रिय का भी विषय नहीं है।

जाना जा सकता उस से भी भिन्न है। शङ्का होती है—जब कि वह विदित से, याने जो नामरूपात्मक वस्तु कहीं न कहीं और किसी न किसी को ज्ञात है, उस से भिन्न है, एवं अविदित से, याने प्रकृति अव्याकृत जो जगत् का कारण परमाणु आदि अति सूक्ष्म हैं, उन से भी भिन्न है, यह बात है; तो ब्रह्म त्याज्य वस्तु हो जायगा। क्योंकि वह कोई वस्तु ही नहीं, तो शून्यवत् किसी तरह जाना ही नहीं जा सकता।

उत्तर—क्योंकि सर्वव्यापक होने से ईश्वर से भिन्न कभी कोई नहीं हो सकता, न उसे कोई छोड़ सकता है। और वह साकार वस्तु भी नहीं, इस लिए उस को कोई ग्रहण भी नहीं कर सकता। इस कारण ईश्वर ज्ञात अज्ञात से विलक्षण है। मुमुक्षु शिष्य के ब्रह्मनिष्ठ गुरु से पूछने पर उसे यह उपदेश देना चाहिए कि ब्रह्मतत्त्व भौतिक इन्द्रियों से जानने योग्य नहीं है, किंतु अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है। बड़े परिश्रम से बहुत काल में कभी कोई उसे प्राप्त कर सकता है। इस तत्त्व का उपपादन करनेवाले पूर्वज आचार्यों से गुरुशिष्य की परंपरा द्वारा ये वचन सुने गये हैं॥ ३॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ४॥

अन्वयः—यत्, वाचा, अनभ्युदितम्, येन, वाक्, अभ्युद्यते, तत्, एव, ब्रह्म, त्वम्, विद्धि, यत्, इदम्, उपासते, इदम्, न॥ ४॥

भावार्थ—हे शिष्य! जिस ब्रह्म का वर्णन वाणी नहीं कर सकती, क्योंकि जिस ब्रह्म से बहुधा शब्दों के उच्चारण करने की शक्ति वाणी के अंदर आती है, उसी चेतन व्यापक परमात्मा को तुम ब्रह्म जानो। और जिस को माया से विमोहित पुरुष विषयरूप से उपासना करते हैं, वास्तव में वह विषय जड परिच्छिन्न वस्तु ब्रह्म नहीं है, ऐसा जानो॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—वाणी से 'अनभ्युदितम्'=ब्रह्म नहीं कहा जा सकता, अथवा प्रकाशित नहीं हो सकता। क्योंकि वाणी से शब्द प्रकट होता है और शब्द से भिन्न ब्रह्म है, इस लिए वाणी का विषय ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्म से वाणी प्रकाशित होती है, अर्थात् ईश्वरविहित नियम से ही वाणी के द्वारा उच्चारण किये गये शब्दों के अंदर अर्थबोध करने की शक्ति आती है। यद्यपि वेदादि शास्त्र के प्रमाण द्वारा ही 'ब्रह्म ऐसा ऐसा है' इत्यादि अनेक प्रकार से आचार्य लोग वाणी द्वारा ही शिष्यों को उपदेश किया करते हैं। और शिष्य लोग भी उन उपदेशों के द्वारा अपनी

बुद्धि के अनुसार ब्रह्म को जानते हैं। तो भी गुरु लोगों की वह वाणी शब्द और अर्थ के संबन्ध बतलाने के लिए जैसे कारण होती है वैसे ब्रह्मज्ञान के लिए कारण नहीं होती, किंतु उच्चारण की हुई वाणी श्रवण में ही कारण होती है। अपने साधनों के सहित ध्यान ब्रह्मज्ञान का साक्षात् कारण होता है। 'तत् एव' उसी कहे हुए को तुम ब्रह्म जानो। मनुष्य जिस वाणी से प्राप्त होने योग्य शब्दादि रूप कार्य की सेवा करते हैं, 'तदिदम् न' वह यह ब्रह्म नहीं है।

विशेष—'अन्यदेव' इत्यादि श्रुति से सिद्ध हुआ कि आत्मा और ब्रह्म एक ही पदार्थ है। इस उपदेश के श्रवण करने से श्रोता के मन में यह आशङ्का होती है कि आत्मा और ब्रह्म एक कैसे हो सकता है ? क्योंकि कर्म और उपासना का अधिकारी पुरुष ही 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है। वह संसारी आत्मा विहित कर्म और उपासनारूप साधन का अनुष्ठान करके ब्रह्मादि देवत्व अथवा स्वर्गादि भोगलोक को प्राप्त करने की इच्छा करता है। इस प्रकार लोकव्यहार को देखने से यही निश्चय होता है कि उपासक से पूर्णतया पृथक् विष्णु, शिव, इन्द्र ये ही उपास्य ब्रह्म हो सकते हैं, आत्मा कदापि उपास्य ब्रह्म नहीं हो सकता है। अत एव जो विदित है वही उपास्य है, अविदित उपास्य नहीं होता है और वह ब्रह्म भी नहीं हो सकता है। इस लिए उपास्य और उपासक परस्पर पृथक् हैं। ऐसी आशङ्का को लक्ष्य करके ही श्रुति स्वयं कहती है कि ऐसी आशङ्का मत करो।

जो नित्य चैतन्यस्वरूप है, वह वागिन्द्रिय और उस के अभिव्यञ्जक शब्द द्वारा अभिव्यक्त या प्रकाशित नहीं होता है। यहाँ 'वाक्' शब्द से जिह्वामूलादि अष्ट स्थानों से संबन्धयुक्त वर्ण को अभिव्यक्त करनेवाली आग्नेय इन्द्रिय और उस से उत्पन्न वर्णसमूह दोनों ही समझने चाहिएँ[1]। यह उस ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकते, किंतु उसी चैतन्य ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म की प्रेरणा से वाक् उच्चारित होती है, अर्थात् प्रकाशित होती है। तात्पर्य यह है कि आत्मस्वरूप, निरतिशय पर ब्रह्म में भी जिन उपाधियों के द्वारा वाक्य का वाक्य, मन का मन, कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, आनन्दरूपादि व्यवहार आरोपित हुआ करता है, उन सब उपाधियों को हटाकर वास्तविक आत्मा को ही निर्विशेष ब्रह्म करके जानो। 'इदम्' रूप से, अर्थात् विशेष विशेष उपाधिविशिष्ट रूप से जो अनात्मा ईश्वर का ध्यान किया जाता है वह वास्तव में ब्रह्म नहीं है।

१—जिह्वामूल, हृदय, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु, इन इन स्थानों से वर्णों की अभिव्यक्ति होती है।

यहाँ तक प्रथम प्रश्न 'केनेषितां वाचमिमां वदन्ति' इस का उत्तर हो गया ॥४॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

अन्वयः—(लोकः) मनसा, यत्, न मनुते, येन, मनः, मतम्, आहुः, त्वम्, तत्, एव, ब्रह्म, विद्धि । (लोकाः) यत्, इदम्, मुपासते, इदम्, न ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन जिस का चिन्तन नहीं कर सकता, प्रत्युत मन को ही जो चिन्तन करने की शक्ति प्रदान करता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो । मायामोहित जीव जिस परिच्छिन्न जड़ पदार्थ को ब्रह्मरूप से व्यवहार करते हैं, उस को तुम ब्रह्मतत्त्व मत समझो ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस प्रसिद्ध ज्योति को कोई भी पुरुष मन से अर्थात् मनोबुद्धिरूप अन्तःकरण से नहीं जान सकता, तथा जिस आत्मा से प्रकाशित हुआ मन नाना प्रकार के संकल्प विकल्परूप स्वकीय कार्य करने में समर्थ होता है, ऐसे साक्षी आत्मा को तुम ब्रह्मरूप जानो । उपाधिविशिष्ट ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय भेदवाला अनात्मरूप कोई भी पदार्थ ब्रह्म नहीं हो सकता । अर्थात् जिस परिच्छिन्न जड़ पदार्थ को जरूर जानकर उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

विशेष—यहाँ मनःशब्द का अर्थ अन्तःकरण समझना, इसी लिए मन और बुद्धि का एकत्वरूप से निर्देश किया गया है । कामना, संकल्प (मानसिक चिन्ता), विचिकित्सा (संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति (असहिष्णुता), ह्री (लज्जा), धी (बुद्धि), भी (भय); ये सभी मन की वृत्तियाँ हैं । उक्त कामादियुक्त मन अपने प्रकाशक चैतन्यज्योति का न मनन कर सकता है, न संकल्प कर सकता है, और न तो निश्चितरूप से धारण ही कर सकता है । अतः मन को शक्ति देनेवाले को तुम ब्रह्म समझो । इस मन्त्र से 'केनेषितं मनः' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है ॥ ५ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

अन्वयः—(लोकः) यत्, चक्षुषा, न पश्यति, येन, चक्षूंषि, पश्यति,

त्वम्, तत्, एव, ब्रह्म, विद्धि । (लोकाः) यत्, इदम्, उपासते, इदम्, न ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य जिस को चक्षु द्वारा नहीं देख सकता, किन्तु जिस के द्वारा चक्षु में दर्शनशक्ति आती है, तुम उसी का ब्रह्म जानो, और किसी को नहीं ॥६॥

वि० वि० भाष्य—मेरे नेत्र हैं, मैं आखों से देख सकता हूँ—इस प्रकार की आखों की शक्ति का अनुभव मनुष्य जिसकी सामर्थ्य से करता है वही ब्रह्म है। किन्तु आखें उसे नहीं देख सकतीं। परिच्छिन्न नेत्रइन्द्रिय सर्वत्र परिपूर्ण चित् शक्ति का पूरी तरह अवलोकन नहीं कर सकती। जो आखों से दिखाई दे जाय, वह ब्रह्म नहीं हो सकता। किन्तु 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वम्' इस भगवद्वाक्यानुसार कोई भी विभूतिमान् हो सकता है ॥ ६ ॥

विशेष—लोक में सामान्यरूप से यह प्रसिद्धि है कि जो वस्तु नहीं देखी जाती और न सोची जा सकती है वह है ही नहीं। चार्वाक आदि अनेक मतावलम्बी तो चाक्षुषप्रत्यक्षयोग्यातिरिक्त पदार्थों का अस्तित्व नहीं मानते। बहुत से दृष्टि-सृष्टिवादी नहीं हैं। श्रुति भगवती उनके द्वारा स्वीकृत अपसिद्धान्त का निराकरण करती हुई उपदेश देती है कि उपाधिविशिष्ट किसी भी पदार्थ को ब्रह्म नहीं मानना चाहिए ॥ ६ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिद ँ श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

अन्वयः—(लोकः) श्रोत्रेण, यत्, न शृणोति, येन च, इदम्, श्रोत्रम्, श्रुतम्, त्वम्, तत्, एव, ब्रह्म, विद्धि । (लोकाः) यत्, इदम्, उपासते, इदम्, न ॥ ७ ॥

भावार्थ—लोग जिसको कर्ण द्वारा श्रवण नहीं कर सकते किन्तु यह कान जिस के द्वारा श्रवण कार्य में प्रवृत्त होता है वही ब्रह्म है, इस के अतिरिक्त नहीं ॥७॥

वि० वि० भाष्य—दिशारूप देवता जिस का अधिष्ठाता है, और मनोवृत्ति से युक्त तथा आकाश का कार्यभूत जो श्रोत्रेन्द्रिय है, वह अर्थात् उक्त शक्तिशाली कान जिसे विषय नहीं कर सकता, वलिक जिस चैतन्य आत्मज्योति द्वारा यह प्रसिद्ध श्रोत्र सुनने की शक्ति रखता है, वही ब्रह्म है। लोग जिस देशकालावच्छिन्न वस्तु की उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

विशेष—मनुष्य कानों से वेद जैसे निगूढ तत्त्व का श्रवण कर सकता है और उसे सुनकर विज्ञानवेत्ता हो सकता है। किन्तु वे कान 'वह ऐसा ही है' 'इतना ही है' इस प्रकार ब्रह्मविषयक पूर्ण वर्णन को नहीं सुन सकते। किन्तु कानों में सुनने की जितनी भी सामर्थ्य है उसका देनेवाला जो है वह ब्रह्म है। इस मन्त्र और उक्त श्रुति से "चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति" इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है ॥ ७ ॥

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

अन्वयः—(लोकः) प्राणेन, यत्, न, प्राणिति, येन, प्राणः, प्रणीयते, त्वम्, तत्, एव, ब्रह्म, विद्धि। यत्, इदम्, उपासते, इदम्, न ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्राण द्वारा (घ्राणेन्द्रिय द्वारा) जिस को ग्रहण नहीं किया जा सकता, किन्तु जिस के रहने से घ्राण अपने विषय में प्रवृत्त होता है, उस को ब्रह्म जानो, अन्य को नहीं ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—जो ब्रह्म पृथ्वी से बने नासिका के पुटों से आने जानेवाले प्राणापानादि पञ्चवृत्तिरूप प्राणों से नहीं जीता, जिस की शक्ति से प्राण अपने व्यापारों को करते हैं, अर्थात् जिस ईश्वर की सत्ता या जिस के नियम के बिना प्राण कुछ भी नहीं कर सकता, हे शिष्य ! तुम उसी को ब्रह्म जानो। जिस जीवन और मरणान्तर्गत प्राणवायु का मनुष्य सेवन करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

विशेष—प्राण की क्रियावृत्ति और अन्तःकरण की ज्ञानवृत्ति सहित यह घ्राणेन्द्रिय आत्मा को विषय नहीं कर सकती। जगत् के यावत् पदार्थों को सत्ता स्फूर्ति देनेवाली जो शक्ति है वह ब्रह्म है। इस प्रकरण में हेय उपादेय रूप से शून्य ब्रह्मात्मा का गुरु ने शिष्य के प्रति उपदेश किया है। अभिप्राय यह है कि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से इन्द्रियों में व्याप्त होने के कारण ब्रह्म अत्यन्त समीप में वर्तमान है, किंतु मनुष्य को विषयों से अलग उस का ज्ञान होना कठिन है। उक्त मन्त्रों में वाणी मन, चक्षु, श्रोत्र और प्राण को मुख्य होने से उपलक्षणार्थ[1] ग्रहण किया गया है ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः।

१—उपलक्षण का तात्पर्य यह है कि वाणी, मन आदि इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य।

अथ द्वितीयः खण्डः

इस समय 'असम्भावना, ब्रह्म का न मानना, विपरीत भावना, उसे देहधारी इत्यादि समझना' आदि दोषों से शिष्य को आत्मज्ञान न हो अथवा उलटा पलटा ज्ञान हो जाय; इस आशङ्का को दूर करने के लिए गुरु कहते हैं कि—

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

अन्वयः—यदि, (त्वम्) सुवेद, इति, मन्यसे, (तर्हि) नूनम्, दभ्रम्, एव, अपि, (वेद)। अस्य, ब्रह्मणः, यद्, रूपम्, त्वम्, वेत्थ, अस्य, यद्, रूपम्, देवेषु, विदितम्, अथ, नु, अहम्, ते, मीमांस्यम्, एव, मन्ये ॥ १ ॥

भावार्थ—हे शिष्य ! 'मैं ने ब्रह्म के स्वरूप को अच्छी तरह जान लिया है' यदि तुम ने ऐसा समझा हो तो यह जानना अल्प है अर्थात् अपूर्ण है। क्योंकि ब्रह्म का जो अधिदेव स्वरूप है वह अल्प है। इसलिए मैं (आचार्य) मानता हूँ, तुम ने जिस आत्मस्वरूप को जाना है वह अब भी विचार करने योग्य है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शिष्य ! यदि तुम यह समझते हो कि मैं ने ब्रह्म को आत्मा में प्रत्यक्ष करके उत्तमरूप से जान लिया है, तो तुम ने देश काल तथा

‡इन्द्रियाँ भी उस ब्रह्मतत्त्व के बोधन में असमर्थ हैं। अनुभवशक्ति की प्रधानता से ज्ञानेन्द्रियों में नेत्रइन्द्रिय और श्रवणइन्द्रिय ये दोनों बड़ी प्रबल हैं, और शक्ति के विचार से प्राण प्रबल है। मन की प्रधानता तो स्वतः सिद्ध है, क्योंकि वह सब इन्द्रियों का राजा है। एवं गुरु के आदेश को लक्ष्य कराने में वाक् प्रधान सहायक है। इन सब बातों का विचार करके पूर्व मन्त्रों में पहले वाक्, तदनन्तर मन, तत्पश्चात् चक्षु, इस के बाद श्रोत्र, फिर प्राण; इन सब को दृश्य बनाकर द्रष्टा को लक्ष्य कराया गया है। 'इदम्' अर्थात् 'यह है' ऐसा जानने योग्य जो कुछ प्रपञ्च है, वह सब प्राकृतिक है और दृश्य है, द्रष्टा इन सबों से परे है। उस के अपरोक्ष अनुभव से मनुष्य को आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। इस मन्त्र में 'केन प्राणः' इत्यादि का उत्तर दिया गया है।

वस्तुशून्य ब्रह्म के स्वरूप को निःसन्देह बहुत ही थोडा सा जाना है। और शास्त्र-प्रसिद्ध इन्द्र अग्नि आदि उपाधियुक्त आधिभौतिक देवताओं में उस का स्वरूप तुम ने जितना जाना है वह भी बहुत ही कम समझा है। ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को तुम ने नहीं जाना। अतः हे शिष्य! मेरी समझ में अभी तुम को ब्रह्म का विचार करना चाहिए। ऐसा किये बिना उस का ज्ञान होना कठिन है। जो जानता है कि मैं ने अच्छे प्रकार से ब्रह्म को जान लिया, वह नहीं जानता। जब कि अहंकार साधारण अवस्था में भी प्रत्येक सांसारिक कार्यों का विरोधी होता है, तो ब्रह्मज्ञान जैसे बड़े विषय में वह क्यों न विरोधी होगा। किसी विषय को जान करके 'मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह विद्वानों की मर्यादा नहीं है। अभिमानी उन्नति को प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि वह थोड़े में ही अपने को कृतकृत्य मान लेता है। इसलिए तुम को ब्रह्म का विचार अवश्य करना चाहिए॥ १॥

विशेष—शिष्य आत्मा को मन और वाणी के विषयरूप से न जान ले, इस अभिप्राय से गुरु शिष्य की परीक्षा कर रहे हैं कि हे शिष्य! यदि तुम ने यह माना कि सुख से ब्रह्म के स्वरूप को जानता हूँ, तब तुम ने अल्प ही उस के स्वरूप को जाना। और अधिदैव उपाधि से युक्त ब्रह्म को तुम ने जाना, तो भी यथार्थतः ब्रह्म के स्वरूप को नहीं जाना। तुम्हारे विषय में मेरी यह धारणा है कि अब भी तुम को ब्रह्म का विचार करना चाहिए। ब्रह्मतत्त्व आखिर दुरूह है। बिना विचार के इस का यथार्थ बोध होना दुर्घट है।

गुरु के ऐसा कहने पर शिष्य एकान्त प्रदेश में जाकर इस आत्मा के यथार्थ रूप को अपनी बुद्धि में आरूढ करने लगा, तथा अनुभवी हो जाने पर फिर गुरु के समीप जाकर इस प्रकार के वचन को कहने लगा कि हे गुरो! 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' ऐसा मैं मानता हूँ। मतलब यह है कि शिष्य आचार्य के उपदेश से एकान्त में आगम के अर्थ को विचार कर, तर्क से निश्चय करके स्वानुभव के साथ आचार्य के समीप जाकर बोला—'मैं ने आत्मतत्त्व को जान लिया।'

पहले कह आये हैं कि मनुष्य अभिमान से उन्नति को प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे असुरराज विरोचन ने पण्डित होकर भी अपने स्वभावदोष से प्रजापति के उपदेश का यथार्थ अर्थग्रहण न करके विपरीत अभिप्राय स्वीकार किया। याने उस ने शरीर को ही आत्मा समझा, क्योंकि वह पहले ही समझ बैठा था कि मैं ने आत्मा को

समझ लिया। इस के विपरीत देवराज इन्द्र एक बार, दो बार तथा तीन बार तक प्रजापति का उपदेश नहीं समझ सके। किन्तु चौथी बार वे ऐसा करने में समर्थ हुए। लोक में देखा जाता है कि बहुत से शिष्य गुरु से एक साथ एक समय और एक ही प्रकार से उपदेश पाने पर भी कोई उस को यथार्थ भाव से, कोई विकृत भाव से और विपरीत भाव से ग्रहण करते हैं और कोई बिलकुल ही नहीं ग्रहण करते। जब साधारण व्यवहार में ऐसी विलक्षणता देखी जाती है तो अलौकिक एवं अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व के विषय में तो कहना ही क्या है? इस से ज्ञानवत्ता का अभिमान न करके जिज्ञासु को आत्मतत्त्व के चिन्तन में प्रवृत्त रहना चाहिए॥ १॥

ब्रह्म कैसे विदित हुआ, यह कहते हैं कि—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ २॥

अन्वयः—अहम्, (ब्रह्म) सुवेद, इति, न मन्ये। न वेद, इति च, नो वेद। नः, यः, तत्, नो, न वेद, वेद च, इति वेद, (सः) तत्, वेद॥ २॥

भावार्थ—मैं 'ब्रह्म को अच्छी तरह जान गया' यह नहीं मानता हूँ। और 'उसे नहीं जानता' यह भी नहीं समझता। अतः मैं उसे जानता हूँ और नहीं भी जानता हूँ। हम लोगों में से जो इस प्रकार (विदित से अन्य और अविदित से भिन्न) जानता है, वही जानता है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' प्रथम मन्त्र में शिष्य के इस कथन को सुनकर गुरु ने पूछा कि हे शिष्य! तू ब्रह्म के स्वरूप को कैसे जानता है? तब शिष्य ने कहा कि हे गुरो! 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' इस तरह विषयरूप से मैं ब्रह्म को नहीं जानता। गुरु ने कहा कि तब तो तुझे ब्रह्म विदित ही नहीं हुआ। इस प्रकार कहने पर शिष्य बोला कि 'मैं नहीं जानता सो भी बात नहीं, जानता भी हूँ'। 'नहीं जानता' और 'जानता भी हूँ' ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है। क्योंकि संशययुक्त विपरीत ज्ञान को छोड़कर वस्तु जिस के द्वारा जानी जाती है, उसी से वही वस्तु 'अच्छी तरह नहीं जानी जाती' ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। संशय और विपर्यय तो अनर्थकारी होते हैं। ऐसा कथन करके शिष्य को आचार्य ने विचलित करना चाहा। किन्तु 'वह विदित से अन्य ही है और अविदित से ऊपर

है।' इस आचार्य के उपदेश किये हुए शास्त्रसम्प्रदाय के बल से तथा उपपत्ति और अपने अनुभव के बल से शिष्य विचलित तो न हुआ, किन्तु ब्रह्मविद्या में अपनी दृढनिश्चयता दिखलाते हुए बोला कि 'हम ब्रह्मचारियों के बीच में जो मेरे कहे हुए वचन तत्त्वतः जानता है वही उस ब्रह्म को जानता है।' वह वचन क्या है ? ऐसा पूछने पर शिष्य ने कहा कि 'वह विदित से अन्य ही है और अविदित से भी ऊपर है' वह वचन यह है, अर्थात् ब्रह्म विदित और अविदित दोनों से भिन्न है। अतः 'ब्रह्म मुझे विदित है, यह मैं मानता हूँ' यही इस वाक्य का अर्थ है ॥ २ ॥

विशेष—अभिप्राय यह है कि 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' यदि ऐसा कहें तब तो जाननेवाला चेतन होता है और जो जाना जाता है वह जड हो जाता है। ब्रह्म को जड बताना श्रुति स्मृति के विरुद्ध है। यदि कहें कि 'मैं नहीं जानता हूँ' तो ब्रह्मज्ञान की प्रणालिका ही व्यर्थ हो जायगी। सार यह है कि घट पट आदि के समान ब्रह्म को इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानते। और विचार से उत्पन्न हुई शुद्धिवाली, वासनारहित अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा जगत् का उन्मूलन होने पर वह स्वयं-प्रकाश ही शेष रहता है, इस प्रकार जानते भी हैं। 'जानता भी हूँ और नहीं भी जानता हूँ' इस परस्पर विरुद्ध वाक्य को जो समझता है वही ब्रह्म को समझता है, अर्थात् ईश्वरविषयक ज्ञान केवल अनुभवगम्य है। अतः हम इन्द्रियों द्वारा उसे नहीं जानते एवं अन्त में वही परिशेष बचता है, इस कारण उस के अस्तित्व में किसी तरह की शङ्का नहीं हो सकती। अतः हम ब्रह्म को जानते हैं ॥ २ ॥

अब श्रुति भगवती गुरुशिष्य के संवाद के बिना ही अधिकारी जनों को उपदेश करती है कि—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—यस्य, अमतम्, (ब्रह्म) तस्य, मतम्। यस्य, मतम्, सः, (ब्रह्म) न वेद। (ब्रह्म) विजानताम्, अविज्ञातम्, अविजानताम्, विज्ञातम् (भवति) ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो समझता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूँ, वस्तुतः वही ब्रह्म को जानता है। और जो समझता है कि मैं उस को जानता हूँ, वास्तव में वह

नहीं जानता है। ज्ञानी गण ब्रह्म को अविज्ञात कहते हैं, अज्ञानी गण उस को विज्ञात कहते हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस श्रुति में आत्मज्ञानी और अज्ञानी दोनों के वास्तविक भेद का परिचय कराया गया है। पहली श्रुतियों में यही दिखाया गया है कि ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति (प्रत्यक्षज्ञान) करनेवाला आत्मज्ञानी महापुरुष स्व स्वरूप की उपलब्धि करके यही कह सकता है कि मैं उसे सम्यक्‌रूप से नहीं जानता हूँ। क्योंकि ब्रह्म की अनुभूति प्रकृति से परे और बुद्धि से अतीत है। इसी तरह जो गुरुकृपा प्राप्त न करने के कारण अपना अनुभव ठीक नहीं कर सका एवं केवल वाचाज्ञानी है, वह यही कहा करता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ।

विद्वानों के लिए ब्रह्म अविज्ञात है और अज्ञानियों के लिए वह ज्ञात है। भाव यह है कि स्वप्रकाश ब्रह्म मन वाणी का अविषय है। इस प्रकार ब्रह्म को अविषयरूप से जाननेवाले विद्वान् यथार्थ जानते हैं, और अज्ञानी पुरुषों की देह इन्द्रियादिकों में आत्मत्व बुद्धि होने से विषयरूप से जानते हुए भी वे यथार्थस्वरूप से ब्रह्म को नहीं जानते ॥ ३ ॥

विशेष—उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जिस को लोग ब्रह्मज्ञानी मानते वा स्वयं जो अपने को ब्रह्मज्ञानी समझते हैं, वे ज्ञानी नहीं हैं। ब्रह्मज्ञानी को सर्वसाधारण लोग नहीं समझ सकते। वह भी अपने को नहीं जानना चाहता कि मैं ऐसा हूँ ॥ ३ ॥

ब्रह्म तो अवेद्य है, याने किसी भी ज्ञान का विषय नहीं। तब उस का कैसे भान होगा ? इस शङ्का को लेकर कहते हैं कि—

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥४॥

अन्वयः—(ब्रह्म यदा) प्रतिबोधविदितम् (भवति, तदा तत्), मतम् (भवति)। (तस्मात्) अमृतत्वम्, हि, विन्दते। (तदा) आत्मना, वीर्यम्, विन्दते, (अतः) विद्यया, अमृतम्, विन्दते ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रत्येक ज्ञान में ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव करने से अमृतत्व लाभ होता है। अर्थात् प्राणी जीवन्मुक्त होने पर ही वर्तमान शरीर को छोड़कर, सुखपूर्वक मुक्त हो जाता है। आत्मा के द्वारा वीर्य (योगबल) प्राप्त होता है और विद्या के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—अन्तःकरण की जितनी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे सभी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर उत्पन्न होती हैं, अन्यथा नहीं। इस से सब वृत्तियों का विषयरूप से प्रकाश करनेवाला आत्मा उन वृत्तियों से भिन्न ही स्वतः प्रकाश है। उस आत्मा का ज्ञान करके ही पुरुष अमृतत्व को प्राप्त होता है। भाव यह है कि जरामरणादिकों से रहित तथा आनन्दरूप ब्रह्मात्मा प्राप्त होता है। आत्म-ज्ञान से पुरुष उस बल को प्राप्त हो जाता है, जिस विद्यारूप बल से जन्म मरण के चक्र में नहीं पड़ने पाता। धन, सहाय, मन्त्र, औषध और योग इन से प्राप्त होनेवाला जो बल है, उस की सामर्थ्य से पुरुष मृत्यु से पार नहीं पा सकता। और ब्रह्मविद्या-रूप सामर्थ्य तो अपने स्वरूप से ही प्राप्त होती है। इस से तो पुनः जन्म मरण का सम्भव ही नहीं॥ ४॥

विशेष—वेदान्तशास्त्र का यह अकाट्य सिद्धान्त है कि सात्विक ज्ञान के द्वारा सर्व भूतों में ऐक्यबुद्धि स्थापन करते हुए सब बोधों में एक ही सत्य पदार्थ का अनुभव करने से निश्श्रेयस का उदय होता है। ऐसी स्थिति के लाभ के लिये ज्ञानवान् महापुरुषों की एक पूर्वावस्था और दूसरी परावस्था; ये दो श्रेणियाँ हो सकती हैं। पूर्वावस्था में आत्मबल की तथा परावस्था में पराविद्या की कृपा की आवश्यकता होती है। आत्मलक्ष्ययुक्त जो पुरुषार्थ होता है उस से आत्मबल की प्राप्ति होती है। इस से ऐश्वर्य की अपेक्षा नहीं होती। आत्मबल से बलवान् महापुरुष को किसी दशा में भी विफलता की सम्भावना नहीं है। आत्मबलवाले पुरुष के सम्मुख लौकिक तथा अलौकिक ऐश्वर्य अथवा सिद्धि आदि सब हेय हो जाते हैं। ऐसा एक तत्त्वयुक्त अन्तःकरणवाला और आत्मलक्ष्य रखनेवाला महापुरुष सफलकाम होता है। तथा परावस्था में पराविद्यारूपिणी आत्मज्ञानजननी ब्रह्मशक्ति की कृपा से मन्त्रोक्त 'प्रति-बोधविदित' अखण्ड आत्मभावभावित दशा को प्राप्त कर ज्ञानी ब्रह्मरूप ही हो जाता है॥ ४॥

क्योंकि पुरुष अज्ञान से ही नाना प्रकार की योनियों में भटकता हुआ अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है। इस लिए इस शरीर में आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस के लिए कहते हैं कि—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकाद-मृता भवन्ति॥ ५॥

अन्वयः—(मनुष्य) इह, चेत्, अवेदीत्, अथ, सत्यम्, अस्ति । इह, चेत्, न, अवेदीत्, (तदा) महती, विनष्टिः, (भवति) (तस्मात्) धीराः, भूतेषु भूतेषु, (एकम् आत्मतत्त्वम्) विचित्य, अस्मात्, लोकात्, प्रेत्य, अमृताः, भवन्ति ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य यदि इसी लोक में वर्तमान शरीर में ही आत्मा को जान ले तो मनुष्यजन्म और परिश्रम सफल हो जाय। यदि इसी समय आत्मा न जाना गया तो बड़ी भारी हानि होती है। अर्थात् प्रतिदिन तप्त होनेवाले शरीर तथा इन्द्रियों के बन्धनच्छेदन का निरन्तर जारी रहना, देव, मनुष्य, तिर्यक्-पश्वादि, स्थावर—वृक्षादि योनियों में जन्म मरण का बार बार होना—रूप जो सुख का अभाव है; यही आत्मज्ञानरहित पुरुष की विनष्टि (अनिष्ट) है। इस लिए स्थावर पर्यन्त योनियों में अनेक दुःखों से पूरित प्राणियों के आवागमन को देखते हुए ध्यानशील विद्वान् जन सब चराचर में आत्मा का साक्षात्कार करके, इस लोक को छोड़कर अर्थात् पुत्र, धन और प्रतिष्ठा के इच्छास्वरूप प्रत्यक्ष संसार से शरीरादि को छोड़कर ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—यह पुरुष यदि जन्म से ही अपने शुद्ध रूप को जान ले तो सत्यस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। यदि वह भारतवर्ष में आकर, अधिकारी शरीर को प्राप्त होकर, परमेश्वर की माया से मोहित हुआ, तुच्छ विषयसुख में आसक्त होकर आनन्दरूप आत्मा को न जाने तो उस का बड़ा भारी अनिष्ट होता है। वह अनात्मज्ञ अर्थात् आत्मा को नहीं जाननेवाला पुरुष न स्वयं शान्तिलाभ कर सकता है और न दूसरों को शान्त कर सकता है। वह जन्म मरणादिकों के मायिक चक्र में सदा ऐसा घूमता रहता है जैसे हवा में सूखे पत्ते उड़ा करते हैं। और वह काम क्रोध आदिरूप अन्तःशत्रुओं से सदैव तिरस्कृत होता रहता है। यही अज्ञानी पुरुषों का विनाश है। इस लिए पुरुष को प्रमादरहित तथा धैर्यवान् होकर इस अधिकारी शरीर में ही आत्मा का निश्चय करना चाहिए। जैसे वास्तव में एक ही चन्द्रमा जलपात्रों के भेद से अनेक रूप से प्रतीत होता है, वैसे ही सर्वभूतों में परमार्थ से एक ही आत्मा अनेक रूप से स्थित है। इस तरह आत्मज्ञान से अधिकारी पुरुष देह इन्द्रियादिकों में अहंता ममता का त्याग करके अमृतभाव को, याने जरामरणादिक संसारधर्म से रहित होकर आनन्दरूप आत्मा को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

विशेष—इस मन्त्र में कहा गया है कि इसी लोक में और मनुष्यदेह में ही पुरुषार्थ सिद्ध कर लेना चाहिए। यह समझ लो कि यह मृत्युलोक कर्मभूमि है। अतः कर्म, उपासना और ज्ञानार्जन के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का अवसर इस लोक में सब से अधिक है। इस अभिप्राय को लेकर श्रुति कहती है कि विवेकवान् पुरुष को हर तरह से यह उद्योग करना चाहिए कि इसी लोक में असत्य का त्याग करके सत्य की उपलब्धि हो जाय। यदि मनुष्य इस कर्मभूमि में जन्म लेने का मौका खो दे तो वह अन्य भोगलोकों में पहुँचकर अपने आवागमन का चक्र दीर्घ काल तक स्थायी बना लेता है। ऐसा देखा जाता है—तेज धारावाली नदी में यदि कोई मनुष्य डूब जाय तो जल का अधिष्ठाता वरुण देवता अपने साधारण नियम के अनुसार उस को एक दो बार जल के ऊपर पहुँचा देता है। यदि उस समय मनुष्य किसी प्रकार आत्मरक्षा कर सकता है तो बच जाता है, अन्यथा पता नहीं लगता। इसी प्रकार जीव जब आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ कर्मभूमि मृत्युलोक में जन्म लेता है और उसे सत्संग से सत्य के प्राप्त करने का मौका मिलता है, उस समय वह उसे गँवा दे तो उसकी वही दशा होती है जो पानी में डूब मरनेवाले की कही गई है। इसे कौन जानता है कि प्राणी को यह मनुष्यजीवन का उच्चतम अधिकार कब मिलेगा ? इस लिए जिज्ञासु को चित्त के तीव्र संवेग, सात्त्विक धृति और सात्त्विक ज्ञान का आश्रय करके सत्य का अनुसंधान कर लेना चाहिए। क्योंकि स्थूल शरीर के अन्त हो जाने का कोई ठिकाना नहीं। प्रत्येक समझदार व्यक्ति को यह वेद का उपदेश स्मरण रखना चाहिए ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः।

——❀❀❀——

अथ तृतीयः खण्डः

संसार के सम्पूर्ण धर्मों से रहितरूप से जिस का उपदेश दिया गया है, उस ब्रह्म में अज्ञानी पुरुषों को शून्यता की शङ्का न हो इसलिए, अथवा चेतन ब्रह्म ही सब की शक्ति है इस उत्कर्ष की सूचना के द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा उत्पन्न होने के लिए, अथवा उत्तम अधिकारियों के लिए निर्गुण ब्रह्मात्मता का ज्ञान कह देने के बाद मन्दमति जिज्ञासुओं के प्रति सगुण ब्रह्म की उपासना विधान करने के लिए, अथवा अति बुद्धिमान् अग्नि इन्द्रादि देवताओं ने भी स्वप्रकाश ब्रह्म को उमा देवी के

संवाद से ही जाना, इस कारण और बुद्धिमानों को उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए पूरा यत्न करना चाहिए; इन बातों को सूचित करने के लिए यक्ष की कथा कहते हैं कि-

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ १ ॥

अन्वयः—ब्रह्म, ह, देवेभ्यः, विजिग्ये। तस्य, ह, ब्रह्मणः, विजये, देवाः, अमहीयन्त। ते, ऐक्षन्त, अस्माकम्, एव, अयम्, विजयः, अस्माकम्, एव, अयम्, महिमा, च, इति ॥ १ ॥

भावार्थ— ब्रह्म ने देवताओं के लाभ के लिए असुरों को जीता। यद्यपि यह जीत ब्रह्म की थी, तो भी उस जयलाभ से देवताओं ने अपने को महत्त्ववाला समझा। देवताओं ने समझा कि यह विजय और महिमा हमारी ही है, दूसरे किसी की नहीं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य— पहले कह चुके हैं कि ब्रह्म विज्ञात और अविज्ञात दोनों है। सामान्यतः देखा जाता है कि सत्तावान् पदार्थ ही प्रमाण के द्वारा जाना जाता है। जो शशशृङ्ग के समान सर्वथा असत् है, वही अविज्ञात रहता है। जब कि यह बात है तो मन्दबुद्धिवाले लोगों को शङ्का हो सकती है कि जब ब्रह्म भी अविज्ञात है, तो वह भी शशशृङ्ग की तरह असत् ही होगा। इस शङ्का के निवारण के लिए यह आख्यायिका प्रारम्भ की जाती है। वह दुर्ज्ञेय ब्रह्म अखिल विश्व का शासनकर्ता, देवाधिदेव, ईश्वरों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर) का भी ईश्वर, देवताओं का विजयप्रदाता और असुरों की पराजय करनेवाला है, तब 'वह नहीं' यह कैसे हो सकता है? इसी अर्थ को यक्ष की आख्यायिका द्वारा समझाते हैं। वह आख्यायिका यह है—

एक समय स्वर्ग में रहनेवाले देवताओं ने ब्रह्मविद्या के प्रभाव से संग्राम में सब असुरों को जीत लिया। जैसे अग्नि की समीपता से पतङ्ग नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता देवताओं से सब असुरों का क्षय हो गया। जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला तृण वस्त्र आदिकों को जला देता है, वैसे ही ब्रह्मरूप अग्नि से देदीप्यमान हुए देवताओं द्वारा असुरों का नाश हुआ। जैसे अग्निसम्बन्ध के विना लोहे का गोला किसी पदार्थ को नहीं जला सकता, वैसे ही ब्रह्मरूप अग्नि की शक्ति के विना देवतारूपी लोहा असुररूपी तृण को नहीं जला सकता था। इस

कारण ब्रह्मतेज से ही उन देवताओं को असुरों के नाश करने की शक्ति प्राप्त हुई थी।

यहाँ शङ्का होती है—यदि ब्रह्म के बल से देवताओं की विजय हुई, तब तो, ब्रह्मरूप बल हम सब में भी है, क्योंकि ब्रह्म सब का आत्मा है। इस कारण हमारे भी शत्रुओं का नाश होकर सर्वत्र हमारी विजय हो जानी चाहिये। इस का उत्तर यह है कि यद्यपि सूर्य सर्वत्र व्यापक है, तथापि सूर्यकान्त मणि में स्थित होकर ही वह वस्त्र आदि को जलाता है। वैसे ही यह ब्रह्मात्मा सर्वत्र व्यापक होने पर भी सत्त्वगुणप्रधान देवताओं में विशेष कर पाया जाता है। इस कारण देवता बली हुए, असुरों का नाश हुआ। परन्तु जैसे कोई मनुष्य अति प्राणघातक दुःख से किसी कृपालु देवता या किसी मुनि की कृपा से छूटकर, फिर विषयों में आसक्त होने पर उन देवता आदि के उपकार को भूल जाता है, वैसे ही ब्रह्मबल के प्रभाव से विजय को प्राप्त हुए सब देवता भोगों में आसक्त होकर ब्रह्म को भूल गये। उलटे रजोगुण के आवेश में आकर, जिस से पुरुष का नाश हो जाता है ऐसा अभिमान करके कहने लगे—

हम ने अपने बल से ही असुरों का नाश किया। यह हमारी ही विजय है, हमारा ही यश है, हम ही महाभाग्यवाले हैं, हम ही सुन्दर हैं, रूप यौवन सम्पन्न हैं। हम युद्धविद्या में बड़े कुशल हैं। हमारे सामने राक्षस क्या चीज हैं। हमारे आगे असुरों का बल तुच्छ है। हम में शम दमादि साधन विद्यमान हैं। कहाँ तक कहें, हमारे बराबर इस ब्रह्माण्ड में कोई है ही नहीं। अस्तु, देवताओं को ऐसा गर्व हुआ, जिस से पाप की उत्पत्ति और पराक्रम तथा यश का नाश हो जाता है॥ १॥

विशेष—जो कुछ शक्ति है वह ईश्वर की है। किंतु मनुष्य माया के मोह में पड़कर उसे अपनी ही शक्ति समझ बैठता है, यह उस का अभिमान है। जैसे कोई शिष्य पुत्र आदि व्यक्ति गुरु पिता आदि की सामर्थ्य से समर्थ होकर 'मैं स्वयं समर्थ हूँ' ऐसा मान ले, अथवा जैसे कोई राजा सेठ आदि श्रीमान् के प्रताप वा अनुग्रह से धनवान् होकर उसे अपना ही धन समझे, इसी प्रकार परमात्मा के तेज बलरूप सामर्थ्य से समर्थ हुईं इन्द्रियाँ वा पृथ्वी आदि 'हमारी ही यह सामर्थ्य है' ऐसा मानती हैं। अर्थात् ज्ञाता मनुष्य भी उन देवों (पृथ्वी आदि और नासिकादि इन्द्रियों) में तेजबलरूप का महत्त्व देखकर अज्ञान से मान लेते हैं कि यह इन्हीं का है। इन मन्त्रों में आख्यायिकारूप से प्रतिपादन किया गया है कि उच्च श्रेणी के जीवों में भी सत्य अनुसन्धान के बिना कैसा भय रहता है। साथ ही इस में ब्रह्म के

निर्गुणत्व और सगुणत्व, सर्वकारणत्व और शक्तिमत्त्व आदि भावों का भी प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्दश भुवनों के चौथे हिस्से का नाम मृत्युलोक है, जैसे—नरलोक, पितृलोक, प्रेतलोक और मृत्युलोक। ऊपर के सात लोकों में देवश्रेणी के जीव और नीचे के सात लोकों में असुरश्रेणी के जीव निवास करते हैं। देवतागण ऊपर के लोकों में धर्मानुकूल रहते हुए असुरराज्य छीनने की कभी इच्छा नहीं करते। परन्तु नीचे के सात लोकों के असुरगण सर्वदा देवाधिकार छीनने में प्रयत्नशील रहते हैं। पुण्य क्षीण हो जाने पर देवताओं की पराजय और पुण्य बढ़ जाने पर देवता विजयी हो जाते हैं। इस देवासुरसंग्राम के अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्मरूप तीन भेद हैं। अधिदैव रूप ऊपर कहा गया है। इस मृत्युलोक में देवांश से उत्पन्न और असुर अंश से उत्पन्न मनुष्यों का जो युद्ध है, वह इस का अधिभूत रूप है। और मनुष्य के अन्तःकरण में कृष्ट एवं अकृष्ट वृत्ति का जो युद्ध है वह इस का अध्यात्म रूप है। असल में नित्य देवासुरसंग्राम के लिए मनुष्य के अन्तःकरणसमूह दुर्गरूप हैं (किले हैं), जिन को कभी असुर छीन लेते हैं, कभी देवगण अधिकार कर लेते हैं। पाठकों को यह समझना चाहिये कि इन मन्त्रों में इस प्रकार से देवासुर संग्राम का रहस्य ब्रह्मज्ञान के प्रकाश के लिये गाथारूप से वर्णन किया गया है॥ १॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव।
तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति॥ २॥

अन्वयः—(ब्रह्म) ह, एषाम्, तत्, विजज्ञौ, तेभ्यः, ह, (ब्रह्म) प्रादुर्बभूव। तत्, इदम्, यक्षम्, किम्, इति, (देवाः) न व्यजानत॥ २॥

भावार्थ—देवताओं के इस मिथ्याभिमान को ब्रह्म समझ गये। वे देवताओं के निकट आविर्भूत हुए। किन्तु इस रूप का दर्शन करके भी देवगण नहीं समझ सके कि यह महत् पूजनीय मूर्ति कौन है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—ब्रह्म की महिमा से होनेवाली विजय को देवताओं ने अपनी महिमा समझा। यह उन का कृतघ्नतापूर्ण गर्व था। कृतघ्न पुरुष १०,००० वर्ष तक विष्ठा के कीड़े की योनि भोगता है। इस कारण मूढ़ बालक पर कृपालु पिता के समान देवों के ऐसे कृतघ्नतापूर्ण गर्व के दोष को दूर करने के लिए परमात्मा ने अपनी माया के बल से, जो कभी पहले देखने सुनने में नहीं आया, ऐसा

अद्भुत अलौकिक यक्ष का स्वरूप धारण किया। उस आश्चर्यरूप यक्ष भगवान् को देखकर वे सब देवता आश्चर्य से चकित होकर आपस में कहने लगे कि यह कौन है ? यह कौन है ? भगवान् ने ऐसा रूप बनाया कि सब अचम्भे में पड़कर भौंचके से रह गये, और रोमाञ्चित होकर सब अपने अपने प्रभाव को भूल गये। उनमें से उस यक्ष के समीप जाने का किसी को भी साहस नहीं था ॥ २ ॥

विशेष—देवासुरसंग्राम में देवताओं की जय होने से वे मदान्ध होने लगे। इस से उनके पतन की सम्भावना देखकर करुणालय भगवान् में जो भक्तों पर कृपा करने की इच्छा उत्पन्न हुई, उसी इच्छा का विलास यह सगुण रूप है, जिस का यक्ष के रूप में देवताओं को दर्शन हुआ था। वस्तुतः सर्वकार्य ब्रह्मनिमित्तक ही हैं। केवल जीव अहंकार के वशीभूत होकर अविद्या के प्रभाव से यह समझने लगता है कि मैं कर्ता और भोक्ता हूँ, इत्यादि। यही जैव अहंकार जीव के बन्धन का मूल कारण है। यही अहंकार बढ़ते बढ़ते जीव को क्रमशः नाना प्रकार की दुर्गतियों में प्राप्त कराता है, और उसकी आत्मोन्मुखकारिणी सद्‌गति बंद हो जाती है। देवतारूपी भक्तों को इस विपत्ति से बचाने के लिए जगदीश्वर को यह अलौकिक रूप धारण करना पड़ा था ॥ २ ॥

अब अग्नि की परीक्षा कही जाती है—

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

अन्वयः—ते, अग्निम्, अब्रुवन्, जातवेदः ! एतद्, विजानीहि, एतत्, यक्षम्, किम्, इति ! (अग्निः) तथा, इति (स्वीचकार) ॥ ३ ॥

भावार्थ—देवताओं ने अग्नि से कहा कि हे जातवेद ! (हे अग्ने !) यह यक्ष कौन है, सो तुम जाकर मालूम करो[1]। अग्नि भी 'तथास्तु' (यही करता हूँ) ऐसा कहकर उस की ओर चल दिया ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—यक्ष के अद्भुत स्वरूप को देखकर डरे हुए देवताओं ने यह जानने की इच्छा की कि यह विलक्षण स्वरूपधारी हमारे अनुकूल है या

१—इस स्वरूप में अनन्त मस्तक, अनन्त नेत्र और सब प्राणिओं के मुख थे, इसमें सर्व भूत भौतिक पदार्थ प्रतीत होते थे और इसमें सर्व प्रकार के शस्त्र, वस्त्र, माला, तथा स्त्री, पुरुष आदि के चिह्न थे।

प्रतिकूल। इस धारणा से उन्होंने अपने में सबसे अधिक तेजस्वी एवं अग्रगामी (सब से आगे चलनेवाले), सर्वज्ञ तुल्य अग्नि से कहा कि हमारे सामने दीखनेवाला जो यह यक्ष है, वह क्या चीज है ? तुम इस का पता लगाओ, अग्नि भी देवताओं के वचन को अङ्गीकार करके उस के पास चल दिया ॥ ३ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि मनुष्य योगाभ्यासादि परमार्थसिद्धि के साधनों का निरन्तर अनुष्ठान करता है, तब कुछ समय के बाद उस के अन्तःकरण में एक प्रकार का ऐसा अद्भुत प्रकाश उत्पन्न होता है, जिस को देख जीवात्मा और सब इन्द्रियाँ चकित हो जाती हैं। लोक में भी कोई विलक्षण चीज देखी जाय तो प्रधान से कहा जाता है कि आप बताइये यह क्या है ? यहाँ भी सब इन्द्रियों में तैजस होने से चक्षु की प्रधानता है। अभिप्राय यह है कि चक्षुसम्बन्धी तेज को प्रेरणा की गई कि विश्व में ओतप्रोत जो शक्ति है, उसको जानने का यत्न करो ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अह-मस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ ॥

अन्वयः—(अग्निः) तत्, अभ्यद्रवत्। (यक्षम्) तम्, अभ्यवदत्, कः, असि, इति। अहम्, अग्निः, वै, अस्मि, इति, अहम्, जातवेदाः, वै, अस्मि, इति, (अग्निः) अब्रवीत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्निदेव के उस यक्ष के समीप पहुँचने पर उस ने पूछा कि तुम कौन हो ? अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं अग्नि हूँ और जातवेदा नाम से जगत् में प्रसिद्ध हूँ ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—अग्नि देवता इन्द्रादिकों की आज्ञा मानकर यक्ष के समीप गया। तब यक्ष ने अग्नि से पूछा कि तू कौन है ? अग्नि ने अभिमान के सहित उत्तर दिया कि मैं अग्निदेवता हूँ और लोग मुझे जातवेदा नाम से जानते हैं ॥ ४ ॥

विशेष—'तुम कौन हो' ब्रह्म के इस प्रकार पूछने पर 'मैं अग्नि हूँ' और 'मैं जातवेदा नाम से प्रसिद्ध हूँ' इस प्रकार अग्नि ने अपना दो नामों से परिचय देकर अपनी प्रशंसा प्रकट की। वेदस नाम रूप, ज्ञान वा धन का है, उसका देनेवाला जो हो उसे, अथवा जो व्यापक हो, एवं अत्यन्त बुद्धिमान हो उस को जातवेदा कहते हैं ॥ ४ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीद ँ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

अन्वयः—(यत्तम् अवोचत्) तस्मिन्, त्वयि, किम्, वीर्यम्, इति । (अग्निरब्रवीत्) पृथिव्याम्, इदम्, यत्, (विद्यते) इदम्, सर्वम्, अपि, दहेयम्, इति ॥ ५ ॥

भावार्थ—ब्रह्म के यह पूछने पर कि तुम में क्या सामर्थ्य है ? अग्नि ने उत्तर दिया कि इस संसार में जो कुछ पदार्थ हैं, मैं उन सब ही को जला सकता हूँ ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—अग्निदेवता के अभिमानयुक्त उत्तर को सुनकर ब्रह्म ने अग्नि से कहा कि तुम तो बड़े प्रसिद्ध गुणवाले और नामवाले हो। अच्छा, तुम यह तो बताओ कि तुममें क्या सामर्थ्य है ? अग्नि बोला कि पृथ्वी पर जो यह चराचररूप जगत् है, मैं इस सब को क्षणभर में जलाकर भस्म कर सकता हूँ ॥ ५ ॥

विशेष—यह सही है कि अग्नि का यदि पूरा पूरा तेज बढ जाय तो वह सब जगत् को बहुत शीघ्र जला सकता है। पृथ्वी यानी भूमि उपलक्षण है। अग्नि तो जो वस्तु आकाश में रहती है उस को भी जला सकता है। परन्तु ईश्वर की इच्छा के बिना अग्नि आदि में ऐसी शक्ति नहीं हो सकती है, यही इस प्रकरण में कहा गया है ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद् दहेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

अन्वयः—एतत्, दह, इति, (उक्त्वा यक्षम्) तस्मै, तृणम्, निदधौ । (अग्निश्च) सर्वजवेन, तत्, उपप्रेयाय, तत्, दग्धुम्, न शशाक, ततः, एव, निववृते । (प्रत्यागतः अग्निर्देवान् अब्रवीत्) यत्, एतत्, यक्षम्, विज्ञातुम्, (अहम्) न अशकम्, इति ॥ ६ ॥

भावार्थ—ब्रह्म ने उस अभिमानी अग्नि के सामने एक तृण रखकर कहा कि इस को जलाओ। अग्नि बड़ी खुशी से उस तृण के पास गया, परन्तु उस को

जला नहीं सका। तब वहाँ से लौटकर उसने देवताओं से कहा—मैं नहीं समझ सका कि यह कौन है ? ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—अग्नि का कथन सुनकर मन्द मन्द मुस्कराते हुए उस यक्ष ने अग्नि के सामने एक सूखा हुआ तृण रख दिया, और कहा कि इस को जलाओ। यह सुन अग्नि ने बड़े वेग के साथ सब प्रकार का यत्न करके उस तृण को जलाना चाहा, किन्तु जला नहीं सका। तब लज्जित और भयभीत हो अग्नि उन देवताओं की सभा में जाकर उन से बोला कि इस यक्ष के विषय में मैं कुछ नहीं जान सका। तुम लोग स्वयं ही निश्चय कर लो ॥ ६ ॥

विशेष—अग्निदेवता का ब्राह्मण वर्ण है। ब्राह्मण का काम प्रत्येक पदार्थ-विषयक ज्ञान प्राप्त करने का है। अग्नि ही मृत्युलोक से देवताओं के निमित्त यज्ञ-भाग पहुँचानेवाला है और ज्ञानवान् है। इसलिए देवताओं ने सर्वप्रथम उसी को यक्षविषयक अनुसन्धान करने के लिए भेजा। किन्तु वह यावत् आग्नेय शक्ति का अधिष्ठाता होने पर भी जगदीश्वर की इच्छा और शक्ति की सहायता के बिना अपने आग्नेय सामर्थ्य का उपयोग न कर सका। प्रकृत रहस्य के द्वारा ब्रह्मशक्ति के अनन्त सामर्थ्य का स्वरूप दिखाया गया है ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

अन्वयः—अथ, (देवाः) वायुम्, अब्रुवन्, (हे) वायो ! एतत्, यक्षम्, किम्, इति, एतत्, विजानीहि। (वायुरुवाच) तथा, इति ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस के अनन्तर देवताओं के कहने से वायु देवता तथास्तु कहकर यक्ष का पता लगाने चला ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—अग्नि का वचन सुनने के बाद सब जगत् के प्राणरूप वायु को इन्द्रादि देवताओं ने यक्ष का पता लगाने के लिए कहा। वायु भी 'अच्छा ऐसा ही होगा' यह कहकर यक्ष का पता लगाने के लिए चल दिया ॥ ७ ॥

विशेष—देवताओं को यह विश्वास था कि उग्रस्वरूप अग्नि देवता यदि यक्ष का पता न लगा सका तो वायु देवता ऐसा करने में समर्थ हो सकेगा। हम लोग घबड़ा रहे हैं। वायु सब को प्राण देकर संरक्षण करता है, अतः जगत् के प्राणरूप वायु को उस का पता लगाने के लिए भेजा गया ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अहम-स्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ ॥

अन्वयः—(वायुः) तत्, अभि, अद्रवत् । तत्, तम्, अभ्यवदत्, (त्वम्) कः, असि, इति । वायुः, वै, अहम्, अस्मि, इति, मातरिश्वा, वा, अहम्, अस्मि, इति, (च वायुः) अब्रवीत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—यक्ष के निकट पहुँचने पर उसने पूछा—तुम कौन हो ? वायु ने यक्ष से कहा कि मैं वायु हूँ, मुझे लोग मातरिश्वा नाम से जानते हैं ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—वायु यक्ष के पास बड़े अभिमान से गया कि जो कार्य अग्नि से नहीं हुआ, उसे मैं कर दिखाऊँगा । इस लिए यक्ष के पूछने पर वायु ने उत्तर दिया कि मेरा नाम वायु है और मुझे सभी लोग मातरिश्वा के नाम से जानते हैं ॥ ८ ॥

विशेष—मातरिश्वा का अर्थ है कि जो आकाश में गमन कर सके । इस का अभिप्राय यह हुआ कि वायु यक्ष को साभिमान यह जनाना चाहता है कि मैं आकाश में गमन करने की शक्ति रखता हूँ, मैं ऐसे बलवाला हूँ ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीद ँ सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

अन्वयः—(यक्षम् अवोचत्) तस्मिन्, त्वयि, किम्, वीर्यम्, इति । (वायुरब्रवीत्) इदम्, सर्वम्, अपि, आददीयम्, यत्, इदम्, पृथिव्याम्, इति ॥ ९ ॥

भावार्थ—यक्ष ने वायु से पूछा कि तुम में क्या सामर्थ्य है ? वायु ने कहा कि इस पृथ्वी पर जो कुछ है, मैं उस सब को ग्रहण करने की ताकत रखता हूँ ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्रह्म वायु का अभिमान जान गया और वह उस से बोला कि तुम तो अपूर्व गुणसम्पन्न हो । भला कहो तो, तुम में क्या करने की योग्यता है ? वायु देवता ने जवाब दिया कि जो इस विश्व में है, मैं उस को ग्रहण कर सकता हूँ, उठा या उड़ा ले जा सकता हूँ ॥ ९ ॥

विशेष—वायु ने यक्ष के समक्ष अपने को मातरिश्वा कहकर विश्व को

अधरोत्तर करने की, याने जगत् की व्यवस्था को अस्तव्यस्त करने की सामर्थ्य का अभिमान प्रकट किया ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ १० ॥

अन्वयः—(यक्षम्) तस्मै, तृणम्, निदधौ, एतत्, आदत्स्व, इति। (वायुः) तत्, उपप्रेयाय, सर्वजवेन, तत्, आदातुम्, न शशाक। सः, ततः, एव, निववृते, एतत्, न विज्ञातुम्, अशकम्, यत्, एतत्, यक्षम्, (किम्) इति ॥ १० ॥

भावार्थ—यक्ष ने उठा या उड़ा देने के लिए वायु के सामने एक तृण रखा। पर वह उसे टस से मस न कर सका। वायु ने वहाँ से लौट आकर देवताओं से कहा कि यह यक्ष कौन है, इसे मैं नहीं जान सका ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—वायु की बात सुनकर हँसते हुए यक्ष ने उस के सामने एक हलका सा तिनका रखकर कहा कि इसे उठाओ। वायु देवता ने यह परीक्षा साधारण सी समझी, अतः वह उस तृण को उड़ाने चला। उड़ाना तो क्या था, जब वह उठा तक नहीं तब वायु पूरे बल से उसे उठाने का यत्न करने लगा। पर सफलता न मिली। फिर वापिस आकर देवताओं से कहा कि मैं इस यक्ष का कुछ पता न लगा सका ॥ १० ॥

विशेष—आकर्षण और विकर्षण के द्वारा यावत् कार्य करने और यावत् पदार्थ के धारण करने की शक्ति वायु में है। सौर जगत् के नाना ग्रह उपग्रहों को, सूक्ष्म अवस्थाप्राप्त वायु आकर्षण और विकर्षण शक्ति को धारण करके, उस की समता द्वारा अपनी अपनी कक्षा में स्थापित रखता है। इस उदाहरण से वायु का महत्त्व स्पष्ट है। परन्तु शक्ति के अधीश्वर परमात्मा के निकट वायु की शक्ति कुछ भी नहीं है। प्रकृत प्रसंग में यही प्रतिपादित हुआ है ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥ ११ ॥

अन्वयः—अथ, (देवाः) इन्द्रम्, अब्रुवन्, (हे) मघवन् ! एतत्, विजानीहि, एतत्, यक्षम्, किम्, इति । (मघवा च) तथा, इति, (उक्त्वा) तत्, अभ्यद्रवत् । (यक्षश्च) तस्मात्, तिरोदधे ॥ ११ ॥

भावार्थ—इस के पश्चात् देवताओं ने इन्द्र से उस यक्ष का 'पता' लगाने को कहा । ऐसा ही होगा, यह कहकर इन्द्र ज्यों ही यक्ष की ओर चले त्यों ही इन्द्र के निकट से वह लुप्त हो गया ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—देवताओं ने निश्चय किया कि यह काम किसी विशेष व्यक्ति के करने लायक है । अतः उन्होंने यक्ष का पता लगाने का महत्त्वपूर्ण कार्य देवताओं के राजा इन्द्र के सुपुर्द किया । इन्द्र ने देवताओं की बात मान ली और वे ज्यों ही यक्ष के समीप गये तो देखते हैं कि यक्ष भगवान् लुप्त हो गये हैं ॥ ११ ॥

विशेष—बात यह है कि इन्द्र को अपने देवाधिपति होने का बहुत बड़ा अभिमान था । यक्ष ने उसे तोड़ने के लिए इन्द्र को अपने साथ संवादमात्र करने का भी अवसर नहीं दिया । इन्द्र का अभिमान छुड़ाने के लिए आश्चर्यरूप बिजली के जैसा वह तेज दिखाई देकर छिप गया ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहु शोभमानामुमां हैमवतीम् । ताँ होवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ १२ ॥

अन्वयः—सः, तस्मिन्, एव, आकाशे, स्त्रियम्, बहुशोभमानाम्, हैमवतीम्, उमाम्, आजगाम । ताम्, ह, उवाच, एतत्, यक्षम्, किम्, इति ॥ १२ ॥

भावार्थ—इन्द्र ने अत्यन्त सुशोभित और सुवर्ण के आभूषणों को पहने हुए, अथवा हिमालयकन्या उमा को स्त्री के आकार में विद्यारूप से प्रकट हुई देखा । इस से यक्ष के वृत्तान्त का पता लगेगा, ऐसा समझकर देवराज इन्द्र उस के समीप जाकर पूछने लगे कि यह यक्ष कौन था ? ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—देवताओं के कहने से इन्द्र यक्ष का पता लगाने चले तो सही, किन्तु इन्द्र का ईश्वरत्वाभिमान पूर्णरूप से चूर्ण करने के अभिप्राय से यक्ष ने उन के साथ बात तक नहीं की । वह वहीं अन्तर्धान हो गया । 'वह यक्ष कौन था' यही सोचते और चारों ओर देखते हुए इन्द्र वहीं उपस्थित रहे, जहाँ यक्ष अन्तर्हित

हुआ था। वे अग्नि वायु की तरह वहाँ से लौट नहीं आये। इस के बाद यक्ष को देखने की उत्कट इच्छावाले इन्द्र गर्व आदि दोष से रहित हुए। जिस जगह यक्ष तिरोहित हुआ था, इन्द्र ने उसी जगह बहुत सुन्दर अलंकृता किसी स्त्री को देखा। यक्ष के प्रति इन्द्र की भक्ति देखकर विद्यादेवी उमा स्त्री के रूप में प्रकट हुई थी। यह सर्वोपरि शोभासम्पन्ना उमा हमारे अभिलषित प्रश्न का उत्तर दे सकेगी, ऐसा समझकर इन्द्र ने उस के समीप में जाकर पूछा कि कृपया बताइये, यह जो दर्शन देकर अन्तर्हित हो गया है वह कौन है ॥ १२ ॥

विशेष—क्योंकि इन्द्र देवराज थे, अतः वायु के अनन्तर यक्ष का पता लगाने का उन का ही अधिकार था। इन्द्र के देवाधिपतित्व के अभिमान को दूर करने के लिए ही भगवान् ने यह लीला रची। देवराज का अभिमान दूर हो गया। तब इन्द्र ने अपने उच्चाधिकार के अनुसार धैर्य, तपस्या और महत्त्व का परिचय दिया तथा अपने जिज्ञासाव्रत का पालन किया। इसी से पराविद्यारूपिणी ज्ञानजननी ब्रह्मशक्ति महामाया प्रकट हुई। अहंकारहीन, धीर, दृढव्रत जिज्ञासु के हृदय में ही परा विद्या का उदय होता है, तब वह मुमुक्षु विद्या की कृपा से निःश्रेयस भूमि में पहुँचता है। यहाँ इन्द्र जिज्ञासु हैं। वे यह जानते हैं कि यक्ष का पता न लगने से मेरे सर्वस्व की हानि है। इस कारण कष्टपूर्वक पूछते हैं। अन्तर्धान होने में ब्रह्म का अभिप्राय यह है कि मैं बुद्धि द्वारा इन्द्र को अपना स्वरूप जनाऊँ। इस से यह सूचित हुआ कि उत्तम बुद्धि के बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

इति तृतीयः खण्डः।

अथ चतुर्थः खण्डः

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्व-मिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति ॥ १ ॥

अन्वयः—सा, ह, उवाच, (एतत्) ब्रह्म, इति। ब्रह्मणः, वा, विजये, (यूयम्) एतत्, महीयध्वम्, इति। ततः, ह, एव, इन्द्रः, (एतत्) ब्रह्म, इति, विदांचकार ॥ १ ॥

भावार्थ—उस विद्या देवी ने कहा कि यह ब्रह्म है। तुम ब्रह्म की ही विजय से इस प्रकार महिमावाले हुए हो। तब इन्द्र ने समझा कि वह यक्ष ब्रह्म ही था ॥१॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इन्द्र के उक्त प्रश्न को सुनकर स्त्रीरूपिणी उमा नामवाली ब्रह्मविद्या ने कहा——हे इन्द्र ! वह यक्ष ब्रह्म था। तुम लोगों के अभिमान को दूर करने के लिए उस ने यक्ष का रूप धारण किया था। उस ब्रह्म की दी हुई विजय से ही तुम ने ऐसी महिमा पाई है। अर्थात् ईश्वर ने ही असुरों को जीता था, तुम तो उस में निमित्त मात्र थे। तुम्हारा यश बल और ऐश्वर्य सब उस की ही सत्ता की कृपा से हैं। 'यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है' ऐसा तो तुम्हारा मिथ्याभिमान है। इस प्रकार उस उमानामक ब्रह्मविद्या के कथन से ही इन्द्र ने सर्वप्रथम जाना कि वह ब्रह्म था, हमारे सब सुख उस की ही कृपा से हैं। इस जगत् का उपादान और निमित्त कारण वही है, अर्थात् विश्व को अपने ही स्वरूप में से आप ही रचता है। इस में अन्य किसी की सत्ता नहीं ॥ १ ॥

विशेष—ब्रह्म का स्वरूप देवताओं के बुद्धिगम्य नहीं था। इसी भाव को समझाने के लिए ब्रह्म को यक्ष नाम दिया गया है। ब्रह्म का स्वरूप इस लिए अनुमानगम्य नहीं हो सकता कि वह कोई देखी हुई वस्तु नहीं है। वह प्रत्यक्ष-गम्य भी नहीं है। क्योंकि जो इन्द्रियातीत तथा मन बुद्धि से परे होता है उसे इन्द्रियों द्वारा कदापि प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। हाँ, ब्रह्मशक्ति विद्यारूपिणी उमा की कृपा से निर्विकल्पक समाधि में आत्मज्ञानी को ब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। अतः इस मन्त्र में महादेवी के उपदेश से इन्द्र को रज्जु में सर्पभ्रम की तरह ब्रह्म में यक्ष का भ्रम दूर हुआ। तब देवराज इन्द्र को प्रतीत हुआ कि देवासुरसंग्राम में अल्पशक्तिवाले देवताओं की विजय नहीं है, यह महिमा सर्व-शक्तिमान् ब्रह्म की है। इस प्रसंग से यह सूचित हुआ कि सब संसार के ऊपर विजय और स्वामित्व परमेश्वर का ही है। उस से ऊँचा वा उस के बराबर जगत् में कोई नहीं है ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्नि-र्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥

अन्वयः—यत्, अग्निः, वायुः, इन्द्रः, ते, हि, एतत्, नेदिष्ठम्, पस्पर्शुः। (यस्माच्च) ते, हि, प्रथमः, एनत्, ब्रह्म, इति, विदांचकार, तस्मात्, एते, वै, देवाः, अन्यान्, देवान्, अतितराम्, इव ॥ २ ॥

भावार्थ—क्यों कि अग्नि वायु तथा इन्द्र देवताओं ने समीपवर्ती ब्रह्म का स्पर्श किया था, अर्थात् दर्शन किया था और इन्होंने ही सब से पहले 'यह ब्रह्म है' ऐसा जाना था, इसी कारण ये तीनों देवता निःसन्देह अन्य देवताओं की अपेक्षा विशेष श्रेष्ठ हैं ॥ २॥

वि० वि० भाष्य—अग्नि, वायु तथा इन्द्र इन तीन देवताओं ने कथनोपकथनादि द्वारा अर्थात् वार्तालापादि संवाद से ब्रह्म का स्पर्श किया था, अर्थात् इन्हीं लोगों ने प्रधानतया प्रियतम भाव से यक्ष को ब्रह्म करके जाना था। यही कारण है कि ये अन्य देवताओं में प्रधान हो गये ॥ २ ॥

विशेष—कर्म के संचालक देवलोकवासी देवता कहे जाते हैं। ज्ञान के संचालक भी देवता लोग हैं। स्थूल शरीर के चालक तथा रक्षक पितर कहे जाते हैं। देवताओं के भेद और नाम अनेक हैं। उन में से तेतीस देवों को मुख्य माना जाता है। इस गाथा के अनुसार उन तेतीसों में से इन तीनों की प्रधानता हुई। यहाँ शङ्का होती है कि क्या ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी ये तीनों प्रधान हैं? श्रेष्ठ हैं? इन तीनों की प्रधानता किस प्रकार मानी जाय? उत्तर यह है कि ब्रह्मा, विष्णु, और महेश ये तीनों ईश्वरकोटि में आते हैं। ये ब्रह्माण्ड के अधीश्वर हैं तथा अपने अपने व्यापार में परम स्वतन्त्र हैं। साधारण देवताओं के साथ इन की गणना नहीं हो सकती। इस विषय को यहाँ यों समझना चाहिए कि अग्नि, वायु और इन्द्र ये तीनों देवश्रेणी में श्रेष्ठ हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये ईश्वरकोटि में हैं। इसलिए इन के साथ उन का साम्य मानकर कोई शङ्का नहीं बनती।

इस मन्त्र में कहा गया कि अग्नि, वायु तथा इन्द्र ने ब्रह्म का स्पर्श किया, इस से वे श्रेष्ठ हैं। यहाँ शङ्का होती है कि उन देवताओं ने ब्रह्म का स्पर्श तो नहीं किया? इस विषय में कहते हैं कि मन का स्पर्श, शक्ति का स्पर्श और शरीर का स्पर्श; ऐसे स्पर्श के कई भेद हैं। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। शरीर के न छूने पर भी निकट में स्थित होने से शक्ति का स्पर्श होता है। इसी से देवमन्दिर यज्ञस्थान आदि पवित्र-स्थानों में किसी मलिन पुरुष के जाने से उन की शुद्धि का विधान है। इसी प्रकार किसी साधु संन्यासी के पास जानेवाले पुरुष का उन्हें शरीर से न छूते हुए

भी शक्ति के स्पर्श से लाभ ही होता है। मर्त्यलोक में स्थित भक्त वैकुण्ठ कैलासादि धामों में विष्णु शिवादि भगवच्चरणों का मानसिक स्पर्श करके कृतार्थ होते हैं। प्रकृत में उन तीनों देवताओं का शरीर से स्पर्श न होने पर भी ब्रह्मविग्रह से मुन और शक्ति, इन दो का स्पर्श तो हुआ था; इस में सन्देह नहीं ॥ २ ॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

अन्वयः—हि, सः, एनत्, नेदिष्ठम्, पस्पर्श, हि, सः, प्रथमः, एनत्, ब्रह्म, इति, विदांचकार, तस्मात्, इन्द्रः, वै, अन्यान्, देवान्, अतितराम्, इव ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस कारण इन्द्र अन्य सब देवताओं से अधिक हुआ, क्यों कि उसने ही समीप में वर्तमान इस ब्रह्म का स्पर्श किया था, 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उसने ही सब से पहले इसे जाना था ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इन्द्रदेव ने अपने चरित्र में अग्नि और वायु देवता की अपेक्षा विश्वास, अध्यवसाय और धैर्य की अधिकता दिखाई थी। इसी कारण वह जगज्जननी उमादेवी की कृपा प्राप्त करने में समर्थ हुआ। अतएव उस की श्रेष्ठता के विषय में सन्देह नहीं हो सकता। शास्त्र में ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, पर्यायवृद्ध, शीलवृद्ध, वर्णवृद्ध, आश्रमवृद्ध और वयोवृद्ध आदि वृद्धत्व श्रेष्ठत्व के अनेक भेद मिलते हैं। ये भेद व्यक्तिविशेष के महत्व के लिए हैं। यहाँ प्रकृत में तपस्या का आधिक्य होने के कारण, अतएव उमादेवी की कृपा प्राप्त होने से इन्द्रदेव में अग्नि और वायु देव की अपेक्षा वृद्धत्व—श्रेष्ठत्व है ॥ ३ ॥

विशेष—किसी एक व्यक्ति में सर्वापेक्षया वृद्धत्व या श्रेष्ठत्व रहे यह बात नहीं। कोई किसी की अपेक्षा श्रेष्ठ है, वही अन्य की अपेक्षा ऐसा नहीं भी है। उदाहरण से समझिये, जैसे अग्निदेव ब्राह्मण है, इन्द्रदेव क्षत्रिय है। अतः वर्णवृद्धत्व की अपेक्षा से अग्निदेव में श्रेष्ठत्व आ गया। ब्रह्म का ज्ञान सर्वप्रथम होने से इन्द्र में श्रेष्ठता आ गई। इसी का बोधन करने के लिए प्रकृत मन्त्र में 'अतितराम् इव' इस तरह 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है ॥ ३ ॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—तस्य, एषः, आदेशः, यत्, एतत्, विद्युतः, व्यद्युतत्, आ, इति, न्यमीमिषत्, आ, इति, इत्, अधिदैवतम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस ब्रह्म का यह आदेश है, याने उपासनासम्बन्धी आदेश है कि यह जो बिजली के चमकने के समान तथा पलक झपकने के समान प्रकट हुआ, वह उस ब्रह्म का अधिदैवत रूप है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—अब उस ब्रह्म के अधिदैव रूप का कथन करते हैं कि भगवान् के हिरण्यगर्भ समष्टिशरीर में जो उन का बिजली के समान प्रकाश है, जो कि चेतन प्रकाश अपनी समीपता से सब प्राणियों, इन्द्रियों तथा मन का प्रेरक है, वह ही ब्रह्म का वास्तविक अधिदैव रूप है। देवताओं के समीप में ब्रह्म का यह प्रकाश नेत्र के पलक मारने के समान हुआ था। यह ब्रह्म का अधिदैव रूप है ॥ ४ ॥

विशेष—निरुपम याने उपमारहित ब्रह्म को उपमा द्वारा निर्देश करना; इसको आदेश कहते हैं। भगवान् जब भक्तों पर प्रसन्न होते हैं, तो विशेष विशेष रूप में दर्शन देते हैं। वही कृपा यहाँ देवताओं पर भी हुई। पर अविद्याजनित मोह के कारण वे उस को पहचान नहीं सके। पश्चात् उमादेवी की सहायता से इन्द्र को भगवान् के उस रूप में प्रकट होने का निश्चय हुआ था। सृष्टि के आदि में प्रकट होनेवाले वेद ही परमात्मा के प्रधान आदेशवाक्य हैं। अन्तर्दृष्टियुक्त योगियों ने उस आदेश के तीन भेद बताये हैं। परमात्मा भक्तों के हृदय में नित्य विराजमान रहकर जो इङ्गित किया करते हैं, वह आदेश नित्य अध्यात्म-स्वरूप है। कल्प के आदि में ऋषियों के अन्तःकरण में वेद का प्रादुर्भाव होना और समय समय पर स्मृति, पुराण, तन्त्रादिशास्त्रों का रचा जाना; यह आदेश का अधिदैव स्वरूप है। और तत्तत् स्वरूप में भक्तों के कल्याण के लिए जो प्रत्यक्ष दैववाणी श्रवणेन्द्रियगोचर होती है, वह आदेश का अधिभूत स्वरूप है। इस मन्त्र में भगवत्स्वरूप के तेजोमय होने के कारण विद्युत् का उदाहरण दिया गया है और क्षणकालव्यापी होने से निमेष का दृष्टान्त माना गया है ॥ ४ ॥

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥ ५ ॥

अन्वयः—अथ, अध्यात्मम्, मनः, यत्, एतत्, गच्छति इव, च, अनेन, एतत्, अभीक्ष्णम्, उपस्मरति, (सः एषः) सङ्कल्पः ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस के अनन्तर अध्यात्म उपासना का उपदेश करते हैं। मन मानो ब्रह्म के निकट गमन करता है। साधक इस मन के द्वारा निरन्तर अतिशय रूप से ब्रह्म को स्मरण किया करता है। ब्रह्म के विषय में इसी प्रकार मानस चिन्ता, सङ्कल्प करना होता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—तदनन्तर आत्मविषयक उपदेश यह है कि साधक का मन अपनी वृत्ति से उस ब्रह्म को ग्रहण सा करता है। यह मन मानो ब्रह्म को अपना विषय बना लेता है। साधक व्यक्ति इसी मन के द्वारा संनिकट भाव से ब्रह्म का बारंबार स्मरण करता है। मन ही ब्रह्म की उपाधि है। मन के सङ्कल्प और स्मृति आदि प्रत्यय या ज्ञान द्वारा ही ब्रह्म अभिव्यक्त होता है। इसी कारण मन में ब्रह्म के विषय में ही संकल्प अथवा इसी प्रकार चिन्ता करनी होती है। यही ब्रह्म के विषय में अध्यात्म उपदेश है। अधिदैव आदेश में कहा गया है कि विद्युत् एवं निमेष की तरह आत्मप्रकाश भी अतिद्रुत अथवा क्षणस्थायी है। ब्रह्म दुर्ज्ञेय होने पर भी उक्त प्रकार के आदेश द्वारा मन्दमति व्यक्तियों को भी बुद्धिगम्य हो सकता है ॥ ५ ॥

विशेष—यह सब शरीर के भीतर अन्तःकरणविषयक अध्यात्म उपदेश है, अर्थात् जिसे ब्रह्म को जानने अथवा दुःख से छूटने की इच्छा हो, वह पुरुष ऐसा ध्यान करे कि 'मेरा मन ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म की ओर जाता रहे, मेरा संकल्प सदैव ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उद्यत रहे और मैं उसी में चित्त लगाकर नित्य ब्रह्म का ही स्मरण करूँ" ॥ ५ ॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

अन्वयः—तत्, ह, तद्वनम्, नाम, (तस्मात्) तद्वनम्, इति, उपासितव्यम् । सः, यः, एतत्, एवम्, वेद, एनम्, ह, सर्वाणि, भूतानि, अभिसंवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह यह ब्रह्म ही वन है अर्थात् प्राणियों के लिए भजनीय है। उस की 'वन' इस नाम से उपासना करनी चाहिए। जो उसे इस प्रकार जानता है उस के निकट प्राणिमात्र अभीष्ट की प्रार्थना करते हैं। अर्थात् उसे सभी भूत अच्छी तरह चाहने लगते हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—उपासना का तात्पर्य समीप में स्थित होना है। जीव अशुद्ध मन से विषयाकार वृत्ति को धारण करता हुआ आत्मा से दूर रहता है। केवल उपासना से विषयसम्बन्ध को छोड़कर ब्रह्मसम्बन्ध को प्राप्त करता है। ऐसा करने से उस का मन क्रमशः शुद्ध होता है, अर्थात् ज्यों ज्यों वह विषयचिन्ता को छोड़ता जाता है, त्यों त्यों अपने अन्तःकरण को ब्रह्मावगाही रूप में परिणत करता जाता है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है। उस की शक्ति ही जगत् की सृष्टि स्थिति लय करनेवाली है। उस की उपासना करनेवाले को कुछ अप्राप्य नहीं रह जाता। जब भक्त का अन्तःकरण भगवान् के साथ अभेदभाव को प्राप्त हो जाता है, उस समय उसमें भगवान् के लक्षण प्रकाशित होने लगते हैं। जीव देशकालपरिच्छिन्न और अहंकारी है, किन्तु ब्रह्म देशकाल से अपरिच्छिन्न, विभु और तत्त्वातीत है। परमात्मा की सान्निध्यप्राप्ति से जिज्ञासु कृतकृत्य होकर अहंकाररहित और उदारचरित हो जाता है। वनरूप ब्रह्म की उपासना से धन्यम्मन्य ऐसे कृतार्थ पुरुष का ब्रह्माण्ड में कौन प्रेमास्पद नहीं होगा? अर्थात् अपनी आत्मा के समान सब लोग उस का सत्कार करेंगे॥ ६॥

विशेष—जीव में ब्रह्म की उपासना करने से उस के गुणों का आविर्भाव हो जाता है। यही कारण है कि ब्रह्मोपासक में सर्वजीवहितकारिणी वृत्ति प्रस्फुटित हो जाती है। उस के चरित्रों में "वसुधैव कुटुम्बकम्" सारा संसार ही अपना परिवार है, यह धारणा दृढमूला हो जाती है। जिसमें भगवान् की यावत् गुणराशि की प्रतिकृति प्रकट हो जाय, वह सभी जीवों का आश्रयस्थल बन जाता है॥ ६॥

'पहले जिस ब्रह्मविद्या का कथन किया गया है, उस में सफलता प्राप्त करानेवाला प्रधानरूप कोई अन्य खास साधन हो तो कहिए' इस अभिप्राय से शिष्य गुरु से कहता है कि—

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति॥ ७॥

अन्वयः—भोः! उपनिषदम्, ब्रूहि, इति। (आचार्य आह) उक्ता, ते, उपनिषत्। ब्राह्मीम्, वाव, उपनिषदम्, ते, अब्रूमः, इति॥ ७॥

भावार्थ—शिष्य ने कहा कि भगवन्! मुझ को उपनिषद् कहिए। इस लिए गुरु कहते हैं कि तुझ को उपनिषद् कह दी। निश्चय ही तुझ को ब्रह्म के स्वरूप को बतानेवाली उपनिषद् का उपदेश दिया गया है॥ ७॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्र में 'भो' शब्द आया है। इस से गुरु-शिष्यसंवाद का विज्ञान प्रकट होता है। इस संसार में गुरुशक्ति और लघुशक्ति ये दो शक्तियाँ हैं। सामना होने पर गुरुशक्ति लघुशक्ति को अपनी ओर खींच लेती है। इस तरह लघुशक्तिवाला जीव गुरुशक्तिविशिष्ट ब्रह्म में मिलकर तद्रूप हो जाता है। वस्तुतः परमात्मा ही मनुष्यरूप में जगद्गुरुरूप से आविर्भूत होकर, शिष्य को आत्मज्ञान प्रदायक योगादि साधन का उपदेश देकर निःशेषपद की ओर अग्रेसर करते हैं, याने वे ही अन्त में उपनिषद् सुनाकर शिष्य को कृतकृत्य करते हैं। इस प्रकार शिष्य के अन्तःकरण में पहले विश्वास, इस के बाद श्रद्धा तदनन्तर सत्यरूपी ब्रह्म का आविर्भाव होता है। यही शिष्य का कृतकृत्य होने का क्रम है। श्रद्धा के द्वारा शुद्धचित्त शिष्य अनन्यभक्ति से गुरुप्रणाम, गुरुसेवा और जिज्ञासाबुद्धि से युक्त होकर गुरु के उपदेश को प्राप्त करता रहता है। इस तरह शिष्य आत्मज्ञान में अग्रेसर होता है। अन्त में श्री गुरुदेव शिष्य को आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए 'इदमित्थम्' रूप से लक्ष्य स्थिर करा देते हैं। इस मन्त्र में इसी अन्तिम अवस्था का संकेत किया है॥ ७॥

विशेष—इस उपनिषद् में प्रारम्भ से गुरुशिष्य का संवाद चलाया गया, वही अब समाप्ति में पुनः दिखाया गया है। जैसे, शिष्य बोला कि हे पूज्य गुरो! ब्रह्मविद्या को कहिए। इस प्रसंग में कुछ सारांश शेष रह गया हो तो कहिए, यह शिष्य के पूछने का अभिप्राय है। आचार्य बोले कि मैं तेरे प्रति उपनिषद् (ब्रह्म-विद्या) कह चुका, मैंने अच्छी प्रकार से ब्रह्मविद्या कह दी, उस का कुछ भी अंश बाकी नहीं रहा। अर्थात् यहाँ और कुछ कथनीय नहीं है, यह गुरु के उत्तर का तात्पर्य है॥ ७॥

अब विद्याप्राप्ति के साधन कहे जाते हैं कि—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्॥ ८॥

अन्वयः—तस्यै, तपः, दमः, कर्म, वेदाः, सर्वाङ्गानि, इति, प्रतिष्ठा, सत्यम्, आयतनम्॥ ८॥

भावार्थ—तप, दम, कर्म, वेद और सम्पूर्ण वेदाङ्ग उस के प्रतिष्ठारूप हैं, अर्थात् प्राप्ति के उपायभूत हैं। और सत्य उस का आयतन, आश्रय स्थान है॥ ८॥

वि॰ वि॰ भाष्य—आचार्य ने कहा कि तुम को जो यह ब्रह्मविद्या कही गयी है, तप दम कर्म वेद वेदाङ्ग धर्म ही उस की प्राप्ति के उपाय हैं। शरीर इन्द्रिय एवं मन की स्थिरता जिस से प्राप्त हो सके वह 'तप' कहाता है। विषयों से पराङ्-मुख होने को 'दम' कहते हैं। एवं यहाँ कर्म का तात्पर्य अग्निहोत्रादि कर्म हैं। इन्हीं के द्वारा मन की सत्त्वशुद्धि और उस से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। बुद्धिगत पाप-दोष दूर न होने से उपदेश पाने पर भी ब्रह्म के विषय में अज्ञान या विपरीत ज्ञान होता देखा गया है। इन्द्र और विरोचन इस के दृष्टान्त हैं। अतएव तपस्या आदि के द्वारा चित्त शुद्ध होने पर जिन की देवता गुरु में भक्ति है, उन्हीं के अंदर आत्म-तत्त्व प्रकट होता है। ऋग् आदि चारों वेद और शिक्षा आदि छै अङ्ग ही कर्म एवं ज्ञान के प्रतिपादक हैं। इसी कारण वेद और उस के सब अङ्ग ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा के कारण होते हैं। यहाँ प्रतिष्ठा का अर्थ चरण है। मनुष्य जिस प्रकार पैर के ऊपर भार रखकर कार्य करता है, उसी प्रकार तप, दम, कर्म आदि साधनों के सहारे से ही ब्रह्मविद्या ठहरी हुई है। और सत्य तो ब्रह्मविद्या का मानो आश्रय स्थान ही है ॥ ८ ॥

विशेष—इस मन्त्र में सत्य की महिमा प्रकट की गई है। यहाँ सत्य को ब्रह्मविद्या का आयतन (सहारा) बताया गया है। क्यों कि यह उपनिषद् (ब्रह्म-विद्या) प्रधानतः सत्य के आश्रय से ही अवस्थित रहती है। सत्य का अर्थ अमायिता, वाणी मन एवं शरीर की कुटिलता का अभाव है। जो मायावी नहीं हैं, साधु हैं, ब्रह्मविद्या उन्हीं का आश्रय लेकर रहती है, असुर स्वभाववाले के सहारे नहीं रहती। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए जितने प्रकार के साधन है उनमें सत्य ही प्रधानतम साधन है। "अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशि-ष्यते ॥" अर्थात् तराजू के एक पल्ले पर १००० अश्वमेध यज्ञ और दूसरे पर सत्य रखा गया, तो सत्य ही भारी हुआ। इस स्मृति से भी सत्य की महिमा प्रकट होती है ॥ ८ ॥

अन्त में इस उपनिषद् का अध्ययनफल दिखलाते हुए ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं कि—

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

अन्वयः—यः, वै, एताम्, एवम्, वेद, (सः) पाप्मानम्, अपहत्य, अनन्ते, ज्येये, स्वर्गे, लोके, प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो निश्चयपूर्वक इस उपनिषद् को इस प्रकार जानता है, वह पाप को क्षीण करके अनन्त और महान स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है, (अवश्य ही) स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—"केनेषितम्" इत्यादि वाक्यों से आरम्भ तथा "ब्रह्म ह देवेभ्यः" आदि आख्यायिका द्वारा प्रशंसनीय इस महाभागा और सम्पूर्ण विद्याओं की आश्रयभूता ब्रह्मविद्या को जो पुरुष जानता है, वह पाप को अर्थात् अविद्या, कामना और कर्मरूप संसार के बीज को त्यागकर, अनन्त अर्थात् जिसका कोई पार नहीं है, उस स्वर्गलोक अर्थात् सुखरूप ब्रह्म, जो सब से महान है, उस अपने मुख्य आत्मा में स्थित हो जाता है। भाव यह है कि वह फिर इस सांसारिक आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता ॥ ९ ॥

विशेष—प्राकृतिक नियम के अनुकूल चलने से पुण्य और उसके विरुद्ध चलने से पाप होता है। पाप का फल नरक प्रेतादि लोकों की प्राप्तिरूप दुःख है। इसी से इस मन्त्र में पाप से बचाकर स्वर्ग की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। सुखमय स्वर्गलोक की प्राप्ति पुण्यफल से होती है। यद्यपि स्वर्गलोक सुरलोक का वाचक है, तथापि 'अनन्त' विशेषण के बल से यहाँ उस का अर्थ 'ब्रह्म' ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि देवलोक का वाचक स्वर्ग 'अनन्त' नहीं है, ससीम है। कोई 'अनन्त' शब्द से आपेक्षिक अनन्तत्व ही ग्रहण न कर ले, इसी आशङ्का से 'ज्येये' (सर्वापेक्षया महति) यह विशेषण दिया गया। 'प्रतितिष्ठति' 'प्रतितिष्ठति' इस द्विरुक्ति का प्रयोजन 'फिर कभी आगमन नहीं होगा' इस अतिशय स्थिति तथा ग्रन्थसमाप्ति को दिखाने के लिए है ॥ ९ ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदम् माहम् ब्रह्म निराकुर्याम् मा मा ब्रह्म निराकरोद-निराकरणमस्त्वनिराकरणम् मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इस प्रकार यह केनोपनिषद् पर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज द्वारा विरचित विद्याविनोद भाष्य समाप्त हुआ।

केनोपनिषद् समाप्त।

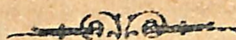




ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

कठोपनिषद्

विद्याविनोद भाष्य सहित



मन्त्र या संहिताभाग, ब्राह्मणभाग और उपनिषद्भाग; वेद के ये तीन विभाग हैं। उपनिषद्भाग ज्ञानकाण्ड का प्रकाशक है। जैसे परमात्मा अनादि अनन्त सर्वव्यापक और ज्ञानस्वरूप है, उसी तरह वेद अनादि, अनन्त, अपौरुषेय और पूर्ण ज्ञानमय है। वेद के परमात्मसंबन्धी सिद्धान्त को उपनिषद् कहते हैं। आज कल एक हजार एक सौ अस्सी (११८०) उपनिषदों में से जो बहुत थोड़े से उपलब्ध हैं, उनमें से आकार में छोटे होने पर भी कठोपनिषद् का महत्त्व बहुत कुछ माना गया है; यह कृष्ण यजुर्वेद की कठशाखा के अंदर आता है। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों के मौलिक सिद्धान्तों का पृथक् दिग्दर्शन पाया जाता है। इस में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन तीनों की महिमा के साथ ही साथ पितृमहिमा, अतिथिमहिमा और देवजगत् की महिमा का बहुत कुछ वर्णन है। तत्त्वज्ञान द्वारा आत्मज्ञान लाभ कराके भाग्यशाली महापुरुष को शरीर रहते हुए जीवन्मुक्त पद की प्राप्ति कराने के लिए यह उपनिषद् प्रधान अवलम्बन है। इस में यम और नचिकेता के संवादरूप से ब्रह्मविद्या का बड़ा विशद वर्णन किया गया है। इस में तत्त्वज्ञान का तो विवेचन है ही, साथ ही नचिकेता का चरित्र पाठकों के सामने एक अनुपम आदर्श भी उपस्थित करता है। अब प्रकृत कठोपनिद् की वल्लियों को सुगमता से समझाने का यत्न किया जाता है। यह स्मरण रहे कि हम जो यहाँ विचार करेंगे वह भगवान् श्री शंकराचार्य के भाष्यानुसार ही होगा।

ॐ सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवाव-है। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अन्वयः—सः (उपनिषत्प्रतिपाद्यं ब्रह्म), ह (निश्चयेन), नौ (शिष्याचार्यौ), अवतु, सः, ह, नौ, भुनक्तु, सह, वीर्यम्, करवावहै। नौ, अधीतम्, तेजस्वि, अस्तु, (आवाम् गुरुशिष्यौ), मा विद्विषावहै। (त्रिविधा) शान्तिः (अस्तु)।

भावार्थ—वह परमेश्वर विद्या देकर हम शिष्य और गुरु दोनों की रक्षा करे। हम दोनों विद्या के फल का समान उपभोग करें। हम दोनों का एक सा पालन हो। हम दोनों की विद्या का प्रसार हो। हम परस्पर शत्रुता न करें।

वि० वि० भाष्य—उपनिषदों का मुख्य प्रयोजन यही है कि मुमुक्षु जन दुःखमय संसार से वैराग्य को प्राप्त होकर निर्भय, निर्विकार और शुद्ध शान्त आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जायँ। यहाँ यम और नचिकेता के उपाख्यान से जो उपदेश दिया गया है, वह सर्वसाधारण के प्रति ब्रह्मविद्या की सुगमता के लिए है। जैसे कि नचिकेता ने बड़े बड़े राज्यादि सुखों का परित्याग करके ब्रह्मविद्या को सर्वोपरि समझकर उसी के लिए यत्न किया था, वैसा ही यत्न सब को करना चाहिए।

विशेष—हमने महापुरुषों से सुना है कि सब से पहले ऋषियों के अन्तः-करण में नादरूप से वेदों का आविर्भाव हुआ। तन्त्रों में किसी जगह नादपुस्तक, ब्रह्माण्डपुस्तक, पिण्डपुस्तक, बिन्दुपुस्तक और अक्षरमयी पुस्तक; इन पाँच पुस्तकों का वर्णन मिलता है। उन पाँचों में नादपुस्तक की प्रधानता है, क्यों कि वेद सब से पहले नादरूप में प्रकट हुए थे। इस प्रकार वेदविज्ञान जितना दुरूह (कठिन) है उसी तरह उस में विघ्नप्राचुर्य (अधिकता) की भी कमी नहीं है। इसी कारण सर्वप्रथम इस उपनिषद् के शान्तिपाठ में गुरु शिष्यों ने ईश्वर से एक साथ ही अपनी रक्षा की प्रार्थना की है। वे दोनों अपना साथ साथ पालन, साथ ही स्वविद्याप्रचार, तेजस्विता और द्वेषाभाव की प्रार्थना करते हैं। इस उपनिषद् ब्रह्मविद्या को कठनामक मुनीश्वर ने ऋषियों को पढ़ाकर संसार में प्रचलित किया, इस लिए इस का नाम 'कठोपनिषद्' हुआ। उपनिषद् नाम

ब्रह्मविद्या का है। ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक होने के कारण उपचारतः ग्रन्थ को भी उपनिषद् कहते हैं। जिज्ञासु की प्रवृत्ति के लिए प्रथम अनुबन्धचतुष्टय का ज्ञान होना आवश्यक है। प्रत्यग्रूप ब्रह्म इस ग्रन्थ का विषय है, मुक्ति इस का प्रयोजन है, विषय के साथ इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है और साधन-चतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति इस का अधिकारी है। इस तरह उपनिषद्शब्द से कही हुई ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिए और प्रतिपत्ति (बुद्धि) के प्रवेश की सुगमता के लिए आख्यायिकारूप इतिहास कहा जाता है—

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥ १॥

अन्वयः—वाजश्रवसः, (विश्वजिता सर्वमेधेन ईजे, स च) उशन्, सर्ववेदसम् (ब्राह्मणेभ्यो) ददौ, ह वै। तस्य, ह, नचिकेताः, नाम, पुत्रः, आस॥ १॥

भावार्थ—वाजश्रवस मुनि ने स्वर्ग लाभ की इच्छा से अपना सर्वस्व दान कर दिया था। उसका नचिकेता नामक पुत्र था॥ १॥

वि० वि० भाष्य—अन्न का दान करने से जिस की बड़ी भारी कीर्ति फैली हुई थी, ऐसे अरुण नामक ऋषि का एक उद्दालक नाम का पुत्र था। उसने विश्वजित नामक यज्ञ करना प्रारम्भ किया (इस में सर्वस्व दान करने की विधि है)। उस यज्ञ के फल की इच्छा से उसने घर की सभी गौएँ दान कर दीं। कहते हैं कि उस यजमान का नचिकेता नाम से प्रसिद्ध एक पुत्र था॥ १॥

विशेष—यहाँ 'उशन्' शब्द का अर्थ है कामनावाला। 'वाज' अन्न को कहते हैं, उस के दानादि के कारण जिस का 'श्रव' याने यश हो उस को वाजश्रवा कहते हैं। वेद तथा वेदानुकूल शास्त्रों की वर्णनशैली समाधि, लौकिकी और परकीया इन तीन भाषाओं में मिलती है। आध्यात्मिक रहस्यप्रकाश को 'समाधिभाषा' कहते हैं। उसी रहस्य को जो लौकिक रीति से प्रकाशन करे उस को 'लौकिकी भाषा' कहते हैं। जो उसी आध्यात्मिक भाव को गाथा के द्वारा हृदयङ्गम कराती है उस को 'परकीया भाषा' कहते हैं। वेद की यह प्रकृत रुचिर आख्यायिकाशैली तृतीय-स्थानीया है। विश्वजित् यज्ञ सब से बड़ा इस लिए माना जाता है कि इस में यज्ञ

तप और दान इन तीनों की पराकाष्ठा रहती है, और यज्ञकर्ता यज्ञ की समाप्ति में सर्वस्व दान कर देता है ॥ १ ॥

त ँ ह कुमार ँ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

अन्वयः—तम्, कुमारम्, सन्तम्, श्रद्धा, आविवेश । (कदा ? ब्राह्मणेभ्यो दातुम् गोषु) दक्षिणासु, नीयमानासु । सः, अमन्यत ॥ २ ॥

भावार्थ—दक्षिणा में देने के लिए गायें जिस समय ले जायी जा रही थीं, उस समय कुमार में श्रद्धा का आवेश हुआ । अर्थात् दान में दी हुई गायों को देखकर वह ऋषिकुमार, यद्यपि वह अभी बच्चा ही था, आस्तिक्यबुद्धि के उदय होने से मन में सोचने लगा ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—यद्यपि पाँच वर्ष की अवस्थावाले बालक में समझने की शक्ति नहीं रहती, तथापि पिता के हित की कामना से नचिकेता के हृदय में आस्तिकभाव से भरी श्रद्धा उत्पन्न हुई और वह विचारने लगा कि पिताजी से यहाँ कुछ भूल हो रही है ।

बात यह है कि वाजश्रवस ऋषि के घर में गोरूप धन ही बहुत था । उस मुनि ने अपनी गायों के दो विभाग किये । सुन्दर गायें जो दूध तथा बच्चा देनेवाली थीं, उन का एक विभाग अपने पुत्र के लिए रख लिया, क्योंकि उस का पुत्र में बहुत स्नेह था । दूसरा विभाग दान देने के वास्ते रख छोड़ा, जिस की चर्चा अगले मन्त्र में की जायगी ॥ २ ॥

विशेष—आकरग्रन्थों में यज्ञ के अवसर पर गोदान की व्यवस्था इस प्रकार की गई है, यथा—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता; इन चार प्रधान ऋत्विजों को ४८ गायें दी जाती थीं । प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी और प्रस्तोता; इन चार गौण ऋत्विजों को मुख्य ऋत्विजों की अपेक्षा आधी गायें दी जाती थीं । अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र और प्रतिहर्ता; इन चार गौण ऋत्विजों को मुख्य ऋत्विजों की अपेक्षा तीसरा हिस्सा गौएँ दी जाती थीं । ग्रावस्तुत्, नेता, होता और सुब्रह्मण्य; इन चार गौण ऋत्विजों को मुख्य ऋत्विजों की अपेक्षा गायों का चौथा हिस्सा दिया जाता था । जब उन ऋत्विजों को दक्षिणा में गायें दी जा रही थीं तब वेदोक्त यज्ञ में वैगुण्य होने के कारण पिता की अनिष्टप्राप्ति की आशङ्का से नचिकेता के हृदय में यथार्थत्वबुद्धि का आविर्भाव हुआ । वे गायें ऐसी थीं कि—॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

अन्वयः—पीतोदकाः, जग्धतृणाः, दुग्धदोहाः, निरिन्द्रियाः, ताः (जराजीर्णाः), ददत्, सः (यजमानः), ये, अनन्दाः, नाम, लोकाः, तान् गच्छति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—जो गायें सर्वदा के लिए जलपान कर चुकीं, घास खा चुकीं, दूध दे चुकीं तथा शिथिलइन्द्रिय हो चुकी हों, उन गौओं को जो दान करता है, वह अनन्द अर्थात् आनन्दरहितरूप से प्रसिद्ध लोकों में गमन करता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—नचिकेता के मन में यह विचार उठा कि दक्षिणा में गौएँ देना तो उत्तम कार्य है, परन्तु मेरे पिता ने ऐसी गायें दी हैं—जो जितना कुछ जल पीना था सो पी चुकीं, अब जल पीने को झुकने की भी इन में शक्ति नहीं है। जो कुछ घास खानी थी, खा चुकीं, अब घास चबाने को इन के मुख में दाँत नहीं रहे। जो कुछ दूध देना था दे चुकीं। जब कि ये कुछ भी खा पी नहीं सकतीं तो दूध तो देना ही क्या है, इन में गर्भ धारण करने की भी शक्ति नहीं रह गई है। जो ऐसी गायों का दान करता है, वह शास्त्रों में लिखे हुए सुखरहित लोकों में जाता है। नचिकेता ऐसा देखकर फिर विचार करने लगा कि सुख देनेवाला सुख पाता है, जो किसी को दुःख देता है वह कभी सुख नहीं पा सकता। अतः मेरे पिता ब्राह्मणों को दुःख देनेवाली गायें देकर सुख कैसे पायेंगे ? इन्होंने अच्छी अच्छी गायें मेरे लिए क्यों रख लीं ? ये मेरी चिन्ता क्यों करते हैं ? मेरी रक्षा तो अन्तर्यामी परमात्मा करेगा। मैं इन का पुत्र हूँ, अतः सच्चा बेटा वही है जो नरक आदि के दुःखों से पिता की रक्षा करे, जो ऐसा नहीं करता, उस में पुत्र का अर्थ नहीं घटता। इस कारण मैं पिता को इस निषिद्ध दान से निवृत्त करूँगा। ऐसा विचार कर वह पिता से कहने लगा ॥ ३ ॥

विशेष—इस मन्त्र में "अनन्दा नाम लोकाः" शब्द आये हैं, इन का अर्थ है कि सुखभोग की सामग्री से रहित स्थानविशेष। ऐसा लोक संसार में प्रसिद्ध नरक ही हो सकता है। कोई तो इस भूमि से अतिदूर देशस्थ भूभाग को स्वर्ग नरक मानते हैं, और किसी के मत में सर्वोत्तम खान, पान, पुष्प गन्धादि, दर्शनीय मनोहारि शब्द तथा बढ़िया शय्या आदि मनोरञ्जक

...भोग जिस जगह पर हों, वह स्थानविशेष स्वर्ग, और सब इन्द्रियों द्वारा विशेष दुःख पहुँचाने के साधन जहाँ पर हों, उस जगह का नाम नरक है। जो भी हो, पर यह निश्चय है कि किसी को दुःख पहुँचानेवाला, या किसी के लिए कष्ट पहुँचाने का कारण उपस्थित कर देनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता। इसी लिए क्रतु के वैगुण्य से पिता का अनिष्ट सोचकर पुत्र ने कहा कि—मुझे अपनी जान देकर भी यज्ञ को खराब नहीं होने देना चाहिए, ऐसा विचार कर वह कहता है कि—॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

अन्वयः—सः, ह, पितरम्, उवाच, हे तत ! माम्, कस्मै, दास्यसि, इति। द्वितीयम्, तृतीयम्, (एवमुक्ते सति कुपितः पिता) तम्, त्वा, मृत्यवे, ददामि, इति, ह, उवाच ॥ ४ ॥

भावार्थ—नचिकेता ने पिता से कहा कि हे तात ! आप मुझे किस ऋत्विक् को दान करेंगे ? इसी प्रकार उसने दुबारा तिबारा भी कहा। यह सुनकर कुपित हो पिता ने पुत्र से कहा कि 'मैं तुझे मृत्यु को दूँगा' ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—समीप जाकर नचिकेता ने कहा कि हे पिताजी ! जैसे गायें आप का धन हैं, उसी प्रकार मैं भी आपकी सम्पत्ति हूँ। मुझे किस ब्राह्मण को दोगे ? ऋषि होने पर भी वाजश्रवस धर्म के नाम पर लोभवश अधर्म कर रहे थे, उस असत्कर्म के प्रभाव से उनकी बुद्धि मलिन हो गई थी। यही कारण था कि वे पितृभक्तिपूर्ण, धर्मभावनायुक्त, बालसुलभ वचनों का मर्म बार बार कहे जाने पर भी समझ नहीं सके, उलटे क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपने को सचेत करनेवाले वचनों पर ध्यान न देकर संयोगवश इस अशुभ वचन को अपने मुख से निकाल डाला कि मैं तुझे मौत के हवाले करता हूँ ॥ ४ ॥

विशेष—निकम्मी गायें दान देते देखकर नचिकेता ने अपने पिता को पाप से बचाने के लिए एक बार नहीं कई बार कहा कि 'मुझे किस ऋत्विक् ब्राह्मण को दक्षिणा में दोगे ?' पुत्र के ऐसा कहने का अभिप्राय यह था कि पिताजी मुझ से ऐसा कहने का कारण पूछेंगे तो मैं धर्मशास्त्र के अनुसार इन को समझा दूँगा। पर पिता ने नचिकेता की बात पर ध्यान न दिया। दुबारा फिर उसने कहा कि 'गौ आदि सर्वस्व तो दे दिया, केवल मैं शेष रह गया हूँ, मुझे किस ऋत्विक् को दोगे ?'

तीसरी बार इस तरह कहने पर पिताजी नाराज हो गये कि यह बालक बड़ा है, यह अज्ञानी यों ही बक रहा है, इस अज्ञ को क्या समझाऊँ ? ऐसा कहते ऋषि के मुँह से निकल गया कि तुझे मौत को देता हूँ।

ऐसा कहनेवाले ऋषि का यह अभिप्राय नहीं था कि पुत्र मरण को प्राप्त जाय। 'सन्तान के तुल्य कोई प्रिय नहीं' इस प्रमाण के अनुसार कोई साधारण साधारण पुरुष भी अपने पुत्र की मृत्यु होना नहीं चाहता, तो ऐसा विद्वान् ऋषि न्यायविरुद्ध काम कैसे कर सकता है, ऐसा स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। किन्तु ऋषि ने ऊपर से भय दिखाने के लिए मृत्यु शब्द का प्रयोग किया था। जैसे लोक में अक्सर लोग कह दिया करते हैं कि खबरदार, ऐसा नहीं करना, अन्यथा मार डालूँगा। ऋषिजी कह तो बैठे, पर पीछे पछताना पड़ा ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
कि ँ स्विद् यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

अन्वयः—(एवं पित्रा उक्तः सः चिन्तयति) बहूनाम्, प्रथमः, एमि, बहूनाम्, मध्यमः, एमि। यमस्य, किम्, स्वित्, कर्तव्यम् ? यत्, अद्य, (पिता) मया, करिष्यति ॥ ५ ॥

भावार्थ—बहुतों में (शिष्य या पुत्रों में) तो मैं प्रथम हूँ, अर्थात् सब से अच्छे चाल चलनवाला हूँ। और बहुतों की अपेक्षा (कभी कभी) मेरा व्यवहार मध्यम वृत्ति का रहता है। यमराज का ऐसा कौन सा कार्य है जिसे पिताजी आज मेरे द्वारा सिद्ध करेंगे ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—नचिकेता ने एकान्त में जाकर यह विचार किया कि मैं सदा पिता के मन की बात समझकर उस के अनुसार कार्य करता रहा हूँ, इस कारण मैं पिताजी के अन्य शिष्यों और पुत्रों में उत्तम कक्षा को प्राप्त हूँ। तथा कभी कभी पिताजी की आज्ञा करने पर काम करता हूँ, इस से मध्यम श्रेणी में भी हो सकता हूँ। किन्तु मैंने कभी पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं किया, इस कारण अधम, निकृष्ट तो नहीं हूँ। फिर यह भी बात है कि यमराज का कोई ऐसा प्रयोजन नहीं प्रतीत होता, जो मुझ से सिद्ध हो सकेगा। इस से प्रतीत होता है कि पिताजी ने बिना किसी प्रयोजन के क्रोध में आकर ऐसा कह दिया है। खैर, जिसका जन्म होगा, वह मरेगा भी अवश्य। इस जीवन में पिताजी की आज्ञा का पालन हो जाय तो मुझे पुण्य ही होगा। ऐसा विचार कर उसने पिता से कहा—॥ ५ ॥



नचिकेता पर पिता का कोप।

નાચિકેતા ઉપર પિતાનો ક્રોધ.

विशेष—तामसिक, राजसिक और सात्विक; ये श्रद्धा के तीन भेद हैं। तामसिक श्रद्धा इस लोक में सुख शान्ति, राजसिक श्रद्धा पारलौकिक अभ्युदय, एवं सात्त्विक श्रद्धा आत्मज्ञान और निःश्रेयस प्रदान करती है। बालक नचिकेता में पूर्व-जन्मार्जित तप और धर्म के बल से सात्त्विक श्रद्धा स्वाभाविकी थी। इसी से वह मृत्यु के पास जाने के भयानक संवाद को पाकर भी विचलित नहीं हुआ, अतः वह उत्तम श्रेणी का पुत्र था। जो बिना कहे गुरु या पिता के मन के अनुकूल काम करे वह उत्तम है, जो कहने से करे वह मध्यम है और जो ऐसा नहीं है, वह कैसा है? इस को पाठक स्वयं जान सकते हैं ॥ ५ ॥

'गुणवान् पुत्र को मैंने क्रोध में आकर व्यर्थ ही यमराज को दे दिया' इस प्रकार शोकाकुल पिता को देखकर 'इन को झूँठ बोलने का पाप न लग जाय' इस हितदृष्टि से नचिकेता बोला कि—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य यथा परे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

अन्वयः—पूर्वे, यथा, (गताः तान्) अनुपश्य, तथा, परे, (अद्य वर्तमानाः तान्) प्रतिपश्य। मर्त्यः, सस्यम्, इव, पच्यते, पुनः, सस्यम्, इव, आजायते ॥ ६ ॥

भावार्थ—पूर्व पुरुष जैसा व्यवहार करते थे, उसे देखिये, एवं वर्तमान साधुगण कैसा चरित्र करते हैं इसे भी देखिये। मनुष्य खेती की तरह पक जाता है, और खेती की तरह फिर उत्पन्न हो जाता है। भाव यह है कि खेत के धान्य की तरह मनुष्य वृद्ध होकर मर जाता है और फिर पैदा हो जाता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—पिताजी! आप अपने पिता पितामह की ओर देखिए, उन्होंने कभी मिथ्या भाषण नहीं किया, तथा अब भी जो श्रेष्ठ महात्मा हैं, उन को देखिए, वे भी कभी झूँठ नहीं बोलते हैं। और आपने भी आज तक ऐसा नहीं किया। इस कारण स्नेह को छोड़कर मुझे मृत्यु के पास जाने की आज्ञा दीजिए। यह शरीर तो क्षणभङ्गुर है, जैसे सूर्य से पके हुए गेहूँ, धान आदि अन्न पृथ्वी पर गिर जाते हैं और समय पाकर फिर उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही यह जीव काल भगवान् के प्रभाव से बार बार मरता और जन्मता है। नचिकेता के ऐसा कहने पर वाजश्रवस ने अत्यन्त दुःखी होकर उसे धर्मराज के पास जाने की आज्ञा दी ॥ ६ ॥

विशेष—नचिकेता पिता की भक्ति के बल और अपने तप के प्रभाव से सदेह यमपुरी में चला गया। वहाँ यमराज नहीं थे, अतः वह यमराज के सभा-द्वार पर ही खड़ा रहा। यमकिंकरों के भोजन करने का आग्रह करने पर नचिकेता ने उत्तर दिया कि मैं यमदेव से बिना मिले भोजन नहीं करूँगा। यमदूतों ने कहा कि तुम उन से भेंट करने की आशा मत करो; क्योंकि अभी तुम्हारी आयु समाप्त नहीं हुई है, तुम भूलोक को लौट जाओ। धर्मराज जान बूझकर नचिकेता की परीक्षा के लिए घर से बाहर चले गये थे और अपने सेवकों को कह गये थे कि 'तुम्हारा यहाँ आना यम को स्वीकार नहीं है' ऐसा कहकर नचिकेता को अपने स्थान पर लौट जाने को कह देना। किन्तु यमसेवकों के ऐसा कहने पर भी ऋषिकुमार तीन दिन तक बिना कुछ खाये पीये यम के दरवाजे पर खड़ा रहा। चौथे दिन यमराज के घर आने पर दूतों ने उन्हें ऋषिपुत्र के आने की सूचना दी कि—॥ ६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैता ँ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

अन्वयः—(पितुः अवितथवाग्बलेन यमसदनं गत्वा प्रोषिते यमे त्रिरात्रम् नचिकेता उवास। पुनरागतं यमं दूताः कथयन्ति—) ब्राह्मणः, अतिथिः, गृहान्, वैश्वानरः, (सन् दहन्निव), प्रविशति। तस्य, एताम्, शान्तिम्, कुर्वन्ति, हे वैवस्वत! (नचिकेतसः स्वागतार्थम्) उदकम्, हर ॥ ७ ॥

भावार्थ—ब्राह्मण अतिथि होकर अग्नि की तरह घर में प्रवेश करता है। सज्जन लोग उस अतिथि की अर्घ्य पाद्य प्रदान द्वारा शान्ति किया करते हैं। अतः हे सूर्यपुत्र! जल ले चलो।

वि० वि० भाष्य—दूतों ने कहा कि हे धर्मराज! साक्षात् अग्निदेव ही ब्राह्मण के रूप में अतिथि होकर गृहस्थों के यहाँ आता है। अतः अपने ब्रह्मतेज से मानों दाह कर रहा हो, ऐसे अतिथि का जल, आसन, भोजनादिकों से तुम पूजन करो।

विशेष—नचिकेता को पूर्वजन्मार्जित पुण्य के बल से अन्य निकृष्ट लोकों में से होकर जाना नहीं पड़ा। वह सीधा धर्मराज की राजधानी में पहुँच गया। इस

मन्त्र में नृयज्ञरूपी अतिथिसत्कार की और त्रिलोकपूज्य ब्राह्मण की महिमा का प्रतिपादन किया गया है ॥ ७ ॥

जैसे अग्नि को बुझाया न जाय तो वह अन्य सामान के साथ घर को जला देता है, ऐसे ही जिस अतिथि का सत्कार न किया जाय वह सब को जला देता है। इसी पर कहते हैं कि—

आशाप्रतीक्षे सङ्गत ँ सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशू ँश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे८

अन्वयः—यस्य, गृहे, ब्राह्मणः, अनश्नन् , वसति, (तस्य) अल्पमेधसः, पुरुषस्य, आशाप्रतीक्षे, सङ्गतम्, सूनृताम्, इष्टापूर्ते, पुत्रपशून्, च, सर्वान्; एतत्, वृङ्क्ते ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस अल्प बुद्धिवाले पुरुष के घर पर ब्राह्मण बिना खाये रह जाता है, उस की आशा, प्रतीक्षा, संगत, सूनृता, इष्ट, पूर्त, पुत्र और पशु सब का नाश कर देता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस नासमझ मनुष्य के घर आया हुआ ब्राह्मण अतिथि भूखा बैठा रहता है, उस की इच्छित पदार्थ की आशा, मिलनेवाले पदार्थ की प्रतीक्षा, सत्संग का फल, सुखदायक वाणी का फल, यज्ञ का फल, बगीचा कूप आदि बनाने का फल, इन सब का एवं पुत्र, यश आदि का नाश हो जाता है। अतः अतिथि को कभी अन्न जल से निराश नहीं लौटाना चाहिए। इस कारण हे यम ! तुम नचिकेता का सत्कार करो ॥ ८ ॥

विशेष—देवराज इन्द्र जिस प्रकार देवता तथा देवकार्य की व्यवस्था करते हैं, उसी प्रकार धर्मराज यम भी धर्म की सुव्यवस्था, धर्म और अधर्म का विचार, धार्मिक और अधार्मिकों के यथायोग्य फलविधान एवं भूलोक की व्यवस्था किया करते हैं। ऐसे महापुरुष के घर में आये हुए ब्राह्मण का सत्कार न हो, यह कैसे हो सकता है ? इस मन्त्र में उपदेश दिया गया है कि प्रत्येक पुरुष को अतिथिसत्कार करना चाहिए ॥ ८ ॥

मन्त्रियों के ऐसा कहने पर यम नचिकेता से बोले कि—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्न-

मस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मन्, नमस्यः, अतिथिः, (असि) यत्, मे, गृहे, तिस्रः, रात्रीः, अनश्नन्, अवात्सीः। तस्मात्, प्रति, त्रीन्, वरान्, वृणीष्व। हे ब्रह्मन्, ते, नमः, अस्तु, मे, स्वस्ति, अस्तु ॥ ९ ॥

भावार्थ—हे ब्रह्मन्! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। मेरा मंगल हो, तुमने पूजनीय अतिथि होकर मेरे घर में तीन रात अनशनपूर्वक वास किया है। अतः प्रत्येक रात्रि के लिए एक एक करके तीन वर माँगो ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः! तुम अग्निस्वरूप अतिथि होने के कारण नमस्कार के योग्य हो। तिस पर भी तुम मेरे यहाँ तीन रात बिना भोजन के रह गये हो। यह मेरा अपराध हुआ, इस को क्षमा कराने के लिए मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, तुम क्षमा करो। ऐसा करने से मेरा कल्याण होगा। यद्यपि तुम्हारी कृपा से दोष शान्त होकर मेरा मंगल हो जायगा, तथापि तुम्हें अधिक प्रसन्न करने के लिए हर एक रात्रि में भोजन न करने के बदले में तुम को तीन वर देना चाहता हूँ। अपनी इच्छानुसार माँग लो, मैं सत्य कहता हूँ कि मैं तुम को वर दूँगा ॥ ९ ॥

विशेष—यमराज स्वतः देवश्रेष्ठ हैं, किन्तु वे तपस्वी ऋषि के अनशन को देखकर घबरा गये। अतः क्षमा याचना करते हुए तीन अनशनों के बदले अनृण होने की कामना से तीन वर देने के लिए तैयार हो गये ॥ ९ ॥

इस प्रकार यमराज के कहने पर नचिकेता बोला कि—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

अन्वयः—हे मृत्यो, गौतमः (पिता), शान्तसङ्कल्पः, सुमनाः, मा अभि, वीतमन्युः, यथा स्यात्, त्वत्प्रसृष्टम्, मा अभि, प्रतीतः, वदेत्, एतत्, त्रयाणाम्, प्रथमम्, वरम्, वृणे ॥ १० ॥

भावार्थ—हे यम ! मेरे पिता वाजश्रवस शान्तसंकल्प हों। मुझ पर वे प्रसन्न एवं क्रोधशून्य हों और आप के यहाँ से लौट जाने पर वे मुझ को पहचान लें और मुझ से बातचीत करें। तीन वरों में यह प्रथम वर मैं माँगता हूँ ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—नचिकेता ने कहा कि हे मृत्यो ! अच्छा, आप यदि मुझे वर देना ही चाहते हैं तो उन तीनों में से पहला वर तो यह दीजिये कि मेरे पिता औद्दालकि नाम से प्रसिद्ध गौतम ऋषि को जो यह चिन्ता हो रही होगी कि, मेरा पुत्र यमराज के समीप पहुँचकर न जाने किस दशा में होगा, सो उन की यह चिन्ता दूर हो जाय। वे जैसे पहले थे वैसे ही क्रोधरहित, प्रसन्नमन हो जायँ और तुम्हारा भेजा हुआ मैं घर जाऊँ तो वे विश्वास के साथ यह पहचान कर लें कि यह मेरा पुत्र नचिकेता ही है, तथा पिताजी मुझ से बातचीत भी करें ॥ १० ॥

विशेष—नचिकेता ने कहा कि हे यमराज ! जैसे मैं सर्वदुःखरहित होकर आनन्द के साथ आप के पास उपस्थित हूँ, वैसे ही मेरे पिता भी क्रोध तथा सन्तापादि दुःखों से रहित होकर समय व्यतीत करें। संसार में यह प्रसिद्ध है कि जो मरकर परलोक में जाता है वह फिर लौटकर नहीं आता। मेरे पिता भी ऐसा ही न समझ लें, वे यहाँ से वहाँ जाने पर यही समझें कि यह वही मेरा पुत्र है। अर्थात् मेरे पिता इस बीच के किये हुए क्रोधादिकों को छोड़कर पहले समय के तुल्य प्रेम से मेरे साथ वर्ताव करें ॥ १० ॥

इस प्रकार नचिकेता के कहने पर यम बोले कि—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११॥

अन्वयः—औद्दालकिः, आरुणिः, पुरस्तात्, यथा, प्रतीतः, मत्प्रसृष्टः, रात्रीः, सुखम्, शयिता, मृत्युमुखात्, प्रमुक्तम्, त्वाम्, ददृशिवान्, वीतमन्युः, भविता ॥ ११ ॥

भावार्थ—तुम्हारे पिता पहले जैसा ही तुम पर प्रेम करेंगे। मेरी आज्ञा से यहाँ से जाने पर भी पहले जैसे ही प्रसन्न रहेंगे और पहचान लेंगे। रात में

वे सुख से सोयेंगे तथा तुम को मृत्यु के मुख से मुक्त देखकर क्रोध नहीं करेंगे ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—यम नचिकेता से कहते हैं कि जैसे किन्हीं माता पिता का पुत्र परदेश चला जाता है तो वे उस के प्रति नाना प्रकार की आशङ्काएँ करते हैं, फिर कुछ दिन बाद उस के मिलने पर वे उसे मृत्यु के मुख से छूटा हुआ मानते हैं। तुम्हारे पिता तो ऐसा मानते होंगे कि मेरा पुत्र मेरी प्रतिज्ञा सत्य करने के लिए अवश्य शरीर त्याग कर यमलोक में चला जायगा, फिर उस का मेरे पास आना सम्भव नहीं। अब मेरी शक्ति से तुम्हारे पिता ऐसा नहीं समझेंगे ॥ ११ ॥

विशेष—हे नचिकेतः ! मेरे प्रभाव से तुम्हारे पिता यह समझेंगे कि मेरा पुत्र लौट आयेगा। अत एव वे रात्रि में सुखपूर्वक शयन करेंगे। उन्हें तुम्हारे वियोगजन्य प्रवास की चिन्ता निद्रा में बाधिका नहीं होगी ॥ ११ ॥

नचिकेता स्वर्ग के साधन अग्नि के ज्ञान को पाने की इच्छा से स्वर्ग का स्वरूप कहता है कि—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

अन्वयः—स्वर्गे लोके, किंचन, भयम्, न अस्ति। तत्र, त्वम्, न, (प्रभवसि), (कोपि) जरया, न, बिभेति। उभे, अशनायापिपासे, तीर्त्वा, शोकातिगः, स्वर्गलोके, मोदते ॥ १२ ॥

भावार्थ—हे मृत्यो ! स्वर्गलोक में कोई भय नहीं है, वहाँ आप का भी वश नहीं चलता। वहाँ कोई वृद्धावस्था से नहीं डरता और लोग वहाँ भूख प्यास दोनों से रहित होकर शोक-दुःख से मुक्त होकर आनन्दभोग किया करते हैं ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—हे यमराज ! स्वर्गलोक में रोग आदि का कोई भय नहीं है, तुम भी वहाँ किसी को वश में नहीं कर सकते हो, मृत्युलोक की तरह वहाँ बुढ़ापे से भी कोई नहीं डरता। स्वर्गलोक में पहुँचा हुआ पुरुष भूख

प्यास को भी जीतकर, सब प्रकार के मानसिक दुःखों से रहित होकर परम आनन्द से जीवन बिताता है ॥ १२ ॥

विशेष—स्वर्गलोक में सुखभोग की सम्पूर्ण सामग्री उपस्थित रहती हैं। यहाँ के भोगों की अपेक्षा वहाँ का सुख अधिक है, किन्तु मुक्ति की अपेक्षा से अधिक नहीं। यह मैंनें सुना है, इस में तत्त्व क्या है ! सो आप कहिए ॥ १२ ॥

'हे यम ! आप उस प्रसिद्ध स्वर्ग के साधन अग्नि को जानते हैं' इस तरह यम से नचिकेता पूछता है कि—

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि तँ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते
एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे मृत्यो ! सः, त्वम्, स्वर्ग्यम्, अग्निम्, अध्येषि, तम्, श्रद्धधानाय, मह्यम्, प्रब्रूहि । स्वर्गलोकाः, अमृतत्वम्, भजन्ते । एतत्, द्वितीयेन, वरेण, वृणे ॥ १३ ॥

भावार्थ—हे मृत्यो ! आप मुझ श्रद्धालु को स्वर्ग के साधनभूत अग्नितत्त्व का उपदेश करें, आप उसके ज्ञाता हैं। क्योंकि जो स्वर्ग में जाते हैं वे अमृतत्व भोग करते हैं। यही मैं दूसरा वर माँगता हूँ ॥ ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे यम ! मैं श्रद्धावान् एवं स्वर्गार्थी हूँ, और स्वर्ग का साधन अग्नितत्त्व है। उस विज्ञान को आप जानते हैं, जिस में अग्नि के चयन (यज्ञसाधन) करने से यजमानगण स्वर्गलाभ करके अमृतत्व, मरणराहित्य, देवत्व प्राप्त करते हैं। दूसरे वर में मैं वही अग्निविज्ञान माँगता हूँ ॥ १३ ॥

विशेष—नचिकेता ने प्रथम वरदान से सब सांसारिक धर्मों में मुख्य पिता की सेवा और प्रसन्नता माँगी। यह मृत्युलोकसंबन्धी वर है। इस द्वितीय वरदान से जन्मान्तरसम्बन्धी उत्तम स्वर्गलोक की प्राप्ति के साधनों का ज्ञान माँगा ॥ १३ ॥

इस प्रकार नचिकेता के पूछने पर यम कहते हैं—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।

अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां

विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१४॥

अन्वयः—हे नचिकेतः ! स्वर्ग्यम्, अग्निम्, प्रजानन्, ते, प्रब्रवीमि, तत्, उ, निबोध। त्वम्, एतम्, अनन्तलोकाप्तिम्, अथो, प्रतिष्ठाम्, गुहायाम्, निहितम्, विद्धि ॥ १४ ॥

भावार्थ—हे नचिकेतः ! मैं इस स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को अच्छी तरह से जानकर तुम को कहता हूँ। सावधानचित्त होकर सुनो। यह समझो कि यही अग्नि अनन्तलोक (स्वर्गलोक) प्राप्ति का उपाय है और जगत का धारक एवं गुहा में निहित है ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! मैं इस स्वर्ग की साधन अग्निविद्या को भली प्रकार से जानता हूँ। मैं कहता हूँ, तुम चित्त को एकाग्र करके सावधान होकर सुनो। यह अग्नि स्वर्गरूप फल का देनेवाला, विराटरूप से जगत का आश्रय और विद्वानों की बुद्धिरूप गुहा में साक्षीरूप से स्थित रहता है। तुम इस को अवश्य जानो ॥ १४ ॥

विशेष—धर्मराज यम अग्नि के यथार्थ स्वरूप को अवश्य जानते हैं। यह महाशक्ति सूर्यतेज द्वारा जलीय वाष्पराशि को नियमित रूप से अपनी ओर आकर्षित करके फिर उसे वृष्टि द्वारा सर्वलोकहितकारिणी बनाया करती है। जठराग्निरूप से चतुर्विध अन्न का पाक इसी से होता है। जो ऐसे तेजस्वी हैं, वे ही अनेक विघ्न बाधाओं को कुचलकर लोकसंरक्षण में समर्थ होते हैं। कहाँ तक कहें, इस अग्नि की विद्युच्छक्ति ने संसार भर में अद्भुत चमत्कार प्रकट कर रखा है। इसे कौन नहीं जानता ? ॥ १४ ॥

इस प्रकार अग्नि की स्तुति करके मृत्यु ने अपने शिष्य से जो कुछ कहा था, उसे श्रुति कहती है कि—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै

या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।

स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तम्

अथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

अन्वयः—(यमः) तस्मै, लोकादिम्, तम्, अग्निम्, उवाच । याः, इष्टकाः, यावतीः, यथा वा, (उवाच) । स, च, अपि, तत्, यथोक्तम्, प्रत्यवदत् । अथ, मृत्युः, तुष्टः पुनः, एवम्, आह ॥ १५ ॥

भावार्थ—यमराज ने नचिकेता को लोकादि, प्रसिद्ध अग्नितत्त्व का उपदेश किया। तथा उस के चयन करने में जिस प्रकार की और जितनी ईंटें होती हैं, एवं अग्निचयन की जो प्रणाली है, यह सब भी नचिकेता को कह दिया। नचिकेता ने भी यथावत् रूप से, याने जिस प्रकार उस से कहा गया था; वह सब आनुपूर्वी सुना दिया। इस से प्रसन्न होकर मृत्यु फिर बोला ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य—यमराज ने नचिकेता से सब लोकों की आदिभूता जिस अग्निविद्या का वर्णन किया, और अग्निचयन के लिए जिस तरह की और जितनी ईंटों की आवश्यकता है, तथा जिस प्रकार अग्निचयन करना चाहिए, सो सब वर्णन कर दिया। नचिकेता ने यमराज से जैसा उपदेश सुना था वह हूबहू वैसा ही मात्रावर्णच्युतिरहित यम को सुना दिया। इस से प्रसन्न होकर यमराज ने पहले देने को कहे हुए तीन वरों के सिवा और भी वर देने की इच्छा प्रकट की ॥ १५ ॥

विशेष—कठ ऋषि कहते हैं कि यमराज ने सृष्टि के आरम्भ में सब से पहले प्रकाशरूप से उत्पन्न होनेवाले अग्नि का व्याख्यान कह सुनाया। वेदी बनाकर जिस विधि से यज्ञ करना चाहिए, सो सब ईंट आदि सामग्रीयुक्त तथा फल-सहित उससे कह दिया। इस मन्त्र में अग्नि को 'लोकादि' कहा है। इस का अभिप्राय यह है कि 'लोकस्य=दर्शनस्य आदिः=कारणभूतः।' 'प्रादुरासीत् तमोनुदः' इस आप्तवचन से सृष्टि के आदि में प्रकाशस्वरूप अग्नि उत्पन्न हुआ था। यमराज ने जिस निगूढ तत्त्व का प्रतिपादन किया था, नचिकेता ने उस का प्रत्यक्षर अनुवाद कह सुनाया। नचिकेता की बुद्धि की ऐसी विचित्रता देखकर यमराज प्रसन्नता के साथ फिर उस से बोले ॥ १५ ॥

यम ने नचिकेता से क्या कहा इसे श्रुति कहती है कि—

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ।१६।

अन्वयः—महात्मा, प्रीयमाणः, तम्, अब्रवीत्, इह, अद्य, तव, भूयः,

वरम्, ददामि । अयम्, अग्निः, तव, एव, नाम्ना, भविता । च, इमाम्, सृङ्काम्, गृहाण ॥ १६ ॥

भावार्थ—महात्मा यम ने प्रेम से नचिकेता को कहा कि मैं इसी विषय में पुनः तुम को और एक वर प्रदान करता हूँ, यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगा। तुम इस अनेक रूपवाली माला को ग्रहण करो ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—यमदेव नचिकेता की शिष्योचित योग्यता देखकर प्रेम से कहने लगे कि मैं तुम को फिर एक चौथा वर प्रदान करता हूँ। मैंने जिस अग्नि के विषय में कहा है, वह तुमारे ही 'नचिकेता' इस नाम से प्रसिद्ध होगा, और यह विचित्र माला भी मैं तुम को देता हूँ। लोक में देखा जाता है कि जिस का विशेष सत्कार करना होता है उसे माला पहनाई जाती है। भगवान् धर्मराज यम ने नचिकेता को माला पहनाते हुए उस का जीवत्व मिटाकर देवत्व स्थापित कर दिया। इस से ऋषिकुमार मनुष्यश्रेणी से देवकोटि में प्रविष्ट हो गया। इसी कारण उसके नाम से अग्नि का नाम 'नचिकेता' पडा। यज्ञ में भी उसके नाम का सम्बन्ध रहता है ॥ १६ ॥

विशेष—यम ने कहा—तात ! माला वा प्रतिष्ठासूचक चिन्ह को, अथवा संसार में विशेष सुखभोगरूप स्वर्गप्राप्ति को स्वीकार करो, जिस से बहुत काल तक जीवन का सुख प्राप्त हो। दर असल यह वरदान तीन वरों से पृथक् नहीं प्रतीत होता, किन्तु जितना माँगा था, उसी विषय में प्रीतिविशेष होने के कारण उस से अधिक दिया है ॥ १६ ॥

ध्यान और अग्निचयन की प्रशंसा के लिए फिर उस का फल कहा जाता है. याने पुनः कर्म की महिमा दिखाते हैं, यथा—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्म-मृत्यू । ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्ति-मत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

अन्वयः—त्रिभिः, सन्धिम्, एत्य, त्रिणाचिकेतः, त्रिकर्मकृत्, जन्म-मृत्यू, तरति । ईड्यम्, ब्रह्मजज्ञम्, देवम्, विदित्वा, निचाय्य, इमाम्, शान्तिम्, अत्यन्तम्, एति ॥ १७ ॥

भावार्थ—त्रिणाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करनेवाला मनुष्य माता पिता और आचार्य इन तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त होकर जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है। तथा ब्रह्म से उत्पन्न हुए, ज्ञानवान् और स्तुति योग्य देव को जानकर और उसे अनुभव कर इस अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

वि० वि० भाष्य—यमराज ने नचिकेता से कहा कि जिसने तीन बार 'नचिकेता' नामक अग्नि का अनुष्ठान किया है, वह माता पिता और आचार्य इन तीनों से सम्बन्ध को पाकर वेद, स्मृति या शिष्ट पुरुषों से सम्बन्धित होकर एवं प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन के सम्बन्ध से यज्ञ, वेदाध्ययन, और दान इन तीन कर्मों को करता है, वह जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है। यह अग्नि सर्वज्ञ है, क्यों कि इस की उत्पत्ति हिरण्यगर्भ से हुई है। यह स्तुति करने योग्य है, और ज्ञानादि गुणोंवाला है। इस के स्वरूप को शास्त्र से जानकर और बुद्धि से प्रत्यक्ष करके पुरुष परम शान्ति और विराट पद को पा जाता है ॥ १७ ॥

विशेष—इस नचिकेतायाग का विधान जीवों के परम कल्याण के लिए किया गया है। जो इस वैदिक याग का तीन बार अनुष्ठान करेगा, उस को वेद के काण्डत्रय (कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन तीनों) के रहस्यज्ञान का अधिकार प्राप्त होगा। तब वह वेद स्मृति आदि के आश्रय द्वारा पिता माता गुरु को प्रसन्न करता हुआ कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ का यथाविधि साधन करके सकाम से निष्काम की सन्धि में प्राप्त हो जाता है। उस समय वह अधिकारी परम भाग्यवान् बनकर यज्ञ, तप और दानरूपी तीनों कार्यों को निष्काम हो केवल कर्तव्य-बुद्धि से करता रहता है। तब ऐसा व्यक्ति कर्मबन्धन से छूटकर चाहे याग करे, चाहे अध्ययन करे, चाहे दान करे, चाहे तप करे, चाहे जगत्कल्याण का कोई कार्य करे और चाहे महायज्ञ साधन करे; वह कर्म करता हुआ भी कर्म का अकर्ता ही बना रहता है तथा आवागमन के चक्कर के फन्दे से निकल जाता है ॥ १७ ॥

अब अग्निविज्ञान और अग्निचयन का फल बतलाते हुए इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं, यथा—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

अन्वयः—यः, त्रिणाचिकेतः, विद्वान्, एतत्, त्रयम्, विदित्वा एवम्, नाचिकेतम्, चिनुते, सः, पुरतः, मृत्युपाशान्, प्रणोद्य, शोकातिगः, स्वर्गलोके, मोदते ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो त्रिणाचिकेत विद्वान् अग्नि के इस त्रय को, अर्थात् कैसी ईंटें हों, कितनी संख्या में हों और अग्निचयन का प्रकार क्या हो, इस को जानकर नाचिकेत अग्नि का चयन (अनुष्ठान) करता है, वह देहावसान से पहले ही मृत्यु के बन्धनों को तोड़कर शोक से पार हो स्वर्गलोक में जाकर आनन्दित होता है ॥१८॥

वि० वि० भाष्य—जो तीन बार नाचिकेत अग्नि की उपासना करनेवाला विद्वान् है, वह उस में जैसी तथा जितनी इष्टका चाहिएँ और जिस प्रकार चयन करनी चाहिएँ, इस के तत्त्व को जानकर नाचिकेत अग्नि के यज्ञ को समाप्त करता है, वह विद्वान् अधर्म, अज्ञान और राग द्वेषरूप मृत्यु के पाशों को मरने से पहले ही दूर करके मानसिक दुःख से रहित होकर विराट्रूप स्वर्गलोक में सुख पाता है ॥१८॥

विशेष—ब्रह्मचर्यादि तीन अवस्थाओं में नाचिकेत अग्नि को तीन बार जिसने संचित किया है, ऐसा मनुष्य शोकरहित होकर स्वर्गलोक में आनन्द को पाता है ॥ १८ ॥

अब द्वितीय वर का उपसंहार करते हैं कि—

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण । एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे नचिकेतः, ते, एषः, स्वर्ग्यः, अग्निः, (वर्णितः) यम्, द्वितीयेन, वरेण, अवृणीथाः । जनासः, एतम्, अग्निम्, तव, एव, प्रवक्ष्यन्ति । हे नचिकेतः, तृतीयम्, वरम्, वृणीष्व ॥ १९ ॥

भावार्थ—हे नचिकेतः ! जिसकी प्रार्थना तुमने दूसरे वर में की थी, वह यह स्वर्ग का साधनभूत अग्निविषय का उपदेश तुम को दिया गया । अब से मनुष्यगण तुम्हारे ही नाम से इस अग्नि को बुलायेंगे । हे नचिकेतः ! अब तुम तीसरा वर माँगो ॥ १९ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! तुमने द्वितीय वर में जिस अग्निविज्ञान की प्रार्थना की थी, स्वर्ग का साधनभूत वह अग्निविद्यारूप द्वितीय वर तुम को प्रदान कर दिया। इस अग्नि को लोग तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध करेंगे। मैंने प्रसन्न होकर यह चतुर्थ वर तुम्हें दिया है। हे नचिकेतः ! अब तृतीय वर माँगो ॥ १९॥

विशेष—नचिकेता की पितृभक्ति देखकर पितृलोक के अधिपति भगवान् धर्मराज यम स्वभाव से ही उस पर प्रसन्न हुए थे। इसी से उन्होंने नचिकेता को एक और वर प्रदान किया ॥ १९ ॥

नचिकेता ने पहले जो दो वर माँगे थे (पिता का सौमनस्य और अग्निविद्यारूप), वे संसारविषयक थे, अतः उन को अनित्य जानकर उन से विरक्त हुआ नचिकेता मुमुक्षुभाव से आत्मा के यथार्थज्ञानरूप तृतीय वर की प्रार्थना करता है. यथा—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

अन्वयः—मनुष्ये, प्रेते, या, इयम्, विचिकित्सा, अयम्, अस्ति, इति, एके, अयम्, न अस्ति, इति, च, एके (वदन्ति)। अहम्, त्वया, अनुशिष्टः, एतत्, विद्याम्, वराणाम्, एषः, तृतीयः, वरः ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य के शरीरान्त के बाद सन्देह है, कोई कहते हैं—रहता है, और कोई कहते हैं—नहीं रहता है। मैं आप के उपदेश द्वारा इस का रहस्य जानूँ, यह मेरा प्रार्थनीय तृतीय वर है ॥ २० ॥

वि० वि० भाष्य—नचिकेता कहता है कि हे यमराज ! जो मनुष्य मर जाता है, उस के विषय में यह सन्देह है—कोई कहते हैं कि शरीरादि से भिन्न आत्मा है, और कोई कहते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के सिवा अन्य कोई आत्मा नहीं है। इस कारण हमको आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान से भी नहीं होता है। परन्तु परम पुरुषार्थ इस विज्ञान के ही अधीन है, इस लिए आप ऐसी शिक्षा दीजिए कि मैं इस विज्ञान को जान जाऊँ। यही उन वरदानों में तीसरा वर माँगता हूँ ॥ २० ॥

विशेष—प्रकृत प्रकरण में यमराज से नचिकेता ने तीन वरदान माँगे हैं।

उनमें पहला वर लौकिक, दूसरा परमार्थसंबन्धी स्वर्गादिविषयक, और तीसरा आ ज्ञान द्वारा मोक्षविषयक है ॥ २० ॥

नचिकेता की आत्मज्ञानविषयक योग्यता की परीक्षा करने के लिए यमरा कहते हैं कि—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ।२

अन्वयः—पुरा, अत्र, देवैः, अपि, विचिकित्सितम्, (अतः एतत्) न सुविज्ञेयम्, हिं, एषः, धर्मः, अणुः । हे नचिकेतः, अन्यम्, वरम्, वृणीष्व, मा, मा उपरोत्सीः, मा (प्रति), एनम्, अतिसृज ॥ २१ ॥

भावार्थ—हे नचिकेतः ! इस विषय में देवताओं को भी पहले शङ्का हुई थी। यह आत्मतत्त्व स्वभाव से ही दुर्विज्ञेय होने के कारण सुगमता से समझने योग्य नहीं है। अतः तुम दूसरा वर माँग लो, इस के लिए अधिक आग्रह न करो और इस प्रश्न का परित्याग कर दो ॥ २१ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! पहले समय में इस आत्मज्ञान के विषय में देवता भी सन्देह में पड़ गये थे, फिर साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? क्योंकि उन्हें तो सुनकर भी इस को समझना कठिन है। आत्मधर्म बहुत ही सूक्ष्म है। अतएव तुम कोई ऐसा वर माँग लो जिस का फल स्पष्ट हो। जैसे धनवान कर्जदार को रोककर उस से कुछ ले ही लेना चाहता है, वैसे ही तुम मुझे मत घेरो। यह वर तो मेरे लिए ही छोड़ दो ॥ २१ ॥

विशेष—धर्मसाधनरूप जितने यज्ञ हैं, उन में ज्ञानयज्ञ सब से श्रेष्ठ है। आत्मज्ञानरूपी धर्म सब से सूक्ष्मातिसूक्ष्म और साधारण बुद्धि से अतीत है। दूसरी बात यह भी है कि बिना यथार्थ अधिकारी के आत्मज्ञान का उपदेश देना भी वेद-विरुद्ध है। इस कारण शिष्य की परीक्षा के लिए, पात्रापात्र निर्णय के वास्ते भगवान् यमराज ने ऐसी आज्ञा की है ॥ २१ ॥

इस प्रकार यम के कहने पर नचिकेता ने उत्तर दिया कि—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे मृत्यो, अत्र, किल, देवैः, अपि, विचिकित्सितम्, यत्, त्वम्, च, न सुविज्ञेयम्, आत्थ। त्वादृगन्यः, अस्य, वक्ता, च, न लभ्यः। एतस्य, तुल्यः, अन्यः, कश्चित्, वरः, न॥ २२॥

भावार्थ—हे मृत्यो! देवताओं ने भी इस विषय में निश्चय ही सन्देह किया था, तथा इसे आप भी सुगमता से जानने योग्य नहीं बतलाते। आप के समान वक्ता भी मिलना असम्भव है और इस के समान दूसरा वर भी नहीं है॥ २२॥

वि० वि० भाष्य—हे यम! आपने मुझ से कहा है कि इस आत्मतत्त्व के विषय में देवताओं को भी सन्देह हुआ था, और यह भी कहते हैं कि यह सहज में नहीं जाना जा सकता। इस गहन विषय के परिज्ञान के लिए मुझे सारा संसार खोजना पड़ेगा। मुझे यह विषय और भी अधिक अभीष्ट है, याने इसे अधिक जानने की इच्छा हो गई है। क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर देनेवाला आपके समान कोई भी विद्वान् मुझे नहीं मिलेगा। इस वरदान से मोक्ष तक की प्राप्ति हो सकती है। इस कारण इस के समान अन्य कोई भी वरदान नहीं है, क्योंकि और सबों का फल तो अनित्य है॥ २२॥

विशेष—नचिकेता ने अपने सिद्धान्त में दृढता, चित्त का तीव्र संवेग और गुरुभक्ति दिखाकर कहा कि जिस विषय में देवताओं ने भी शङ्का की थी, वह आप के सामने हल हो जानी चाहिए। इस समय मेरी और कोई जिज्ञासा नहीं है, और न कोई इच्छा ही बाकी है। आत्मज्ञान के लिए आप जैसा गुरु कोई नहीं मिल सकता। मेरा यह वर निश्रेयसप्राप्ति का कारण है, अर्थात् आत्मज्ञान को मुक्ति-सुख का कारण होने से, इस को छोड़कर दूसरा क्या माँगूँ॥ २२॥

ऐसा सुनकर भी यमराज उसके वैराग्य की परीक्षा के लिए कई तरह के लोभ दिखाकर कहने लगे कि—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ २३॥

अन्वयः—शतायुषः, पुत्रपौत्रान्, वृणीष्व, बहून्, पशून्,

हस्तिहिरण्यम्, अश्वान्, भूमेः, महत्, आयतनम्, वृणीष्व, स्वयम्, च, यावत्, शरदः, इच्छसि, जीव ॥ २३ ॥

भावार्थ—हे नचिकेतः ! तुम सौ वर्ष की आयुवाले पुत्र पौत्र, अनेक गौ आदि पशु, हाथी, सोना और घोड़े माँग लो। विशाल भूमण्डल भी माँग लो और स्वयं भी जितने वर्ष जीवित रहना चाहो जीवित रहो ॥ २३ ॥

वि० वि० भाष्य—यमराज ने कहा कि हे नचिकेता, जो अल्पायु से न मरने पावें ऐसे सौ वर्ष तक जीवित रहनेवाले बेटे, पोते माँग लो। गौ, घोड़े और हाथियों को लेलो,। सुवर्ण तथा पृथ्वी के बड़े विस्तारवाले मण्डल को, चक्रवर्ती राज्य को माँग लो। मन में यह चिन्ता मत करो कि मैं थोड़ी सी आयु के लिए इस विपुल सम्पत्ति का क्या करूँगा ? तुम स्वयं भी अपनी इच्छा के अनुसार जितने वर्ष तक जीवित रहना चाहो उतने वर्षों तक शरीर और सब इन्द्रियों की शक्ति के साथ जीवित रहो ॥ २३ ॥

विशेष—यहाँ गुरुदेव ने शिष्य के अधिकार के निर्णय के लिए और शिष्य की विषयवैराग्य की अवस्था जानने के लिए ऐसी आज्ञा की। विषयों में दोष-दर्शन, विषयभोग में दुखों का अनुभव और विषयभोग में पूर्ण अरुचि; ये क्रमशः मध्यम, उत्तम और अधिक वैराग्य की मात्रा कही गई हैं, इसी से जिज्ञासु का अधिकार जाना जाता है। यह समझिए कि जैसी हानि संसार में अनधिकारी को अधिकार देने से होती है, वैसी ही अनभिज्ञों को वेदान्त का उपदेश देने से होती है। इसी कारण गुरु ने ऐसी परीक्षा की ॥ २३ ॥

और भी यमराज कहते हैं—

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ।२४।

अन्वयः—यदि, एतत्तुल्यम्, (अन्यम्) वरम्, मन्यसे, वृणीष्व । वित्तम्, चिरजीविकाम्, च (वृणीष्व) । हे नचिकेतः, त्वम्, महाभूमौ, एधि, त्वा, कामानाम्, कामभाजम्, करोमि ॥ २४ ॥

भावार्थ—तुम इस के समान यदि कोई दूसरा वर समझते हो तो उसे माँग लो, अथवा धन तथा चिरस्थायिनी जीविका को भी चाहो तो माँग सकते हो।

हे नचिकेतः ! तुम इस विस्तृत भूमण्डल में फलो और फूलो, याने खूब बढो। मैं तुम्हें इच्छानुसार कामनाओं को भोगनेवाला किये देता हूँ ॥ २४ ॥

वि० वि० भाष्य—मैंने जो तुमको पुत्र पौत्रादि का वर देने को कहा है, यदि वैसा कोई अन्य वरदान हो, या उससे भी अच्छा हो तो तुम उसे भी माँग सकते हो। हे नचिकेतः ! सुवर्ण रत्न, विपुल धन, तथा दीर्घायु माँग लो। अधिक क्या कहूँ, तुम चक्रवर्ती राजा होना चाहो तो मैं तुम्हें बना सकता हूँ। यदि देवता और मनुष्यों के योग्य किसी विषय की इच्छा करो तो मैं तुम्हें उसके योग्य भी कर सकता हूँ। सन्देह न करो कि ऐसा कैसे हो सकता है ? मैं सत्यसङ्कल्प देवता हूँ, इच्छामात्र से सब कुछ कर सकता हूँ ॥ २४ ॥

विशेष—पहले मन्त्र में एक एक भोग्य विषय प्रदान करने का वर देने को कहा है और इस मन्त्र में सभी भोगों को एक साथ देने को कहा गया है। भगवान् यमराज ने शिष्य की परीक्षा के लिए विषयसुख का परिमाण बढाकर फिर इसी लिए कहा है कि शिष्य प्रलोभन में आ जाय। इसी लिए भगवान् ने ईश्वरत्व-शक्ति का परिचय देकर मनमानी विषयसुखप्राप्ति का लोभ दिखाया। क्योंकि शिष्य की योग्यता परखने के लिए बार बार परीक्षा करने की आवश्यकता होती है। इस मन्त्र का यही रहस्य है ॥ २४ ॥

और भी यमराज प्रलोभन देते हैं—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे नचिकेतः, मर्त्यलोके, ये ये, कामाः, दुर्लभाः, छन्दतः, (तान्) सर्वान्, कामान्, प्रार्थयस्व। सरथाः, सतूर्याः, इमाः, रामाः, मनुष्यैः, ईदृशाः, नहि, लम्भनीयाः, मत्प्रत्ताभिः, आभिः, परिचारयस्व। हे नचिकेतः, मरणम्, मा अनुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

भावार्थ—मृत्युलोक में जो जो दुर्लभ भोग्य विषय हैं तुम उन्हें इच्छानुसार माँग लो। देखो, ये स्त्रियाँ जो बाजों के साथ रथों पर सवार हैं, ये मनुष्यों को

नहीं मिल सकतीं । मुझ से दी गई इन नारियों से तुम अपनी सेवा कराओ । पर हे नचिकेतः ! मरणसम्बन्धी प्रश्न मत पूछो ॥ २५ ॥

वि० वि० भाष्य—नचिकेतः ! मर्त्यलोक के प्राणी नाना प्रकार के विषय सुख की चाहना किया करते हैं, पर वे उन्हें मिलने दुर्लभ हैं। तुम चाहो तो उन माँग लो। रथों में बैठी हुई, नाना प्रकार के बाजों सहित सुन्दर अप्सराओं को देखो, हर एक को इनका प्राप्त करना सहज नहीं है। इन को माँग लो, मेरी दी हुई इन अप्सराओं से सब प्रकार की सेवा कराते हुए आनन्द का उपभोग करो। किन्तु हे नचिकेतः ! मुझ से यह प्रश्न मत पूछो कि 'मरण के अनन्तर प्राणी की क्या दशा होती है ?' ॥ २५ ॥

विशेष—आत्मा के परलोक जाने पर भी उस के साथ पूर्वापर संस्कारों का सम्बन्ध रहता ही है। इसी से धर्मराज ने मर्त्यलोकसंबन्धी विषयसुख की ओर ही लक्ष्य कराकर शिष्य की परीक्षा की। दूसरी बात यह है कि देवतागण भी कर्मभूमि भारतवर्ष में जन्म लेने की इच्छा करते हैं। सुतरां यहाँ की विषयवासना तो नचिकेता में नही रह गई है। यम ने इस प्रकार की परीक्षा की, इसीलिए नचिकेता में यदि वैराग्य की पूर्णता नहीं हुई हो तो वे उस को आत्मज्ञान न देकर और सब कुछ देने को प्रस्तुत हो गये। तीसरी बात यह है कि परीक्षा की पूर्णता भी तीन बार में ही होती है। यही इन तीनों मन्त्रों का तात्पर्य है ॥ २५ ॥

इस प्रकार नचिकेता यम के कहे हुए भोग्यविषयों के विनाशित्व और तेजनाशक दोष को कहता है कि—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे अन्तक, (एते विषयाः) श्वोभावाः, मर्त्यस्य, यत्, एतत्, सर्वेन्द्रियाणाम्, तेजः, जरयन्ति। सर्वम्, अपि, जीवितम्, अल्पम्, एव, तव, एव, वाहाः, तव, एव, नृत्तगीते (सन्तु) ॥ २६ ॥

भावार्थ—हे अन्तक ! ये भोग्य पदार्थ श्वोभाव हैं, अर्थात् कल तक रहेंगे कि नहीं, ऐसे हैं। ये मनुष्यों के इन्द्रियतेज को शिथिल कर देते हैं, यह जीवन ही

बहुत थोड़ा है, अतः हाथी, रथ आदि सवारियाँ और नाचना गाना आप के ही पास रहें, मुझे नहीं चाहिए ॥ २६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे यमराज ! आप मुझे नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ देने को कहते हैं, पर इस का क्या निश्चय है कि कल ये रहेंगे कि नहीं। जो भोग्य-विषय हैं, इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट करनेवाले हैं, फिर ये आनन्ददायक कैसे हो सकते हैं ? हाँ, इन की अनर्थकारिता तो सर्वजनानुभूत है । और आप मुझे बहुत बड़ी आयु देने की कृपा कर रहे हैं, पर यह तो ब्रह्मा को भी कम ही मालूम पड़ती है । इस लिए प्रार्थना है कि अनर्थ के मूल और एक दिन अवश्य नष्ट होनेवाले रथ आदि वाहन और नाच गान आप अपने ही पास रखें ॥ २६ ॥

विशेष—यम से नचिकेता ने कहा कि आप की कृपा के प्रतीक ये लौकिक और पारलौकिक सुख क्षणभङ्गुर हैं। इस लिए मुझे किसी भी सुखप्राप्ति की इच्छा नहीं है। जिन इन्द्रियों को मुझे परमार्थचिन्तन में सहायक बनाना है, ये सुख उन्हें ही दुर्बल कर दें तो मैं इन्हें लेकर क्या करूँगा। मरना तो जीवमात्र को पड़ेगा, स्थूल देह का परिवर्तन याने लोकान्तर होना या अवस्थान्तर होना तो अवश्यंभावी है। जो शक्ति जीव को आत्मा की ओर आकर्षित करती रहती है उस को तेज कहते हैं। उस का सम्बन्ध इन्द्रियों से है, विषय उस का क्षय करता है, इसी से जीव अधोगति को प्राप्त करता है। हे धर्मराज ! प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का निर्वाह करानेवाले आप ईश्वर हैं, आप अनेक भोगलोकों के राजा हैं। आप को आवागमन का चक्र चलाना पड़ता है, आप समर्थ हैं, अतः ये सब इन्द्रियसुख के भोग्यपदार्थ आप के पास ही रहें। क्योंकि ये आप को कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते। हाँ, मुझ जैसे अल्पशक्ति के कल्याण में बाधक हो सकते हैं ॥ २६ ॥

किञ्च, यह बात भी है कि—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा । जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

अन्वयः—मनुष्यः, वित्तेन, न तर्पणीयः, त्वा, चेत्, अद्राक्ष्म, वित्तम्, लप्स्यामहे । त्वम्, यावत्, ईशिष्यसि, जीविष्यामः । वरः, तु, मे, सः, एव, वरणीयः ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य धन से तृप्त नहीं किया जा सकता, यदि हम ने आप का दर्शन किया है तो धन प्राप्त करेंगे ही। जब तक आप शासन करेंगे, हम जीवित रहेंगे, किन्तु मेरी प्रार्थना उसी वर की प्राप्ति के लिए है ॥ २७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे यम! मनुष्य संसार में चाहे कितनी ही विपुल सम्पत्ति का अधिपति हो जाय, पर उसे किसी ने तृप्त होते नहीं देखा। जब मुझे आप का दर्शन हो गया है तो धन का मिलना कौन कठिन बात है। और जब तक आप मेरे रक्षक बने रहेंगे तब तक जीवित रहूँगा, क्यों कि आप जैसे महापुरुष के पास आकर किसी को धन और आयु की कमी हो जाय यह नहीं हो सकता। मैं आत्मविज्ञान का ही वर माँगता हूँ ॥ २७ ॥

विशेष—हे भगवन्! मैं धन, ऐश्वर्य और चिरजीवन नहीं माँगता, इन्हें तो अन्य प्राणी भी कर्मानुसार पाते ही हैं। अर्थात् जिस पर आप जैसे धर्माध्यक्ष महात्मा की कृपा है वह अपने निर्वाहानुकूल ऐश्वर्य अवश्य पायेगा और वह चिरंजीवी अवश्य होगा। मेरे ऊपर तो आप की विशेष दया है, अतः मैं आप से धनादि माँगना उचित नहीं समझता। मुझे न किसी बात की चिन्ता है न तो आवश्यकता ही है, मुझे तो केवल पूर्व प्रार्थित वर ही अपेक्षित है ॥ २७ ॥

नचिकेता अपने अभीप्सित वर की युक्तियुक्तता बतलाता है—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यः क्धःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

अन्वयः—क्धःस्थः, जीर्यन, मर्त्यः, अजीर्यताम्, अमृतानाम्, उपेत्य, (उत्कृष्टलाभम्) प्रजानन्, वर्णरतिप्रमोदान्, अभिध्यायन्, अतिदीर्घे, जीविते, कः, रमेत ॥ २८ ॥

भावार्थ—हे मृत्यो! ऐसा कौन वृद्धावस्था से जर्जर तथा मरणशील संसारी मनुष्य है, जो जरामरणरहित देवताओं की समीपता प्राप्त करके वर्णरतिप्रमोदयुक्त अप्सरादिवर्ग को, अर्थात् शारीरिक वर्ण के राग से प्राप्त होनेवाले सुख को क्षणिक तथा अनित्य जानकर भी दीर्घायु होने में आनन्द का अनुभव करेगा? ॥ २८ ॥

वि० वि० भाष्य—जिनकी आयु अतिदीर्घ होती है ऐसे, न क्षीण होनेवाली अवस्था को प्राप्त अमर देवताओं की सेवा, समीपता में पहुँचकर, महापुरुषों से कोई सर्वोत्तम कार्य सिद्ध कराना चाहिए; ऐसा जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष नाश होनेवाले पुत्र आदि पदार्थों को कैसे माँगेगा ? जिनका जरामरण हो जाता हो, जो अन्तरिक्ष लोक के नीचे स्थित हों, (परमार्थ सुख की अपेक्षा से पृथिवी पर निकृष्ट दशा में स्थित हों) और जिन्हें अविवेकी लोग चाहते हों, उन्हें मैं तो नहीं स्वीकार कर सकता। अप्सरा आदि का रूप लावण्य तो क्षणकाल रहनेवाला है, ऐसा जानकर उसके लिए कौन अधिक दिन रहने की इच्छा करेगा ? कृपा करके मुझे अनित्य विषयों के चक्कर में डालकर मत लुभाइए, मैंने जो वर माँगा है उस आत्मविज्ञान का तत्त्व ही मुझ को श्रवण कराइए ॥ २८ ॥

विशेष—हे यम ! मैं जरामरण धर्मवाला प्राणी हूँ। आप की कृपा से मर्त्यलोक से जरामरणरहित श्रेष्ठ देवलोक में पहुँच गया हूँ। फिर मैं लोकप्रसिद्ध एषणाओं में और वैषयिक सुखों में भला कभी इच्छा कर सकता हूँ ? मुझे मालूम है कि क्षणभङ्गुर विषयभोग इन्द्रियों के तेज की हानि कर देते हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि शरीरयात्रा के समय कुछ न कुछ विषयों की अवश्यम्भावी आवश्यकता होने पर भी ज्ञानी कैसे उनमें उपेक्षा रखकर वैराग्य का अधिकारी होता है। और मैं देवपदमहिमा, देवलोक का महत्त्व अच्छी तरह जानता हूँ, अतः शाकवणिक् की तरह काञ्चन को काच से नहीं बदल सकता। मैं अवसर नहीं चूक सकता ॥ २८ ॥

अतः मुझे इन मिथ्या भोगों में लुभाना छोड़ दीजिए, जिसके लिए मैंने प््रार्थना की है, और—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् । योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे मृत्यो, यस्मिन्, इदम्, यत्, विचिकित्सन्ति, तत्, साम्पराये, महति, नः, ब्रूहि। यः, अयम्, वरः, गूढम्, अनुप्रविष्टः, तस्मात्, अन्यम्, नचिकेताः, न, वृणीते ॥ २९ ॥

भावार्थ—हे मृत्यो ! जिस परलोकगत जीव के विषय में 'है या नहीं' ऐसा सन्देह करते हैं, तथा जो महान् परलोक के विषय में निश्चित है, उसी का उपदेश

आप दीजिये। आत्मतत्त्वविषयक जिस वर को बहुत छिपाया गया है, नचिकेता उस के सिवा अन्य वरदान नहीं चाहता ॥ २९ ॥

चि० वि० भाष्य—मनुष्य के मरने पर अनन्त, बड़े भारी परलोक में आत्मा की न जाने क्या गति होती है ? न जाने वहाँ आत्मा रहता भी है कि नहीं इस विषय में देवताओं को भी सन्देह रहता है। इसीलिए मैं इस संशय को दूर करनेवाला आत्मविज्ञान चाहता हूँ। यह विषय बड़ा गहन है, मुझे इस के जानने की बड़ी उत्कण्ठा है। यह आकाङ्क्षा यहाँ आप के पास न शान्त हुई तो और कहाँ होगी ? यही कारण है कि नचिकेता अज्ञानियों के माँगने योग्य और कोई अनित्य पदार्थों का वर नहीं माँगेगा ॥ २९ ॥

विशेष—हे ब्रह्मनिष्ठ आचार्य ! मरणसमय में कोई आत्मा शेष रहता है कि नहीं ? तथा जन्मान्तर को कोई धारण करता है कि नहीं ? और कौन किस प्रकार वा कब मुक्त होता है ? इस प्रकार का ज्ञानरूप बल मुझ को दीजिये ॥ २९ ॥

प्रथम वल्ली समाप्त।

अथ द्वितीय वल्ली

मोक्ष की हेतु केवल ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का अभिलाषी होने के कारण, विषय-वि... में परीक्षोत्तीर्ण नचिकेता की प्रशंसा के लिए मोक्ष और अभ्युदय के साधन विद्या और अ... विभाग को मृत्युदेव कहते हैं कि—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

अन्वयः—अन्यत्, श्रेयः, अन्यत्, उत एव अपि च, प्रेयः। ते, उभे, नानार्थे, पुरुषम्, सिनीतः। तयोः, श्रेयः, आददानस्य, साधु, भवति, यः, उ, प्रेयः, वृणीते, अर्थात्, हीयते ॥ १ ॥

भावार्थ—यमराज ने कहा कि श्रेय और है, प्रेय और है। दोनों का प्रयोजन भी अलग अलग है, दोनों ही बाँधते हैं। जो श्रेय को ग्रहण करता है उस का

शुभ होता है और जो प्रेय को ग्रहण करनेवाला है, वह परम पुरुषार्थ से गिर जाता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—श्रेय नाम मोक्ष के साधन का है, तत्त्वज्ञानरूप ब्रह्मविद्या अन्य वस्तु है, तथा प्रेय कहते हैं पुत्र आदि की कामनारूप प्रिय वस्तु को, संसार-बन्धन का कारण अविद्या और चीज है। ये दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं और इन के प्रयोजन भी अलग अलग हैं। ये वर्णाश्रमधर्म का पालन करनेवाले अधिकारी पुरुष को बाँधते हैं। अर्थात् जो मोक्ष की इच्छावाला है वह विद्या का आश्रय लेता है। जो स्वर्गादिभोग और सांसारिक सुख का इच्छुक है वह प्रेयरूप अविद्या के अधिकार में रहता है। मतलब यह है कि सब ही श्रेय और प्रेय से बँधे हुए हैं। जो श्रेय का ग्रहण करता है उस का कल्याण होता है, अर्थात् वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है और जो मूढ पुरुष प्रेय को ग्रहण करता है, वह परमपुरुषार्थरूप मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

विशेष—प्रेय याने अभ्युदय की जो इच्छा है वह अविद्याजनित होने के कारण जीव को आवागमनचक्र में निरन्तर घुमाती रहती है, और श्रेय की जो अभिलाषा है, वह विद्या की कृपा से उत्पन्न होने के कारण जन्ममरण के जाल से मुमुक्षु को बचा देने का मार्ग प्राप्त कराती है। यही कारण है कि प्रेय की इच्छा अशुभ है और श्रेय की चाहना कल्याणप्रद है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥

अन्वयः—श्रेयः च, प्रेयः च, मनुष्यम्, एतः, धीरः, तौ, सम्परीत्य, विविनक्ति। धीरः, प्रेयसः अभि, श्रेयः, वृणीते, मन्दः, योगक्षेमात्, प्रेयः, वृणीते ॥ २ ॥

भावार्थ—श्रेय और प्रेय ये दोनों मनुष्य के पास आते हैं, पर आपस में मिले हुए से होकर उन का आना होता है। उन को समझदार, आदमी अच्छी तरह विचार कर अलग अलग करता है। विवेकी पुरुष प्रेय का त्याग कर श्रेय को ही ग्रहण करता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—यद्यपि श्रेय और प्रेय दोनों ही पुरुष के अधीन है तथापि कर्मगति के अनुसार अनभिज्ञों को ये मिले हुए से प्राप्त होते हैं। अर्थात् तो ये दोनों अलग अलग पर प्रतीत होते हैं मानो एक में ही मिले हों। जैसे हंस न में से दूध निकाल लेता है, वैसे ही विचारशील पुरुष श्रेय और प्रेय, विद्या अविद्या, अथवा ज्ञान और कर्म के तत्त्व को मन से भली प्रकार देखकर प्रेय में श्रेय को अलग करके निकाल लेता है। और अल्पबुद्धिवाला विवेकशक्ति के न हो से, योगक्षेम अर्थात् शरीर की वृद्धि और रक्षा के लिए पुत्र पशु आदि पदार्थों को ग्रहण करता है ॥ २ ॥

विशेष—श्रेय और प्रेय दोनों में श्रेय श्रेष्ठ है, तो अधिकांश लोग प्रेय को ह क्यों ग्रहण करते हैं? इस का एक यह भी उत्तर है कि श्रेयःसामग्री आपातरमणीय है, अतः उस में आत्मानभिज्ञों की प्रवृत्ति होना अधिक सम्भव है। और ऐसे लोगों की संख्या जगत् में अधिक है। कर्म और उपासना के द्वारा पूतात्मा, श्रद्धालु, धीर व्यक्ति, विद्यादेवी और अविद्यादेवी दोनों के प्रभाव को भली भाँति समझकर अपने विवेक द्वारा विद्या की कृपा प्राप्त करते हैं, तब कहीं जाकर श्रे मार्ग के अधिकारी होते हैं। ऐसे अतिन्यूनसंख्यक व्यक्ति विषयरागरहित अन्तःकरण होकर निःश्रेयस पद को प्राप्त कर सकते हैं ॥ २ ॥

'तुम तो विवेकियों में मुख्य हो' इस प्रकार यमराज नचिकेता की प्रशंसा करते हैं कि—

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे नचिकेतः, सः, त्वम्, प्रियान्, प्रियरूपान् च, कामान्, अभिध्यायन्, अत्यस्राक्षीः। बहवः, मनुष्याः, यस्याम्, मज्जन्ति, एताम्, वित्तमयीम्, सृङ्काम्, न अवाप्तः ॥ ३ ॥

भावार्थ—तुमने असार समझकर पुत्र और अप्सरा आदि प्रिय भोगों को त्याग दिया है, और तुम उस निन्दित गति को भी प्राप्त नहीं हुए हो, जिस में बहुत से मनुष्य डूब जाते हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! प्रिय पुत्र आदि और प्यारे लगनेवाले अप्सरा आदि के सुखों का मैंने बार बार प्रलोभन दिया, पर तुमने उन सब की अनित्यता पर विचार कर उन्हें त्याग दिया। उस रत्नजटित मालास्वरूप कर्म की, खोटी वासना में तुम आसक्त नहीं हुए, जिस में निन्दित मूढजन आसक्त होकर अपना सर्वस्व खो देते हैं। इस कारण तुम सच्चे विवेकी हो ॥ ३ ॥

विशेष—अहंकाररहित, विनम्र, गुरुभक्त, मुमुक्षु शिष्य की प्रतिभा के उद्बोधन के लिए उस को उत्साहित करना गुरु को स्वभावसिद्ध है। इसी शुभ अभिप्राय से धर्मराज यम ने नचिकेता को ये प्रशंसासूचक और उत्साहवर्धक वचन कहे हैं ॥ ३ ॥

'उन में श्रेय को ग्रहण करनेवाले का शुभ होता है और जो प्रेय को वरण करता है, वह स्वार्थ से पतित हो जाता है' ऐसा जो इस वल्ली के प्रथम मन्त्र में कहा गया है, उस में क्या कारण है; यह दिखाने के लिए विद्या और अविद्या का स्वरूप से और फल से भी विरोध दिखाते हैं कि—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्तः ॥ ४ ॥

अन्वयः—या, अविद्या, च, विद्या, ज्ञाता, एते, दूरम्, विपरीते, विषूची। त्वा, नचिकेतसम्, विद्याभीप्सिनम्, मन्ये, यतः, बहवः, कामाः, न अलोलुपन्त ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो विद्या और अविद्यारूप से जानी गई हैं, ये दोनों ही अत्यन्त विपरीतस्वभाव और विरुद्ध फलप्रद हैं। मैं तुमको विद्या का चाहनेवाला मानता हूँ, क्योंकि तुम्हें बहुत से भोगों ने भी नहीं लुभाया ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे प्रकाश और अन्धकार अत्यन्त विरुद्ध पदार्थ हैं, वैसे ही विद्या (विवेक) और अविद्या (अविवेक) ये दोनों भी विपरीत स्वभाववाली हैं। इन दोनों के परिणाम भी पृथक् पृथक् हैं। अविद्या का फल प्रेय (विषयभोग) और विद्या का फल श्रेय (मोक्ष) है; विवेकी जन ऐसा जानते हैं। हे नचिकेतः ! मैं ऐसा मानता हूँ, तुम में विद्या की अति अभिलाषा है। कारण यह

है कि बुद्धि को लोभ के चक्कर में डालनेवाली, पुत्र अप्सरा आदि की अनेकों कामना भी तुमको स्वअभिलषित मोक्ष के मार्ग से न डिगा सकीं। इस से मैं मानता हूँ कि तुम विद्या के अधिकारी मुमुक्षु हो ॥ ४ ॥

विशेष—ज्ञानजननी, सत्त्वगुणमयी और जीव को मुक्तिपद में पहुँचानेवाली शक्ति विद्यादेवी कही जाती है। और अज्ञानजननी तमोगुणमयी, जीव को बन्धन में डालनेवाली जो शक्ति है, उस को अविद्यादेवी कहते हैं। इस तरह सृष्टिप्रपञ्च को स्थायी रखनेवाली अविद्यादेवी का परित्याग कराके मुक्तिपद की ओर अग्रेसर करनेवाली विद्यादेवी के वरण करनेवाले शिष्य को परीक्षोत्तीर्ण समझकर, उस की प्रतिभावृद्धि के लिए तथा उसके सात्त्विक ज्ञान एवं सत्त्वप्रधाना धृति के उत्पत्त्यर्थ गुरु उसे उत्साहित कर रहे हैं ॥ ४ ॥

इस तरह ज्ञानार्थी नचिकेता की प्रशंसा करके शास्त्रविहित सकाम कर्मों का अनुष्ठान करनेवालों की निन्दा करते हैं कि—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

अन्वयः—अविद्यायाम्, अन्तरे, वर्तमानाः, स्वयम्, धीराः, पण्डितंमन्यमानाः, दन्द्रम्यमाणाः, मूढाः, यथा, अन्धेन, नीयमानाः, अन्धाः, (तथा) परियन्ति ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो स्वयं ही अविद्या में वर्तमान रहते हुए अपने को धीर और पण्डित लगाते हैं, वे कुटिल गति का सहारा लेनेवाले मूढ पुरुष ऐसे भटकते रहते हैं, जैसे अंधे के सहारे से चलनेवाले अंधे भटका करते हैं ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—संसारी मनुष्य पुत्र पशु आदि की तृष्णारूप सैकड़ों तरह की बेड़ियों में बँधे रहते हैं। वे अविद्यारूपी अँधेरे में पड़े रहते हैं, फिर भी अपने आप को शास्त्र में प्रवीण होने का अभिमान करते हैं। वे अज्ञानी जीवन मरण रोग आदि दुःखों के कारण अनेक प्रकार की अटपटी दुर्दशाओं को भोगते हुए इधर उधर मारे मारे फिरते हैं। जिन का अगुआ अन्धा हो ऐसे अन्धे अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकते, वे गड्ढे और दुर्गम कँटीले मार्ग में पड जाते हैं, वैसे ही वे पण्डितमानी भी अनेक कष्ट उठाते हैं ॥ ५ ॥

विशेष—जैसे एक दूसरी से बँधी हुई नावें एक दूसरी को पार नहीं पहुँचा सकतीं, जैसे एक अंधा दूसरे अंधे के पीछे चलकर गड्ढे में गिरने से नहीं बच सकता, और जैसे कीचड़ में सना हुआ हाथ कीचड से शुद्ध नहीं हो सकता, वैसे ही जो स्वयं संसारसागर के किसी विषयरूप कीचड में फँसा है, वह दूसरे को अविद्यारूपी कीचड से नहीं उबार सकता ॥ ५ ॥

अब शास्त्रनिषिद्ध कर्म करनेवालों की निन्दा करते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

अन्वयः—वित्तमोहेन, मूढम्, प्रमाद्यन्तम्, बालम्, साम्परायः, न प्रतिभाति । अयम्, लोकः, अस्ति, परः, न, इति मानी, पुनः पुनः, मे, वशम्, आपद्यते ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रमाद करनेवाले, धन के मोह से अंधे मूर्ख को परलोक का साधन नहीं सूझता । 'यह लोक है, परलोक नहीं है' ऐसा माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरी अधीनता को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—परलोक की प्राप्ति का साधन सत्शास्त्रों का उपदेश है । किन्तु जो बालक याने विवेकहीन हैं, उन के मन को वह उपदेश अच्छा नहीं लगता । जो प्रमादों में पडे हुए हैं और धन के मोह से सदा मतवाले बने रहते हैं, वे समझते हैं कि जिस में खाने पीने की सामग्री मिल रही है ऐसा यह नेत्रों के सामने उपस्थित लोक ही सब कुछ है, परलोक आदि कोई कुछ नहीं है । ऐसा माननेवाले वे लोग बार बार मेरे पंजे में फसते हैं, अर्थात् अनेकों बार जीने और मरने का दुःख भोगते हैं । हे नचिकेतः ! संसार में ऐसे ही पुरुष अधिकतर दिखाई पड़ते हैं ॥ ६ ॥

विशेष—विषयभोग के फंदे में फँसा हुआ अल्पबुद्धि जन परमार्थ का तो स्मरण करता ही नहीं है, साथ ही उसे धर्म अधर्म का भी विवेक नहीं रहता । वह सुखभोग की आशा से उलटा अधर्म ही करता है । इस तरह नियमविरुद्ध कार्य करनेवाला न्यायाधीश की आज्ञा से बार बार दण्ड का भागी होता है । वह न्यायाधीश ईश्वर हो या कोई राजा हो, यह दूसरी बात है ॥ ६ ॥

इस तरह हजारों संसारी पुरुषों में कोई एक ही मोक्ष की इच्छा रखता है उन में भी तुम्हारे जैसा कोई एक ही निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्म को व्यापकता से जानता है। क्योंकि परमात्मतत्त्व का जानना अत्यन्त कठिन है। इसी बात को कह रहे हैं कि—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ ७॥

अन्वयः—यः, बहुभिः, स्मरणाय, अपि, न लभ्यः, यम्, शृण्वन्तः, अपि, बहवः, न विद्युः। अस्य, वक्ता, आश्चर्यः, लब्धा, कुशलः, कुशलानुशिष्टः, ज्ञाता, आश्चर्यः॥ ७॥

भावार्थ—बहुत से जनों को सुनने के लिए भी जो प्राप्त होने योग्य नहीं और सुनकर भी बहुत लोग जिस को समझ नहीं सकते, उस आत्मतत्त्व का निरूपण करनेवाला आश्चर्यरूप है। उस को प्राप्त करनेवाला भी कोई निपुण ही पुरुष होता है, एवं कुशल आचार्य के द्वारा शिक्षाप्राप्त इस का ज्ञाता भी कोई कोई होता है॥ ७॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः! तुम्हारे जैसा श्रेय का अभिलाषी याने मोक्ष को चाहनेवाला ब्रह्मवेत्ता हजारों में कोई एक होगा, क्योंकि बहुत ही कम ऐसे लोग होंगे जो इस आत्मतत्त्व को सुनने की इच्छा रखते हों। और उन थोड़े से सुनने के अभिलाषियों में भी जो संस्कारहीन चित्तवाले मन्दभाग्य होते हैं, वे आत्मतत्त्व को जान ही नहीं सकते। फिर आत्मतत्त्व का यथार्थ उपदेश करनेवाले ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्मश्रोत्रिय गुरु का मिलना भी बड़ा ही दुर्लभ है। सहस्रों में कोई ही ऐसा भाग्यशाली होगा जिसकी सुनने की इच्छा भी हो तथा उसे उपदेशक भी उच्चकोटि का मिल जाय। क्योंकि आत्मविज्ञान के विशेषज्ञ व्यक्ति संसार में बहुत ही थोड़े मिलते हैं, और ऐसे पुरुष तो कोई विरले ही होते हैं जिन्हें निपुण आचार्य से परमात्मतत्त्व की शिक्षा का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो॥ ७॥

विशेष—क्या कहें? सभी जीवों को अविद्या के फंदे में पड़ने से विषयासक्ति का रोग लगा हुआ है। फिर उन की आत्मतत्त्व की जिज्ञासा की तो बात ही क्या है, उन्हें तो साधारण तत्त्वविचार करना ही अच्छा नहीं लगता। उन के

चित्त में ऐसी उच्च जिज्ञासा ही नहीं है, तब सुनने का अवसर कैसे मिलेगा। यदि पुण्यवश कभी जिज्ञासाबुद्धि हुई और कहीं कुछ सुनने का अवसर मिल भी गया, तो श्रोता तथा वक्ता दोनों का ठीक मेल न मिलने से एवं दोनों में से एक के अयोग्य होने से सुनकर भी ऐसे उच्च विषय की धारणा नहीं होती। पहले तो गुरु के दर्शन ही नहीं होते, दूसरे उन में श्रद्धा होना दुर्लभ है। तीसरे यदि शिष्य श्रद्धालु हुआ, तो भी साधनचतुष्टयसम्पन्न हुए बिना गुरु के तत्त्वोपदेश देने पर भी कोरा ही रह जायगा। गुरु ब्रह्मवेत्ता तो हो, पर वक्ता न हो, अथवा ब्रह्मश्रोत्रिय तो हो, किन्तु ब्रह्मनिष्ठ न हो, तो भी काम नहीं बनेगा। तात्पर्य यह है कि आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए मन्त्रोक्त सभी साधन परमावश्यक हैं ॥ ७ ॥

वक्ता और ज्ञाता की दुर्लभता में हेतु कहते हैं—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

अन्वयः—अवरेण, नरेण, प्रोक्तः, बहुधा, चिन्त्यमानः, एषः, न सुविज्ञेयः। अनन्यप्रोक्ते, अत्र, गतिः, नास्ति। अणुप्रमाणात्, अणीयान्, हि, अतर्क्यम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—साधारण मनुष्य के द्वारा उपदिष्ट होने पर यह आत्मा अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता, क्योंकि लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार इसे नाना प्रकार से समझते हैं। जो ब्रह्म के विषय में अनन्यता (अद्वैत) का अनुभव प्राप्त करा सकें, ऐसे आचार्य आत्मा का उपदेश दें तो भी उन के द्वारा उपदिष्ट इस आत्मा में कोई गति नहीं है, अर्थात् उस में अस्तिनास्तिरूप वितर्क की सम्भावना नहीं है। क्योंकि यह आत्मा अणु से भी अणु अर्थात् सूक्ष्म परिमाणवालों से भी सूक्ष्म और तर्क से अतीत, दुर्विज्ञेय है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः! किसी का कहना है कि आत्मा है, कोई कहते हैं नहीं है। कोई इसे कर्ता बताते हैं और कोई अकर्ता, कोई शुद्ध कहते हैं कोई अशुद्ध। आत्मा के विषय में वादी प्रतिवादी लोग ऐसे अनेकों प्रकार के वितण्डावाद किया करते हैं। किन्तु विद्वत्तारहित किसी भी हीन पुरुष के द्वारा आत्मतत्त्व का उपदेश करने पर उस से किसी को भी यथार्थ आत्मज्ञान नहीं होता।

आत्मतत्त्व का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक कोई सूक्ष्मदर्शी महात्मा इस का उपदेश न करे, क्योंकि आत्मा तो सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है। यही कारण है कि उसमें बुद्धि का वितर्क नहीं पहुँच सकता ॥ ८ ॥

विशेष—जिस आत्मज्ञान को निरन्तर चिन्तन करते हुए भी योगी लोग दुःख से प्राप्त करते हैं, उस परमतत्त्व का उपदेश देने की अबुद्धिमान् संसारी में क्या योग्यता है ? ब्रह्मज्ञान की मन्दाकिनी में अवगाहन करनेवाले आचार्य का किया हुआ ज्ञानोपदेश ही जिज्ञासु की बुद्धि को स्थिर करके उस अति सूक्ष्म ब्रह्मपद तक पहुँचा देता है, जहाँ तर्क रूपी घोड़े पर चढ़कर नहीं जाया जा सकता ॥ ८ ॥

कोई तर्कनिपुण अपनी बुद्धि से ही आत्मा को जान सकता है, तो फिर इस में गुरु की क्या आवश्यकता है ? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं कि—

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥

अन्वयः—हे प्रेष्ठ, एषा, मतिः, तर्केण, आपनेया न, अन्येन, प्रोक्ता, सुज्ञानाय । हे नचिकेतः, त्वम्, याम्, आपः, (तां मतिं न बुध्य)। सत्यधृतिः, असि, बत, त्वादृक्, प्रष्टा, नो भूयात् ॥ ९ ॥

भावार्थ—हे प्रियतम ! जो बुद्धि तुमने प्राप्त की है, वह तर्क द्वारा नहीं जानी जाती, उस के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तो अनन्य याने ब्रह्मात्मदर्शी के उपदेश से ही हो सकता है। हर्ष है कि तुम सत्य को धारण करनेवाले हो, इसलिए मुझे तुम्हारे जैसा पूछनेवाला प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—हे परमप्रिय ! जो बुद्धि तुम को प्राप्त हुई है वह केवल तर्क से प्राप्त नहीं हो सकती, वह शास्त्रज्ञ आचार्य के उपदेश और शास्त्र-चिन्तन से उत्पन्न होती है। फिर वह आत्मज्ञान की साधक हो जाती है। बड़े आनन्द की बात है कि जो तुमने सत्यवस्तु आत्मज्ञान के धारण का निश्चय किया है। हे नचिकेतः ! मैं परमात्मा से यह मनाता हूँ कि मुझे तुम्हारे समान तत्त्व का प्रश्न करनेवाले ही मिला करें ॥ ९ ॥

विशेष—सब उपद्रवों की शान्ति तथा सब शङ्काओं का समाधान होना ब्रह्मज्ञान का पहला चिह्न है। यदि वहाँ तर्क का प्रवेश हो जाय तो शान्ति और निश्चय में खलबली पड़ सकती है। तर्क से धर्म तथा अधर्म आदि अन्यान्य विषयों

का कहीं कुछ निश्चय चाहे हो जाय, किन्तु अतिसूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय ब्रह्मात्मज्ञान तो ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के उपदेश से तथा वेद वेदान्त के अनुशीलन से ही हो सकता है ॥९॥

अधिक धैर्यवान् होने के कारण तुम मेरी अपेक्षा भी विशिष्ट बुद्धिवाले हो; यह बोधन करने के लिए पहले अपनी बुद्धि की उत्कृष्टता को कहते हैं कि—

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्

अन्वयः—शेवधिः, अनित्यम्, इति, अहम्, जानामि। हि, ध्रुवम्, तत्, अध्रुवैः, नहि, प्राप्यते। ततः, मया, अनित्यैः, द्रव्यैः, नाचिकेतः, अग्निः, चितः, (तेन) नित्यम्, प्राप्तवान्, अस्मि ॥ १० ॥

भावार्थ—कर्म का फल अनित्य है, यह मैं जानता हूँ। अनित्य साधनों की सहायता से ध्रुव, नित्य, आत्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस कारण अनित्य द्रव्यमय साधनों के द्वारा नाचिकेत अग्नि चयन करके नित्य (यमसम्बन्धी पद) को प्राप्त करना चाहिए ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः! मनुष्यों के कर्मों का जो फल है वह एक खजाने की तरह है, पर यह सम्पत्ति अनित्य है यह मैं जानता हूँ। और नित्य वस्तु जो आत्मतत्त्व है, वह अनित्य पुत्र पशु आदि के द्वारा नहीं मिल सकता, यह भी मुझे मालूम है। तो भी मैंने अनित्य द्रव्य पशु आदि सामग्रियों से नाचिकेत अग्नि का साधन किया है, और उस के द्वारा मैंने यमपदवी को पाया है, जो अन्य पदार्थों की अपेक्षा नित्य याने चिरस्थायी है ॥ १० ॥

विशेष—इस मन्त्र में यमराज अपनी अपेक्षा नचिकेता को उत्कृष्ट बतलाते हुए कहते हैं कि मैं अपने हृदय में स्थित ब्रह्मानन्द को नित्य अपरोक्ष जानता हूँ। कर्म का फल अनित्य है यह भी मुझे मालूम है। परन्तु मुझ में तुम्हारे जैसी पदार्थ-विषयक त्यागबुद्धि नहीं है। कोई भी पुरुष यज्ञ आदि कर्मों को करके मोक्षरूप नित्य फल को प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा जानकर भी मैंने अग्निसाध्य यज्ञादि अनेक कर्मानुष्ठान से लोकपाल पद की प्राप्ति की है। इस मन्त्र में जो 'शेवधि' पद आया है उस का अर्थ व्याख्याकारों ने 'कर्मफल' यह किया है। तात्पर्य यह है कि जैसे निधि की कामना की जाती है तथा उस का अर्जन होता है, उसी तरह कर्मफल का भी सम्पादन किया जाता है ॥ १० ॥

मुझ से भी तुम्हारा धैर्य अधिक है, यह कहते हैं—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् । स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे नचिकेतः, (त्वम्) धीरः, कामस्य, आप्तिम्, जगतः, प्रतिष्ठाम्; क्रतोः, अनन्त्यम्, अभयस्य, पारम्, स्तोममहत्, उरुगायम्, प्रतिष्ठाम्, दृष्ट्वा, धृत्या, अत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे नचिकेतः! तुम ने बुद्धिमान् होकर भोगों की समाप्ति, जगत् की प्रतिष्ठा, यज्ञ का अनन्त फल, अभय की मर्यादा, प्रशंसनीय एवं महती उत्तम गति अर्थात् अणिमादि ऐश्वर्ययुक्त सिद्धि तथा अपनी उत्तम गति का लाभ; ये सब देखकर भी धैर्यपूर्वक त्याग दिये हैं ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेता! मैं ने जो लोकपाल की अमर पदवी पायी है उस में मुझ को सभी कामनाएँ प्राप्त हुई हैं। मैं सब जगत् का नियन्ता बना हुआ हूँ। इस से अधिक यज्ञ का फल और कोई नहीं हो सकता, मुझे अभय का परम पद मिला है। प्राणी मात्र मेरी स्तुति करते हैं और अणिमादिक सिद्धियों के बृहत् ऐश्वर्य का भण्डार भी मुझे मिला है। यह सब मैं तुम को देता था, परन्तु तुम ने इन सब पदार्थों को अनित्य जानकर त्याग दिया, और ब्रह्मात्मतत्त्व को सब से उत्तम तथा बड़ा जानकर धीरतापूर्वक केवल उसी के जानने की इच्छा पर अटल रहे। इस तुम्हारे धैर्य की कहाँ तक प्रशंसा करूँ, वस्तुतः तुम सकल गुणों से युक्त सर्वोत्तम पुरुष हो ॥ ११ ॥

विशेष—विवेकशील नचिकेता ने प्राणियों की उत्पत्ति का कारण सांसारिक सम्बन्ध, जगत् को मर्यादा में स्थित रखनेवाला चक्रवर्ती राज्य, राजसूय आदि यज्ञानुष्ठान से लभ्य सर्वोपरि कीर्ति, भयकम्पादि राहित्य और अनेक मनुष्यों द्वारा दिगन्तों में फैली हुई स्तुति आदि; इन सब को अन्त में दुःखदायी समझकर त्याग दिया। इसी कारण वह सब की अपेक्षा बुद्धिमान् समझा गया ॥ ११ ॥

इस समय नचिकेता द्वारा पूछे हुए आत्मा की प्राप्ति के साधन और फल को दिखाते हैं कि—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

अन्वयः—दुर्दर्शम्, गूढम्, अनुप्रविष्टम्, गुहाहितम्, गह्वरेष्ठम्, पुराणम्, तम्, देवम्, अध्यात्मयोगाधिगमेन, मत्वा, धीरः, हर्षशोकौ, जहाति ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो कठिनता से दीख पड़े, जो गूढ स्थान में अनुप्रविष्ट हो, बुद्धि में वर्तमान, गहन स्थान में रहनेवाले उस पुराने देव को अध्यात्मयोग द्वारा जानकर धीर व्यक्ति हर्ष शोक को त्याग देता है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उस आत्मतत्त्व का दीखना कठिन है। वह बड़ा गहन है, बाहर के पदार्थों के ज्ञान से जानने में नहीं आता। वह विचारबुद्धि होने पर जाना जाता है, वह बुद्धिरूपी गुहा में अवस्थित है, क्योंकि बुद्धि में ही उस की उपलब्धि होती है, और गह्वरेष्ठ, याने बड़े दुर्गम देश में स्थित है। जो धीर पुरुष अध्यात्मयोग (विषयसमूहों से चित्त को हटाकर आत्मा में एकाग्र करने का नाम अध्यात्मयोग है) से ऐसे उस पुरातन आत्मदेव को जानता है, वह हर्ष शोक आदि द्वन्द्वों के पार हो जाता है। क्योंकि आत्मा में उत्कर्ष या अपकर्ष कुछ है नहीं, जो किसी की खुशी या रंज का कारण हो सके ॥ १२ ॥

विशेष—पहले साधारणतः जीव की बुद्धि शरीर में फँसी रहती है। कुछ दिन बाद बुद्धि के परिमार्जित हो जाने पर शरीर से मन की सूक्ष्मता का अनुभव होने लगता है। अनन्तर कुछ उन्नत दशा में पहुँचने पर तत्त्वज्ञानी पुरुष 'मन से बुद्धि सूक्ष्म है' ऐसा अनुगम करने लगता है। फिर उसे अतिपरिश्रम से स्वानुभव प्राप्त करने पर प्रतीत होता है कि 'आत्मा बुद्धि से परे है।' इसी से यहाँ आत्मा को 'दुर्दर्श' कहा है। आत्मा बुद्धि से परे है, यह जानने पर भी मन, वाणी और बुद्धि से पर आत्मा का जानना अति कठिन है, इसी से उसे 'गूढ' कहा है। वह आत्मा अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक में व्यापक है। वह मोती की लड़ी में सूत की तरह सब में अनुप्रविष्ट है। सब जीवों की हृदयगुहा में आत्मा का विकास है।

भाव यह है कि जो यह आत्मा दुःख से जानने योग्य है, उस में निम्नोक्त चार हेतु हैं, यथा—'गूढम् (छन्नम्), सर्वानुस्यूतम्, बुद्धिर्गुहा, तत्र प्रतिविम्बितम्, गह्वरेष्ठम्, दुर्गमदेशे स्थितम्' ॥ १२ ॥

'तत्त्वज्ञानी हर्ष शोक से रहित हो जाता है' इस उपरोक्त कथन से तत्त्वज्ञान को जड़सहित संसार का निवर्तक दिखाकर अब उस के आनन्द की प्राप्ति का साधन कहते हैं, यथा—

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीय ँ हि लब्ध्वा विवृत ँ सद्म नचिकेतसं मन्ये १३ ॥

अन्वयः—मर्त्यः, एतत्, श्रुत्वा, धर्म्यम्, प्रवृह्य, संपरिगृह्य, सः, एतम्, अणुम्, आप्य, मोदनीयम्, लब्ध्वा, हि, मोदते। नचिकेतसम्, (त्वां प्रति) सद्म, विवृतम्, मन्ये ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य इस ब्रह्मात्मतत्त्व को सुनकर धर्म्य, पुण्यजनक होने से धर्मयुक्त, इस आत्मा को देहादि संघात से पृथक् करके इस की मोदनीय उपलब्धि पाकर आनन्दित होता है। मैं यह मानता हूँ कि तुम नचिकेता लिए ब्रह्मभवन खुल गया है, अर्थात् मेरी समझ में तुम्हारे लिए मोक्ष का दरवाजा खुल गया है ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः! मैं तुम्हारे प्रति आत्मतत्त्व का उपदेश करनेवाला हूँ। उस धर्म से प्राप्त होनेवाले, या धर्मस्वरूप, अथवा परम धर्मस्वरूप वा धर्म के समान सूक्ष्म आत्मा को जो मरणधर्मी मनुष्य, गुरु से सुनकर उसे भली प्रकार आत्मभाव से ग्रहण करके तथा परिश्रम के साथ शरीर आदि से भिन्न करके निर्लेप रूप से जानता है, वह उस हर्षप्रदाता को पाकर परमानन्द का अनुभव करता है। मैं तुम नचिकेता को भी ऐसा ही समझता हूँ कि मानो तुम्हारे प्रति ब्रह्म-रूप भवन का दरवाजा खुला हुआ है अर्थात् तुम मोक्ष के अधिकारी हो ॥ ५३ ॥

विशेष—मनुष्य मरजानेवाला है, वह संसार में नित्य याने सदैव नहीं रह सकता। अतः उसे सद्गुरु के पास जाकर धर्मसम्मत, सूक्ष्म, शरीर इन्द्रियों से भिन्न, उस आत्मतत्त्व के जानने का यत्न करना चाहिए, जिस से सदा की आवा-गमन की खटपट से बचकर मनुष्य अमर हो जाय। मैं तुम्हें मनुष्यों में ऐसा समझता हूँ कि ब्रह्मसदन में जाने के लिए तुम्हारे लिए दरवाजा खुला है। अर्थात् तुम अवश्य मोक्ष के सर्वोच्च आसन पर विराजमान होगे। क्यों कि तुमने श्रवण-मनन-निदिध्यासन के क्रम से उक्त पद की योग्यता प्राप्त कर ली है ॥ १३ ॥

'देह आदिकों से अतिरिक्त आत्मज्ञान ही यदि मोक्ष का साधन है तो वही कहिये' नचिकेता यह कहता है, यथा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

अन्वयः—धर्मात्, अन्यत्र, अधर्मात्, अन्यत्र, अस्मात्, कृताकृतात्, अन्यत्र, भूतात्, च, भव्यात्, च, अन्यत्र, तत् यत्, पश्यसि, तत्, वद ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो धर्म और अधर्म से भिन्न है, तथा कार्यकारणरूप प्रपञ्च से अन्य है, तथा भूत और भविष्यत् से अतीत है, ऐसी जो (वस्तु) आप देखते हैं वही मुझ से कहिए ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—नचिकेता बोला कि हे यमराज ! यदि आप मुझको आत्मतत्त्वग्रहण करने योग्य पात्र समझते हैं, और मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो उस तत्त्व का उपदेश दीजिये, जो पुण्य पाप से भिन्न है। अर्थात् जो धर्मानुष्ठान, तथा अधर्माचरण के फल से पृथक है, कार्यकारण से भिन्न और भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालों से रहित है। ऐसे आत्मा का आप प्रत्यक्ष निश्चय कर रहे हैं, उस के वास्तव स्वरूप का मेरे लिए कथन करिये ॥ १४ ॥

विशेष—जो धर्माधर्मजन्य शुभाशुभ फलों के बन्धन में नहीं आता, अविद्या अस्मिता आदि क्लेश, कर्म तथा उनके फलों से जिसका संग नहीं होता, स्थूल सूक्ष्म चराचर जगत् से जो लिप्त नहीं होता और भूत भविष्यत् एवं वर्तमान काल से पृथक् रहता है, ऐसे एकरस आत्मा को आपने जाना है। मुझे भी उसी की शिक्षा दीजिए। इस मन्त्र में आत्मजिज्ञासासम्बन्धी चित्त के तीव्र संवेग का वर्णन किया गया है। साथ ही शिष्य स्थिरलक्ष्य है, यह भी कहा गया है। इसी लिए नचिकेता ने सृष्टिसाम्राज्य से परे, अद्वितीय और सर्वानन्दास्पद आत्मा के ज्ञान की जिज्ञासा की है ॥ १४ ॥

नचिकेता ने जो वस्तु पूछी है उसको तथा उस के अन्य विशेषणों को बतलाने की इच्छा से यमराज ने कहा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

अन्वयः—सर्वे, वेदाः, यत्, पदम्, आमनन्ति, सर्वाणि, तपांसि, च, यत्, वदन्ति, यत्, इच्छन्तः, ब्रह्मचर्यम्, चरन्ति, तत्, पदम्, ते, संग्रहेण, ब्रवीमि, ओम्, इति एतत् ॥ १५ ॥

भावार्थ—सम्पूर्ण वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, सब तपस्याएँ जिस की प्राप्ति के लिए कही गई हैं, और जिस के पाने की इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को संक्षेप से कहता हूँ, 'ॐ' यही वह पद है ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! 'वही प्राप्त करने योग्य है' ऐसा कहते हुए चारों वेद जिसकी प्राप्ति का उपदेश देते हैं, जिस को प्राप्त करने के लिए कायिक, वाचिक तथा मानसिक सब प्रकार की तपश्चर्या की जाती हैं, और जिसको पाने की इच्छा से दर्शन, स्पर्शन, केलि, प्रेक्षण, गुप्तभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया-निवृत्ति; इस अष्टविध मैथुन के त्यागरूप ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गृह में दीर्घ-काल पर्यन्त वास करना पड़ता है, वह ब्रह्मपद मैं तुम को संक्षेप से कहता हूँ। देखो ध्यान से सुनो, वह आत्मा 'ॐ कार' रूप है। वेदों में कहीं साक्षात् और कहीं परंपरा से एक ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रमों में वेद का स्वाध्याय (पढना), तप का अनुष्ठान और योगाभ्यास आदि नियमों का पालन ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है। उस ब्रह्म का 'ॐ' यह खास नाम है। ईश्वर, प्रभु, नियन्ता आदि नाम तो राजा आदिकों के भी हो सकते हैं, परन्तु 'ॐ' यह नाम किसी अन्य का नहीं है ॥ १५ ॥

विशेष—वेद नित्य और ज्ञानमय है, उस की कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड सम्बन्धी यावत् प्रवृत्तियाँ आत्मपदप्राप्ति के लिए ही हैं। जितने तप हैं, उन का भी लक्ष्य आत्मतत्त्व की उपलब्धि है। शारीरिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्तियों को रोककर, अपने अधीन करके लक्ष्यविशेष पर नियोजित करने के लिए उपयोगी बनाने को तप कहते हैं। तप के यज्ञ, दान ये दोनों अङ्ग हैं, यज्ञ, दान दोनों का सहायक तप है। एवं अष्टविध मैथुन त्यागरूप ब्रह्म-चर्यानुष्ठान भी आत्मतत्त्वोपलब्धि में प्रधान सहायक है। जिस तत्त्व की इतनी महिमा है उसका सर्वप्रधान नाम 'ॐ' है। ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण जितने वाचक (नाम) हैं, वे किसी भी लौकिक या अलौकिक भाव, प्रयोजन, निमित्त आदि को लेकर ही हैं। परन्तु 'ॐ' ऐसा नहीं है ॥ १५ ॥

इस तरह तत्त्वज्ञान के साधन प्रणव की उपासना कहकर अब उस अक्षर की स्तुति और उस की उपासना के फल को कहते हैं, यथा—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥

अन्वयः—एतत्, अक्षरम्, एव, हि, ब्रह्म, एतत्, एव, हि, अक्षरम्, परम्, एतत्, एव, हि, अक्षरम्, ज्ञात्वा, यः, यत्, इच्छति, तस्य, तत् ॥ १६ ॥

भावार्थ—यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर ब्रह्म है, इस अक्षर को जानकर जो जिसकी इच्छा करता है उस को वही सिद्ध हो जाता है ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—यह 'ॐकार' ही अपर (सगुण-हिरण्यगर्भाख्य) नाशरहित ब्रह्म है और 'ॐकार' ही अविनाशी पर (निर्गुण) ब्रह्म है। इस अक्षर-रूपी ब्रह्म की उपासना करके जो जिसे, पर या अपर को चाहता है, वही उसको सिद्ध हो जाता है। भाव यह है कि यदि परब्रह्म ज्ञातव्य हो और अपरब्रह्म प्राप्तव्य हो तो दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं। अर्थात् जो पुरुष परब्रह्म के ज्ञान के लिए वाचक-रूप से ॐकार को 'यह परब्रह्म है' ऐसा जानता है, उस को उसका ज्ञान हो जाता है, और जो हिरण्यगर्भ की प्राप्ति की इच्छा से ॐकार का उस रूप से ध्यान करता है उसे उसकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १६ ॥

विशेष—हे नचिकेतः ! प्रणव अक्षर ही सगुण ब्रह्म है और वही निर्गुण ब्रह्म है। जैसे शास्त्र में शालग्राम का विष्णुरूप से और नर्मदेश्वर का शिवरूप से ध्यान करना कहा है, वैसे ही ॐकार अक्षर का परब्रह्म और अपरब्रह्म रूप से ध्यान करना चाहिए; श्रुति भगवती यमराज द्वारा सब मुमुक्षुजनों को यह बोधन कराती है। जो अधिकारी ॐकार का सगुण रूप से ध्यान करता है वह सगुण रूप को प्राप्त करता है, और जो निर्गुण रूप से ॐकार अक्षर की उपासना करता है, वह निर्गुण ब्रह्म को पाता है। इन दोनों की ध्यानोपासना का फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति है, जिस में कुछ दिन महानन्द को प्राप्त करके अधिकारी कैवल्यमोक्ष को प्राप्त करता है ॥१६॥

क्योंकि ऐसी बात है, इसलिए—

एतदालम्बन ँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

अन्वयः—एतत्, आलम्बनम्, श्रेष्ठम्, एतत्, आलम्बनम्, परम्, एतत्, आलम्बनम्, ज्ञात्वा, ब्रह्मलोके, महीयते ॥ १७ ॥

भावार्थ—यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर आलम्बन है, आश्रय है। इस आलम्बन को जानकर अधिकारी ब्रह्मलोक में पूज्य होता है ॥ १७ ॥

वि० दि० भाष्य—यह ॐकाररूप आलम्बन ही ब्रह्म को पाने के संपूर्ण आश्रयों में श्रेष्ठ है। अर्थात् यह उपासना का सर्वोत्तम प्रतीक है, और यही परब्रह्म का बोधन करानेवाला आश्रय है। इस आलम्बन को जानकर साधक परब्रह्म या तद्रूप ब्रह्मलोक में महिमा पाता है, अर्थात् ब्रह्म की उपासना करने योग्य हो जाता है ॥ १७ ॥

विशेष—प्रणव सगुण और निर्गुण ब्रह्म का मुख्य वाचक होने से सब भगवन्नामों में श्रेष्ठ, सब मन्त्रों में उत्तम और सर्वव्यापक सत्ताविशिष्ट है। अतः उस का आलम्बन सब से श्रेष्ठ है। कर्म, ज्ञान और उपासना आदि ब्रह्मज्ञान के अनेक साधन हैं, उस में 'ॐ' यह सर्वोच्च साधन है। इस के जाननेवाला सब बाधाओं से छूटकर शान्तिरूप सुख से पूजित (युक्त) होता है ॥ १७ ॥

जिस आत्मा का ॐकाररूप से ध्यान करना कहा है उसका वास्तविक स्वरूप कहते हैं कि—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

अन्वयः—विपश्चित्, न जायते, वा (न) म्रियते, अयम्, कुतश्चित्, न बभूव, (अस्मादन्यः) कश्चित्, न। अयम्, अजः, नित्यः, शाश्वतः, पुराणः, शरीरे, हन्यमाने, न हन्यते ॥ १८ ॥

भावार्थ—आत्मतत्त्ववेत्ता लोग समझते हैं कि यह आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, न तो किसी भी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है, और न स्वयं ही कुछ अर्थान्तररूप से बना है। इसलिए यह अज-जन्मरहित, नित्य-सदा से वर्तमान, शाश्वत-सदा वर्तमान, निर्विकार और पुराण, सनातन है। देह के मारे जाने पर स्वयं निहत नहीं होता है ॥ १८ ॥

वि० वि० भाष्य—सदा चेतन रूप से वर्तमान इस आत्मा का जन्म नहीं होता, इस का न मरण ही होता है, यह सर्वज्ञ है, इस में किसी कारण से कोई उत्पत्ति नहीं होती, यह अन्य पदार्थों के रूपवाला भी नहीं हुआ (जैसे दूध का रूपान्तर दही हो जाता है, ऐसा यह नहीं होता)। इस कारण यह आत्मा अजन्मा है, नित्य है, इस में कभी क्षीणता नहीं होती। जिस तरह घड़ा और वस्त्र आदि अवयव बढाने से बढ जाते हैं, उन्हें नया या अधिक कहने लग जाते हैं, यह आत्मा ऐसा नहीं है। यह परम प्राचीन है। भाव यह है कि यह आत्मा सब प्रकारों के विकारों से रहित है, यही कारण है कि किसी भी शस्त्र में इस के वध करने की सामर्थ्य नहीं है। यद्यपि यह आत्मा शरीर में स्थित है, तो भी आकाश आदि की तरह असंग रहता है॥ १८॥

विशेष—आत्मा 'जायते, अस्ति, बर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति' (पैदा होता है, स्थित रहता है, बढा करता है, बदलता रहता है, कमजोर होता है और मर जाता है) इन षड्भावविकारों से रहित है। इस मन्त्र में 'न जायते, न म्रियते' इन पदों से आत्मा के जन्समरणरूप विकारों का निषेध करने से छहों विकारों का प्रतिषेध हो जाता है। [illegible] कोई उपादान कारण नहीं याने कोई उस का उत्पादक पिता [illegible] किसी का जनक है। भाव यह है कि जीवात्मा परमात्मा दोनों इस शरीर आदि कार्यजगत् में व्याप्त हुए स्थित हैं, तो भी कार्यवस्तु के साथ न उत्पन्न होते हैं, न उस के विनाश से नष्ट होते हैं॥ १८॥

जो आत्मा को मारनेवाला और मर जानेवाला समझता है वह भ्रम में पड़ा है, यह कहते हैं, यथा—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

अन्वयः—हन्ता, चेत्, हन्तुम्, मन्यते, हतः, चेत्, हतम्, मन्यते। तौ, उभौ, न विजानीतः, अयम्, न हन्ति, न हन्यते॥ १९॥

भावार्थ—मारनेवाला यदि यह समझे कि 'मैं मारूँगा' और हत व्यक्ति यह जाने कि 'मैं मारा गया' तो वे दोनों ही आत्मा को नहीं जानते हैं। क्योंकि वह न तो मारता है, और न दूसरे से मारा जाता है॥ १९॥

वि० वि० भाष्य—जो देहात्मवादी है, जो शरीर को ही आत्मा समझता

है, वही 'मैं आत्मा का हनन करूँगा' ऐसा मानता है। कोई किसी को कि[illegible] दूसरे से मारा जाता हुआ देखकर 'आत्मा मारा गया' ऐसा समझ लेता है। किन्[illegible] ये दोनों ही वास्तव में अज्ञानी हैं, इन्होंने आत्मा के स्वरूप को जाना ही नहीं क्योंकि आत्मा तो विकाररहित वस्तु है, इस कारण वह न किसी का विनाश करता है, और न किसी से विनष्ट होता है ॥ १९ ॥

विशेष—वेद में एक भी अक्षर मात्रा बिन्दु तक व्यर्थ या अधिक नहीं है, जब यह बात है तो पूर्व मन्त्र में "आत्मा न जन्मता है, न मरता है, वह तो शाश्वत है" इस सिद्धान्त का कथन कर दिया है। फिर इस श्रुतिवचन की क्या आवश्यकता थी ? अभ्युदय और निःश्रेयससाधक धर्म की प्रवृत्ति दो श्रेणियों में विभक्त है। उस के अनुसार स्वस्वरूपप्राप्ति के कारणभूत 'एक ब्रह्मतेज, दूसरा क्षात्रतेज' ये दो तरह के तेज संसार में प्रसिद्ध हैं। दोनों के 'योगक्रिया और युद्ध-व्यापार' ये दो अन्तिम फल हैं। इसलिए ब्रह्मतेजविशिष्ट अधिकारी के लिए पहला मन्त्र और क्षात्रतेजयुक्त पुरुष के लिए प्रकृत श्रुति का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः आत्मा में 'न जायते म्रियते' (न जन्मता है न मरता है) यह कहकर श्रुति उपदेश देती है कि [illegible]गार, उन के कारक[illegible]क) होना है [illegible]धर्म आदि [illegible] आत्मा में अ[illegible]न से ही लोगों ने [illegible] ॥ १९ ॥

तो फिर मुमुक्षु आत्मा को किस रूप से जानता है, अथवा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आत्मा नष्ट होने योग्य नहीं है, यह कहते हैं, यथा—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

अन्वयः—अणोः, अणीयान्, महतः, महीयान्, आत्मा, अस्य, जन्तोः, गुहायाम्, निहितः। अक्रतुः, वीतशोकः, धातुप्रसादात्, आत्मनः, तम्, महिमानम्, पश्यति ॥ २० ॥

भावार्थ—अणु से भी अणु और महान् से भी अतिमहान् आत्मा प्राणियों की हृदयगुहा में स्थित है। निष्काम और शोकरहित पुरुष मन की प्रसन्नता से उसकी महिमा को देखता है ॥ २० ॥

वि० वि० भाष्य—संसार में जो भी कोई छोटी सी चीज है आत्मा उस से भी सूक्ष्म याने छोटा है, और वह बड़ी से बड़ी वस्तु से बहुत बड़ा भी है। वह आत्मा ब्रह्म से लेकर चीटीं पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों की हृदयगुफा में, बुद्धि में स्थित है। जो मनुष्य कामनारहित है, अर्थात् जिस की बुद्धि बाहरी विषयों से हट गई है, वह मन के निर्मल होने से आत्मा की महिमा को जान सकता है। अर्थात् वह अधिकारी यह जानने में समर्थ होता है कि आत्मा 'वृद्धि-क्षय' आदि विकारों से रहित है। जब ऐसा जान जायगा तो उसे हर्ष शोक नहीं रहेगा, क्यों कि तब वह किसी दशा में कहीं भी किसी तरह के हानि लाभ को नहीं देखता है॥ २०॥

विशेष—आत्मा के अनुसन्धान करनेवाला तत्त्वदर्शी जब सूक्ष्म से सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञेय को देखता हुआ आगे बढता है, तो अन्त में परमाणु में जाकर थकित हो जाता है। इस प्रकार जब वह बड़े से बड़े विषय का विचार करता हुआ एक ब्रह्माण्ड से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की धारणा में पहुँचता है तो भी उस की बुद्धि थक जाती है। तब उस अधिकारी को ब्रह्मनिष्ठ गुरु से यह पता लगता है कि जहाँ सब की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, वहाँ से आगे भी एक जानने योग्य पदार्थ है, जिस के परिज्ञान से सब कुछ जाना जाता है। सृष्टिप्रपञ्च में जितने जीव हैं, वह उन की हृदयगुहा तथा बुद्धिगुफा में स्थित है। निम्न श्रेणी के लोग उस आत्मा का अनुभव नहीं कर सकते। उस के अनुभव करनेवाले ज्ञानी ऐहलौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के विषयसुख की वासना से उपराम हो जाते हैं। आत्मा छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है; यह जानने से पता लग सकता है कि वह सब जगह है, नित्य है, उसे जाननेवाला सब से बडे और नित्य सुख का अधिकारी हो जाता है॥ २०॥

अन्यथा यह आत्मा सकाम प्राकृत पुरुषों के लिए बड़ा दुर्विज्ञेय है, कठिनता से जानने में आता है, क्यों कि—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ २१॥

अन्वयः—आसीनः, दूरम्, व्रजति, शयानः, सर्वतः, याति। मदा-[मदम्], देवम्, तम्, मदन्यः, कः, ज्ञातुम्, अर्हति॥ २१॥

भावार्थ—जो एक जगह स्थित रहकर भी दूर तक जाता है और

शयनक्रियारहित होकर भी सर्वत्रगामी है, मद—आनन्द और अमद—निरा... उस देव को मेरे अतिरिक्त और कौन जान सकता है ? ॥ २१ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेता ! आत्मा स्थिर होकर भी मन आ... उपाधि के साथ मिलकर ब्रह्मलोक पर्यन्त दूर जाता है, और शयान अर्थात् ... होकर भी स्वप्न आदि में इन्द्रियों के साथ मिलकर सब ओर विषयों में जाता... आत्मा में जो विरुद्ध धर्म रहते हैं, उन का कारण उपाधि है, इसी से कहीं वह ... युक्त प्रतीत होता है और कहीं शोकवाला। ऐसे नाना रूप से भासनेवाले आ... को मुझ से अन्य और कौन जान सकता है ? कोई नहीं ॥ २१ ॥

विशेष—यमराज ने नचिकेता से कहा है कि आत्मा को मेरे सिवा ... कोई नहीं जानता। जब यह बात है तो नचिकेता के लिए उपदेश करना ही व्य... है, क्यों कि इस रहस्य को यमराज ही जानते हैं, उन के अतिरिक्त दुनियाँ में ... और किसी को भी जानना असम्भव है। यह शङ्का होने पर कहा जाता है कि यमराज के कहने का केवल यही अभिप्राय है कि 'मुझ को मुख्य ज्ञाता मानकर नचिकेता श्रद्धापूर्वक मेरे उपदेश को श्रवण करे' ॥ २१ ॥

आत्मविज्ञान के फल को कहते हैं कि—

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

अन्वयः—अनवस्थेषु, शरीरेषु, अवस्थितम्, अशरीरम्, महान्तम्, विभुम्, आत्मानम्, मत्वा, धीरः, न शोचति ॥ २२ ॥

भावार्थ—नाश होनेवाले शरीर में अवस्थित, स्वयं शरीररहित, महान और सर्वव्यापक आत्मा को जानकर धीर व्यक्ति शोक नहीं करते हैं ॥ २२ ॥

वि० वि० भाष्य—देव, पितर और मनुष्य आदि के अनित्य शरीर में स्थित होकर भी जो निर्विकार, महान् और आकाश के समान सर्वव्यापक है, ऐसे आत्मा के स्वरूप को जो बुद्धिमान् 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार दृढभाव से जानता है, उस को कभी शोक नहीं करना पड़ता है ॥ २२ ॥

विशेष—यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता ! यह आत्मा वास्तव में स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों से भिन्न है, पर इन तीनों अनित्य शरीरों में वर्तमान है। यह आकाश आदिक जो व्यापक हैं, उन से भी अधिक व्यापक है।

इस को अपरोक्ष करनेवाले अधिकारी के सर्वशोक निवृत्त हो जाते हैं। कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप बन्धन का नाम शोक है, और बन्धन अज्ञान का कार्य है। अज्ञान की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से होती है। ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञान के सामर्थ्य से अधिकारी के पास शोक फटकने भी नहीं पाता ॥ २२ ॥

आत्मा के अनुसन्धान बिना वेदपाठ आदि सम्पूर्ण साधन व्यर्थ हैं, अतः आत्मज्ञानप्राप्ति में मुमुक्षु को बद्धपरिकर होकर लग जाना चाहिए; यह कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् २३

अन्वयः—अयम्, आत्मा, प्रवचनेन, न लभ्यः, मेधया, न, बहुना, श्रुतेन, न। एषः, एव, यम्, वृणुते, तेन, लभ्यः, तस्य, एषः, आत्मा, स्वाम्, तनूम्, विवृणुते ॥ २३ ॥

भावार्थ—आत्मतत्त्व की प्राप्ति वेद के अध्ययन से नहीं हो सकती, न केवल धारणा शक्ति से और न अधिक श्रवण करने से ही प्राप्त हो सकती है। यह साधक जिस आत्मा का वरण करता है उसी आत्मा से प्राप्त किया जा सकता है और उसी के प्रति यह आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करता है ॥ २३ ॥

वि० वि० भाष्य—यह आत्मा अनेकों वेदों के पाठ करने मात्र से प्राप्त नहीं हो सकता, ग्रन्थ के उपदेश को धारण करने की शक्तिमात्र से भी नहीं प्राप्त हो सकता, और वेदान्त शास्त्र के अध्ययन के अतिरिक्त अन्य विपुल शास्त्रों के अभ्यास करने से भी नहीं जाना जा सकता। जो अधिकारी इस आत्मा का अभेदरूप से नित्य चिन्तनरूप भजन करता है, वह उस के स्वरूप को प्राप्त हो सकता है। उस अधिकारी के प्रति आत्मा अपने परमार्थस्वरूप को प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि जो अधिकारी आत्मा के साक्षात् करने का यत्न करता है, उस के लिए आत्मा अपने स्वरूप को आप ही प्रकाशित कर देता है ॥ २३ ॥

विशेष—प्रवचन का आश्रय लेना, स्वयं शास्त्र पढकर उस के वचनों का आश्रय लेना और शास्त्र के ज्ञाता लोगों के शब्दों का सहारा लेना; ये तीन उपाय हैं साधारण ज्ञानप्राप्ति के। इन तीनों प्रकारों से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है। चाहे उत्तम तत्त्वज्ञ पुरुषों के वेदशास्त्रप्रवचनों का अवलम्ब क्यों न किया जाय, अथवा स्वयं वेद पढकर उस के शब्दों के मनन द्वारा प्रयत्न क्यों

न किया जाय, और चाहे शास्त्रज्ञाता पण्डितों से आत्मा, अनात्मा का कितना ही विचार क्यों न सुना जाय पर आत्मज्ञानोपलब्धि नहीं हो सकती। क्योंकि शब्द, मन और बुद्धि से अगोचर आत्मा शब्द के आश्रय से नहीं जाना जा सकता। फिर इस के परिज्ञान का उपाय क्या है? क्या इस का जानना असम्भव है? ऐसा है तो यह सर्वथा अपदार्थ हो जायगा। उत्तर में कहते हैं कि कर्म, उपासना तथा ज्ञान की साधनशैली का अवलम्बन करके जब जिज्ञासु अपने मल, विक्षेप, आवरण का नाश कर लेता है, उस से सात्त्विक धृति, सात्त्विक ज्ञान का उदय होकर साधक का अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, तब बुद्धिगुहास्थित आत्मा स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। श्रवण मनन निदिध्यासन से जो आत्मा का वरण (भजन) करता है, उस महात्मा के निकट परमात्मा अपना स्वरूप स्वयं प्रकट करता है ॥ २३ ॥

शम, दम आदि साधनवाले को ही आत्मज्ञान होता है, दूसरे को नहीं, यह कहते हैं कि—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

अन्वयः—दुश्चरितात्, अविरतः, न, अशान्तः, न, असमाहितः, न, अशान्तमानसः, वा अपि, न, (किन्तु) एनम्, प्रज्ञानेन, प्राप्नुयात् ॥२४॥

भावार्थ—जो पापकर्मों से निवृत्त नहीं हुआ, जो संयतेन्द्रिय नहीं है, जिस का चित्त असमाहित तथा अशान्त है, वह इसे आत्मज्ञान से प्राप्त नहीं कर सकता ॥ २४ ॥

वि० वि० भाष्य—जो मनुष्य पापकर्मों में आसक्त हो रहे हैं, जो इन्द्रियों की चंचलता के कारण सदा अशान्त रहते हैं, जिनके चित्त सदा विक्षेपों के आक्षेप से भरे रहने से व्याकुल हो रहे हैं, जो सदा विषयों में मग्न हैं, वे भला आत्मा को कभी जान सकते हैं? श्रेष्ठ गुरु को प्राप्त करके वे अधिकारी ही उसे पा या जान सकते हैं जो पुण्यात्मा, स्थिरविचार हैं, जिनका चित्त शान्त और सावधान है ॥२४॥

विशेष—मनुष्य चाहे कितना भी शास्त्र पढ ले तथा विद्वानों की वक्तृताएँ सुन ले, जबतक व्यभिचार, चोरी मिथ्याभाषण आदि निन्दित कर्मों से विरक्त नहीं होता और विषयासक्ति की वासनारूपी रस्सी से उस का अन्तःकरण बँधा है, तबतक



च… …र्वभक्षी ब्रह्म —(१–१–२४)

ચરાચર-સર્વભક્ષી બ્રહ્મ —(૧–૧–૨૪)

वह परमात्मा को नहीं पा सकता। भाव यह है कि जिसे आत्मज्ञान प्राप्त करना हो, उसे प्रमाद और कुतर्कों का त्याग करना होगा ॥ २४ ॥

यह जो कहा गया है कि कुत्सित आचरण के त्याग आदि साधनों के बिना आत्मा नहीं जाना जा सकता, उसी का उपसंहार करते हैं—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

अन्वयः—यस्य, ब्रह्म च, क्षत्रम् च, उभे, ओदनः, भवतः, यस्य, मृत्युः, उपसेचनम्, सः, यत्र, (एवम् अस्ति), इत्था, कः, वेद ॥२५॥

भावार्थ—जिस आत्मा के ब्राह्मण और क्षत्रिय ओदन, चावल आदि अन्न हैं, और मृत्यु जिस का उपसेचन, शाक आदि व्यञ्जन है, उसे कौन जानता है ? अर्थात् ऊपर कहे हुए साधनयुक्त मुमुक्षु की तरह अज्ञानी पुरुष भला इसे जान सकता है ? नहीं ॥ २५ ॥

वि० वि० भाष्य—संसार की स्थिति के कारण जो धर्म अधर्म हैं, उन के स्वरूप का यथार्थतः बोधन करनेवाले ब्राह्मण, और पालन करनेवाले क्षत्रिय आदि, यहाँ तक कि हिरण्यगर्भ और प्रकृतिरूप यह सारा जगत् जिस आत्मा का अन्न (भोजन) स्वरूप है और सब संसार का संहार करनेवाला मृत्यु भी जिस का दूध दही शाक चटनीस्वरूप व्यञ्जन के समान है, उसे साधनसम्पन्न अधिकारी की तरह साधारण बुद्धिवाला कौन ऐसा पुरुष है, जो जान सकता है ? कोई नहीं ॥ २५ ॥

विशेष—ब्राह्मणधर्म और क्षत्रियधर्म के यथावत् प्रचार से ही सब प्रजा में शान्ति और सुख होता है। जब ये दोनों भी जिस के भक्ष्य होते हैं और सब को मारनेवाला मृत्यु भी जिसका खाद्य अन्न होता है, तो इतर साधारण वैश्य आदि की क्या दशा है ? अर्थात् जिस में ब्राह्मण आदि सब विलीन हो जाते हैं, जो मृत्यु को भी मारनेवाला है, उस को भय दुःखों से छूटा हुआ कोई मुमुक्षु पुरुष ही यथार्थतः जान सकता है, हर एक का काम नहीं है जो उसे जान सके ॥ २५ ॥

द्वितीय वल्ली समाप्त।

अथ तृतीय वल्ली

पहले कही हुई विद्या और अविद्या का स्वरूप, साधन और फल कहने के लिए तीसरी वल्ली का आरम्भ किया जाता है। विद्या और अविद्या के ज्ञान के सुभीते के लिए इस वल्ली में रथ के रूपक की कल्पना की गई है। उस में पहले गन्तृगन्तव्य (जानेवाला और जहाँ जाया जायेगा) के विवेक के लिए 'दो आत्मा तत्त्ववस्तु हैं' यह कहते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

अन्वयः—लोके, सुकृतस्य, ऋतम्, पिबन्तौ, गुहाम्, परमे, परार्द्धे, प्रविष्टौ, ब्रह्मविदः, पञ्चाग्नयः, ये, च, त्रिणाचिकेताः, छायातपौ, (इव विपरातौ जीवेशौ) वदन्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि इसी शरीर में कर्मफल के भोक्ता, बुद्धिरूप गुहा में और श्रेष्ठ ब्रह्मवासयोग्य हृदयाकाशरूप स्थान में स्थित, छाया और आतप अर्थात् अन्धकार और प्रकाश की तरह विलक्षणस्वभाव, दो तत्त्व याने जीव और ब्रह्म हैं। जिन्हों ने तीन वार नचिकेता अग्नि का चयन (अनुष्ठान) किया है, वे पञ्चाग्निउपासक भी यही बात कहते हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेता! यह आत्मा जिस ध्यानरूप उपाय से जाना जाता है, उस का श्रवण करो, जैसे लोकप्रसिद्ध पीपल आदि वृक्षों पर पक्षी रहते हैं, वैसे ही बुद्धिरूपी वृक्ष पर जीव और ईश्वर का निवास है। शरीर की अपेक्षा बुद्धि उत्कृष्ट और परब्रह्म की स्थिति के योग्य है, अतएव उस वृक्ष पर सुन्दर जीवेश्वर पक्षी रहते हैं। उन में जीव तो कर्म के फल को भोगता है और ईश्वर स्वयं कर्मफल को न भोगता हुआ दूसरे को भुगाता है। भाव यह है कि इन दोनों का दर्शन इस शरीररूपी लोक में ही बुद्धिरूप गुफा में होता है। ये जीव और परमात्मा दोनों परमोत्तम हृदयाकाश में प्रविष्ट हैं तथा छाया और धूप की तरह विरुद्ध धर्मवाले हैं। अर्थात् जीव संसारी है, परमात्मा ऐसा नहीं है। हम ने यह बात ब्रह्मवेत्ताओं से सुनी

है। साथ ही जो गृहस्थ पञ्चाग्निव्रत का पालन करते हैं और जिन्होंने तीन वार नाचिकेत अग्नि के द्वारा अनुष्ठान किया है, उन का भी ऐसा ही कथन है ॥ १ ॥

विशेष—यहाँ सत्य कर्मफल का भोग करनेवाले दो आत्माओं का वर्णन है। इन में केवल एक कर्मफल का उपभोग करता है, दूसरा भोग कराता है, स्वयं नहीं करता। जब यह बात है तो प्रकृत मन्त्र में ‘ पिबन्तौ ’ इस द्विवचन का प्रयोग ‘ छत्रिन्याय ’ से है। जैसे बहुत से छातावालों में कुछ बिना छातावाले लोगों के लिए भी ‘ छत्रिणो यान्ति ’ छातावाले जाते हैं, ऐसा कहा जाता है ॥ १ ॥

अच्छा, तो वे ब्रह्मवेत्ता और पञ्चाग्नि के अनुष्ठानकर्ता कौन हैं ? ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं कि हमी लोग हैं; यह दिखाते हैं यथा—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेत ँ शकेमहि ॥ २ ॥

अन्वयः—ईजानानाम्, यः, सेतुः, (तम्) नाचिकेतम्, शकेमहि, यत्, अभयम्, तितीर्षताम्, पारम्, अक्षरम्, परम्, ब्रह्म ॥ २ ॥

भावार्थ—यज्ञ करनेवालों के लिए सेतु, उपायभूत नाचिकेत अग्नि को हम जानने और चयन करने में समर्थ हों। एवं जो भयरहित है और जो संसार को पार करने की इच्छावालों का परम आश्रय है, उस अक्षर ब्रह्म को जानने के लिए हम समर्थ हों ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो कर्म करनेवाले यजमानों को दुःखसागर से उतारने के लिए सेतुरूप है, उस नाचिकेत नामक अग्नि को हम समझ सकते हैं। हम उस के चयन (अनुष्ठान) करने में समर्थ हैं, तथा जो भयरहित एवं संसार से पार होने की अभिलाषा करनेवाले ब्रह्मवेत्ताओं का आश्रय है, उस विनाशरहित पर ब्रह्म को जानने में भी हम सुदक्ष हैं। भाव यह है कि हमलोगों को अपने अधिकार और सामर्थ्य के अनुसार इन दोनों का ज्ञान प्राप्त करना योग्य है ॥ २ ॥

विशेष—जैसे नदी आदि के पार करने के लिए पुल बनाया जाता है, वैसे ही दुःखजल से परिपूर्ण संसारसागर से पार होने की इच्छा करनेवाले मनुष्यों को चाहिए कि वे इन्द्रियों को वश में करके अपने आत्मा के अनुकूल आचरण करें। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के सेवन से आत्मविरुद्ध आचरण करनेवाले का

संसार में कभी कल्याण नहीं हो सकता। गीता में आत्मा का बन्धु आत्मा ही कहा गया है, क्रोधादि तो उस के शत्रु हैं। संसार के अथवा परमार्थ के सुख की सिद्धि (प्राप्ति) के लिए इन्द्रियों को वश में करके जीवात्मा और परमात्मासम्बन्धी सामर्थ्य बढ़ाने का यत्न करना चाहिए ॥ २ ॥

जैसे सारथि के रथ आदि अन्यत्र ले जाने के साधन हैं, उसी तरह के संसार अथवा मोक्ष की ओर जानेवाले कर्मफलभोक्ता जीव के शरीर आदि साधनों को दो मन्त्रों से कहते हैं, यथा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

आत्मानम्, रथिनम्, विद्धि, शरीरम्, रथम्, एव तु। बुद्धिम्, तु, सारथिम्, विद्धि, मनः, प्रग्रहम्, एव च ॥ ३ ॥

भावार्थ—आत्मा को रथ का मालिक समझो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम जानो ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः! संसारी आत्मा को रथ का मालिक समझो, रथ का स्वामी जैसे रथ के लाभ आदि का अधिकारी होता है, वैसे ही यह जीवात्मा कर्मफल को भोगनेवाला है। यह शरीर रथ है, क्योंकि शरीर में जीवात्मा रहता है। जैसे रथ को घोड़े खींचते हैं, वैसे ही देहरथ को सदा इन्द्रियरूप घोड़े खींचते रहते हैं। निश्चयात्मिका बुद्धि को सारथि समझ लो, क्योंकि शरीर को जहाँ तहाँ ले जाने की युक्ति करनेवाली बुद्धि ही है, और सदा संकल्पविकल्पात्मक मन को लगाम जानो। क्योंकि जैसे लगाम के इशारे से, पकडने पर घोड़े अपने व्यापार में प्रवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही नाक कान आदि इन्द्रियाँ भी मन से प्रेरित होकर ही अपने अपने काम में लगती हैं ॥ ३ ॥

विशेष—देहरूपी रथ में जीवात्मा रथस्वामी है, बुद्धि सारथि और मन लगाम है। इस प्रकार की धारणा जो राजयोगी हर समय तत्त्वज्ञान की सहायता से स्थिर रख सके, वह अवश्य ही सफलता प्राप्त कर सकेगा। यहाँ इस रूपक का यह अभिप्राय है कि जैसे लगाम से सुनियन्त्रित घोड़े वाहन को यथास्थान पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार युक्तयोगी की इन्द्रियाँ उस के अधीन रहकर प्रथम अवस्था में अभ्युदय और अन्त में निःश्रेयस प्राप्त कराने में बहुत सहायक होती हैं। आवश्यकता

बुद्धि के सारथि बनाने की है, फिर रथ के गन्तव्य स्थान पर जाने में सन्देह नहीं रह जाता। अन्यथा शरीररथ आवागमन के गर्त में गिरकर चूर चूर हो जायगा, जो सब से बड़ा अनिष्ट होगा ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ ४ ॥

अन्वयः—मनीषिणः, इन्द्रियाणि, हयान्, तेषु, गोचरान्, विषयान्, आहुः। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् (आत्मानम्), भोक्ता, इति आहुः॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग इन्द्रियों को घोडे बतलाते हैं तथा विषयों को उन का गोचर (विचरणभूमि) और शरीर, इन्द्रिय एवं मनोयुक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—चतुर पुरुष ऐसे रथ की कल्पना करके चक्षु आदि इन्द्रियों को उसके घोड़े बतलाते हैं। क्योंकि रथ को खींचकर ले जानेवाले घोड़ों की तरह इन्द्रियाँ भी शरीर को खींचकर ले जाती हैं। इन्द्रियरूप घोड़े रस आदि विषयरूप मार्गों पर दौड़ा करते हैं, अर्थात् ये इन्द्रियाँ सदा विषयों में ही चक्कर काटती रहती हैं। शरीररथ का अध्यक्ष, शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त हुआ संसारी ही भोक्ता आत्मा है। यह स्मरण रहे कि केवल आत्मा में भोक्तापन नहीं है, किन्तु उस में मन, बुद्धि आदिकृत भोक्तापन है ॥ ४ ॥

विशेष—पूर्व कथित रथी के निमित्त इन्द्रियसमूह रथ को खींचनेवाले घोड़े हैं और विषयसमूह घोड़ों के दौड़ने के लिए मैदान है। शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोक्ता कहाता है। अभिप्राय यह है कि उक्त उपाधियों से युक्त होकर आत्मा भोक्ता दिखाई देता है और पहले कहे हुए विज्ञानानुसार कर्मसंग्रह करनेवाला बनता है ॥ ४ ॥

आगे कही जानेवाली संसार और मोक्षरूप दो तरह की गतियों के कहने के लिए दो मन्त्रों से सारथियों के दो भेदों को कहते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ ५ ॥

अन्वयः—यः, तु, अयुक्तेन, मनसा, सदा, अविज्ञानवान्, भवति, सारथेः, दुष्टाः, अश्वाः, इव, तस्य, इन्द्रियाणि, अवश्यानि ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो बुद्धिरूप सारथि विवेकहीन और असंयत मनयुक्त होता है उस के वश में इन्द्रियाँ ऐसे नहीं रहतीं जैसे सारथि के वश में दुष्ट घोड़े नहीं रहते ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—बुद्धि नामक सारथि यदि निपुण नहीं होता, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति के विवेक से हीन होता है तथा मनरूप लगाम का सावधानी से प्रयोग नहीं करता है, तो सारथि के वश से बाहर हुए दुष्ट घोड़ों की तरह उस बुद्धि-रूप मूढ सारथि के इन्द्रियरूप घोड़े वश में से निकल जाते हैं, बेकाबू हो जाते हैं। ऐसी दशा में उन को विषयरूप मार्ग से लौटाना अति कठिन हो जाता है ॥ ५ ॥

विशेष—जो अधिकारी असावधानता से कार्य करनेवाला और अस्थिर मनवाला होता है, अर्थात् जिस की बुद्धि सावधान नहीं होती और मन ऊर्ध्वगामी न होकर इन्द्रियगामी रहता है, उस की दशा खराब घोड़ेवाले सारथि की तरह होती है। दुष्ट घोड़े सारथि को विवश करके रथ को कुमार्ग में ले जाकर उसे तोड़ फोड़ डालते हैं। यह प्रबल इन्द्रियसमूह स्वभाव से दुष्ट घोड़े की तरह है। यदि बुद्धि के साथ मन आत्मा में युक्त न रहे तो साधक अवश्य ही बद्ध जीव की तरह कहीं का नहीं रह जायेगा ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

अन्वयः—यः, तु, युक्तेन, मनसा, सदा, विज्ञानवान्, भवति, सारथेः, सदश्वाः, इव, तस्य, इन्द्रियाणि, वश्यानि ॥ ६ ॥

भावार्थ—किन्तु जो बुद्धिरूप सारथि समाहितचित्त और विज्ञानवान् होता है, उस के अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे शिक्षित सारथि के अधीन अच्छे घोड़े रहते हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जो बुद्धिरूप विवेकी सारथि मनरूप लगाम को सावधानी से काम में लाये तो उस चतुर सारथि के इन्द्रियरूप घोड़े ऐसे वश में रहते हैं, जैसे शिक्षित सारथि के घोड़े अनुकूल रहते हैं। अर्थात् वह उनको विषयरूप प्रवृत्तिमार्ग से लौटाकर निवृत्तिमार्ग में ले जा सकता है ॥ ६ ॥

विशेष—जैसे अच्छे सीखे हुए घोड़ेवाला सारथि लगाम के जरा से इशारे मात्र से घोड़ों को अच्छे मार्ग पर चलाना, धीरे या तेज चलाना तथा गन्तव्य स्थान पर पहुँचाना आदि काम सुभीते से कर लेता है, उसी प्रकार जिस का मन बुद्धि से युक्त रहता है और बुद्धि आत्मा से युक्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त करती है, वह जितेन्द्रिय पुरुष इन्द्रियों से काम लेता हुआ भी उनको अपने अधीन रखता हुआ कदापि लक्ष्यच्युत याने पतित तथा विपथगामी नहीं होता है ॥ ६ ॥

इस प्रकार बुद्धिरूप सारथि के दो भेद कहकर आत्मा की प्रतिज्ञात दो गतियों को दो मन्त्रों से कहते हैं, यथा—

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

अन्वयः—यः, तु, अविज्ञानवान्, अमनस्कः, सदा, अशुचिः, भवति, सः, तत्पदम्, न आप्नोति, संसारम्, च, अधिगच्छति ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो विवेकरहित है, जिस का मन संयत नहीं और सदा अपवित्र रहता है, वह उस पद को प्राप्त नहीं कर सकता, उलटा संसार को ही प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—रथ का स्वामी जीव है, उस का बुद्धिरूप सारथि यदि विवेकहीन हो जाय और वह मनोरूप लगाम को छोड़ बैठे, अर्थात् सावधानता-रहित हो जाय, एवं सदा मलिन, उदास याने कर्तव्याकर्तव्य के विमर्श से शून्य हो जाय, तो वह रथी (अयोग्य सारथि के कारण) पहले कहे हुए अविनाशी ब्रह्मपद को प्राप्त नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, किन्तु वह सदा आवागमनरूप संसार के चक्र में पड़ा रहता है ॥ ७ ॥

विशेष—अभिप्राय यह है कि जो विवेकरहित अयुक्तबुद्धि जीव मानसिक संयम से रहित हैं, जिन का मन चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापार में फँसकर चंचल हो जाता है, ऐसे आचारहीन अर्थात् धर्मविरुद्ध क्रियाशील और सदा अशुचि व्यक्ति उस निश्रेयस पद को कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। वल्कि वे पिंजड़े में फँसे हुए पक्षी की तरह संसार के जालों में उलझे रहते हैं ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥

अन्वयः—यः, तुः, विज्ञानवान्, समनस्कः, सदा, शुचिः, भवति सः, तु, तत्पदम्, आप्नोति, यस्मात्, भूयः, न जायते ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो विज्ञानयुक्त, समाधानचित्त और हमेशा पवित्र रहता है वह तो उस पद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—जो रथ का स्वामी विवेकशील एकाग्रचित्त और बुद्धिरूप सारथिवाला है, वह ही उस अक्षर परब्रह्म को प्राप्त होता है, जिस पद से गिरकर फिर संसार में जन्म नहीं लिया जा सकता ॥ ८ ॥

विशेष—जो विज्ञानवान् है, जिस की बुद्धि सावधान होकर सदा युक्त रहती है, जिस का मन ऊर्ध्वगामी होता है तथा कदापि अधोगामी नहीं होता और जो सदा शुचि अर्थात् सदाचरण में प्रवृत्त होकर बाह्याभ्यन्तर शौचयुक्त होता है, वह उत्तम अधिकारी पुरुष उस परमपद को प्राप्त होता है जहाँ से फिर पुनरावृत्ति नहीं होती ॥ ८ ॥

'उस पद को प्राप्त होता है' इस उपर्युक्त कथन का ही विवरण करते हैं, यथा—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

अन्वयः—[illegible], तु, नरः, विज्ञानसारथिः, मनःप्रग्रहवान्, सः, अध्वनः, पारम्, विष्णोः, तत्, परमम्, पदम्, आप्नोति ॥ ९ ॥

भावार्थ—विवेकयुक्त बुद्धि जिस की सारथि है, ऐसा निगृहीत मनोरूप लगामवाला मनुष्य संसारमार्ग को पूरा करके विष्णु के परम पद को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—जो विद्वान् मनुष्य प्रत्यक्ष ब्रह्मज्ञानयुक्त विवेकवाली बुद्धिरूप सारथि को रखता है और वशीकृतमन, समाहितचित्तरूप लगाम जिस रथी के सारथि के अधिकार में है, अर्थात् जो पुरुष सावधान है, वह संसार के

आवागमन के मार्ग को बिताकर अर्थात् संसार के सब बन्धनों से विमुक्त होकर विष्णु, परब्रह्म के श्रेष्ठ पद को, सर्वोच्च स्थान को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

विशेष—जब तक इन्द्रियाँ अपने अधीन न हों तब तक अन्तःकरण प्रदेश में शान्तिशक्ति का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता । 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इस न्याय से सभी व्यापारों का प्रधान साधक मन संयमित होकर जब तक इन्द्रियों का संचालन नहीं करेगा, तब तक किसी भी देश का वातावरण शान्त नहीं हो सकता । इसी अर्थ को समझाने के लिए 'मनःप्रग्रहवान्' पद का प्रयोग हुआ है । सत्त्वगुण के अधिष्ठातृपद का वाचक विष्णु है और जब तक सत्त्वगुण की परिपूर्णता नहीं होती, तब तक स्वस्वरूप का अनुभव नहीं होता । वह अनुभूति ही विष्णुपद की प्राप्ति है, यही कारण है कि ब्रह्मपद के लिए 'विष्णु का परम पद' शब्द का व्यवहार किया गया है ॥ ९ ॥

'तद् विष्णोः परमं पदम्' वह विष्णु का परम पद है, इस वाक्य में कहे हुए पद की सर्वोत्कृष्टता दिखाने के लिए अपेक्षाकृत उत्कृष्टों की परम्परा को कहते हैं, यथा—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥

अन्वयः—इन्द्रियेभ्यः, अर्थाः, पराः, हि, अर्थेभ्यः, च, मनः, परम्, मनसः, तु, बुद्धिः, परा, बुद्धेः, आत्मा, महान्, परः ॥ १० ॥

भावार्थ—इन्द्रियों की अपेक्षा विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन उत्तम है, मन से बुद्धि बढ़कर है और बुद्धि से भी महान् आत्मा उत्कृष्ट है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—इस में सन्देह नहीं है कि गन्ध रस आदि विषय इन्द्रियों से श्रेष्ठ और सूक्ष्म हैं, क्यों कि विषयों के अधीन ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति है । मन विषयों को अपने अधीन करता है अतः उन विषयों से मन सूक्ष्म तथा श्रेष्ठ है । मन से बुद्धि सूक्ष्म तथा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह मन को अपने अधिकार में रखती है और उस को निश्चय करानेवाली है । और बुद्धि की अपेक्षा अव्यक्त से प्रथमोत्पन्न बोधाबोधरूप हिरण्यगर्भतत्त्व बड़ा है । सब प्राणियों की बुद्धि का प्रत्यगात्मरूप होने से उसे आत्मा, और सब से महत् होने के कारण महान् कहते हैं, वह महान् आत्मा बुद्धि से बड़ा है ॥ १० ॥

विशेष—यह देखा गया है कि कार्य से कारण सूक्ष्म होता है, इसी कारण इन्द्रियों से विषय सूक्ष्म कहे गये हैं। क्यों कि स्थूल इन्द्रियों के गोलक और विषय ग्राहक शक्ति सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न होती है, जैसे पृथिवी से नासिका आदि। शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये आकाशादि पञ्च महाभूतों के साररूप हैं, अतः ये शब्दादि विषय सूक्ष्म रूप से इन्द्रियों के कारण हैं ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

अन्वयः—महतः, अव्यक्तम्, परम्, अव्यक्तात्, पुरुषः, परः, पुरुषात्, परम्, किंचित्, न, सा, काष्ठा, सा, परा, गतिः ॥ ११ ॥

भावार्थ—महत्तत्त्व से अव्यक्त (मूलप्रकृति) श्रेष्ठ है, अव्यक्त से भी पुरुष उत्कृष्ट है, पुरुष से बढ़कर और कुछ नहीं है। वही परा काष्ठा है, अर्थात् वही सूक्ष्मत्व की सीमा है, वही परा गति है याने उत्कृष्ट पद है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—इस महत्तत्त्व से सम्पूर्ण कार्यकारणों की शक्तियों का समुदायस्वरूप अर्थात् अखिल विश्व का बीजभूत अव्यक्त (मूल प्रकृति) सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। उस अव्यक्त से परम पुरुष परमात्मा श्रेष्ठ है। क्योंकि अव्यक्तरूप माया भी स्वाश्रित विषय की प्राप्ति के लिए चैतन्य की अपेक्षा करती है। पर व्यापक पुरुष आत्मा अपनी उत्पत्ति के लिए तथा प्रकाश के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रखता। इस कारण चेतन पुरुष ही सब से श्रेष्ठ है। भाव यह है कि इस चेतन पुरुष की ओर ही चलते हुए सब संसारियों की परिसमाप्ति है। कोई किसी मार्ग से जाय, पर सब इस की ही ओर जाते हैं और फिर इस को पाकर नहीं लौटते, अत एव इस को परम गति कहते हैं ॥ ११ ॥

विशेष—ब्रह्म सब का आधार है, इसी से उसे सब से सूक्ष्म और सब से श्रेष्ठ कहा गया है। उस से बढ़कर और कोई नहीं, यदि ब्रह्म का भी कोई आधार माना जाय तो उस का भी किसी अन्य को आधार मानने में अनवस्थापत्ति दोष आ जायेगा। इस लिए सब आधारों का आधार परमात्मा है। ऐसे ही अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओं से भी वह परम सूक्ष्म है, और सभी बड़ों से उस में अधिक बडप्पन है। जिसमें सूक्ष्मता, बडप्पन और कर्मगतियों की अवधि है, बस उस परमात्मा की महिमा जानने के लिए विद्वान् को सब इन्द्रियों और अन्तःकरण की सामर्थ्य को

उसी ओर झुका देना चाहिए। इन दो मन्त्रों में जो सूक्ष्मता और श्रेष्ठता का सोपानपरम्परारोहणक्रम (सीढ़ी चढ़ने का तरीका) दिखलाया गया है, वह पूर्व पूर्व पदार्थों की अपेक्षा उत्तरोत्तर वस्तुओं में स्थूलत्व और श्रेष्ठत्व का अनुभव कराते हुए जिज्ञासु की इतस्ततः फैली हुई वृत्तियों को समेटकर ब्रह्म में विलय करने के अभिप्राय से कहा गया है। प्रश्न होता है कि यदि ब्रह्म गति है तो उस से आगति (प्रत्यागमन) भी होनी चाहिए, फिर 'जिस से पुनः जन्म नहीं होता है' (यस्माद् भूयो न जायते) यह कैसे सम्भव है ? उत्तर यह है कि सब भूतों का प्रत्यगात्मरूप से जो अवगति, ज्ञान है, उसी को गति कहकर उपचार या गौण प्रयोग किया गया है ॥ ११ ॥

अब सम्पूर्ण कार्यवर्ग के अधिष्ठानरूप से कहे गये आत्मा की प्रतीति और अप्रतीति में हेतु कहते हैं, यथा—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

अन्वयः—एषः, आत्मा, सर्वेषु, भूतेषु, गूढः, न प्रकाशते । सूक्ष्मदर्शिभिः, अग्र्यया, बुद्ध्या, तु, दृश्यते ॥ १२ ॥

भावार्थ—सब भूतों में यह आत्मा प्रकाशमान (प्रत्यक्ष) नहीं होता, केवल सूक्ष्मदर्शी मनुष्यों द्वारा उत्तम (निर्मल) और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—यह परमात्मदेव ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण चर अचर भूतों में विराजमान हो रहा है। क्या कहें, अज्ञों ने या अल्पज्ञों ने इस के नाना प्रकार के आकारों की कल्पना कर रखी है। इसी अविद्या से (अज्ञान से) आच्छादित (ढका हुआ) होने के कारण यह प्रकाशित नहीं होता। यह कितना ही ढका रहे, प्रकट न होने पाये, पर तो भी सूक्ष्म दृष्टिवाले विवेकी पुरुष निर्मल, उत्तम, तीव्रता, एकान्ततावाली सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा इस आत्मा का दर्शन कर ही लेते हैं ॥१२॥

विशेष—अज्ञानी जीवों की दृष्टि आत्मबुद्धि से स्थूल पञ्चकोशों में ही फसी रहती है, उसके सम्मुख आत्मा का प्रकाशन नहीं होने पाता। जब साधक बहिर्दृष्टि को अन्तर्मुख करके क्रमशः मल, विक्षेप, आवरण का नाश करता हुआ बुद्धि को शुद्ध कर लेता है, तो उससे वह आत्मदर्शी हो जाता है। यही इस मन्त्रोक्त 'अग्र्य'

शब्द का अभिप्राय है। भाव यह है कि जिसका मन इन्द्रियों के अधीन हो विचारशक्ति को बाह्य विषयों में फसाये रखता है, ऐसा मनुष्य सारे जगत् खोजता हुआ भी परमात्मा को नहीं पा सकता, क्योंकि असंयत मनवाले के लि परमात्मा छिपा हुआ जैसा है। और अन्तर्मुख अधिकारी तो इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि महत्तत्त्व आदिसम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों में प्रवृत्त, तीव्र शुद्ध बुद्धि से परमात्मा को देख ही लेता है ॥ १२ ॥

बुद्धि की एकाग्रता के बिना सूक्ष्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता, सो उसकी एकाग्रता की रीति बताते हैं, यथा—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

अन्वयः—प्राज्ञः, वाक्, मनसी, यच्छेत्, तत्, ज्ञाने, आत्मनि, यच्छेत्, ज्ञानम्, महति, आत्मनि, नियच्छेत्, तत्, शान्ते, आत्मनि, यच्छेत् ॥१३॥

भावार्थ—विवेकी पुरुष वागिन्द्रिय को मन में संयत करे, मन को प्रकाशरूप बुद्धि में लीन करे, बुद्धि को महत्तत्त्व में लय करे और महत्तत्त्व का शान्त आत्मा में उपसंहार करे ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—विवेकसम्पन्न मनुष्य को उचित है कि वह सब से पहले वाक् आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों को मन में ले जाकर ठहरा दे, याने उन को मन से भिन्न न समझे, मनोव्यापार के अतिरिक्त इन्द्रियों के किसी व्यवहार को न रहने दे। ऐसे मन का निश्चलरूप ज्ञान में, व्यष्टि बुद्धि में निरोध कर दे, याने उसका कोई स्वतन्त्र व्यापार न रहने दे। उस ज्ञानस्वरूप बुद्धि को महान् आत्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ मायोपाधिक जीवात्मा में मिला दे, और उस जीवात्मा को सम्पूर्ण विकाररहित, शान्त, सर्वव्यापक तथा सकल बुद्धिविश्वाससाक्षी परमात्मा में विलीन कर, अर्थात् परमात्मा से उसे अलग न माने ॥ १३ ॥

विशेष—विषयवैराग्ययुक्त विवेकी पुरुष जब स्वस्वरूप की उपलब्धि के लिए यत्न करे तो उस को सब से पहले अपनी वाणी शान्त करनी चाहिए। साधक के लिए तो वाक्शक्ति का प्राधान्य सर्वोपरि है, इसी से प्रणव आदि मन्त्रों, स्तोत्रों और वेदों का उच्चारण होता है, और यही अपशब्द आदि के कथन का साधन है। भाव यह है कि वाक् को जब तक मन में संयमित नहीं किया जायगा, तब तक वृत्ति का निरोध नहीं होगा। यहाँ 'वाक्' शब्द सब इन्द्रियों का बोधक है ॥ १३ ॥

माता की तरह हित चाहनेवाली भगवती श्रुति कहती है कि योगाभ्यास से चित्त की एकाग्रता प्राप्त करके जिस आत्मा में समष्टि बुद्धि का लय करना कहा गया है, हमेशा उस आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति का यत्न करना चाहिए, जैसे—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

अन्वयः—उत्तिष्ठत, जाग्रत, वरान्, प्राप्य, निबोधत, निशिता, दुरत्यया, क्षुरस्य, धारा, (इव) दुर्गम्, तत्, पथः, कवयः; वदन्ति ॥ १४ ॥

भावार्थ—हे मुमुक्षु लोगो ! उठो, जागो, और श्रेष्ठ (गुरु) को प्राप्त करके ज्ञानवान् बनो । तत्त्ववेत्ता लोग छुरे की दुस्तर और तीक्ष्ण धार के समान उस मार्ग को दुर्गम, दुःख से पार करने योग्य कहते हैं ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे अनादिअविद्यानिद्रा में सोये हुए जीवगण ! तुम अविद्या की मोहनिद्रा से जागो, अर्थात् विषयों की आसक्ति के बन्धन को तोड़ दो और आत्मा का साक्षात् दर्शन करने के लिए उठ बैठो । सम्पूर्ण अनर्थों की मूल कारण अज्ञाननिद्रा का विनाश करो, तत्त्ववेत्ता आचार्यों का अन्वेषण करके और उनके उपदेशों को ग्रहण कर अन्तर्यामी परमात्मा का 'सोऽहमस्मि' (वह मैं हूँ) इस प्रकार का परिचय प्राप्त करो । याने ऐसा जान जाओ, उपेक्षा करनी ठीक नहीं । जैसे छुरे की धार को कोई पाँवों तले नहीं रौंद सकता, न उस पर चलने का ही साहस कर सकता है, ऐसे ही तुम्हारे जानने योग्य जो तत्त्व है, याने जो विषय तुम्हें जानना है वह बहुत ही सूक्ष्म बुद्धि से जाना जा सकता है, । बुद्धिमानों का ऐसा ही कहना है । भाव यह है कि भगवती श्रुति, माता की तरह अधिकारी पुरुषों को उपदेश देती है कि मिथ्या ज्ञान के कारण फैले हुए नाम रूप और कर्म आदि को आत्मदेव में विलीन करके कृतकृत्य और शान्त हो जाओ । यह काम चाहे कितना भी कठिन हो, पर तुम्हारी सावधानी के सामने इस की सब कठिनाइयाँ हल हो जायेंगी, छुरे की धार जैसे क्या, इस से भी दुर्गम विघ्न इस में बाधक नहीं हो सकेंगे ॥ १४ ॥

विशेष—माता जैसे हितेच्छा से पुत्रों को जगाती ही नहीं, उन्हें काम में लग जाने को भी कहती है, उसी तरह भगवती श्रुतिमाता आज्ञा देती है कि हे अविद्याग्रहग्रस्त जीवो ! उठो, अर्थात् पुरुषार्थ में प्रवृत्त हो जाओ, जागो, अर्थात्

अविद्याजनित नींद का परित्याग कर दो। इस मन्त्र में 'उत्तिष्ठत' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु 'जाग्रत' का भी। इसका यही अभिप्राय है कि निःश्रेयस प्राप्ति का मार्ग छुरे की धार की तरह अति दुर्गम है, अतः सद्गुरुओं का आश्रय लेकर उसे पूरा करो। समझ रखो, जैसे छुरे की धार जरा से प्रमाद करने मात्र से अङ्गच्छेद कर देती है, उसी तरह कल्याणमार्ग पर चलनेवाले का थोड़ा सा प्रमाद भी बने बनाये खेल को बिगाड़कर रख देता है। जैसे छुरे का चलाना कौशलपूर्ण क्रियावान् का काम है ऐसे ही परम पुरुषार्थ में प्रवृत्त मुमुक्षु को अति सावधानी की आवश्यकता है।

आलस्य, प्रमाद आदि त्यागकर चाहे मुमुक्षु उठकर खड़ा भी हो जाय, वैराग्य आदि तथा ज्ञान लाभ करके जाग भी जाय, श्रद्धापूर्वक सद्गुरु की शरण भी ले ले और चाहे गुरु कृपा करके उसे मुक्ति का मार्ग भी दिखादें; इतना होने पर भी मुक्ति-मार्ग का पथिक जिज्ञासु यदि सावधान न होकर दुर्गम मार्ग में चलेगा, तो अनेक बाधाएँ उसे अवश्य ही पथभ्रष्ट कर देंगी। पहले तो लौकिक ऋद्धि सिद्धियाँ ही उसे लुभा लेंगी। यदि वह कर्मकर्ता की अवस्था में है तो उसे दम्भ, दर्प, अति-मानिता आदि दोषों से बचना कठिन है। उपासना दशा में आलस्य, प्रमाद और गुप्त स्वार्थपरता आदि में पड़ने का भय है। संन्यासावस्था में पुत्रैषणा ही शिष्य, मठादि संग्रह के रूप में परिणत होकर मार्गावरोधक हो जाती है। और जन-समाज में रहनेवाले पथिक के लिए लोकैषणा, वित्तैषणा भी अति प्रबल विघ्न हैं। मुमुक्षु को मुक्तिभूमि में पहुँचने तक अहंकाररूप शत्रु का भय तो बना ही रहता है। इसी कारण प्रकृत मन्त्र में तेज छुरे की धार का उदाहरण देकर सद्गुरु ने मुमुक्षु को सावधान किया है॥ १४॥

जब कि आत्मपदार्थ को सब जानते ही हैं, तो उसके जानने का मार्ग कठिन क्यों कहा गया? ऐसी आशङ्का होने पर समाधान करते हैं कि आत्मा शब्द आदि गुणों से रहित होने के कारण अति सूक्ष्म है। अतः उसका जानना आसान काम नहीं है, यह कहते हैं, यथा—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ १५॥

अन्वयः—यत्, अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्, अव्ययम्, तथा, अरसम्, अगन्धवत्, च, नित्यम् (अस्ति), अनाद्यनन्तम्, महतः, परम्, ध्रुवम्, तम्, निचाय्य, मृत्युमुखात्, प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से वर्जित है और अनादि, अनन्त, अव्यय, नित्य एवं महत्तत्त्व से परे है, उस ध्रुव, सर्वदा एकरूप (आत्मा) को अनुभव करके मुमुक्षु मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य—इस श्रुति में परमात्मवस्तु को अत्यन्त सूक्ष्म दिखाया गया है। क्योंकि आत्मपदार्थ को शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये पाँच विषय आश्रय करने की सामर्थ्य नहीं रखते। जो वस्तु शब्दादि विषयों से सम्बन्ध रखती है उस का क्षय अवश्य होता है। आत्मा शब्दादि विषयों से असंपृक्त (रहित) है, इस कारण उस का क्षय नहीं होता और इसी ही कारण से वह नित्य, आदि अन्त से रहित, सोपाधिक पदार्थों के स्पर्श से शून्य शुद्ध एकरस वस्तु है। ऐसे आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मृत्यु से छूट जाता है, अर्थात् उस पुरुष में अविद्याजनित कर्म कामना आदि कुछ नहीं रह पाते ॥ १५ ॥

विशेष—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पाँचों तन्मात्राओं का अनुभव आत्मा की चित् सत्ता द्वारा होता है, इसी कारण इन पाँचों से आत्मा परे है। प्रकृति परिणामवाली है क्योंकि वह त्रिगुणमयी है, अतः अपरिणामी अव्यय आत्मा उस से भिन्न है। जो परिणाम और विकाररहित होगा उस का नित्य होना निश्चित है, जो नित्य है सो अनादि भी है। सर्वप्रपञ्चकारण महत्तत्त्व से परे ऐसे परब्रह्म को स्वानुभव से प्राप्त करके आत्मज्ञानी का मृत्यु के मुख से छूट जाना कोई बड़ी बात नहीं। यहाँ प्रकृत में मृत्यु के मुख से मुक्त होने का तात्पर्य यह है कि स्वस्वरूप की उपलब्धि होते ही जीव शिव हो जाता है, अर्थात् आवागमनचक्र के बन्धन से मुक्त होकर निःश्रेयसपद को प्राप्त हो जाता है ॥ १५ ॥

इन तीनों वल्लियों के पाठ के फलस्वरूप इन में कहे हुए ज्ञान की स्तुति करती हुई श्रुति कहती है कि—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तँ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

अन्वयः—मेधावी, मृत्युप्रोक्तम्, सनातनम्, नाचिकेतम्, उपाख्यान[म्] उक्त्वा, च श्रुत्वा, ब्रह्मलोके, महीयते ॥ १६ ॥

भावार्थ—यम के द्वारा कथित नचिकेतासम्बन्धी इस सनातन उपाख्या[न] को बुद्धिमान् व्यक्ति दूसरे को कह और स्वयं सुनकर ब्रह्मलोक में पूजि[त] होता है ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—नचिकेता के प्रति यमराज के कहे हुए इस सनातनो[-] पाख्यान को जो विद्वान् पुरुष ब्राह्मण आदि अधिकारियों को सुनाता है और ब्रह्मनि[ष्ठ] तथा ब्रह्मश्रोत्रिय श्रेष्ठ आचार्य के मुखारविन्द से सुनकर उस का मनन करता है उस का ब्रह्मलोक में सब से बढ़कर सम्मान होता है ॥ १६ ॥

विशेष—धर्माधर्म का फल देनेवाले भगवान् धर्मराज यम जिस विषय के वक्ता हों और नचिकेता जैसे परम अधिकारी महात्मा जिस के जिज्ञासु हों, एवं जिस उपाख्यान में आध्यात्मिक विवरण का पूर्ण प्रतिपादन किया गया हो, ऐसे विषय की चर्चा करनेवाला अधिकारी आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर क्यों न अग्रेसर होगा[?] ऐसा महात्मा सब उन्नत लोकों में पूजित न हो, ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि ज्ञानी की पूजा सब जगह होती है। यहाँ 'ब्रह्मलोक' शब्द का अभिप्राय यह है कि जिन लोकों में प्राणी ब्रह्म के अभिमुख होते हैं, अर्थात् जिन लोकों में अधिकारियों को ब्रह्मचिन्तन की सामग्री की प्राप्ति का सुभीता रहता है, उनको ब्रह्मलोक कहते हैं। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि वेद सनातन है अतएव यह उपाख्यान भी सनातन है, क्योंकि यह वेदप्रतिपादित है ॥ १६ ॥

अब प्रथमाध्याय की समाप्ति का उपसंहार करते हैं, यथा—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि। प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

अन्वयः—यः, प्रयतः, परमम्, गुह्यम्, इमम्, ब्रह्मसंसदि, श्राद्ध[-] काले, वा, श्रावयेत्, तत्, आनन्त्याय, कल्पते, तत् [आ]नन्त्याय कल्पते ॥ १७ ॥

भावार्थ—जो कोई विद्वान् पवित्र होकर इस परम गोपनीय उपाख्यान को

ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्धकाल में सुनाता है, उस का वह श्राद्ध अनन्त फल-वाला होता है—अनन्त फलवाला होता है ॥ १७ ॥

वि० वि० भाष्य—इन्द्रियों और मन को वश में कर तथा पवित्र होकर ब्राह्मणमंडली में अथवा श्राद्ध के समय भोजन कराते हुए जो विद्वान् पुरुष इस परम गोपनीय ग्रन्थ को, तत्प्रतिपादित कथा को सुनाता है, उस का किया हुआ श्राद्ध अनन्तकाल तक फल देनेवाला होता है ॥ १७ ॥

विशेष—इस से पहला मन्त्र मुमुक्षु तथा तत्त्वज्ञानी के उपकार के लिए है और यह मन्त्र वेदपाठी तथा श्राद्ध करनेवाले ब्राह्मणों के लाभ के लिए है। जो तत्त्वज्ञानी होंगे उन को तो इस मन्त्र के कहने और सुनने का फल होगा ही, किन्तु जिस का श्राद्ध हो रहा है उस का भी उद्धार हो जायगा। जो ब्राह्मणों की मंडली में अथवा उन के भोजन करने के अवसरों पर इस का पाठ करेगा, वह आध्यात्मिक तत्त्व का प्रचार करता हुआ ऊँची गति को प्राप्त होगा। भाव यह है कि जितने परिश्रम वा समय में एक को उपदेश दिया जाय, उतने में ही अनेकों के समुदाय में उपदेश करना विशेष लाभदायक है। और यह भी बात है कि श्राद्ध में भोजन करनेवाले ब्राह्मणों में वेद को जाननेवाले ब्राह्मणों का होना परमावश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों की मंडली के सदस्य चाहे भोजन करते हों और चाहे तीर्थाटन, विवाह, यज्ञ आदि वैदिक लौकिक किन्हीं भी व्यापारों में प्रवृत्त हों, उन्हें सदा वेदों के पाठ तथा वेदान्तविचार में लगे रहना चाहिए। 'तदानन्त्याय कल्पते' इस वाक्य को दो बार कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ तक पहला अध्याय समाप्त हो गया है ॥ १७ ॥

तृतीय वल्ली और प्रथम अध्याय समाप्त।

अथ चतुर्थ वल्ली

पहले अध्याय में संक्षेप से जो ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है उसी के विस्तार के लिए यह दूसरा अध्याय प्रारम्भ किया जाता है। और यह भी बात है कि 'सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ, निकट होने पर भी वह आत्मा प्रकाशित नहीं होता, वह तो एकाग्र बुद्धि से देखा जाता है' यह पहले कहा गया है। अब यहाँ विचार यह करना है कि उस एकाग्रबुद्धि का प्रतिबन्धक या बाधक क्या है, जिस कारण उस बुद्धि के अभाव से आत्मा दिखाई नहीं देता है; इसी अदर्शन के प्रतिबन्धक कारण के दिखाने के लिए यह वल्ली प्रारम्भ की जाती है। क्योंकि निःश्रेयस का

प्रतिबन्धक कारण जानने पर ही उस को दूर करने का यत्न किया जा सकता। अन्यथा नहीं,—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

अन्वयः—स्वयम्भूः, खानि, पराञ्चि, व्यतृणत्। तस्मात्, (मनुष्यः एभिः) पराङ्, पश्यति, अन्तरात्मन्, न। कश्चित्, धीरः, अमृतत्वम्, इच्छन्, आवृत्तचक्षुः, प्रत्यगात्मानम्, ऐक्षत् ॥ १ ॥

भावार्थ—स्वतन्त्र परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। यही कारण है कि जीव बाहर के विषयों को तो देखता है, पर अन्तरात्मा को नहीं देख पाता। कोई कोई धीर अमरत्व की इच्छा से इन्द्रियों से उपराम होकर प्रत्यगात्मा का दर्शन करते हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—नेत्र आदिक इन्द्रियाँ सदा रूपादि विषयों को प्रकाशित करने में ही प्रवृत्त रहती हैं। क्योंकि ये बहिर्मुख वृत्तिवाली हैं। यदि इन की प्रवृत्ति अन्तर्मुख हो जाय तो मुक्ति मिल सकती है। पर अन्तर्मुख होना इन का स्वभाव नहीं है, इन नेत्र आदि इन्द्रियों की झुकनेवाली बहिर्मुख वृत्ति बनाकर मानो ब्रह्मा ने इन की हिंसा की है, मार डाला है।। इन्हें बहिर्मुख बनाकर आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिए अनधिकारी कर दिया है। जो बहिर्मुख है अर्थात् जिसकी दृष्टि सदा विषयों की ओर लगी रहती है, वह अनात्मस्वरूप रूपादि विषयों को ही प्राप्त करता है, वह अन्तरात्मा को नहीं देख पाता। हाँ, जो नेत्र आदि इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मोक्ष की प्राप्ति का यत्न करते हैं, वे सर्वव्यापक परमात्मा का दर्शन पा जाते हैं ॥ १ ॥

विशेष—इस मन्त्र में 'परमात्मा ने इन्द्रियों को हिंसित किया है' यह कहा गया है, इस का तात्पर्य यह है कि जो सब का प्राप्य है, जिसकी प्राप्ति हो जाने पर और किसी को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, ब्रह्मा ने इन्द्रियों को ऐसे आनन्दघन के दर्शन से वञ्चित करके इन के साथ घोर अन्याय किया है। जैसे राजा अपने नगर का अधिकार छुड़ाकर किसी मन्त्री को अवाञ्छित दूर देश का

अधिकारी बना दे तो उस की यह हिंसा ही समझो। कोई पाठक यह न समझ बैठे कि ईश्वर अन्यायी है। प्रकृत रूपक का तात्पर्य यह है कि नीचे की ओर बहनेवाले जल की तरह इन्द्रियों का वास्तविक स्वभाव बाहर की चीजों को देखने का है। किन्तु यत्न करने पर ये अन्तर्मुख भी हो सकती हैं। पाठकों ने प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) लोगों की बुद्धितीव्रता का अनुभव किया होगा। बाहर फैलनेवाली दर्शनशक्ति प्रज्ञाचक्षु की भीतरी बुद्धि से सम्बद्ध हो जाती है, इसी से कई बातों में उस की बुद्धि में विशेषता देखी जाती है। सुहृदय पाठक हमारे कथन का यह तात्पर्य न निकाल लें कि नेत्र फोड़ डालने चाहिएँ, हमारा तो यही कहना है कि मुमुक्षु पुरुष को विषय ग्रहण करने का अभ्यास शिथिल कर देना चाहिए। यदि हमारा यह वेदानुकूल कथन सही नहीं है तो लोक में विषयों के पीछे पड़कर जीव जिन यन्त्रणाओं को भोग रहा है सो देख लो॥ १॥

इस प्रकार ऊपर वर्णित अनात्मदर्शी को जन्ममरण के अनर्थ में पड़ना पड़ता है, आत्मवेत्ता उस से निवृत्त हो जाता है; यह कहते हैं कि—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २॥

अन्वयः—बालाः, पराचः, कामान्, अनुयन्ति, ते, विततस्य, मृत्योः, पाशम्, यन्ति। अथ, इह, धीराः, ध्रुवम्, अमृतत्वम्, विदित्वा, अध्रुवेषु, न प्रार्थयन्ते॥ २॥

भावार्थ—अज्ञानी लोग बाह्य विषयों का अनुसरण करते हैं, वे मृत्यु के अनन्तकालव्यापी पाश को प्राप्त होते हैं। इस कारण धीर लोग नित्य मोक्ष का स्वरूप जानकर इस अध्रुव जगत् के किसी अस्थायी विषय की प्रार्थना, इच्छा नहीं करते॥ २॥

वि० वि० भाष्य—आत्मदर्शन की इच्छा से विमुख अल्पबुद्धि लोग बाहरी विषयों की ओर ही दौड़ते रहते हैं, इसी कारण आमिषलोलुप मत्स्य की तरह वे मृत्यु के बड़े भारी पाश में बँध जाते हैं। जन्म मरण, जरा, रोग, शोक आदि अनेकों अनर्थों से भरे हुए देह इन्द्रियादिकों की संयोग वियोगरूप दशा की प्राप्ति ही

बन्धन (जाल) है, इस में फँसे हुए विषयी लोग सुखास्वाद नहीं ले पाते। हाँ जो विवेकी पुरुष हैं वे आत्मस्वरूप मोक्ष को नित्य जानकर उसी की प्राप्ति का यत्न करते हैं, और किसी अनित्य पदार्थ की अभिलाषा नहीं रखते ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र में 'बालाः' यह शब्द आया है, ज्ञानकाण्ड के राज्य में माता का दूध पीनेवाले बालक का ग्रहण नहीं होता, यहाँ तो अवस्था, धनादि, चाहे जितनी सामग्रीवाला हो, वह चाहे मर्त्यलोक में योद्धा, शासक, धनी आदि चाहे जितने ऊँचे पद पर आरूढ़ हो और वह चाहे देवलोक का इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि ही क्यों न हो; जब तक उसकी वासनाएँ इन्द्रियों में फँसी रहती हैं, अर्थात् वह जब तक विषयासक्ति के कारण कर्तव्याकर्तव्य विमर्शशून्य रहता है, तब तक ज्ञानराज्य में बालक ही है, इस में जरा सा भी सन्देह नहीं। ऐसे बालक यदि अपने आप को नाशवान् वैषयिक सुखों में फसाये रखते हैं तो वे मृत्यु के अति विस्तीर्ण पाश में चिरकाल तक क्यों न फँसे रहेंगे ? ॥ २ ॥

जिस का ज्ञान हो जाने से और किसी वस्तु के जानने की इच्छा नहीं रहती, उस ब्रह्म का बोध किस प्रकार हो सकता है ? यह कहते हैं कि—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शा ँश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यत एतद्वै तत् ॥३॥

अन्वयः—येन, एतेन, एव, रूपम्, रसम्, गन्धम्, शब्दान्, स्पर्शान्, मैथुनान्, च, विजानाति, अत्र, किम्, परिशिष्यते । एतत्, वै, तत् ॥३॥

भावार्थ— जिस इस ज्ञानस्वरूप परमात्मा के कारण रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखों को निश्चय जानता है, उस के सिवा यहाँ और क्या रह जाता है ? अर्थात् उस आत्मा से कुछ भी छिपा नहीं रह जाता। यह भी वही है, याने वही यह तत्त्व है जो (नचिकेता ने) पूछा था ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—सब प्राणी आत्मा के द्वारा ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और मैथुन के सुख का अनुभव करते हैं। जिस को आत्मा न जानता हो, संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं बचा हुआ है। कारण यह है कि आत्मा प्रकाशस्वरूप है, वह सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, अर्थात् वह जिस पदार्थ पर रोशनी न डाले वह किसी के अनुभव में ही न आ सके। अणु से अणु पदार्थ भी उस के प्रकाश से बाहर नहीं है। अन्यथा किसी का पदार्थत्वेन बोध ही न होगा।

हे नचिकेता ! तुम ने जिस आत्मतत्त्व के विषय में पूछा था, जिसके बारे में देवताओं को भी सन्देह है, जो धर्माधर्म आदि से भिन्न पदार्थ है, जिसे विष्णु का परम पद कहते हैं और जिस से श्रेष्ठ कोई दूसरी वस्तु नहीं है. ऐसी यह वस्तु ही वह आत्मा है ॥ ३ ॥

विशेष—नील पीत आदि रूप, मधुर अम्ल आदि रस, सुरभि असुरभिरूप गन्ध, वर्णात्मक ध्वन्यात्मक शब्द, शीत ऊष्ण आदि स्पर्श और संसर्गजन्य सुख-विशेष, इन सब का अनुभव अपरोक्षसाक्षिभूत आत्मा से होता है। शङ्का होती है कि यह कथन ठीक नहीं है, लोक में तो यही बात प्रसिद्ध है कि इन्द्रियों से रूपादिकों का ज्ञान होता है, फिर आत्मा से इन की ज्ञानोपलब्धि क्यों कही ? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय आदि जड़ हैं, इन में रूपादिकों के प्रकाशन की सामर्थ्य नहीं है, अर्थात् इन्द्रियों की क्या मजाल है जो रूप आदि विषयों का अनुभव कर सकें। इन को तो इसके लिए आत्मा से शक्ति मिली है, तब इन्द्रियाँ क्या कर सकती हैं ? जो कुछ करने करानेवाला है वह आत्मा है। इसी से "एतेनैव—देहादिव्यतिरिक्तात्मनैव, विज्ञानस्वभावेन" ('ज्ञानस्वरूप आत्मा से') मन्त्र में ऐसा कहा गया है।

चुम्बक के बिना लोहा चलने में और सूर्य के बिना (प्रकाश बिना) आँखें देखने में समर्थ नहीं हो सकतीं, तो भी चुम्बक और सूर्य किसी को प्रेरणा नहीं करते कि वे चलें तथा देखें। इस से ये दोनों लोहे तथा नेत्र के साथ फलभागी नहीं होते। वैसे ही परमेश्वर चेतन जीव से, या इन्द्रियों से होनेवाली कृपा का निमित्त है पर विकारी न होने से लिप्त नहीं होता। रूप आदि सब उसी से निर्मित हैं, उस की सत्ता से इनका अस्तित्व है, इन में देखने आदि की सामर्थ्य का प्रदाता भी वही है। भाव यह है कि संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उस की सत्ता के बिना कायम रह सके, या कुछ कर सके ॥ ३ ॥

अति सूक्ष्म होने से आत्मतत्त्व का जानना बड़ा ही कठिन है. यह मानकर फिर उसी बात को दूसरी तरह से कहते हैं, यथा—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

अन्वयः—धीरः, स्वप्नान्तम्, जागरितान्तम्, येन, अनुपश्यति, (तम्) महान्तम्, विभुम्, आत्मानम्, मत्वा, न शोचति ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्वप्न अवस्था और जाग्रत् अवस्था, इन दोनों अवस्थाओं के विषय पदार्थों को जो देखता है, ऐसे उस महान विभु आत्मा को जान लेने पर धीर व्यक्ति शोक को प्राप्त नहीं होता ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—स्वप्न में जो पदार्थ दिखाई देते हैं और जागते हुए जो वस्तु दिखाई दे रही है, इन दोनों चीजों को जिस आत्मशक्ति की महिमा से देखा जाता है, विद्वान लोग उस सर्वव्यापक आत्मा को 'अहमस्मि' वा 'सोऽहम्' इस भावना से साक्षात् करते हैं। इस से वे शोकसागर से पार हो जाते हैं। जब कि आत्मवेत्ता को यह प्रतीत हो गया कि सोने जागने में जो कुछ हो रहा है वह आत्मदेव की महिमा का फल है, तो उसे 'मैं कर्ता हूँ' यह चिन्ता नहीं रहती। लोक में भी 'करने करानेवाला मैं हूँ' जिसे यह कर्तृत्वाभिमान होता है उसे ही प्रायः कष्ट का अनुभव करना पड़ता है। और जो यह समझते हैं कि करन करावनहार तो कोई और ही है, मैं तो उसी की सत्ता स्फूर्ति से जो कुछ बनता है कर रहा हूँ, तो उसे शोक आदि काहे को होगा ? बाग के हानि लाभ से मालिक का ही सम्बन्ध है, माली तो कर्तव्यपालक सेवक है ॥ ४ ॥

विशेष—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, जीव की ये तीन अवस्थाएँ हैं। सुषुप्ति में विषयज्ञान का सम्बन्ध नहीं रहता, इस कारण प्रकृत मन्त्र में उसका उल्लेख नहीं किया गया। जिस आत्मा के अस्तित्व से ही स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में विषयज्ञान होता है, उस सत्‌चित्‌आनन्दमय स्वरूप को जानकर विद्वान लोग कभी शोक मोह के जाल में नहीं फसते हैं। कहाँ तक कहें, ब्रह्मवेत्ता जहाँ रहता है वहाँ के वातावरण में शोक मोह की छाया भी नहीं फटकने पाती ॥ ४ ॥

जीव और ईश्वर के भेद का खण्डन करते हुए फिर उसी बात को कहते हैं कि—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत् ॥५॥

अन्वयः—यः, इमम्, मध्वदम्, जीवम्, आत्मानम्, अन्तिकात्, भूतभव्यस्य, ईशानम्, वेद, ततः, न विजुगुप्सते, एतत्, वै, तत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कर्मफलभोक्ता और प्राणादिकों के धारक जीवात्मा को अपने समीप, एवं भूत भविष्यत् (वर्तमान, त्रिकाल) का ईश्वर जानता है, वह आत्मा के रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। यह भी वही है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—स्व स्वरूप की उपलब्धि करानेवाला और जुगुप्सा-रूपी पाश से मुक्त करानेवाला, जीवात्मा और परमात्मा का अभेदज्ञान ही है। कर्म के फलों को भोगनेवाला जीवात्मा है। अविद्या से उपहित चैतन्य ही अन्तःकरण के साथ तद्भावापन्न होकर कर्मों का फल भोगता है। वह परमात्मा अन्तःकरण में व्याप्त होकर समीप ही है और वही भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का द्रष्टा, ज्ञाता एवं ईश्वर है। इस तत्त्व को जिस ने जान लिया है वह इस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। क्योंकि भयहेतु द्वैतज्ञान के अभाव से, फिर वह किस की किस से रक्षा करना चाहेगा ? हे नचिकेतः ! तुम ने जिस आत्मा के विषय में प्रश्न किया था, वह यह ही है ॥ ५ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में 'न विजुगुप्सते' यह पाठ आया है, इसका अभिप्राय यह है कि शोक, मोह, भय और जुगुप्सा आदि जीव के जितने बन्धन हैं, उन में से जीव के साथ जुगुप्सा और भय का बहुत निकट सम्बन्ध है। जीव सुख चाहता है, ऐसा करने पर उसे मान, अपमान, दुःख आदिकों का सामना करना पड़ता है। किसी समय जुगुप्सा, निन्दा तथा भय आदि से आत्मगोपन, अपनी रक्षा का उपाय करना पड़ता है। जब आत्मज्ञान की प्राप्ति तथा अविद्याजनित अज्ञान दूर होने से पुरुष भयरहित हो जाता है, तब उसकी जुगुप्सावृत्ति स्वयं नष्ट हो जाती है, जिस के अनुभव से अधिकारी भयरहित हो जाता है। यह भी वही है ॥ ५ ॥

हिरण्यगर्भ भी सर्वान्तर्यामी ब्रह्म ही है, यह कहते हैं कि—

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ॥६॥

अन्वयः—यः, पूर्वम्, तपसः, जातम्, अद्भ्यः, पूर्वम्, अजायत, गुहाम्, प्रविश्य, तिष्ठन्तम्, भूतेभिः, यः, व्यपश्यत, एतत्, वै, तत्, ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो जलादि पञ्च भूतों से पहले तप से उत्पन्न हुआ और भूतों के सहित बुद्धिरूप गुहा में प्रविष्ट होकर स्थित है, ऐसे हिरण्यगर्भ को जो देखता है वह ब्रह्म को देखता है। निश्चय यही वह ब्रह्म है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जो हिरण्यगर्भ जलादि पञ्चभूतों से पहले तपःस्वरूप परब्रह्म से प्रथम ही उत्पन्न हुआ है और कार्यकाररूप पञ्च भूतों के साथ देवता

आदिकों के शरीरों का उत्पन्न करके प्राणियों की हृदयाकाशरूप गुफा में प्रविष्ट होकर विराजमान हो रहा है; जो अविकारी इस तत्त्व को देखता है वह उस प्रसङ्ग में प्राप्त हुए ब्रह्म ही को देखता है। क्योंकि मिट्टी से उत्पन्न घड़ा और सोने से बना हुआ कुण्डल मिट्टी तथा सोना ही होता है। वैसे ही ब्रह्म से उत्पन्न हुआ हिरण्यगर्भ भी ब्रह्म ही है। यह हिरण्यगर्भ भी वही है॥ ६॥

विशेष—मन और वाणी की तो बात ही क्या है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि भी जहाँ नहीं पहुँच पाती, उस यावत्प्रपञ्चातीत केवल स्वानुभवगोचर परब्रह्मतत्त्व-विषयक, आत्मदेवविषयक विज्ञान को बार बार नाना प्रकार से समझाने की शैली का वेद में आश्रयण किया गया है। क्योंकि कोई ऐसा शब्द नहीं है जो उसे प्रकाशित करने में समर्थ हो सके॥ ६॥

फिर ज्ञानस्वरूप आत्मा को और तरह से कहते हैं कि—

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वै तत्॥७॥

अन्वयः—या, देवतामयी, अदितिः, प्राणेन, संभवति, या, भूतेभिः, व्यजायत, गुहाम्, प्रविश्य, तिष्ठन्तीम्, (यः पश्यति) एतत्, वै, तत्॥७॥

भावार्थ—देवतामयी जो अदिति प्राणरूप से भूतों के साथ उत्पन्न हुई है और बुद्धिरूप गुहा में प्रविष्ट होकर स्थित है, उस को जो देखता है; यह भी वही है॥ ७॥

वि० वि० भाष्य—जो सर्वदेवतास्वरूपिणी है, हिरण्यगर्भरूप प्राणस्वरूप से उत्पन्न होती है, जो पञ्चभूतों के साथ उत्पन्न हुई है, जो रूप आदि विषयों का भक्षण करने से अदिति कहाती है और जो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयरूपी आकाशस्थल में प्रविष्ट होकर स्थित है; उस को जो देखता है वह उसके कारणभूत ब्रह्म को ही देखता है। यह ही वह ब्रह्म है॥ ७॥

विशेष—इस मन्त्र में देवताओं की माता अदिति को लक्ष्य करके नचिकेता को यम ने ब्रह्म का बोध कराया है। अभिप्राय यह है कि समाधि के अभ्यास से इन्द्रियों का दोष नष्ट हो जाता है, तब ब्रह्मज्ञान की ओर झुकानेवाली, माता के तुल्य कल्याणप्रदायिनी, प्रकाशस्वरूपा सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न होती है। प्रकाशस्वरूपा होने के कारण इसे देवतामयी कहा गया है, इसी को अखण्डा चित्शक्ति भी कहते

हैं। यह अखण्डा चितशक्ति शब्दादि विषयों को अदन (भक्षण) कर जाती है, इस से इसको अदिति कहा है क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने से विषयवासना विलीन हो जाती है। मन्त्र में यह भी कहा गया है कि 'अदिति प्राणरूप से भूतों के साथ उत्पन्न हुई है' इस का अभिप्राय यह है कि प्राण से घटित (युक्त) सूक्ष्म शरीरोपाधिक हिरण्यगर्भरूप से वह उत्पन्न हुई है ॥ ७ ॥

विराट्रूप अग्नि भी ब्रह्म ही है, यह कहते हैं, यथा—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

अन्वयः—गर्भिणीभिः, सुभृतः, गर्भः, इव, अरण्योः, निहितः, जातवेदाः, अग्निः, मनुष्येभिः, जागृवद्भिः, हविष्मद्भिः, दिवे दिवे, ईड्यः, एतत्, वै, तत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो जातवेदा अग्नि गर्भिणी स्त्रियों द्वारा उत्तम उपायों से पोषित किये गये गर्भ की तरह दोनों अरणियों के मध्य में अवस्थित है, तथा जो सावधान और हवनसामग्रीयुक्त मनुष्यों द्वारा नित्य स्तुति किये जाने योग्य है, यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—शुद्ध अन्न, फल तथा दुग्धादिकों का भोजन करके जैसे गर्भिणी स्त्रियाँ गर्भ को परिपुष्ट एवं सुविचार, अव्यग्रता तथा विश्रामादि उपायों से सुरक्षित रखती हैं, वैसे ही योगाभ्यासपरायण पुरुष और यज्ञकर्ता ऋत्विक् इस अग्नि को अरणि में (इस नामवाले नीचे ऊपर के काष्ठ, जिनसे अग्निमन्थन किया जाता है, उन में) स्थापित करते हैं। यह अभिप्राय है कि अध्यात्मयोगकाल में योगी पुरुष जिस को अध्यात्मरूप से अपने हृदयाकाश में छिपा रखते हैं और जब वे जागते रहते हैं अर्थात प्रमाद, आलस्यरहित कर्मिष्ठ होकर प्रतिदिन घृत आदि हवन की सामग्री से जिस अग्नि की स्तुति करते हैं, वह जातवेदा ही ब्रह्म है ॥ ८ ॥

विशेष—जैसे अग्नि अरणि नामक काष्ठ में व्याप्त है किन्तु बिना मथे नहीं निकलता, उसी तरह अन्तःकरण में व्याप्त परमेश्वर जप तप योगाभ्यासादि साधन किये बिना प्रकट नहीं होता। जैसे स्त्रियाँ गर्भ के प्रतिपालन की चिन्ता रखती हैं

वैसे ही जिज्ञासु को हृदयस्थ परमात्मा का ध्यान रखना उचित है। ईश्वर अग्नि स्वरूप है क्योंकि अग्नि की तरह वह सब का पोषक है, उसी अग्निस्वरूप परमात्मा को ब्रह्म मानकर उपासकों द्वारा उस की प्रति दिन स्तुति की जाती है ॥ ८ ॥

अब हिरण्यगर्भ के अवयवरूप अग्नि का वर्णन करके 'और देवता भी हिरण्यगर्भ के अङ्गभूत हैं' यह कहते हैं कि—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥९॥

अन्वयः—सूर्यः, यतः, च, उदेति, यत्र, च, अस्तम्, गच्छति, सर्वे, देवाः, तम्, अर्पिताः । तत्, कश्चन, न उ अत्येति, एतत्, वै, तत् ॥ ९ ॥

भावार्थ—जहाँ से सूर्यदेव उदित होते हैं और जहाँ अस्त हो जाते हैं, सब देवतागण उसी को आश्रय करके हैं, कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वही यह ब्रह्म है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस प्राणस्वरूप आत्मा से सूर्य उदय होता है और जिस प्राणस्वरूप आत्मा में अस्त हो जाता है, उसी आत्मा में सब देवताओं का प्रवेश है। अर्थात् जैसे रथ के पहिये की नाभि में आरे गुँथे रहते हैं, उसी तरह सब देवताओं का एक मात्र आश्रय वही है। उस सर्वस्वरूप ब्रह्म का कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता, अर्थात् इस आत्मस्वरूप से भिन्न कोई ऐसा है ही नहीं, जो इस से आगे बढ़ जाय ॥ ९ ॥

विशेष—इस मन्त्र में ब्रह्म की उस नियामिका शक्ति का वर्णन किया गया है, जिस के भय से सूर्यदेव को ठीक समय पर उदय एवं नियत समय पर अस्त होने के लिए बाध्य होना पड़ता है, और इन्द्र, रुद्र, वसु आदि देवतागण अपने अपने पद पर रहते हुए स्व स्व कार्य सम्पादन में लगे रहते हैं। उस अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक से, जिस के अवलम्बन से जगतचक्र घूमा करता है, जगत् में ऐसा और कौन दूसरा है जो बढ़कर हो ॥ ९ ॥

पहले जो ब्रह्म को सर्वात्मरूप कहा है सो ठीक नहीं है, क्योंकि उपहित चैतन्य के संसारी होने से और ब्रह्म के संसाररहित होने से विरुद्धधर्मवालों की एकता नहीं हो सकती। इस शङ्का का उत्तर यह है कि विरुद्धधर्मता तो उपाधि से प्रतीत है, वास्तव में तो दोनों एक हैं। अतः कोई आपत्ति नहीं है; यह कहते हैं कि—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

अन्वयः—इह, यत्, अमुत्र, तत्, एव। यत्, अमुत्र, इह, तत्, अनु। यः, इह, नाना, इव, पश्यति, सः, मृत्योः, मृत्युम्, आप्नोति ॥ १० ॥

भावार्थ—जो तत्त्व इस में भासता है अर्थात् देहेन्द्रियसंघात में प्रतीत होता है वही दूसरी जगह, याने देहादि से परे भी है। जो इस में नाना भाव देखता है अर्थात् भेद दर्शन करता है वह मृत्यु से मृत्यु को अर्थात् बार बार जन्म मरण को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे नचिकेतः! जो परमात्मा तुम्हारे शरीर में, हमारे देह में और अन्य जीवों के शरीरों में साक्षिरूप से स्थित है, वही परमेश्वर परोक्ष ईश्वरशरीर में तथा हिरण्यगर्भ में वर्तमान है। एवं जो चेतन ईश्वरहिरण्यगर्भादि रूप शरीरों में स्थित है वही साक्षिरूप से हम लोगों के देह में भी विद्यमान है। अन्तःकरण आदि उपाधि के स्वभाव और भेददृष्टि के कारण अविद्या से मोहित हुआ जो मनुष्य इस एकरस ब्रह्म में 'मैं ब्रह्म से अन्य हूँ और ब्रह्म मुझ से भिन्न है' इस भेदभाव को देखता है, वह मरण से मरण को अर्थात् बार बार जन्ममरण के चक्कर में पड़ता है ॥ १० ॥

विशेष—जो ब्रह्म कार्यकारण उपाधि से युक्त हुआ, अज्ञानी लोगों को सांसारिक धर्मवाला प्रतीत होता है, वही अपने स्वरूप में स्थित हुआ सकल संसारी धर्मों से रहित है। जो ब्रह्म शुद्धरूप से स्थित है, वही नित्य ज्ञानघन, यहाँ नानारूप कार्यकारण उपाधि से युक्त भासता है। अभिप्राय यह है कि जिज्ञासु पुरुष को चाहिए कि 'ब्रह्म एकरस है' ऐसा ध्यान करे। ब्रह्म को नानारूप से माननेवाले लोग व्यामोह (नासमझी) में पड़े रहते हैं। जो मनुष्य यह समझेगा कि मेरा अभिमत ईश्वर और है और दूसरों का माना हुआ ईश्वर जुदा ही है, ऐसी धारणा करनेवाला व्यक्ति कभी शान्ति नहीं पा सकता। यही कारण है कि उस के आवागमनचक्र का गतिरोध नहीं हो सकता ॥ १० ॥

ब्रह्म की प्राप्ति का साधन कहते हैं कि—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

अन्वयः—मनसा, एव, इदम्, आप्तव्यम्, इह, ब्रह्मणि, किंचन नाना, नास्ति, यः, इह, नाना, इव, पश्यति, सः, मृत्योः, मृत्युम् आप्नोति ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन से ही इस तत्त्व को प्राप्त करना चाहिए, इस में नानात्व कुछ भी नहीं है। जो इस में नानात्व जैसा देखता है वह मृत्यु को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—किसी आचार्य के द्वारा प्रदत्त शास्त्र के उपदेश से और महापुरुषों के सत्संग से मन को पहले निर्मल करना चाहिए। उस शुद्ध मन से एकता के अनुभव के द्वारा वह एकरस ब्रह्म प्राप्त हो सकता है। आत्मा ही वह ब्रह्म है, उस से अन्य नहीं है। आत्मा में नानात्व याने भेद की कल्पना नहीं हो सकती और जो पुरुष अविद्या से अन्धा होकर इस ब्रह्म में भेदभाव को देखता है, वह बार बार जन्म मरण के फन्दे में फसता है ॥ ११ ॥

विशेष—बुद्धि के शोधन करने के तो अनेक उपाय हैं पर ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति के बहुत से यत्न नहीं हैं। इसका तो देशिक आचार्यों द्वारा उपदिष्ट प्रति दिन सत्शास्त्रानुशीलन ही एक मात्र प्रधान उपाय है। जो पुरुष अनेक उपायों से ब्रह्म में भेद को देखता है उसको ब्रह्मज्ञान प्राप्त होना ऐसा ही असम्भव है जैसे रामेश्वर की ओर जानेवाले मनुष्य को बद्रीनारायण धाम की प्राप्ति असंभव है ॥ ११ ॥

फिर ब्रह्म जीव की एकता को दृढ़ करते हैं कि—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥१२॥

अन्वयः—अङ्गुष्ठमात्रः, पुरुषः, मध्ये, आत्मनि, तिष्ठति। भूतभव्यस्य, ईशानः, ततः, न विजुगुप्सते, एतत्, वै, तत् ॥ १२ ॥

भावार्थ—अङ्गुष्ठ के बराबर पुरुष शरीर के मध्य में स्थित है, वही भूत, भविष्यत् (वर्तमान) का ईश्वर है। उसको जान लेने के अनन्तर पुरुष अपने शरीर की रक्षा करना नहीं चाहता। यह भी वही ब्रह्मतत्त्व है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—हमने महात्माओं के मुख से सुना है और ग्रन्थों में देखा भी है कि हृदयकमल का आकार अङ्गुष्ठपरिमाण का है। अत एव उसके

छिद्र में स्थित अन्तःकरण भी अँगूठे जैसा है और उस अन्तःकरण की उपाधिवाला पुरुष भी अङ्गुष्ठपरिमाणवाला कहा जाता है। वह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष शरीर के बीच में वर्तमान है और कालत्रय का नियामक है। उसको जाननेवाला निर्भय होने के कारण अपनी रक्षा की परवाह नहीं करता। वही परब्रह्म है ॥ १२ ॥

विशेष—परमात्मा जगत् का स्वामी और सर्वत्र व्यापक है, तो भी दर्पण में रूप की तरह जिज्ञासु को उसे शुद्ध अन्तःकरण से देखने का यत्न करना चाहिए। ऐसा करने से उसे अभ्यास के बढ़ जाने के कारण सर्वत्र ही ब्रह्मदर्शन होने लगेगा। अङ्गुष्ठमात्र पुरुष का दर्शक मुमुक्षु आगे चलकर विश्व मात्र में उस पुरुष का दर्शनाधिकारी हो जायगा ॥ १२ ॥

जीव की अनित्यत्व शङ्का का निराकरण करते हैं कि—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वै तत् ॥१३॥

अन्वयः—अङ्गुष्ठमात्रः, पुरुषः, अधूमकः, ज्योतिः, इव, भूतभव्यस्य, ईशानः, सः, एव, अद्य, श्वः, उ, एतत्, वै, तत् ॥ १३ ॥

भावार्थ—धूएँ से रहित दीपज्योति की तरह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष भूत भविष्य, वर्तमान का शासक है। वही आज वतमान काल में है और वही कल भविष्य में भी रहेगा। यह भी वही है ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—अङ्गुष्ठमात्र पुरुष को ज्योतिःस्वरूप कहा गया है। प्रत्येक लौकिक ज्योति उष्ण हुआ करती है, किन्तु यह तेज शान्त है। ज्योतिओं में प्रायः धूम की उपाधि हुआ करती है, इस में दीपशिखा की तरह यह दोष नहीं है। अन्य तेज बुझ जाते हैं लेकिन यह जैसा आज कल है वैसा ही भविष्य में भी रहता है, और निश्चय यही वह ब्रह्मतत्त्व है ॥ १३ ॥

विशेष—जैसे धूआँ अग्नि से पैदा होकर अग्नि को ढक लेता है, वैसे ही प्रकृति ब्रह्म से प्रकट होकर उसके स्वरूप को ढक लेती है। यह माया का आवरण ही जीव के बन्धन का कारण होता है। इसी बन्धनरूप अन्धकार को दूर करने के लिए अङ्गुष्ठमात्र पुरुष के ज्योतिर्मय स्वरूप का वर्णन किया गया है। जैसे समुद्र में ज्योतिस्तम्भ के सहारे से जहाज विपथगामी नहीं होने पाते, ऐसे ही जीवननौका को

संसारसागर में डूबने से बचाने के लिए आज, कल या कालान्तर में कभी न बुझनेवाले तेज का आश्रय लेने का उपदेश प्रकृत मन्त्र में दिया गया है ॥ १३ ॥

भेदवादियों को संसार की प्राप्ति और अभेदवादियों को मोक्ष प्राप्त होता है, इस विषय का दो मन्त्रों से उपसंहार करते हैं, यथा—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

अन्वयः—यथा, उदकम्, दुर्गे, वृष्टम्, पर्वतेषु, विधावति, एवम्, धर्मान्, पृथक्, पश्यन्, तान्, एव, अनुविधावति ॥ १५ ॥

भावार्थ—जिस तरह ऊँची जगह बरसा हुआ जल पहाड़ के निचले भागों में इधर उधर बह जाता है, उसी प्रकार आत्माओं को भिन्न देखनेवाला व्यक्ति उन्हीं को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे पर्वतों के ऊँचे शिखर पर बरसा हुआ जल नीचे की तरफ बहकर इधर उधर बिखर जाता है, उसी प्रकार जीव प्रकृतिवैचित्र्य के कारण एक अद्वितीय आत्मा में नानात्व को देखकर लक्ष्यच्युत हो जाता है। अनन्तर उन उन योनियों को प्राप्त कर कैवल्यपद से वञ्चित हो जाता है ॥ १४ ॥

विशेष—जैसे पर्वत के ऊपर बरसा हुआ पानी नीचे की ओर बहकर अनेक नदी नालों में परिणत हो जाता है, उसी तरह जो मनुष्य आत्मा में नानात्व की कल्पना करता है, अर्थात् पुत्र, कलत्र, हस्ती, अश्व आदिकों में आत्मत्वेन आस्था रखता है, याने उन्हीं को सुखदायी मान लेता है, वह उन्हीं उन्हीं के रूप में परिणत हो जाता है। अर्थात् अनेक योनियों में पड़ जाता है। भाव यह है कि जो आत्मा के धर्म सत्त्वादि गुणों को भिन्न भिन्न शरीरों में देखता है वह उनके पीछे दौड़ता रहता है, अर्थात् उन उन शरीरों को पाता है ॥ १४ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

अन्वयः—हे गौतम, यथा, शुद्धम्, उदकम्, शुद्धे, आसिक्तम्, तादृक्, एव, भवति, विजानतः, मुनेः, आत्मा, एवम्, भवति ॥ १५ ॥

भावार्थ—हे गौतम ! जिस प्रकार शुद्ध जल में मिलाया हुआ साफ पानी वैसा ही हो जाता है, उसी तरह ज्ञानवान् मुनि का आत्मा हो जाता है ॥ १५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जैसे आकाश से बरसा हुआ शुद्ध जल शुद्ध (साफ़) और सरल स्थान में पड़ने पर शुद्ध और एकरस रहता है, वैसे ही एकत्वदर्शी, मनन करनेवाले पुरुष की दृष्टि में आत्मा एक ही रूप रहता है। अर्थात् शुद्धान्तःकरण महात्मा का चिन्तन किया हुआ आत्मा वैसा ही है, जैसा व्यापक आत्मतत्त्व ॥ १५ ॥

विशेष—भगवद्भक्ति और सदाचार द्वारा अपने शरीर का मल तथा मन का विक्षेप दूर करता हुआ अधिकारी मुनि तत्त्वज्ञान द्वारा अपनी बुद्धि का आवरण-नाश और फिर ब्रह्मसाक्षात्कार करके इस तरह ब्रह्मरूप ही हो जाता है, जैसे आकाश से गिरा हुआ जलबिन्दु साफ जल में पड़कर उसी की तरह हो जाता है। इस प्रकरण के कथन का यह अभिप्राय है कि जिज्ञासु को आत्मा के विषय में नास्तिकों की कुदृष्टि, कुतर्कियों की भेददृष्टि और संसारियों के आक्षेप की कुछ भी परवाह न करके हजारों माता पिता तथा आचार्यों से भी अधिक हितकारी श्री वेद भगवान् के उपदेश किये हुए आत्मा की एकता के ज्ञान का आदर कर, उसे अवश्य आचरण में लाते हुए आत्मोद्धार करने में कभी न चूकना चाहिए ॥ १५ ॥

चतुर्थ वल्ली समाप्त।

अथ पञ्चम वल्ली

पहले जिस ब्रह्म के स्वरूप का कथन किया गया है, वह अति सूक्ष्म होने के कारण कठिनता से जाना जा सकता है। अतः फिर भी उपायान्तर से उस का निश्चय करने के लिए यह वल्ली प्रारम्भ की जाती है। इस में 'त्वम्' पदार्थ के साथ ब्रह्म का अभेद प्रतिपादन करने के इच्छुक यमराज देहादिसंघात से आत्मा को अलग करके दिखाते हैं कि—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत् ॥१॥

अन्वयः—एकादशद्वारम्, पुरम्, अवक्रचेतसः, अजस्य, (अस्ति, तम्) अनुष्ठाय, न शोचति, विमुक्तः, च, विमुच्यते, एतत्, वै, तत् ॥१॥

भावार्थ—उस नित्य, विज्ञानस्वरूप, जन्मरहित का (आत्मा का) ग्यारह दरवाजोंवाला नगर है। उस (आत्मा) का ध्यान करके विवेकी मनुष्य सोच नहीं करता, और बन्धनरहित होकर मुक्त हो जाता है। यानें इस शरीर के रहते ही कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। यह भी वही है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—आत्मा में जन्म, जरा आदि का विकार नहीं है तथा यह नित्य प्रकाशस्वरूप है, विज्ञानस्वरूप है। यह ग्यारह (दोनों नेत्र, दोनों कान, दोनों नासिका के छेद, मुख, नाभि, मूत्रद्वार, मलद्वार और ब्रह्मरन्ध्र) दरवाजोंवाले शरीररूपी नगर में राजा के समान वर्तमान है। सम्पूर्ण सामग्रियों से युक्त ऐसे इस नगर के स्वामी का जो पुरुष ध्यान करता है, उस के ऊपर शोक का प्रभाव नहीं पड़ सकता और वह संसारबन्धन से छूट जाता है। क्योंकि उस की अविद्या की रची हुई वासना और कर्मों के बन्धन के जाल कट जाते हैं। निश्चय करो कि यह वही ब्रह्म है जो तुम ने पूछा था॥ १॥

विशेष—मन्त्र में 'विमुक्तश्च विमुच्यते' जो मुक्त है वह मुक्त हो गया, ऐसा कहा है। इस का भाव यह है कि आत्मा तो नित्य मुक्त है, कदाचित् भी आत्मा का वास्तविक बन्धन हुआ ही नहीं। परन्तु अज्ञान से अपने में कर्तृत्व भोक्तत्व का जो बन्धन प्रथम मान लिया था, अब ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से उस अज्ञान को निवृत्त करके वह सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यह अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है किन्तु प्राप्त की प्राप्ति है। लोक में भी देखा जाता है कि कण्ठ में स्थित आभूषण को भूलकर कोई अन्वेषण करता है, फिर किसी के कहने या आलोक आदि से मिल जाने पर आभूषण में प्राप्त की प्राप्ति मानी जाती है॥ १॥

'पुरम्' इस एक वचन से प्रतीत होता है कि आत्मा एक ही शरीर में रहने क कारण एकदेशी है। इस आपत्ति की शङ्का को दूर करने के लिए कहते हैं कि आत्मा सब शरीरों में वर्तमान होने से सर्वव्यापक है, यथा—

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥ २॥

अन्वयः—हंसः, शुचिषत्, वसुः, अन्तरिक्षसत्, होता, वेदिषत्,

अतिथिः, दुरोणसत्, नृषत्, वरसत्, ऋतसत्, व्योमसत्, अब्जाः, गोजाः, ऋतजाः, अद्रिजाः, (अपि सन्) ऋतम्, बृहत् ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा हंस, शुचिषत्, वसु, अन्तरिक्षसत्, होता, वेदिषत्, अतिथि, दुरोणसत्, नृषत्, वरसत्, ऋतसत्, व्योमसत्, अब्जा, गोजा, ऋतजा, अद्रिजा और सत्यस्वरूप तथा महान् है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—आत्मा सब प्रकार के पुरों में रहता है, यह मत समझो कि वह केवल शरीररूपी नगर में ही रहता है। जैसे,—यह आत्मा हंस है, अर्थात् आत्माकारवृत्ति में स्थित होकर जो अज्ञान और उस के कार्य का नाश करे, अथवा हनन अर्थात् सर्वत्र गमन करे, वह हंस कहाता है। यह आत्मा शुचिषत् है, अर्थात् स्वर्ग में रहनेवाला देवतारूप है। यह धन की तरह सब प्राणियों का प्रिय होने से वसु है। अन्तरिक्ष में गमन करनेवाला वायु है, यज्ञ करनेवाला होता, यजमान है, वेदिषत् अर्थात् यज्ञकुण्ड में रहनेवाला अग्नि है। अथवा यह आत्मा होता यानी अग्नि है, वेदिषत् यानी पृथिवीरूपी वेदि में स्थित रहनेवाला है। यह अतिथि है। जिस मनुष्य के गोत्र कुल का पता न हो और जो मध्याह्न आदि के समय गृहस्थ के घर में अकस्मात् भोजनादि के लिए आ जाय, उसको अतिथि कहते हैं। यह आत्मा सोमरूप से कलश में स्थित है, अथवा अतिथि, ब्राह्मण होकर दुरोणसत् यानी यज्ञगृह में स्थित है। नृषत् यानी मनुष्य में स्थित है। वरसत् यानी देवताओं में स्थित है। ऋतसत् यानी सत्य में वा यज्ञ में स्थित है। व्योमसत् अर्थात् आकाश में स्थित है। अब्जा यानी जल में उत्पन्न मत्स्य मकरादिरूप है, वा शुक्तिशङ्खादिरूप है। गोजा यानी पृथिवी से उत्पन्न यव व्रीहि आदि उद्भिज्ज अङ्कुरादिरूप है। ऋतजा यानी ऋत, कर्मफलों से उत्पन्न देहादिरूप है। अद्रिजा यानी पर्वतों से निकली हुई नदी आदिरूप है और वह सर्वस्वरूप आत्मा ऋत, सत्यस्वरूप अथवा बाधरहित एवं बृहत्, महान् है ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में जो शब्द कहे गये हैं उन से ईश्वर की सर्वव्यापकता का बोध दृढ़ कराया गया है। यम कहते हैं कि हे नचिकेतः! जो अधिकारी ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति अर्थात् यावत् सृष्टिप्रपञ्च को एक रूप में देखने के लिए समर्थ होता है, वही स्व स्वरूप की उपलब्धि कर सकता है ॥ २ ॥

उक्त आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति में हेतु कहते हैं कि—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

अन्वयः—(यः) प्राणम्, ऊर्द्ध्वम्, उन्नयति, अपानम्, प्रत्यक्, अस्यति, मध्ये, आसीनम्, वामनम्, (तम्) विश्वेदेवाः, उपासते ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो प्राणवायु को ऊपर ले जाता है और अपान को नीचे की तरफ ढकेलता है, हृदय में स्थित उस भजन करने योग्य की सब देव (इन्द्रियाँ) उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! यह आत्मा सब के हृदय में विराजमान होकर प्राणवायु को ऊपर ले जाता है और अपानवायु को नीचे की ओर खींच लेता है। अङ्गुष्ठपरिमाणवाले हृदयदेश में स्थित, परिच्छिन्न परिमाणवाले उस परमात्मा की सकल देवता उपासना करते हैं। अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता राजा को प्रजा, मन्त्री आदि द्वारा दिये हुए उपहार की तरह रूप, रस आदि की ज्ञानस्वरूप भेट देकर इस आत्मा की उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—जिस की शक्ति से प्राण और इन्द्रियाँ अपने अपने व्यापार करने में समर्थ हो रही हैं तथा प्राणादिसमूह जिसके अधीन हैं, वह उन सब से पृथक् है। वह शरीर में आकर्षण विकर्षणशक्ति की प्रत्यक्ष क्रियास्वरूप प्राण और अपान का संचालन करनेवाला है। सब इन्द्रियों का द्रष्टा, पिण्डराज्य का अधीश्वर और नियामक वही परमात्मा है; जो पहले पूछा गया था ॥ ३ ॥

आत्मा देहादि की स्थिति का कारण है, अतः उस की देहादिकों से पृथक्ता दिखाते हैं, यथा—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥४॥

अन्वयः—शरीरस्थस्य, अस्य, देहिनः, विस्रंसमानस्य, देहात्, विमुच्यमानस्य, अत्र, किम्, परिशिष्यते । एतत्, वै, तत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—शरीर में स्थित रहनेवाले इस देही के भ्रष्ट (स्थानच्युत) हो जाने पर, यानी इस शरीर से मुक्त हो जाने पर यहाँ क्या बाकी रह जाता है ? अर्थात् इस शरीर में कुछ भी नहीं रह जाता। यही वह ब्रह्म है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे राजा के नगर से चले जाने पर उस के मन्त्री, भृत्य आदि उसके साथ चले जाते हैं, ऐसे ही इस आत्मा के शरीररूपी पुर से चले जाने पर इन्द्रिय, प्राण आदि प्रपञ्च भी साथ ही विदा हो जाते हैं। फिर इस शरीरनगर में कुछ भी ठाट बाट नहीं रह जाता, न इस में पहले जैसी शोभा ही रहती है। यह शरीरपुरी भी आत्मा के बिना बीरान हो जाती है, इसे जला दिया जाता है। हे नचिकेता ! यही वह आत्मा है, जो तुम्हारे प्रश्न का लक्ष्य है ॥ ४ ॥

विशेष—कई एक लोग तो ऐसे हैं जो देह को ही सब कुछ मानते हैं, और कुछ पुरुष ऐसे हैं जो आत्मा को तीनों शरीरों से पृथक् समझते हैं। उन को देह देही का सम्बन्ध दिखाकर आत्मा का अनुभव कराया गया है। जैसे—जब देही अर्थात् देहस्थ चेतन आत्मा स्थूल शरीर को छोड़ता हुआ सब शरीरों अर्थात् सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर से अलग हो जाता है, तो कुछ भी अवशेष नहीं रह जाता। भाव यह है कि शरीरातिरिक्त जो कुछ है सो वही आत्मा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब कुछ भी नहीं रह जाता, उस समय जो बचता है, जिस से यह जाना जाता है कि अब कुछ नहीं रहा, वही आत्मतत्त्व है, सब का साक्षी है ॥ ४ ॥

प्राणादि वायु के निकल जाने से ही यह शरीर नष्ट हो जाता है, उस से भिन्न आत्मा के निकल जाने से नहीं। क्योंकि प्राणादि के कारण ही मनुष्य जीवित रहता है; ऐसी शङ्का न हो इस के लिए कहते हैं कि—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥

अन्वयः—कश्चन, मर्त्यः, प्राणेन, न जीवति, अपानेन, न, इतरेण, तु, जीवन्ति, यस्मिन्, एतौ, उपाश्रितौ ॥ ५ ॥

भावार्थ—कोई भी मनुष्य प्राण से जीवित नहीं रहता और न अपान से ही, किन्तु ये दोनों जिस के आश्रित हैं ऐसे किसी अन्य के द्वारा जीवित रहता है ॥५॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! यह शरीर प्राण अपान आदि वायु से और चक्षु आदि इन्द्रियों से जीवित नहीं रह सकता। जब कि ये सब स्वयं ही उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले हैं तब दूसरों को कितने दिन तक जीवित रख सकते हैं ? फिर यह भी बात है कि ये सब जड़ हैं, इन सब की स्थिति तथा अपने अपने व्यापार में प्रवृत्ति रथ की तरह बिना चेतनदेव के नहीं हो सकती। हाँ, ये केवल दूसरे के

प्रयोजन साधन मात्र को हैं। अतः जिस के लिए इनकी उत्पत्ति हुई है उस की सत्ता बिना ये टिक नही सकते। जैसे घर आदि मनुष्य के प्रयोजन के साधन हैं, किन्तु मनुष्य इन की रक्षा का साधन न करे तो ये नष्ट हो जाते हैं। ऐसे ही प्राण और इन्द्रिय आदि भी किसी नित्य पदार्थ के आश्रय के बिना रह ही नहीं सकते। वह अविनाशी आश्रय आत्मा है, जिस के सहारे से प्राणादि जी रहे हैं ॥ ५ ॥

विशेष—उचित् सत्ता के अवलम्बन से मनुष्य जीवित रहता है, प्राण अपान के सहारे से नहीं। साधारण लोग यह जानते और कहते भी हैं कि प्राण अपान का मन्द होना ही मनुष्य का मरना है, वे निर्बीज समाधिस्थ योगी को भी मरा हुआ समझ बैठते हैं। यह ठीक नहीं, क्योंकि प्राण अपान का व्यापार स्थगित होने पर भी उनके आधार जीवात्मा के विद्यमान रहते हुए मनुष्य जीता ही रहता है। प्राण अपान तो स्वयं जड़ हैं, उन्हें चेतनशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है, यही वह आत्मा है ॥ ५ ॥

देह आदिक संघात से भिन्न कहे हुए आत्मा को दूसरी तरह कहने की प्रतिज्ञा करते हैं, यथा—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे गौतम, हन्त, ते, इदम्, गुह्यम्, सनातनम्, ब्रह्म, प्रवक्ष्यामि। आत्मा, मरणम्, प्राप्य, च, यथा, भवति ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे गौतम ! यह गोपनीय, सनातन, नित्य ब्रह्म तुम से कहता हूँ और मृत्यु के बाद आत्मा ब्रह्मज्ञान न होने से जैसा हो जाता है, सो भी कहता हूँ ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! जिसको जान लेने से अधिकारी संसार से उपराम हो जाता है उस गोपनीय सनातन ब्रह्मतत्त्व का मैं अब तुम से वर्णन करता हूँ। जिसको न जानने से मर जाने के बाद प्राणी की क्या अवस्था होती है, सो भी मैं कहूँगा ॥ ६ ॥

विशेष—यमराज कहते हैं कि हे गौतमवंशावतंस नचिकेतः ! मैं अब तुमको मुख्य कर सनातन ब्रह्म का ज्ञान ही कहूँगा। जिसको न जानकर मनुष्य प्रति दिन संसारचक्र में भ्रमता रहता है, उस को भी कहूँगा। यह सब तुम सुनो ॥ ६ ॥

संक्षेप से प्राणी की उत्पत्ति की रीति को कहते हैं कि—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—अन्ये, देहिनः, यथाकर्म, यथाश्रुतम्, शरीरत्वाय, योनिम्, प्रपद्यन्ते, अन्ये, स्थाणुम्, अनुसंयन्ति ॥ ७ ॥

भावार्थ—कितने ही देहधारी शरीर धारण करने के लिए अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार किसी न किसी योनि को प्राप्त होते हैं, और कोई कोई स्थावर भाव को प्राप्त हो जाते हैं। ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः! यह जीव जिस प्रकार शरीर का त्याग करके अपने अज्ञान से क्लेश को प्राप्त होता है उस का वर्णन सुनो। जिनका पुण्य विशेष है और पाप न्यून है वे प्राणी मनुष्यादि जङ्गम देह को प्राप्त होते हैं। अर्थात् कोई अविद्यान्ध जीव जङ्गमशरीर को धारण करने के लिए रज वीर्य के साथ योनिद्वार में प्रविष्ट होते हैं। जिन के पाप अधिक हैं एवं पुण्य कम है, वे पश्वादि शरीर को धारण करते हैं और जिन में पापकर्म की अति अधिकता है वे वृक्षादि स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं। मनुष्य अपने कर्म तथा वासना के अनुसार इस संसार में घटीयन्त्र की तरह नीचे ऊपर चक्कर काटता रहता है। बिना ब्रह्मज्ञान के इस जन्ममरणरूप संसार से कदापि मुक्त नहीं हुआ जा सकता ॥ ७ ॥

विशेष—जिस को आत्मा का अनुभव प्राप्त नहीं हुआ है ऐसा बद्ध जीव मृत्यु के अनन्तर अपने अपने सत् और असत् कर्म तथा उत्तम एवं अधम ज्ञान के तारतम्य के अनुसार अनेक लोकों में घूमता हुआ पुनः इस मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करने के लिए या तो योनिद्वार में प्रवेश करके स्थूल शरीर को प्राप्त करता है, अथवा स्थावर भाव को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

'ब्रह्म गुह्य है' इस प्रतिज्ञा को कहते हैं, यथा—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

अन्वयः—यः, एषः, पुरुषः, सुप्तेषु, कामम् कामम्, निर्मिमाणः, जागर्ति, तत्, एव, शुक्रम्, तत्, ब्रह्म, तत्, एव, अमृतम्, उच्यते। सर्वे, लोकाः, तस्मिन्, श्रिताः, कश्चन, उ, तत्, न अत्येति, एतत्, वै, तत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्राणादिकों के सो जाने पर जो यह पुरुष इच्छानुसार काम्य-विषयों को निर्माण करता हुआ जागता रहता है, वही शुक्र (शुद्ध) है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसी में आश्रित हैं, उसका कोई भी अतिक्रम नहीं कर सकता, यह भी वही है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! स्वप्नावस्था में इन्द्रिय आदिक सो जाते हैं, किन्तु यह स्वयंज्योति आत्मा जागता तथा सबका प्रकाश करता रहता है। स्वप्नावस्था में अविद्या के साथ मिलकर यह आत्मा ही अनेक पदार्थों की रचना किया करता है। यह साक्षी ही शुद्ध रूप है। स्वप्न में जो अनेक पदार्थ स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्रादिक उत्पन्न हुए हैं, उनका आत्मा से किञ्चित् भी संबन्ध नहीं है, और यही अद्वितीय ब्रह्मरूप है, मोक्षरूप है। भूः आदि चौदह लोक तथा उनमें स्थित जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज सम्पूर्ण जीव उसी के आश्रय से विद्यमान हैं। उसके विना कोई टिक ही नहीं सकता, न उससे कोई अधिक है। इसे ही वास्तविक ब्रह्म जानो ॥ ८ ॥

विशेष—श्रुति भगवती वाणी, मन और बुद्धि से अतीत आत्मा को नाना प्रकार से समझाने का यत्न करती हुई जीव की अज्ञानदशा के वर्णनप्रसङ्ग से उसी तत्त्वातीत पद को लक्ष्य करा रही है। जीव के स्वप्नावस्था प्राप्त कर लेने पर जो चेतन जागता रहता है वही आत्मा है। "मैं बहुत सुख से सोया" यह अनुभव करनेवाला सुषुप्तिदशा में भी ज्ञानरूप से स्थित जो चेतन है, वही ब्रह्म है। विषयादि के निर्मातारूप से इस मन्त्र में जिसको लक्ष्य कराया गया है, सर्वाश्रय होने से उसका ऐसा होना सम्भव ही है। अघटितघटनापटीयसी, सर्वशक्तिमयी ब्रह्मप्रकृति ब्रह्म के आश्रय से ही सृष्टि-स्थिति-लय-कारिणी होकर नित्य स्थित है, ब्रह्म ही उसका द्रष्टा है। किसी बात में भी उससे बढ़कर और कोई नहीं है ॥ ८ ॥

"हंसः शुचिषद्" इस मन्त्र में 'सर्वपुरों में एक ही आत्मा है' ऐसा कहा है। उसी की पुष्टि के लिए दो दृष्टान्त कहते हैं, यथा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

अन्वयः—यथा, एकः, अग्निः, भुवनम्, प्रविष्टः, रूपम् रूपम्, प्रतिरूपः, बभूव, तथा, सर्वभूतान्तरात्मा, एकः, रूपम् रूपम्, प्रतिरूपः, बहिः, च (भवति) ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही अग्नि भुवन में प्रविष्ट होकर नाना रूप में परिणत होता है, उसी तरह सर्वभूतों के मध्य में स्थित एक ही आत्मा नाना रूप से प्रतीत हो रहा है, और उसके बाहर भी है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे अग्नि एक ही तरह का होता है और लकड़ी आदिकों के आकार भिन्न भिन्न होते हैं, किन्तु उन काष्ठों में लग जाने पर वह नाना आकारवाला हो जाता है। अर्थात् जलनेवाली वस्तुओं का जैसा आकार होता है उनमें लगा हुआ अग्नि भी उन उन आकारोंवाला दिखाई देती है। वैसे ही सर्वभूतों का अन्तर्यामी आत्मा एक होकर भी जिनमें वह रहता है, उनके आकारों में विलक्षणता होने के कारण वह भी उन उन आकारोंवाला भासता है। वह वस्तुतः आकाश के समान सब देहों से बाहर भी है, अर्थात् अविकारी है ॥ ९ ॥

विशेष—अग्नि स्थूल रूप में हो या सूक्ष्म रूप में हो, लेकिन है सब जगह, और जहाँ है वहाँ एक ही तरह का है। किन्तु जैसे वह आधारभेद से भिन्न प्रतीत हो रहा है, उसी तरह आत्मा भी आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त छोटी से छोटी लेकर बड़ी से बड़ी तक में चीजों में अविकृत रूप से व्याप्त है। भाव यह है कि उस पदार्थ में व्याप्त आत्मा अति सूक्ष्म होने से पृथक् नहीं जाना जाता, किन्तु वास्तव में आत्मा सबसे भिन्न, व्यापक और अविकारी है। यह बात दूसरी है कि वह प्रत्येक पदार्थ में उन उन पदार्थों के आकार जैसा ही प्रतीत होता है। जैसे समुद्र में बड़वानलरूप से, वन में दावानल के आकार से और बिजली में विद्युत्प्रभारूप से एक ही अग्नि नाना रूपों को धारण करता है, वैसे ही एक अद्वितीय आत्मा भिन्न भिन्न उपाधियों के भेद से उस उस आकारवाला प्रतीत होता है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

अन्वयः—यथा, एकः, वायुः, भुवनम्, प्रविष्टः, रूपम् रूपम्, प्रतिरूपः, बभूव, तथा, एकः, सर्वभूतान्तरात्मा, रूपम् रूपम्, प्रतिरूपः, बहिः, च ॥ १० ॥

भावार्थ—एक ही वायु संसार में प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तु के अनुरूप भिन्न भिन्न आकारवाला होता है। उसी तरह सब भूतों का अन्तरात्मा अलग अलग देह के अनुसार भिन्न भिन्न आकार को प्राप्त हुआ है, फिर भी वह निर्विकार है।

वि॰ वि॰ भाष्य—वायु एक ही है और वह जगत् में व्याप्त रहा है, किन्तु प्राण अपान आदि अनेक आकारों में जुदा जुदा सा प्रतीत हो रहा है। ऐसे ही एक अन्तरात्मा संपूर्ण प्राणियों में विद्यमान होकर उनके जैसा छोटा बड़ा मालूम पड़ रहा है। और वह सकल पदार्थों के बाहर भी है, अतः उपाधि से लिप्त नहीं है।

विशेष—जैसे श्वास, प्रश्वास, उद्गार, हिचकी, छींक, मन्द प्रबल आँधी आदि अवलम्बन तथा अवस्थाभेद से एकमात्र व्यापक वायु सबको नाना भेदोंवाला प्रतीत हो रहा है, वैसे ही अद्वितीय आत्मा भी उपाधिभेदों से भिन्न भिन्न मालूम होता है और सबमें अनुस्यूत (गँथा हुआ) रहने पर भी सबसे अलग है ॥ १० ॥

जब कि एक ही आत्मा है तो वह सांसारिक दुःखों से दुखी भी होगा; इस शङ्का के समाधान में कहते हैं कि—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य-दोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

अन्वयः—यथा, सर्वलोकस्य, चक्षुः, सूर्यः, चाक्षुषैः, बाह्यदोषैः, न लिप्यते, तथा, सर्वभूतान्तरात्मा, एकः, लोकदुःखेन, न लिप्यते, (यतः) बाह्यः ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे सब लोकों का नेत्र होकर भी सूर्य चक्षु के बाहरी दोष से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सम्पूर्ण भूतों का एक अन्तरात्मा संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता, बल्कि उनसे बाहर रहता है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस प्रकार सब भूतों के नेत्रों के देवता सूर्य भगवान् नेत्रों के अन्धत्व काणत्वादि दोषों से और स्वच्छत्वादि गुणों से लेपायमान नहीं होते, ऐसे ही साक्षीरूप से स्थूल सूक्ष्मशरीरों में स्थित हुआ आत्मा भी उनके गुण दोषों से लिप्त नहीं होता। क्योंकि वह निर्लिप्त तथा स्वतन्त्रस्वभाव है ॥ ११ ॥

विशेष—सूर्य प्रकाश देकर उपकारी होने के कारण चक्षु का देवता है, अथवा देवतारूप से चक्षु में रहता है। किन्तु निषिद्ध वस्तु के देखने से या अपवित्र वस्तु के संसर्ग से नेत्र में जो दोष आ गया है, उससे जैसे सूर्य लिप्त नहीं होता, उसी तरह परमात्मा सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदरहित, सब प्राणियों की बुद्धि में स्थित, सब भूतों को प्रकाश से उपकृत करता हुआ, देह के आध्यात्मिकादि दुःख, कर्तृत्व भोक्तृत्वादि आरोप और जन्म मरण आदि आपत्तियों से रहित है। वह बाहर भी एकरस होकर विद्यमान रहता है ॥ ११ ॥

दूसरे की उन्नति देखने से और पराधीनता से दुःख होता है, आत्मा तो एक है तथा स्वतन्त्र है, अतः उसमें किसी प्रकार के दुःख होने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। इस पर कहते हैं कि—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषाँसुखँ शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—वशी, सर्वभूतान्तरात्मा, यः, एकः, एकम्, रूपम्, बहुधा, करोति, ये, धीराः, आत्मस्थम्, तम्, अनुपश्यन्ति, तेषाम्, शाश्वतम्, सुखम्, इतरेषाम्, न ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो एक ही सबको अपने अधीन रखनेवाला है और सब भूतों का अन्तरात्मा है, वह परमात्मा एक ही रूप को बहुत तरह का बना लेता है। अपनी बुद्धि में विराजमान आत्मा को जो धीर अर्थात् विवेकी साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है, और लोगों को नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः! यह एक ही आत्मा सब भूतों के भीतर तथा अखिल विश्व का नियन्ता है। वास्तव में एक होने पर भी यह उपाधिभेद से अनेक रूपों को धारण करता है। उस आत्मा को जो अधिकारी पुरुष अपने अन्तः-

करण में साक्षीरूप से प्रत्यक्ष जानते हैं, उन विवेकियों को नित्य ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। और जो विषयों में चित्त को लगाये रखते हैं वे कभी भी उस नित्य आनन्द को पा नहीं सकते, उलटे संसारचक्र में पड़कर दुःख ही उठाते हैं ॥ १२ ॥

विशेष—ब्रह्म एक है, उसमें सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद नहीं है। सारा संसार उसके वश में है, विलक्षणता यह है कि वह व्यापक आत्मा समीप ही है, सब प्राणियों की बुद्धि में स्थित होने के कारण दूर नहीं है। यही बात नहीं है, बल्कि हे नचिकेतः! जो तुम्हारे सामने दिखाई दे रहा है वह वही है। अर्थात् निरुपाधिक चिद्रूप ही बहुधा औपाधिक नाना भेदों से प्रतीत हो रहा है। यद्यपि त्रिगुणमयी प्रकृति ही दृश्य प्रपञ्च का विस्तार करती है, किन्तु वह आत्मा से ही प्रकाशित हो रही है। यदि चेतन न हो तो किसी के अस्तित्व का ही अनुभव न हो सके। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वही प्रकृतिसम्भूत अनन्त उपाधियों के द्वारा नाना रूप बना लेता है। विद्वान् लोग आचार्य के उपदेश के बाद आत्मसाक्षात्कार के नित्य आनन्द का अनुभव करते हैं, किन्तु आत्मज्ञानरहित अज्ञ उस सुख को नहीं पा सकते ॥ १२ ॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—अनित्यानाम्, नित्यः, चेतनानाम्, चेतनः, यः, एकः, बहूनाम्, कामान्, विदधाति, ये, धीराः, तम्, आत्मस्थम्, अनुपश्यन्ति, तेषाम्, शाश्वती, शान्तिः, इतरेषाम्, न ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो अनित्य पदार्थों में नित्य स्वरूप तथा चेतनों में चेतन और जो एक होकर भी अनेकों की इच्छाओं को पूर्ण करता है, अपनी बुद्धि में स्थित उस आत्मा को जो विवेकशील मनुष्य देखते हैं उन्हीं को नित्य शान्ति प्राप्त होती है, औरों को नहीं ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—जितने नाशवान पदार्थ हैं उन सब में आत्मा नित्य है, जो ब्रह्मा आदि चेतनों को भी चेतनत्व प्रदान करता है। वह अग्नि जल आदि में सम्मिलित होकर उनमें जलाने आदि की शक्ति को उत्पन्न कर देता है। वह अकेला होकर भी नानाविध कामनावाले अनेक संसारियों को उनके विलक्षण कर्मों के

अनुसार विचित्र इच्छित वस्तुएँ अनायास ही दे देने की अलौकिक सामर्थ्य रखता है। शरीरमन्दिर में विराजमान ऐसे आत्मदेव की जो विवेकी पुरुष आराधना करता है वह संसार के झंझटों से छूटकर पूर्ण शान्ति का लाभ उठाता है। किन्तु वे शान्ति के वातावरण में नहीं रह सकते जिन्हें ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो पाया ॥ १३ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में "नित्यः अनित्यानाम्" इस अकार के श्लेषसहित पाठ मानने से यह अर्थ होता है कि जितने विनाशशील भाव पदार्थ हैं उनमें आत्मा अविनाशी है। अर्थात् आत्मा 'शक्तिशेषलयाधार' है, कार्योत्पादनसामर्थ्य का जहाँ शेष हो जाय ऐसा जो लय है, उसका आधार है। भाव यह है कि अन्त में सब पदार्थों का लय हो जाता है, जब कि कोई चीज रह ही नहीं जाती, तब लय कहाँ रह जाता है, याने लय का साक्षी कौन है? कहो कि लय स्वतः, स्वरूपतः रहता है, तो यह संभव नहीं। क्योंकि लय पदार्थ जड़ या शून्य है, अतः इसका आधार या साक्षी कोई चेतन होना चाहिए।

और जो "नित्यः नित्यानाम्" ऐसा अकाररहित पाठ मानते हैं, उनका तात्पर्य यह है कि आकाश काल आदि नित्यत्वेन अभिमत जितने पदार्थ हैं, उनको भी नित्यत्व प्रदान करने के कारण आत्मा नित्य है।

परमात्मरूप जो सुख है उसमें विद्वानों का अनुभव प्रमाण है, यथा—

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

अन्वयः—अनिर्देश्यम्, परमम्, सुखम्, तत्, एतत्, इति, मन्यन्ते। कथम्, नु, तत्, विजानीयाम्, किमु, भाति, विभाति वा ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस अनिर्देश्य (जिसका कथन न हो सके) परम सुख को विवेकशील पुरुष 'वही यह आत्मविज्ञान है' इस प्रकार प्रत्यक्ष करने योग्य समझते हैं, उसको किस प्रकार जान सकूँगा? क्या वह प्रकाशित होता है? बुद्धि का विषय होता है? वह प्रत्यक्ष होता है अथवा नहीं? ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—यद्यपि ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानरूप परम आनन्द, सर्वोत्तम सुख, अनिर्देश्य, अनिर्वाच्य (कथन करने के अयोग्य) है, अर्थात् साधारण पुरुषों के मन और वाणी आदि का अविषय है। याने मामूली आदमी की क्या सामर्थ्य है जो

उसका वर्णन कर सके, या उसे विचार में ला सके ? तथापि जो एषणात्रय याने संसारी वासनाओं का त्याग कर देनेवाले ब्रह्मवेत्ता हैं, वे उस सुख को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हो जाते हैं। यमराज की यह बात सुनकर नचिकेता ने कहा कि हे मृत्यो! मैं ऐसे सुख को किस रीति से जान सकता हूँ ? क्या वह प्रकाशस्वरूप पदार्थ सदा ही प्रदीप्त रहता है, और क्या स्पष्ट रूप से उसका दर्शन होना सम्भव है ? ॥ १४ ॥

विशेष—जहाँ तक प्राकृतिक दृश्य है, जहाँ तक त्रिगुणवैषम्य है, और जहाँ तक बुद्धि का राज्य है, वहाँ तक द्वैत की स्थिति है। और जहाँ तक द्वैत की स्थिति है वहां तक निरानन्द अथवा परमानन्द के अभाव की अवस्था समझनी चाहिये।

'ब्रह्म ऐसा है' या 'यही है' इस प्रकार कोई भी ब्रह्म को प्रत्यक्ष नहीं दिखाता। उपदेष्टा गुरुजन भी ब्रह्म है' इत्यादि शब्दों से ही व्याख्यान करते हैं। नचिकेता का यम से यह पूछना सही है कि मैं कैसे जानूँ, क्या वह सूर्य आदि की तरह तैजस प्रकाश है या और किसी तरह का है ?

उक्त ब्रह्मरूप सुख की पराधीन प्रकाशकता का (वह सुख किसी दूसरे से प्रतीत होता है इसका) वारण करते हुए कहते हैं कि—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

अन्वयः—तत्र, सूर्यः, न भाति, न चन्द्रतारकम्, न, इमाः, विद्युतः, न भान्ति, अयम्, अग्निः, कुतः। तम्, भान्तम्, एव, अनु, सर्वम्, भाति, तस्य, भासा, इदम्, सर्वम्, विभाति ॥ १५ ॥

भावार्थ—वहाँ सूर्य, चन्द्रमा और तारागण प्रकाशित नहीं होते तथा बिजली भी नहीं चमकती। इस अग्नि की तो बात ही क्या है, उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है, और उसके प्रकाश से ही सब कुछ भासता है ॥१५॥

वि० वि० भाष्य—नचिकेता के प्रश्न को सुनकर यमराज उत्तर देते हैं कि जो सारे संसार में प्रकाश पहुँचाता है, ऐसा सूर्य भी आत्मस्वरूप ब्रह्म वस्तु को प्रकाशित नहीं कर सकता। चन्द्रमा की चाँदनी में भी उसके दिखाने की सामर्थ्य नहीं है, तारागणों की जगमगाहट में भी उसे दिखाने की योग्यता नहीं है और बिजलियों की चमक भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकती। फिर हम लोगों की दृष्टि में

रात दिन जिस अग्नि का महत्त्व देखने में आता है उस प्रभावशाली अग्नि देवता की तो बात ही क्या है ? और अधिक क्या कहें, सूर्य चन्द्रमा आदिक जितने भी प्रकाश करनेवाले हैं, ये भी उस नित्यस्वरूप आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रहे हैं। उसके प्रकाशपुञ्ज या प्रकाशाकर के यत् किञ्चित् प्रकाशलव को पाकर सब प्रकाशित हो रहे हैं। उसकी सत्ता के बिना किसी का सागर प्रकाश हो ही नहीं सकता, अर्थात् यदि उस प्रकाशसागर से तेजबिन्दु न मिलें तो ये सूर्यादि हमेशा के लिए बुझ जायँ ॥ १५ ॥

विशेष—सूर्य, चन्द्र, तारा और अग्नि आत्मा को इस लिये प्रकाशित नहीं कर सकते कि वह इन सब से अधिक तेजवाला है। इस लिए सन्तों ने कहा है कि हे मुमुक्षुओ ! ब्रह्मज्ञान के उपायों में सूर्य आदि से प्राप्त हुए प्रकाश का उपयोग नहीं होता, किन्तु सूर्य आदि की सहायता से नेत्र द्वारा पदार्थों के देखने से ध्यान बटकर उलटा बाधा ही पहुँचती है। वस्तुतः सर्वत्र प्रकाश तो आत्मा ही का है, पर उसका अनुकरण करके सब प्रकाश कर रहे हैं और उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं ॥१५॥

इति पञ्चमवल्ली समाप्ता।

अथ षष्ठ वल्ली।

पहले ब्रह्म को सूर्य आदिकों का प्रकाशक कह दिया है, तो भी वह दुर्विज्ञेय (कठिनता से जानने के योग्य) है, अतः उसके समझने के लिए इस वल्ली का प्रारम्भ किया जाता है। कार्य से कारण का अनुमान होता है, अतः संसार के कारणभूत ब्रह्म के स्वरूप के निश्चय के लिए वृक्षरूप से कार्यवर्ग का वर्णन करते हैं कि—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ १ ॥

अन्वयः—एषः, अश्वत्थः, ऊर्ध्वमूलः, अवाक्शाखः, सनातनः, तत्, एव, शुक्रम्, तत्, एव, ब्रह्म, तत्, एव, अमृतम्, उच्यते ॥ १ ॥

भावार्थ—यह संसाररूपी अश्वत्थवृक्ष सनातन है। इसका मूल जड़ ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की तरफ हैं। वही विशुद्ध, वही ब्रह्म और वही अमृत है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—रुई को (कार्य को) देखकर जैसे मूल, वृक्ष (कारण) की सत्ता का निश्चय किया जाता है, ऐसे ही संसाररूप वृक्ष को देखकर उसके मूल कारण ब्रह्म का निश्चय करने के लिए निम्नोक्त मन्त्रों का आरम्भ किया गया है। यथा—इस संसारवृक्ष का मूल (जड़) ऊपर को है, अर्थात् विष्णु का परमपद ही इस वृक्ष का मूल है। यह संसारवृक्ष क्षण क्षण में जन्म, मरण, बुढ़ापा, शोक और मोह आदि अनेक अनर्थों के प्रतिकूल प्रभाव से और का और ही होता रहता है। यह संसारवृक्ष केले के खंभे की तरह सारहीन है। इस संसाररूपी वृक्ष के विषय में अनेक बहिर्मुख पाखण्डी लोग नाना प्रकार की असंबद्ध तथा तर्क की कसौटी पर कभी खरी न उतरनेवाली कल्पनाएँ करते हुए उसी के चक्र में पड़कर अमूल्य मनुष्य-जीवन को कौड़ी के बदले में बेच डालते हैं। किन्तु जो तत्त्वजिज्ञासु हैं वे इसके रहस्य का निश्चय तथा निर्णय करके जन्म मरणादि दुःखों से छूट जाते हैं। वेदान्तसिद्धान्त के वाक्यों से यह बात निश्चित हो चुकी है कि अविद्याजनित कामना और कर्म आदि इस वृक्ष के बीज हैं। इन बीजों का पहला अङ्कुर ज्ञान तथा क्रिया शक्तिरूप हिरण्यगर्भ है। सम्पूर्ण प्राणी इस वृक्ष की शाखाएँ हैं। ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श आदि विषय इसके कोंपल हैं, स्मृति आदि शास्त्रों के उपदेश ही पत्ते हैं। यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रियाएँ इस वृक्ष के सुन्दर फूल हैं। प्राणियों को सुख दुःख आदिकों का जो ज्ञान या भान होता है वही मानो इसमें अनेक प्रकार का रस है। कर्मों के फल की तृष्णारूप जो जल है, प्राणियों से सींचे हुए उस जल से इस वृक्ष की जड़ अत्यन्त मजबूत हो रही है। इस वृक्ष पर ब्रह्मादि देवतारूप पक्षी सत्यलोक आदि नामक घोंसले बनाकर बसते हैं। प्राणियों को सुख दुःख आदि के कारण जो हर्ष शोक आदि होते हैं, उस प्रसंग में होनेवाले नाच, गायन, वाद्य और विलाप आदि के जो अनेक प्रकार के शब्द होते हैं उनसे यह संसाररूप वृक्ष चारों ओर से व्याप्त रहता है। अर्थात् दुनियाँ में रंज या खुशी को लेकर जब, जहाँ देखो बराबर हल्ला ही मचा रहता है। जिज्ञासु को यह स्मरण रखना चाहिए कि वेदान्तशास्त्र द्वारा उपदिष्ट आत्मज्ञान से उत्पन्न हुआ असंगतारूप शस्त्र ही इस वृक्ष को काट सकता है। कामना और कर्मरूप वायु के झोके से पीपल के वृक्ष की तरह यह संसारवृक्ष हर समय चलायमान (हिलता) रहता है। स्वर्ग, नरक, तिर्यक् प्राणी और प्रेत आदि शाखाओंवाला यह वृक्ष अनादि काल से चला आ रहा है। जो वस्तु इस संसारवृक्ष की जड़ है उसी को तुम शुद्ध ब्रह्म जानो और वही सत्य स्वरूप होने के कारण अमृत अर्थात् अविनाशी स्वभाववाला है ॥ १ ॥

विशेष—यम नचिकेता से कहते हैं कि बहुत कुछ अंशों में साम्य होने के कारण संसार की वृक्ष के साथ उपमा दी गई है। यह संसार मानो अश्वत्थ का वृक्ष है। जो वस्तु दूसरे दिन तक न रहे उसे अश्वत्थ कहते हैं, यह शरीरादिरूप संसार क्षणभङ्गुर है। इस कारण श्रुतिभगवती ने इसे अश्वत्थरूप से कथन किया है। यह संसार कदलीस्तम्भ की तरह साररहित है, इस कथन का अभिप्राय यह है कि इस संसार अथवा सांसारिक विषयों पर कोई चाहे कितनाहू भरोसा रखे, इस या इनसे कैसी ही आशा करे, पर अन्त में उसको विफलप्रयास होना पड़ता है। इस संसारवृक्ष का मूल कारण सबसे ऊर्द्ध्व (ऊपर) ब्रह्म है। चौदह भुवनों में होने या रहनेवाले जो अण्डज आदिक चार प्रकार के जीव हैं, वे सब ब्रह्मरूपी मूल की अपेक्षा से नीचे फैली हुई शाखाएँ हैं। जैसे बीज से अङ्कुर और अङ्कुर से बीज उत्पन्न होता है, वैसे यह जगत् स्वरूपतः अनित्य होने पर भी प्रवाहरूप से अनादि है। पुण्य पापरूप कर्म से शरीरादि उत्पन्न होते हैं। और शरीरादिकों से पुण्य पापरूप कर्म उत्पन्न होते हैं। यही संसार की प्रवाहरूपता है, इस वृक्ष का जो मूल कारण है वही स्वप्रकाश ब्रह्म है।

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन एतद्वै तत् ॥ २ ॥

तस्मिन्, सर्वे, लोकाः, श्रिताः, तत्, उ, कश्चन, न अत्येति, एतत्, वै, तत् ॥ २ ॥

भावार्थ—सम्पूर्ण लोक ब्रह्म में आश्रित हैं, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। निश्चय यही वह ब्रह्म है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—सत्य आदिक जितने लोक हैं, तथा अन्य भी जो कुछ हैं वे सब भी ब्रह्म के आश्रय से ही टिके हुए हैं। उस ब्रह्म का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता, क्योंकि उससे बढ़कर कोई है ही नहीं। वृक्षों की शाखाएँ ऊपर की तरफ फैली रहती हैं और जड़ नीचे की ओर। इसके विरुद्ध यह शरीररूपी वृक्ष है, जिसका शिररूप मूल तो ऊपर की ओर है और हाथ, पाँव, अङ्गुली, रोम, कान, नाक आदि डालियाँ नीचे की ओर बनी हुई हैं। यदि मनुष्य को शिर नीचे और पाँव ऊपर करके उलटा खड़ाकर दिया जाय तो ठीक वह वृक्ष के आकार का सा जान पड़ेगा, अतः यह रूपक उचित ही है ॥ २ ॥

विशेष—गन्धर्वनगरी, मरीचिकाजल और माया के समान तात्त्विक दृष्टि में मिथ्यारूप से प्रतीयमान यह सर्वलोक सृष्टि स्थिति विनाशदशा में उसी परमार्थ सत्य ब्रह्म में आश्रित रहते हैं। घटादि कार्य जिस प्रकार मिट्टी का अतिक्रमण करके नहीं रह सकते, उसी तरह कोई भी विकार उस ब्रह्म को छोड़कर नहीं टिक सकता ॥१॥

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

अन्वयः—यत्, इदम्, किम्, च, सर्वम्, जगत्, प्राणे, एजति, निसृतम्, एतत्, महत्, भयम्, उद्यतम्, वज्रम्, इव, ये, विदुः, ते अमृताः भवन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—यह जो कुछ जगत् है सब प्राणों-ब्रह्म में उत्पन्न होकर उसी से क्रियावान् हो रहा है। जो इसको महाभयरूप और तने हुए वज्र की तरह जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! तुम जो कुछ देख रहे हो और जिसके विषय में सुन रहे हो, यह सब जगत् है। यह परब्रह्म से उत्पन्न होकर अपने अपने नियम के अनुसार मर्यादा से चल रहा है। ऐसे जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण-रूप यह ब्रह्म बड़े भय का स्थान और दण्ड देने के लिए उठाये हुए वज्र के समान है। जैसे शासनदण्ड हाथ में लिये हुए अपने अध्यक्ष को देखकर सेवक लोग नियम के साथ उसकी आज्ञा पालन करने लगते हैं, वैसे ही यह अनन्त विश्व जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अन्न, ओषधि आदि विपुल सामग्रियों से भरा हुआ है, परब्रह्म के शासन में नियम के साथ हर समय अपने अपने कार्य को करता रहता है। जो मनुष्य इस तत्त्व को जानते हैं उन्हें मृत्यु के पंजे से छुटकारा मिल जाता है ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र में प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण किया गया है। बात यह है कि प्रकृति की सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाली जो कुछ क्रियायें हैं वे सब प्राण के अधीन हैं। इसी लिए महात्माओं ने प्राण को ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इस ईश्वररूप से कथन किया है, प्रकृति तो जड है, प्राण ही उसे क्रियाशक्तिसम्पन्न बनाता है, यहीं नहीं बल्कि सृष्टि की यावत् क्रियाओं को उत्पन्न करनेवाला प्राण ही है। भाव यह है कि परमेश्वर सब प्राणियों के जीवन का कारण होने से प्राणरूप से

स्थित है। उसके रहने से ही सारा चराचर विश्व नियमपूर्वक अपने अपने व्यापारों में लगा रहता है, उसको जाननेवाला कभी दुखी नहीं रहता है ॥ २ ॥

ब्रह्म सबके लिए भय का कारण है, यही बात कैमुतिक न्याय से कहते हैं कि—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

अन्वय—अस्य, भयात्, अग्निः, तपति, भयात्, सूर्यः, तपति, भयात्, इन्द्रः, च, वायुः, च पञ्चमः, मृत्युः, धावति ॥ ३ ॥

भावार्थ—इसके भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है, इसी के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवा मृत्यु दौड़ता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस परब्रह्म के भय से अग्नि जलाने का काम करता है और सूर्य तपाने के काम में लगा है। इसके ही डर से इन्द्र, और वायु ये चारों तथा पाँचवा मृत्यु निरन्तर दौड़ा करता है। इन पाँचों को यदि किसी का भय न हो तो ये प्रमादवश किसी समय अपने कर्तव्य से विमुख हो सकते हैं या अपने कामों को उलटा पलटा करके जगत्व्यवस्था को अस्त व्यस्त करके बहुत बड़ा अनर्थ कर सकते हैं। प्रलयकाल में अग्नि वायु आदि के उपद्रव से सब व्यवस्थाओं का कोई ठिकाना नहीं रहता, क्या उस समय इन्हें ईश्वर का भय नहीं रहता ? उत्तर में कहते हैं कि सूर्य, अग्नि, जल आदिक एक किसी विशेष अवसर में (प्रलय में) उसी के भय से ऐसा करने के लिए बाध्य होते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—अतुल शक्तिसम्पन्न लोकपाल तक जब उसके भय से काँपते रहते हैं तो और लोगों का तो कहना ही क्या है ? देखिए, अग्नि सब जगह व्यापक है, यदि वह चाहे तो सारे संसार को जलाकर राख कर सकता है। किन्तु वह ऐसा नहीं करता, क्योंकि उसे अपने से बढ़कर किसी नियन्ता का भय है 'अग्निस्तपति' उसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा ही की आज्ञा से अग्नि पाकादि व्यापारों को कर रहा है। और पाप के कारण जिन मन्दादृष्ट प्राणियों के भोग्य पदार्थों को अग्नि भस्म कर देता है, यह भी उसी परमात्मा की आज्ञा से अग्नि द्वारा दिया हुआ दण्ड है। सूर्य का प्रकाश, इन्द्र द्वारा वृष्टि, वायु का चलना और यम द्वारा मृत्यु अथवा पापियों को दण्ड देने की व्यवस्था आदि सब व्यवहार जिसके भय से हो रहे हैं, उसको जाननेवाले मनुष्य को किसी प्रकार का भय नहीं रहता ॥ ३ ॥

उस भय को दूर करने के लिए इसी शरीर द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करना उचित है, यह कहते हैं, यथा—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

अन्वयः—इह, चेत्, बोद्धुम्, अशकत्, शरीरस्य, विस्रसः, प्राक्, (विमुच्यते । न चेत्) ततः सर्गेषु, लोकेषु, शरीरत्वाय, कल्पते ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो इस शरीर में इसके पतन से पहले ही ब्रह्मतत्त्व को जान सका वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। यदि ऐसा नहीं हो सका तो इन जन्म मरण-वाले लोकों में शरीरभाव को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् बार बार शरीर को ग्रहण करता है ॥ ४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यजीवन की प्राप्ति बड़े ही पुण्यकर्मों का फल है, पर साथ ही यह भी सही है कि जैसे यह श्रेष्ठ है वैसे ही आशुविनाशी और दुर्लभ है। यदि ऐसे मनुष्यजन्म में शरीरपात से पहले ही मनुष्य ब्रह्म को जान ले तो वह मुक्त हो जाता है। यदि वह ब्रह्म को नहीं जान सकेगा तो भोग भोगने के लिए बनाये हुए, प्राणियों के आवासस्थानरूप पृथिवी आदि लोकों में शरीर को धारण करके अनेक क्लेशों को भोगने के लिए उसे आवागमन के चक्र में फसना पड़ेगा। इस कारण अनुपम मनुष्यशरीर को पाकर आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए उद्योग करने में किसी तरह की कसर नहीं छोड़नी चाहिए। क्योंकि अन्य योनियों में आत्मदर्शन होना ऐसा ही असम्भव है जैसे आकाशपुरुष का खरगोश के सींग के धनुष से बन्ध्यापुत्र के साथ युद्ध करना ॥ ४ ॥

विशेष—देवदुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर यदि जीव आत्मानुसन्धान न कर सका और इस सर्वथा सुयोग्य देह से निषिद्ध आचरण करता रहा तो उसका ऐसा करना मानों चाँदी के पात्र में मदिरा पीना है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यशरीर के रहते आत्मा को न जाना तो अनन्त योनियों में बारम्बार जन्म मरण को प्राप्त होना पड़ेगा। यदि सौभाग्य से कुछ पुण्यकर्म हो गये तो उनके अनुसार स्वर्गादिकों में फल भोगने के अनन्तर वहाँ से पतन का, तदनन्तर जन्म, फिर मृत्यु आदि का भय तो बना ही रहेगा। अतः मनुष्य को शरीर रहने तक भववृक्षच्छेदक आत्मज्ञान का संचय अवश्य कर लेना चाहिए ॥ ४ ॥

इस मनुष्यशरीर में यदि आत्मज्ञान न हो सका तो वह पितृलोक आदिकों में ही जायगा, इस लिए यहाँ यत्न करना व्यर्थ है। ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं कि पित्रादि लोकों में आत्मज्ञान होना दुर्लभ है, हाँ वह ब्रह्मलोक में हो सकता है, पर ब्रह्मलोक में आत्मज्ञानलाभ सम्भव होने पर भी बिना उपासना के उस लोक की प्राप्ति होनी असम्भव है। इस कारण अनेक झंझटों को छोड़कर इसी मनुष्यजन्म में आत्मज्ञान के लिए यत्न करना चाहिए, यह कहते हैं कि—

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

अन्वयः—यथा, आदर्शे, तथा, आत्मनि, परिददृशे, यथा, स्वप्ने, तथा, पितृलोके, यथा, अप्सु, तथा, गन्धर्वलोके ब्रह्मलोके, छायातपयोः, इव ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे दर्पण में, उसी तरह निर्मल बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है। जैसे स्वप्न में, वैसे ही पितृलोक में और जैसे जल में, वैसे ही गन्धर्वलोक में भी अस्पष्ट परमात्मदर्शन होता है। केवल ब्रह्मलोक में अन्धकार और प्रकाश की तरह अनात्मा तथा आत्मा का स्पष्ट अनुभव होता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे स्वच्छ दर्पण में अपने मुख या शरीर का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार शीशे के समान अति निर्मल अपनी बुद्धि में उससे विलक्षण स्वरूपवाले अपने आत्मा का दर्शन होता है। जाग्रत् अवस्था के पदार्थ जैसे वासनारूप से स्वप्नावस्था में प्रतीत होते हैं, वैसे ही पितृलोक में बुद्धि आदिकों में मिले हुए जैसा, अर्थात् बुद्धि आदि से अविविक्तरूप में आत्मदर्शन होता है। और जैसे पानी में शरीर के सब अङ्ग प्रत्यङ्ग (अवयव) एकाकाररूप से (मिले हुए जैसे) दीखते हैं, उसी प्रकार गन्धर्वलोक में आत्मा का साक्षात्कार ऐसा होता है जैसे वह शरीर आदिकों से अपृथक् (मिला हुआ) हो। हमें शास्त्रों के प्रमाण और ब्रह्मवेत्ता विद्वानों तथा संन्यासियों के उपदेश से यह मालूम हुआ है कि स्वर्गादि अन्यान्य लोकों में भी अविविक्त रूप में आत्मदर्शन हो जाता है। हाँ, ब्रह्मलोक की स्थिति उक्त लोकों से विलक्षण है, जैसे छाया और धूप ये दोनों वस्तु एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, वैसे ही आत्मा भी शरीर इन्द्रिय आदि से सर्वथा पृथक् पदार्थ

है। इस ज्ञान का अनुभव एक ब्रह्मलोक में ही होता है। क्योंकि वह अत्यन्त उत्कृष्ट कर्म और ज्ञान के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। ब्रह्मलोक की प्राप्ति ऐसी ही दुर्लभ है जैसे छोटी सी नौका पर बैठकर महासागर को पार करना दुस्तर है। अतः सब बखेड़ों को छोड़कर इसी शरीर में, इसी संसार में, जहाँ रहते हो उसी जगह पर और अपनी वर्तमान अवस्था में ही आज से, अभी से आत्मदर्शन के यत्न में लग जाना चाहिए। अन्यथा इस शरीर का जल बुद्बुदवत् भरोसा नहीं है ॥ ५ ॥

विशेष—इस मन्त्र में चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है—

१—प्रथम प्रकार में दर्पण के साथ बुद्धि की अवस्था का उदाहरण दिया गया है।

२—दूसरा उदाहरण स्वप्न और पितृलोक का है।

३—तीसरी अवस्था को जल और गन्धर्वलोक के उदाहरण से समझाया गया है।

४—चौथा उदाहरण आतप और छाया के सम्बन्ध से ब्रह्मलोक का दिया गया है।

(क) प्रथम उदाहरण का अभिप्राय यह है कि जैसे दर्पण जितना ही स्वच्छ होगा, उसमें मुख उतना ही साफ दिखाई देगा। वैसे ही बुद्धि जितनी आवरणदोष-रहित होती जाती है, उतना ही उसमें द्रष्टा आत्मा का स्वरूप प्रकाशित होता जाता है। अर्थात् मलिनान्तःकरणशाली व्यक्ति की बुद्धि में आत्मज्योति आच्छन्न रहती है और विषयरागरहित तत्त्वज्ञानी की बुद्धि आत्मदर्शन में समर्थ होती है।

(ख) दूसरे उदाहरण का तात्पर्य यह है कि स्वप्न में जिस प्रकार अविविक्त अर्थात् जाग्रत् समय के संस्कारसहित पदार्थों की प्रतीति होती है, वैसे ही पितृलोक में भी अविविक्त रूप से आत्मा का दर्शन होता है। अर्थात् स्वप्न में आत्मा के स्वरूप की विस्मृति रहती है, इन्द्रियसम्बन्ध से सुख दुःख का ही बोध बना रहता है।

(ग) तीसरे उदाहरण का भाव यह है कि जैसे अस्थिर जल में प्रतिबिम्ब अवयवहीन आकार का प्रतीत होता है, उसी तरह गन्धर्वलोक में भी अस्पष्ट रूप (साफ साफ नहीं) से आत्मा का दर्शन होता है। कोई शङ्का करे कि प्रतिबिम्ब में भी अवयवों की प्रतीति होती है, इस पर कहते हैं कि जैसे जल में सूर्य एवं चन्द्र के प्रतिबिम्ब की झलकें दिखाई देती हैं, उसी तरह उन्नत सुखपूर्ण गन्धर्वलोक में आनन्दमय आत्मा वैषयिक सुख से मिश्रित होकर अनुभव में आता है। विषय में जो कुछ आनन्द है वह अपार ब्रह्मानन्द पारावार का एक कणांश है। यह बात दूसरी है कि वह कहीं ज्यादा हो और कहीं कम हो। अथवा जैसे हिलते हुए जल में अपना प्रतिबिम्बित अवयव स्थिर नहीं दिखाई देता, उसी तरह गन्धर्वलोक में भोगों से चञ्चल चित्त में आत्मा की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है।

(घ) चौथा उदाहरण देने का प्रयोजन यह है कि ब्रह्मलोक ज्ञानप्रधान लोक है, अतएव जैसे यहाँ दिन का प्रकाश और रात्रि का अन्धकार एवं आतप और छाया का भेद अलग अलग स्पष्ट दिखाई देता है, वैसे ही सर्वोन्नत ब्रह्मलोक में अनात्मा और आत्मा का अनुभव भिन्न भिन्न रूप से साफ हुआ करता है। किन्तु कठिनाई यह है कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति दुर्लभ है। ऐसा न होने पर अन्य लोकों की प्राप्ति की इच्छा नहीं करनी चाहिए, किन्तु इसी शरीर में आत्मज्ञान की प्राप्ति करने का यत्न करते रहना चाहिए ॥ ५ ॥

आत्मा के साक्षात्कार में विवेकरूप साधन और ज्ञान के फल को कहते हैं कि—

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

अन्वयः—पृथक् उत्पद्यमानानाम्, इन्द्रियाणाम्, पृथग्भावम्, उदयास्तमयौ, च, यत्, धीरः, मत्वा, न शोचति ॥ ६ ॥

भावार्थ—अलग अलग महाभूतों से उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियों की भिन्नता, उत्पत्ति और प्रलय को जानकर विद्वान् पुरुष शोक नहीं करता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! इन्द्रियाँ आकाशादि पञ्चभूतों से अलग अलग उत्पन्न हुई हैं। इनसे आत्मा भिन्न है, इनका जाग्रत् अवस्था में उदय होता है और निद्रावस्था में लय हो जाता है। आत्मा का कभी भी उदय अस्त नहीं होता। जो विवेकी पुरुष ऐसा जानता है वह जन्म मरण के कारण कर्तृत्व भोक्तृस्वरूप बन्धन से निवृत्त हो जाता है ॥ ६ ॥

विशेष—इस मन्त्र में आत्मा किस प्रकार जानने योग्य है, और उसको जानने का प्रयोजन ही क्या है, यह कहा गया है। इन्द्रियों और आत्मा में पृथग्भाव स्वभाव की विलक्षणता है। आत्मा सदा एकरस रहता है और इन्द्रियाँ कभी तो अपने व्यापार में लगी रहती हैं, कभी उसे छोड़ देती हैं ॥ ६ ॥

जिस आत्मा से इन्द्रियों का पृथग्भाव कहा गया है वह कहीं बाहर है, ऐसा समझकर उसे कहीं अन्यत्र नहीं खोजना चाहिए। क्योंकि वह सभी का अन्तरात्मा है। तब वह कैसे जाना जाय, इसी को कहते हैं कि—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—इन्द्रियेभ्यः, मनः, परम्, मनसः, सत्त्वम्, उत्तमम्, सत्त्वात् अधि, महान्, आत्मा, महतः, अव्यक्तम्, उत्तमम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—इन्द्रियों की अपेक्षा मन उत्तम है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि की अपेक्षा महत्तत्त्व उत्कृष्ट है और महत्तत्त्व से अव्यक्त बढ़कर है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—श्रोत्रादि इन्द्रियों से संकल्प विकल्पात्मक मन श्रेष्ठ है, मन से निश्चयात्मिका बुद्धि उत्तम है। उस व्यष्टिबुद्धि से समष्टिबुद्धिरूप महत्तत्त्व बढ़कर है और उससे अव्यक्त, माया उत्कृष्ट है ॥ ७ ॥

विशेष—इन्द्रियाँ विषयासक्ति के लिए मन की अपेक्षा करती हैं, क्योंकि मन इन्द्रियों में न लगे तो वे कुछ नहीं कर सकतीं। अतः इन्द्रियों को मन से श्रेष्ठ कहा है, मन का हाल बुद्धि जानती है अतः मन की अपेक्षा बुद्धि उत्तम है। महत्तत्व बुद्धि से बढ़कर है, क्योंकि महत्तत्व का जो अंश सत् असत् का विवेकरूप कार्य करता है, वह बुद्धि कहाता है। कहीं मूलप्रकृति, कहीं ब्रह्मशक्ति और कहीं महामाया-नाम से अव्यक्त का प्रयोग होता है, यह अव्यक्त मन, बुद्धि तथा महत्तत्त्व इन तीनों का सम्बन्ध कराने के कारण सबसे उत्कृष्ट है। इन्द्रियादिकों से मन आदि [illegible] को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बताना सूक्ष्म से सूक्ष्म में चित्त ठहराने के लिए है ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अन्वयः—व्यापकः, अलिङ्गः, एव, पुरुषः, तु, अव्यक्तात्, च परः। जन्तुः, यत्, ज्ञात्वा, मुच्यते, अमृतत्वं, च, गच्छति ॥ ८ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापी अलिङ्ग पुरुष अव्यक्त से भी श्रेष्ठ है, जिसको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—अव्यक्त की अपेक्षा सर्वव्यापक और शरीररहित अथवा जगत् के सब धर्मों से विवर्जित परमात्मा पुरुष उत्तम है। प्राणी उसको जान-कर जीवित अवस्था में ही अविद्या के बन्धनों से छूट जाता है, और शरीर छूट जाने पर परमपद को प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

विशेष—प्रकृति की व्यक्त और अव्यक्त ये दो अवस्थाएँ हैं। उसकी व्यक्तावस्था के ही बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अङ्गसमूह हैं। ये सब प्रकृति की

वैषम्यावस्था के परिणाम हैं। प्रकृति की साम्यावस्था ही अव्यक्त कहाती है, प्रलय में सब जगत् इसी में लय हो जाता है। आत्मा का अनुभव इससे परे है। जो इस तत्त्वातीत चिन्मय को जान लेता है वह जीवन्मुक्त होकर अमृतत्व लाभ करता है ॥ ८ ॥

जब कि उसका कोई लिङ्ग (चिन्ह-परिचय) ही नहीं तब उसका साक्षात्कार कैसे होगा ? इस पर कहते हैं कि—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

अन्वयः—अस्य, रूपम्, संदृशे, न तिष्ठति, कश्चित्, एनम्, चक्षुषा, न पश्यति। मनीषा, हृदा, मनसा, अभिक्लृप्तः। ये, एनम्, विदुः, ते, अमृता, भवन्ति ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस आत्मा का स्वरूप दृष्टि में नहीं टिकता, कोई भी इस को आँखों से नहीं देख सकता। हृदवस्था विकल्परहित बुद्धि के द्वारा मनन की सहायता से यह अभिव्यक्त होता है। जो इस आत्मतत्त्व को जानते हैं वे अमर हो जाते हैं ॥ ९ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस प्रत्यगात्मा का रूप दृष्टि का विषय नहीं है, याने आत्मा को कोई खाली आँखों से देखना चाहे, या किसी यन्त्र की सहायता से, अथवा योगाभ्यासादि विविध साधनों से अवलोकन करना चाहे, यह हरगिज नहीं दिखाई देगा। तात्पर्य यह है कि स्थूल दृष्टि और मायिक साधनों से आत्मा को कोई नहीं देख सकता। किन्तु जब साधक की बुद्धि संकल्प विकल्परहित होकर निर्मल हो जाती है, तब मनन करने पर हृदय में ही वह प्रकाशित हो जाता है जिन अधिकारियों को इस का साक्षात्कार हो जाता है, जो इसका दर्शन पा जाते हैं, वे मृत्यु को जीतकर उस पद पर पहुँच जाते हैं जहाँ जाकर फिर आने का नियम नहीं है ॥ ९ ॥

विशेष—इस मन्त्र में अशरीरी आत्मा के दर्शन का प्रकार बतलाया गया है और यह भी कहा गया है कि वह नेत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है। यहाँ नेत्रेन्द्रिय अन्य इन्द्रियों का भी उपलक्षक है, याने किसी इन्द्रिय से भी उसका

साक्षात्कार नहीं होता। क्योंकि इन्द्रियाँ प्राकृतिक हैं और आत्मा प्रकृति के दायरे से परे है। हाँ, यह बात है कि विकल्परहित बुद्धि द्वारा मनन निदिध्यासन से हृदय-देश में उस आत्मज्योति का उदय होता है, जिसके प्रकाश से सांसारिक विषयों की पोल खुल जाती है॥ ९॥

श्रवण और मनन से प्रमाण, प्रमेय तथा असम्भावना की निवृत्ति होने पर भी उस बुद्धि का प्रतिबन्धक चित्त की चञ्चलतारूप दोष तो रह ही जाता है, उसको दूर करने के लिए अब योगसाधना का प्रकार कहते हैं कि—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥ १०॥

अन्वयः—यदा, मनसा, सह, पञ्च, ज्ञानानि, अवतिष्ठन्ते, बुद्धिः च, न विचेष्टते, ताम्, परिमाम्, गतिम्, आहुः॥ १०॥

भावार्थ—जब पाचों ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों का त्याग करके मन के सहित आत्मा में स्थित हो जाती हैं, तथा बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परम-गति कहते हैं॥ १०॥

वि० वि० भाष्य—जब मन के सहित श्रोत्र आदि पाचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपने व्यापारों को छोड़कर स्थिर हो जाती हैं, अर्थात् अपने अपने विषय से हटकर आत्मा की ओर झुक जाती हैं, और यह निश्चयात्मिका बुद्धि भी अपने कार्य में चेष्टा करनी छोड़ देती है उस अवस्था को, याने ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि की चञ्चलता-रहित दशा को योगी लोग परमोत्कृष्टा गति कहते हैं। क्योंकि वह आनन्दात्मा के भान की साधनरूपा है॥ ११॥

विशेष—जीव के बन्ध मोक्ष का कारण अन्तःकरण है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये अन्तःकरण के चार भेद हैं। इन्द्रियों का राजा, संकल्प विकल्प करने-वाला जो बन्धनदशा को स्थायी रखता है वह मन है। स्मृति और संस्कार को धारण करनेवाले को चित्त कहते हैं। जिससे द्वैत बने और जो अपनेपन में स्वतन्त्र हो उसको अहंकार कहते हैं। सत् असत् का विचार करनेवाली ज्ञानवती को बुद्धि कहते हैं। इन चारों में मन चित्त का अनुसरण करता है और बुद्धि अहंकार की अनु-यायिनी है। बन्धन अवस्था में इन्द्रियाँ मन को विषय में लगाकर स्वयं विषयों में लगी रहती हैं, किन्तु जब मन विषयों से अपने आप को खींच लेता है तब शरीर के

साथ इन्द्रियों का सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। ऐसे समय पर ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषय से सम्बन्धरहित हो जाती हैं। दूसरी ओर बुद्धि अहंकार के साथ मिलकर उसके अनुसार सत्, असत् विचार के कार्य में लगी रहती हैं। जब तत्त्वज्ञान के प्रभाव से, द्वैतभाव के नष्ट होने से अहंकार का लय हो जाता है तब योगयुक्त बुद्धि निश्चेष्ट होकर आत्मोन्मुख हो जाती है। उस दशा में आप ही स्व स्वरूप का उदय हो जाता है। यही निःश्रेयस की साधिका परमगति कहलाती है॥ १०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

अन्वयः—ताम्, स्थिराम्, इन्द्रियधारणाम्, योगम्, इति, मन्यन्ते। तदा, अप्रमत्तः, भवति, हि, योगः, प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

भावार्थ—इन्द्रियों की उस स्थिर धारणा को योग कहते हैं। उस समय साधक प्रमादरहित हो जाता है, क्योंकि योग ही प्रभव (उत्पत्ति) और अप्यय (लय, विनाश) का कारण है॥ ११॥

[illegible]ष—अना[illegible] भाष्य—योगी लोग लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद आदि दि[illegible]की ग्रन्थि हे[illegible]त (नहीं हिलाई गई); ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि की पूर्वोक्त स्थिर धारणा[illegible] योग कहते हैं। और उस योगारम्भकाल में साधक को चित्त के समाधान करने के लिए पूर्ण यत्न करना चाहिए। क्योंकि उक्त धारणारूप जो योग है वह उत्पत्ति और विनाशधर्मवाला है॥ ११॥

विशेष—जिस दशा में इन्द्रियाँ स्थिर रहती हैं, उस अवस्था को योग कहते हैं। उस समय योगी प्रमादरहित होता है। योग की जैसे उत्पत्ति होती है वैसे ही उसका विनाश भी हो सकता है, अतएव योगीजन को योगसमृद्धि में होनेवाले प्रचण्ड विघ्नों को दूर करने के विषय में बद्धपरिकर हो सदा सावधान रहना चाहिए। इस मन्त्र में योग को प्रभव और अप्यय धर्मवाला कहा गया है, इसका अभिप्राय यह है कि वह हितसाधक और अहितसाधक दोनों है। अर्थात् योगी समाधिदशा में प्रभव और अप्यय दोनों कार्य करने में समर्थ रहता है। प्रमादरहित योगी समाधिस्थ होकर शक्तिवाला तथा उससे भी आगे बढ़ जाता है। यदि उसकी समाधि निर्विकल्प रही तो वह अभ्युदय कोटि का उल्लङ्घन करके ब्रह्मीभूत हो जाता है और यदि किसी कारणविशेष से उसकी धारणा स्थिर न रह सकी,

इससे समाधि विकल्पयुक्त हो गई तो वह फिर सांसारिक सिद्धियों के प्रकट होने का केन्द्र बन जाता है। इन्हीं दोनों अवस्थाओं का यथाक्रम प्रभव और अप्यय नाम है, अतः योगी को अप्यय से बचना और प्रभव में लगना चाहिए ॥ ११ ॥

आत्मा वाणी, इन्द्रिय का विषय है, इस कथन का खण्डन करते हैं, यथा—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

अन्वयः—वाचा, न, एव प्राप्तुम्, शक्यः, मनसा, न, चक्षुषा, न अस्ति, इति ब्रुवतः, अन्यत्र, तत्, कथम्, उपलभ्यते ॥ १२ ॥

भावार्थ—आत्मा न तो वाणी से, न मन के द्वारा और न आँखों से ही देखनेयोग्य है। 'है' ऐसा कहनेवालों के सिवा अन्यत्र, दूसरे मनुष्यों को वह कैसे प्राप्त हो सकता है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्वोक्त योगाभ्यास की पूर्णता के बिना वाणी, श्रोत्र और नेत्र आदिकों से आत्मतत्त्व नहीं प्राप्त हो सकता। "शुद्धच [illegible] स्वरूप है" इस प्रकार के वचनों का कथन करनेवाले आस्तिक पुरुषों के पाचों [illegible] त्याग करे, प्रत्यक्ष प्रमाणवादी, बहिर्मुख नास्तिकों के सिद्धान्त में श्रद्धा करनेवाले कुसङ्गियों को कदापि आत्मावबोध नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

विशेष—इन्द्रियों से शब्द स्पर्श आदि विषय ग्रहण होते हैं, किन्तु परमात्मा शब्दादि विषयों में आया नहीं, जो इन्द्रियों से ग्रहण किया जा सके। परमात्मा परोक्ष है, पर आस्तिक लोग कहते हैं कि वह अवश्य है। संसार में एक से एक धनी, विद्वान्, ऐश्वर्यवान् आदिकों के होने से संसार यह बड़ा ही विषम है, न्यूनाधिक है। उस न्यूनाधिकता की जहाँ अवधि होती है, समाप्ति हो जाती है, बस, वही परमेश्वर है। फिर यह भी बात है कि जगत् का कर्ता कोई अवश्य है, क्योंकि घड़े आदि की तरह यह एक बनावट है, और अनन्तकारीगरी की नाना रचना से युक्त इस विशाल जगत् का निर्माण करना किसी अल्पज्ञ, स्वल्पशक्ति मनुष्य का काम नहीं है। अतः मन्त्र में 'अस्तीति' वाक्य से उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का कथन किया गया है। उस आत्मदेव का दर्शन नास्तिक कैसे पा सकते हैं ॥१२॥

यह भी बात है कि यद्यपि यह आत्मा सत्स्वरूप धर्म से रहित होने के कारण सत् पद से कहनेयोग्य नहीं है, तथापि उसके दर्शन का क्रम कहते हैं, यथा—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

अन्वयः—उभयोः, तत्त्वभावेन, अस्ति, इति एव, उपलब्धव्यः । इति, उपलब्धस्य, तत्त्वभावः, प्रसीदति ॥ १३ ॥

अन्वय ... ः, अमृतः, ... अस्ति, **भावार्थ**—इसी दे... यह मरणधर्मा अम... भा...

वि० भाष्य—उस आत्मा को 'है' इस प्रकार उपलब्ध करना योग्य है, फिर ... जिस हृदय में स्थित, देहादिके ... भी जानना चाहिए। इन दोनों तरह की उपलब्धियों में से ... इस प्रकार की उपलब्धि हो गई है, उसके सम्मुख तत्त्वभाव हो जाता है, उस सम्मु... ॥

...प्त हो जाता है।

...व को प्राप्त हो ज... है ॥ १५ ॥

वि० भाष्य—'परमात्मा है' इस प्रकार की भावना से पहले उसे ... उचित है अर्थात् 'जगत् का कारण सत्रूप से विद्यमान कोई शक्ति है' ...ले सामान्यतया उसे जानना योग्य है। फिर तत्त्वभाव से उपाधि-...द्ध रूप से, यानै निर्विषय चिन्मयमात्र भाव से उसको प्राप्त करना उचित ... में पहले 'है' अर्थात् सोपाधिरूप से विश्वरूप से है, ऐसा जाना ... अनन्तर उसका तत्त्वभाव अर्थात् निरुपाधिक चिन्मयमात्र भाव ... जाता है ॥ १३ ॥

विशेष—अना... विनिर्मु... की ग्रन्थि है, ... लाल वर्ण का हो... प्रतीत होने ... खुद प्रका... प्रतिफलित, ...

वि... आत्मबोध का है—पहले 'अस्ति' है इस तरह सामान्यतया जाननेवाले को बाद में 'सत्' 'तयह दूसरी अस्मित प्रकाशित-प्रकट प्रतीत हो जाता है। अभिप्राय यह है अधिकारी 'अस्ति' '... ग्रन्थि है ... में से 'अस्ति' को स्वीकार करके 'नास्ति' को त्याग दे. फिर वह तत्त्वभाव ... जवान, बूढ़ा, ... वस्तु को जाननेवाला हो जायगा। बात यह है कि साधक कहीं ... साधन सिद्ध हो ... विधानों में ही न फँसा रह जाय, इससे बचाने के लिए इस मन्त्र में श्रुति ... छोड़ दूँगा और ... तत्त्वभाव आत्मा की उपलब्धि का बेरोक टोक उपाय बताया है। सात्त्विक ... वासनारूप जो ... त्त्विक धृतियुक्त होकर, साधक परमतत्त्वरूप परमात्मा में आस्तिकता से स्थिर ... ज्ञान द्वारा खुल ... होकर सबसे पहले 'अस्ति-भाव' की उपलब्धि करे। फिर 'तत्त्वभाव' परमात्म... सम्पूर्ण शास्त्रों का, ... का अस्ति, भाति, प्रिय इन तीनों का, याने सत्-चित्-आनन्द इन सब का ... ॥ ... अनुभव होने लगेगा ॥ १३ ॥

इस प्रकार जिस ... जहाँ पर मुक्ति ... निवृत्त हो गई हैं, ऐसे परमार्थद्रष्टा का आत्मज्ञान ... जन्म मरण नहीं होता, ... कहते हैं, यथा—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

अन्वयः—अस्य, हृदि, श्रिताः, ये, सर्वे, कामाः, यदा
अथ, मर्त्यः, अमृतः, भवति, अत्र, ब्रह्म, समश्नुते ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस समय इसके हृदय की सब कामनाएँ
समय यह मनुष्य (मरणशील) अमर हो जाता है, और इस शरीर
को प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—तत्त्वज्ञान होने से पहले हृदय-बुद्धि
प्रारब्धकर्मों से प्राप्त शरीररक्षा के निमित्त जो अन्न जल आदिकों
एवं उसके अतिरिक्त विषयसुख की जो कामनाएँ हैं, वे जिस समय
बुद्धि से नष्ट हो जायँ, उस समय मरणधर्मा मनुष्य ज्ञान होने पर अ
हो जाता है। क्योंकि उस समय उसकी मृत्यु के निमित्तरूप अवि
कर्मों का अभाव हो जाता है। यही नहीं, बल्कि वह इस शरीर
जाता है ॥ १४ ॥

विशेष—मनुष्य को मर्त्य कहते हैं, क्योंकि ब्रह्मा ने उस
बनाया है। जब तक उसकी बुद्धि में सांसारिक सकल कामनाएँ
तक वह मरता ही रहेगा। संसार की वासनाएँ मनुष्यजीवनरू
को चूर्ण करने के लिए इन्द्रवज्र के समान हैं। हाँ, इस आप
एक उपाय है, वह है ब्रह्मात्म्यैक्य का तत्त्वज्ञान। जो मर
मरने की बिमारी से परेशान रहता है, वह भी उक्त ज्ञान
हो जाता है। जब कि इस जीवन में ही उसके बन्धन
गये, विक्षेपों के अभाव से वह शान्त हो गया, तो उसको
कसर ही क्या रह गई ? ॥ १४ ॥

कामनाओं का प्रविलय, नाश, अमृतत्व याने
तो सुषुप्ति में भी होती है। तो उसे भी मुक्ति कह
यह है कि हृदयग्रन्थि खुले बिना, जड़ से कामना
... हैं कि—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥१५॥

अन्वयः—यदा, हृदयस्य, इह, सर्वे, ग्रन्थयः, प्रभिद्यन्ते, अथ, र्त्यः, अमृतः, भवति, एतावत्, अनुशासनम् ॥ १५ ॥

भावार्थ—इसी देह में जब हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ छिन्न भिन्न हो जाती ब यह मरणधर्मा अमर हो जाता है। यही अखिल वेदान्त का उपदेश है ॥१५॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः ! जिस समय यह पुरुष, ग्रन्थि की ह हृदय में स्थित, देहादिकों में अहंता और पुत्रादिकों में ममतारूप बन्धन से क हो जाता है, उस समय जन्म मरणादिकों का त्याग करके अमृतभाव मुक्ति प्राप्त हो जाता है। जिनकी अविद्यादि ग्रन्थियाँ कट गई हैं, वे तो इसी शरीर में भाव को प्राप्त हो जाते हैं, फिर उन्हें स्वर्ग नरक आदि लोकों में नहीं जाना है ॥ १५ ॥

विशेष—अनादि अविद्याजनित जो चिज्जड की, चित्-आत्मा और जड-प्रपञ्च की ग्रन्थि है, उसी को जीव कहते हैं। जैसे लाल फूल के सांनिध्य से क लाल वर्ण का हो जाता है, वैसे ही प्रकृति के सहयोग से पुरुष भी परि-जैसा प्रतीत होने लगता है। यही चिज्जडग्रन्थि है। चित् पुरुष में जड जब प्रतिफलित, प्रतिबिम्बित होती है, तब चिज्जडग्रन्थि बँध जाती है। में आत्मबोध का होना, यह एक ग्रन्थि है। पिण्ड को ब्रह्माण्ड से अलग ना, यह दूसरी अस्मितारूप ग्रन्थि है। अपने पराये में भेद देखना, यह राग तीसरी ग्रन्थि है और अभिनिवेश ही चौथी ग्रन्थि है। तात्पर्य यह है बालक, जवान, बूढ़ा, काना, कुबड़ा, स्त्री, पुरुष या नपुंसक हूँ; मेरे सुख क साधन सिद्ध हो गया और फलाना होगा, एवं दुःख के इस हेतु को तरह छोड़ दूँगा और मैं उत्पन्न हो गया, मरूँगा अथवा किसी को मार गा" इत्यादि वासनारूप जो रस्सियाँ बँधी हैं, बस, वही ग्रन्थि (गाँठ) हैं। ठों के आत्मज्ञान द्वारा खुल जाने पर सदा मरनेवाला मनुष्य अमर हो जाता द का तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का और सब महात्माओं का यही अन्तिम अनु-पदेश है ॥ १५ ॥

ब्रह्मज्ञानी की यहीं पर मुक्ति हो जाती है, इतना कहकर यह कहते हैं कि

जिसने पूर्वोक्त रीति से तत्त्वज्ञान नहीं जाना, उसको अग्निविद्यादिकों से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, और संसार में पड़ना पड़ता है। यथा—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

अन्वयः—हृदयस्य, शतम्, च, एका च, नाड्यः, तासाम्, एका, मूर्द्धानम्, अभि, निःसृता। तया, ऊर्द्ध्वम्, आयन्, अमृतत्वम्, एति, विष्वङ्, अन्याः, उत्क्रमणे, भवन्ति ॥ १६ ॥

भावार्थ—हृदय की एक सौ एक नाडियाँ हैं। उनमें से एक नाडी मूर्धा का भेदन करके बाहर को निकली है, याने ब्रह्मरन्ध्र की ओर गई है। उसके द्वारा ऊपर की ओर जानेवाला मनुष्य अमृतत्व का लाभ करता है। बाकी नाडियाँ विष्वक् (इधर उधर फैली हुई) नाना प्रकार की गतिवाली, उत्क्रमण में निमित्त अर्थात् संसारप्राप्ति का कारण होती हैं ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—मनुष्य के शरीर में बहुसंख्यक नाडियों का जाल सा बिछा हुआ है। उनमें हृदय की एक सौ एक नाडियाँ प्रधान हैं, उनमें सुषुम्ना नाम की नाडी मस्तक को भेदन करके निकली है। सब नाडियों से विलक्षण वह सुषुम्ना नाडी ब्रह्मलोक की प्राप्ति का द्वार है, वह सूर्यमण्डल तक गई है। उससे जानेवाला यह जीव ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है। और जो नाडियाँ हैं उनसे यह जीव ऊच और नीच शरीर को प्राप्त होता है। अर्थात् चारों ओर को फैली हुई अन्य नाडियाँ बाहर जाने का कारण होती हैं अर्थात् उनका आश्रयण करनेवाला मनुष्य आवागमन के फेर में पड़ता है ॥ १६ ॥

विशेष—मनुष्यशरीर में शक्तिप्रवाहिनी, रक्तप्रवाहिनी और ज्ञानप्रवाहिनी ये तीन तरह की नाडियाँ होती हैं। इस मन्त्र में ज्ञानप्रवाहिनी नाडियों का कथन किया गया है। ज्ञानप्रवाहिनी नाडियों के अनेक भेद होने पर भी एक सौ एक प्रधान हैं। इनमें से एक सुषुम्ना नाम की नाडी ब्रह्मरन्ध्र भेदन करके सहस्रार तक सीधी गई है और अन्य सौ नाडियाँ ऊर्ध्वगामिनी होने पर भी शरीर के अवयवों में ही रह गई हैं। जो मुक्त नहीं हुए हैं उनका सुषुम्नानाडी के अवलम्बन से मरने पर ज्ञानप्रधान सत्यलोक में जाकर मुक्त होना निश्चित है। जो ऐसा नहीं कर सकते

वे अन्यान्य ज्ञानप्रवाहिनी नाडियों के प्रभाव से कृष्णगति की नाना अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्ति के अतिरिक्त दो प्रकार की गति प्रायः शरीर के अन्त में प्राप्त होती हैं। एक सुषुम्नानाडी के अवलम्बन से शुक्लगति है, जिसके अन्त में सूर्यमण्डल भेदन करके निःश्रेयस प्राप्त होता है और दूसरी, जिसके द्वारा पुण्यात्मा जीव के अभ्युदय प्राप्त करने पर भी उसकी पुनरावृत्ति अवश्य होती है, यह आवागमनचक्र को स्थिर रखनेवाली कृष्णगति है ॥ १६ ॥

अब सम्पूर्ण वल्लियों के ब्रह्मात्मैक्यरूप अर्थ का उपसंहार करते हैं, यथा—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥ तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

अन्वय—अङ्गुष्ठमात्रः, पुरुषः, अन्तरात्मा, सदा, जनानाम्, हृदये, सन्निविष्टः, मुञ्जात्, इषीकाम्, इव, स्वात्, शरीरात्, तम्, धैर्येण, प्रवृहेत्। तम्, शुक्रम्, अमृतम्, विद्यात्, तम्, शुक्रम्, अमृतम् विद्यात्१७

भावार्थ—अङ्गुष्ठ परिमाणवाला अन्तरात्मा पुरुष जो प्राणियों के हृदय में सर्वदा स्थित है, जिज्ञासु उसे मूँज से सीक निकालने के समान धैर्यपूर्वक अपने शरीर से बाहर निकाले। उसको शुद्ध और अमृत समझे, उसको शुद्ध अमृत समझे ॥ १७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे नचिकेतः! सबका अन्तरात्मा अन्तःकरण के अङ्गुष्ठपरिमाण होने के कारण स्वयं भी अङ्गुष्ठपरिमाणवाला है, और वह सबके हृदय में स्थित है। जैसे मूँजरूप बाह्य त्वचा से इषीकारूप बीच के तृण को मनुष्य अलग करता है, वैसे ही अन्वय व्यतिरेक करके स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों से अधिकारी आत्मा को भिन्न करे, और उसको सबसे परमपवित्र जानकर अपने लिये भी वैसी ही पवित्रता व्यवहार में लाये, और मरणधर्मादिरहित समझे ॥१७॥

विशेष—अधिकारी को चाहिए कि जैसे कौशलपूर्ण उपाय द्वारा मूँज को अलग करके उससे सिरकी निकाली जाती है, उसी प्रकार प्रकृति के नाना स्तरों को अर्थात् शरीरत्रय, चतुर्विंशति तत्त्व अथवा पञ्चकोशादि के विचार द्वारा प्रकृति को पुरुष से अलग करके देखे। आत्मा के साथ संक्षेप से शरीरत्रय का अन्वय

व्यतिरेक इस प्रकार है, जैसे—स्वप्नावस्था में स्थूल शरीर की प्रतीति न होने से यह इसका व्यतिरेक है, स्वप्न में भी आत्मा प्रकाश करता है, यह वहाँ उसका अन्वय है। सुषुप्ति में सूक्ष्म शरीर का अभाव होने से, वहाँ यह उसका व्यतिरेक है; सुषुप्ति में आत्मा के ज्ञान का प्रकाशक होने के कारण, यह वहाँ उसका अन्वय है। समाधि में अज्ञानरूप कारणशरीर का अभाव होने से यह वहाँ उसका व्यतिरेक है, और आत्मा के समाधि अवस्थामें प्रतीत होने के कारण यह वहाँ उसका अन्वय है। इसी तरह तत्त्वों और कोशों में भी अन्वय व्यतिरेक से उसका अनुभव करना चाहिए। प्रकृत मन्त्र के अन्त में ग्रन्थ की समाप्ति के लिए द्विरुक्ति की गई है, 'इति' शब्द का प्रयोग भी इसी लिए किया गया है। अथवा द्विरुक्ति दृढतावोधन के लिए अर्थात् 'योगी के लक्ष्य को स्थिर करने के लिए ऐसी दृढता की आवश्यकता है' इस उपदेशके लिए है। और इति शब्द समाप्ति के लिए है ही। अथवा द्विरुक्ति समाप्ति के लिए और इति शब्द ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए है। अथवा "ब्रह्मज्ञान ही वास्तविक है, इसमें कोई खींचातानी नहीं है" इसी के प्रतिपादन के लिए द्विरुक्ति है और इति शब्द समाप्तिबोधक है ॥ १७ ॥

अब विद्या की स्तुति के लिए इस आख्यायिका के अर्थ का उपसंहार किया जाता है—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

अन्वयः—अथ, नचिकेतः, मृत्युप्रोक्ताम्, एताम्, विद्याम्, कृत्स्नम्, योगविधिम्, च, लब्ध्वा, विरजः, विमृत्युः, ब्रह्मप्राप्तः, अभूत्। अन्यः, अपि, यः, एवम्, अध्यात्मम्, वित्, एव, (भवति) ॥ १८ ॥

भावार्थ—यम द्वारा कथित इस ब्रह्मविद्या तथा सब योगविधियों को जानकर विरज (धर्माधर्मरहित) तथा मृत्युहीन होकर नचिकेता ब्रह्म को प्राप्त हो गया। अन्य जो कोई इस प्रकार अध्यात्मतत्त्व को जानेगा वह भी ऐसा ही हो जायगा ॥ १८ ॥

वि० वि० भाष्य—इसके बाद नचिकेता यमराज की कही हुई ब्रह्मविद्या

और सम्पूर्ण योग की विधि को पाकर धर्म अधर्म आदि के मल से रहित और अविद्या तथा कामनाओं के त्याग से अमर हो गया। और जो अन्य मनुष्य इस प्रकार अध्यात्मविद्या को जान लेगा, वह भी नचिकेता के समान "यद् गत्वा न निवर्तन्ते" ऐसे सर्वोच्च मुक्तिपद को पा जायगा ॥ १८ ॥

विशेष—नचिकेता उत्तम शिष्य बनकर सद्गुरु के उपदेश से ब्रह्मविद्या और फलसहित सम्पूर्ण योगाभ्यास के विधान को प्राप्त हो गया। और भी जो कोई लोग ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति की इच्छा करें, उनको चाहिए कि "तद्विद्धि प्रणिपातेन" इत्यादि आप्त वचनानुसार गुरु महाराज की शुश्रूषा से और यथोक्त शम, दम, उपरति, तितिक्षा इत्यादि साधनों से ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होकर सब दुःखों से छूट जायँ ॥ १८ ॥

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

द्वितीय अध्याय और षष्ठ वल्ली समाप्त।

इस प्रकार यह कठोपनिषद् पर स्वामी विद्यानन्दजी महाराज द्वारा विरचित विद्याविनोद भाष्य समाप्त हुआ।



ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

अथ प्रश्नोपनिषद्

विद्याविनोद-भाष्य-सहित

आर्यावर्तनिवासियों की आस्तिकता सर्वलोकप्रसिद्ध है, वे एक ही ईश्वर को अनेक रूपों में देखते, मानते और पूजते हैं। हिन्दुओं के अभिमत तेंतीस करोड़ देवताओं की कल्पना का यही मूल है कि वे ईश्वर को सर्वत्र व्यापक ही नहीं, बल्कि उसे सर्वस्वरूप भी मानते हैं। इस शान्तिमन्त्र में भगवान् की अनेक विभूतियों से साधक ने कल्याण की कामना की है, यथा—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥*

भावार्थ—हे देवताओ! हम कानों से अच्छी बातें सुना करें, हम यज्ञ करनेवाले या अध्यात्मध्यानपरायण लोग आँखों से अच्छी चीजें देखा करें, हम स्थिरता के साथ तत्त्वबोधक स्तोत्रों से स्तुति करें। हे देवो! हम रोगरहित आयु को पायें।

मन्दबुद्धि लोगों पर कृपा करने के अभिप्राय से फिर और तरह से कहते हैं कि—

---

* इस उपनिषद् में अन्वय इस लिए नहीं रखा कि यहाँ प्रायः गद्यांश होने के कारण शब्द-सम्बन्ध कुछ कठिन नहीं है।

यशस्वी इन्द्र हमारा कल्याण करे, सर्वज्ञ सूर्य हम लोगों का भला करे, अव्याहत-गति गरुड देव हमारी रक्षा करे, और बृहस्पति हमारा मङ्गलसाधन करे।

वि० वि० भाष्य—हे देवताओ ! आप लोग विपुल शक्तिशाली हो, प्रकाशमान हो। "हम लोग आप से प्रार्थना करते हैं कि हम अपने कानों से सदा कल्याणदायक वचनों को सुनें, याने हम कभी बहरे न हो जायँ, निर्विशेष ब्रह्म-प्रतिपादक वेदान्तसिद्धान्तों को सुनने से वञ्चित न हो जायँ। ब्रह्मविद्या के सुनने से आत्मध्यानपरायण हम लोग अपनी आँखों से महात्मा लोगों के तथा सगुण परमेश्वर के स्वरूप को ही देखें। अर्थात् आप की कृपा से हमारे नेत्र कदापि अन्धे न हो जायँ। तत् तत् अङ्गों के अभिमानी इन्द्रादि देवताओं की प्रसन्नता से हम अपने हाथ पाँव आदि अवयवों को स्थिर करके सूक्ष्म ब्रह्मप्रतिपादक स्तोत्रों से ब्रह्मानुसन्धानरूप स्तुति करें और आप लोगों की कृपा से नीरोग दुर्बलतारहित आयु को प्राप्त हों।

जो साधारण लोग हैं, जो बुद्धिमान् नहीं हैं, उनके लाभ के लिए फिर प्रार्थना करते हैं कि—वह देवताओं के अधिपति, प्रसिद्ध कीर्तिवाले इन्द्र हमें परिपूर्ण ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करायें। विश्व के सम्पूर्ण वृत्तों को जाननेवाला सूर्य हमें प्रकाश देकर उपकृत करे। गमनसमय में किसी से न रुकनेवाला गरुड और देवताओं के प्रधान गुरु आचार्य बृहस्पति हमारा कल्याण करें।

विशेष—आर्यजाति जिस प्रकार अध्यात्मविज्ञान में सबसे आगे रही है उसी प्रकार उसने दैवी जगत् के महत्त्व को समझकर उससे पूरा लाभ उठाया है। इस मन्त्र में इसी की चर्चा की गई है।

तीन बार शान्तिपाठ का अभिप्राय—

आर्य हिन्दूजाति हमेशा से स्वयं शान्त रही है, यही कारण है कि इसने किसी पर भी आक्रमण न करके दूसरों की शान्तिभङ्ग नहीं की, स्वयं आक्रान्त भले ही होती रही है। प्रत्येक काम की सीमा होती है, किन्तु हिन्दूजाति की शान्तिधारणा दायरे से बाहर हो गई। इसी से वह "शान्तिः शान्तिः शान्तिः" चिल्लाती हुई ऐसी शान्त हुई, ऐसी ठण्डी हुई कि लोगों ने यह समझ लिया 'मानो वह मर गई'।

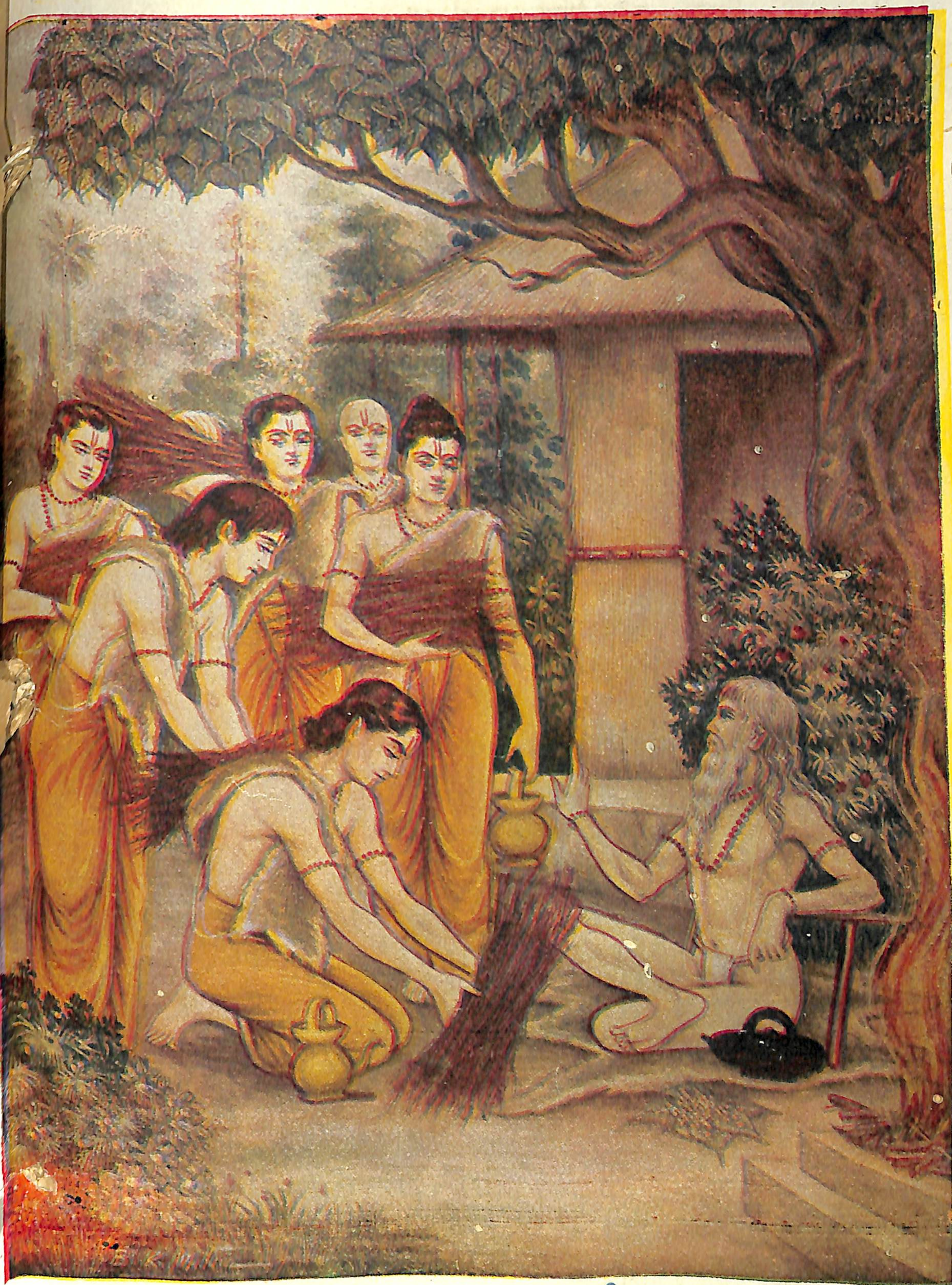
ऐसा राष्ट्र जो आततायियों के दाँत खट्टे नहीं कर सकता, जो उनको तलवार का उत्तर बन्दूक से नहीं दे सकता, और जो 'शान्त रहो, जाने दो, हो गई सो हो गई, तथा बीती को बिसार दो' की रट लगाये रहता है वह कभी जीवित नहीं रहने दिया जा सकता। अधिकांश लोगों ने उपनिषद् आदि सद्ग्रन्थों में प्रतिपादित

'शान्ति' शब्द के अर्थ को ही तत्त्वतः नहीं समझा, हाँ विपरीत जरूर समझा। इसका अभिप्राय यह है कि 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इन तीन आवृत्तियों द्वारा राष्ट्र को तीन भयानक आपत्तियों से सदा बचाया जाय। ऐसा होने पर ही "शास्त्रेण रक्षिते देशे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते" अध्ययन, व्यापार, ललित और याता यातादि के कार्य हो सकेंगे। जो देश शस्त्रों द्वारा सुरक्षित नहीं है, वहाँ किसको कौन पोथियाँ बाँचने देगा ? इसी कारण हमारे सभी देवी देवता तथा अवतार प्रायः शस्त्रधारी हैं। अस्तु—

पहली 'शान्ति' का यह अर्थ है कि राष्ट्र को हानि पहुँचाने के लिए बाहर के लोगों के आक्रमण या अन्य दुष्प्रयोगों को कुचलकर शान्त वातावरण को कदापि दूषित न होने देना। दूसरी 'शान्ति' का अभिप्राय यह है कि देश की व्यवस्था को अस्तव्यस्त करनेवाले आततायियों को सुधार कर, अन्यथा दमन करके मर्यादा को न बिगड़ने देना। तीसरी 'शान्ति' का प्रयोजन अपने कामादि अन्तःशत्रुओं का दमन कर, अपने को सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ, उदार तथा धीमान् मनुष्य बनाकर सुशान्त भारतमाता के मस्ताने पुजारियों के रूप में उपस्थित करके विश्व की दृष्टि में राष्ट्र को सम्मानित करना है। मालूम हो कि मुस्कराना बलवानों का अच्छा लगता है, सुन्दरता उन्हीं को भाती है जिनके शरीर में खून चमकता हो। शूर वीर ही प्रचण्ड भुजदण्डों की इङ्गितचेष्टा से जगत् के सामने यह कहते अच्छे लगते हैं कि हमारे यहाँ है—"शान्तिः शान्तिः शान्तिः" ॥

अथर्ववेद के मन्त्रभाग में 'मुण्डकोपनिषद्' कही गई है। और 'प्रश्नोपनिषद्' का अथर्ववेद के ब्राह्मणभाग में कथन किया गया है। भगवान् भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य के कथनानुसार यह प्रश्नोपनिषद् मुण्डकोपनिषद् में प्रतिपादित विषयों की पूर्ति के लिए है। अतएव प्रवृत्तिप्रयोजक, अनुबन्धचतुष्टय जो मुण्डकोपनिषद् का है, वही प्रश्नोपनिषद् का भी है। जैसे—अज्ञात सत्स्वरूप ब्रह्म इसका विषय है, वही ज्ञान होने पर सत्स्वरूप आत्मा ब्रह्म इसका प्रयोजन है, प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है, और साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी है।

इस उपनिषद् में ऋषियों की जो प्रश्नोत्तररूपा आख्यायिका है, वह ब्रह्मविद्या का महत्त्वबोधन के लिए है। अर्थात् ब्रह्मतत्त्व की इतनी महिमा है कि उसकी प्राप्ति में वे भी प्रयत्नशील देखे गये हैं, जिन्होंने बड़े बड़े धर्मानुष्ठानों में, बड़ी बड़ी उग्र तपश्चर्या तथा योगाभ्यसन में सारी आयु व्यतीत कर दी है। और ब्रह्मचर्य आदि साधनों के विधान करने के लिए भी यह कथा है। इस कथन का भाव यह है कि



र्षि पिप्पलाद के पास ब्रह्मजिज्ञासुओं का आगमन । મહર્ષિ પિપ્પલાદની પાસે બ્રહ્મજીજ્ઞાસુઓનું આગમન.

कहीं रास्ते में दैवात् मिलनेवालों के प्रश्न तथा उत्तर से किसी को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हुआ करती। कहीं इसका अपवाद भले ही हो, पर सब जगह यही देखने में आता है कि शिष्य को कुछ दिन अच्छी तरह संयमपूर्वक गुरुसेवा में रहने पर ही विद्याग्रहण करने की योग्यता प्राप्त होती है। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' यह वचन इसी का बोधक है। गुरु को भी शिष्य की अच्छी तरह पूरी परीक्षा कर लेनी चाहिए, क्योंकि अनधिकारी को दी हुई विद्या सफल तो होती ही नहीं, उलटे उससे अधिकतर हानि होनी ही सम्भव है। गीता में भी "इदं ते नातपस्काय" वचन से अनधिकारी को उपदेश देना मना किया गया है। यही कारण है कि पिप्पलाद ऋषि ने अपने समीप उपदेशग्रहण करने के लिए आये हुए सुकेशा आदि ऋषियों को "यद्यपि तुम लोग पहले से ही तपस्वी हो, तो भी तप, इन्द्रियनिग्रह, संयम, विशेषतः ब्रह्मचर्य से तथा श्रद्धा आस्तिक बुद्धि से आदर के साथ गुरुसेवा में तत्पर रहकर मेरी निगरानी में एक वर्ष पर्यन्त यहाँ और रहो" यह कहकर ही नहीं, बल्कि ऐसा करते हुए उनकी सर्वाङ्गपूर्ण परीक्षा लेकर उनके यम नियम का अवलोकन किया।

इस उपनिषद् में छः ऋषियों के छः प्रश्न हैं, इनके जो अलग अलग उत्तर हैं वे ही छः संवाद हैं। उनमें से पहले प्रश्नोत्तर में प्राण और रयि द्वारा प्रजापति को चराचर की उत्पत्ति का कारण कहा है। अधिकांश में देखा गया है कि सभी संसारिक पदार्थ दो के संयोग से उत्पन्न होते हैं, उनमें एक भोक्त होता है और दूसरा भोग्य, अर्थात् एक प्रधान और दूसरा गौण। प्रकृत में प्राण भोक्ता प्रधान है और रयि भोग्य, गौण है। अस्तु, यहाँ 'सुकेशा च भारद्वाज' इत्यादि दो दो पद एक एक व्यक्ति के बोधक हैं। अब आख्यायिका का वर्णन करते हैं, यथा—

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भि कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपराः ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

भावार्थ—१—भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, २—शिविकातनय सत्यकाम, ३—सूर्य का पौत्र गार्ग्य, ४—अश्वल का लड़का कौशल्य, ५—भृगुकुमार वैदर्भि,

६— कत का पौत्र कबन्धी. ये छहों वेदपारङ्गत, सगुण ब्रह्म में तत्पर ऋषि परब्रह्म की खोज में तत्पर होते हुए "यह हम को ब्रह्म के सम्बन्ध में सब कुछ बता देंगे" मन में ऐसा सोचकर लकड़ियों का भार लेकर भगवान् पिप्पलाद के समीप गये ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य— ब्रह्मतत्त्व अतिगहन है उसके जानने के लिए उद्योग भी बहुत अधिक करना पड़ता है। जैसे कोई बड़ा काम करने के लिए एक समूह और पूँजी एकत्र की जाती है, उसी प्रकार सुकेशा आदि छः ऋषि, जिनके पास वेदविज्ञान की निधि थी, वे गुरु के अत्यन्तोपयोगी काष्ठ, पत्र, पुष्प और फलादि सामग्रियों को लेकर ब्रह्मविद्या के जानने की इच्छा से उस समय के परमप्रसिद्ध, ब्रह्मनिष्ठ. ब्रह्मश्रोत्रिय, आचार्य पिप्पलाद महर्षि की सेवा में उपस्थित हुए ॥ १ ॥

विशेष— संसार में सभी व्यवहार लेने और देने से चल रहे हैं। जो देता नहीं वह पा नहीं सकता, जो बाजार में जाकर कुछ खर्च नहीं करेगा, वह कोई चीज खरीद भी नहीं सकेगा। कुछ लेना देना स्वार्थ के लिए होता है और कुछ परार्थ, शिष्टाचारसम्मानार्थ तथा कर्तव्य के अनुरोध से किया जाता है। ये सुकेशादि ऋषि विद्वान् और व्यवहारज्ञ थे, अतः आचार्य के पास खाली हाथ नहीं गये। ऐसी चीजें लेकर उपस्थित हुए जो किसी भी मनुष्य के लिए अत्यन्तोपयोगी हो सकती हैं ॥१॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

भावार्थ— सुकेशा आदि ऋषियों से महर्षि पिप्पलाद ने स्पष्ट कह दिया कि तुम लोग भी तपस्वी हो, तो भी तुम को अभी और भी तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य और आस्तिकता के साथ एक वर्ष तक मेरे पास रहना होगा। फिर तुम जो चाहो पूछना, मुझे मालूम होगा तो मैं स्पष्ट उत्तर देकर सब बातें समझा दूँगा ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य— जो विशेष बात होती है, वह खास तौर से कही सुनी जाती है। रहस्य की बात सबके प्रति कही भी नहीं जाती। पिप्पलाद ने सोचा कि सुकेशादि यों ही भावावेश में आकर तो घर से नहीं चल पड़े हैं, यहाँ "भिक्षामट गां चानय" याने 'भिक्षावृत्ति करने जाते हो, रास्ते में गाय मिले तो हाँकते लाना' वाला हिसाब तो नहीं है ? इन्होंने सोचा हो कि चलो ब्रह्मविद्या का रहस्य जान आवें, समझ में आगया तो ठीक है, अन्यथा हमारा हर्ज ही क्या हो जायगा ? इसी से

आचार्य पिप्पलाद ने इनको एक साल कड़ाई के साथ अपनी दृष्टि के सामने रह जाने की आज्ञा दी। साथ ही यह भी कहा कि फिर तुम लोगों को मुझ से जो चाहो पूछ लेने की छूट है, पर मैं अपने लिए उत्तर देने की छूट नहीं कर सकता। हाँ, यह छूट है कि मुझे जहाँ तक मालूम होगा, उत्तर समाधान करने में नहीं चूकूँगा ॥ २ ॥

विशेष—'यदि जानता होऊँगा तो कहूँगा' पिप्लाद ऋषि का ऐसा कहना उनकी अज्ञता या अल्पज्ञता का बोधक नहीं है, किन्तु नम्रता, शिष्टता का सूचक है। क्योंकि उन्होंने आगे पूछे जानेवाले सब प्रश्नों का यथावत् उत्तर दिया है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ अष्टविधमैथुनत्याग है, यथा—१—स्त्री का स्मरण, २—चर्चा, ३—क्रीड़ा, ४—देखना, ५—छिपकर बातें करना, ६—प्राप्त करने का संकल्प, ७—मिलने की चेष्टा, ८—सम्बन्ध। इससे रहित होने का नाम ब्रह्मचर्य है। मन्त्र के अन्त में 'इति' शब्द का प्रयोग 'आचार्य का कथन समाप्त हुआ' इस आशय के लिए है ॥ २ ॥

अब पहला प्रश्न पूछते हैं, यथा—

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

भावार्थ—तप आदि साधन करके नियमानुसार एक वर्ष बिता देने के बाद कत के पौत्र कबन्धी ने पिप्पलाद ऋषि के समक्ष उपस्थित होकर पूछा—भगवन्! यह सम्पूर्ण प्रश्न किससे उत्पन्न होता है? ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—पिप्लाद ऋषि की आज्ञानुसार जब वे सुकेशादि ऋषि विधिपूर्वक एक वर्ष बिता चुके, तो उनमें से कत के पौत्र ने 'सृष्टि की उत्पत्ति का कारण क्या है' यह प्रश्न इस आशय से पूछा कि यदि कोई सृष्टिकर्ता है, सारा जगत् जिसके आधार पर स्थित है, और जो इसे नियन्त्रण में रखता है, हम उस सबका मूल आत्मतत्त्व जानेंगे ॥ ३ ॥

विशेष—"कुतो ह[1] वा इमाः" इत्यादि कथन प्रजा याने सृष्टि के विषय में नहीं कहा गया, क्योंकि ब्रह्मविद्या के प्रकरण में प्रजापति की बनाई सृष्टि के विषय में पूछना और उसी के बारे में उत्तर देना, दोनों ही बात असङ्गत है। हाँ, सृष्टि के बहाने से अपरा विद्या और कर्म के समुच्चय का कार्य और गति (कार्य हैं, ब्रह्मलोक

(१) 'ह' स्फुट प्रसिद्ध। जहाँ 'वै' आये, उसका निश्चय और स्मरण अर्थ है।

और गति है देवयानरूप) ब्रह्मविद्या के साधनरूप वैराग्य के लिए यहाँ विवक्षित है। अर्थात् अपरा विद्या और कर्म के समुच्चय (साथ) से क्या कार्य होता है और कैसे गमन होता है ? यहाँ शिष्य के प्रश्न का समाप्तिरूप 'इति' शब्दार्थ है ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

भावार्थ—पिप्पलाद मुनि ने उससे कहा—यह बात प्रसिद्ध है कि प्रजा की उत्पत्ति करने की इच्छावाले प्रजापति ने तप किया और विचार किया कि ये रयि और प्राण दोनों ही मेरी अनेक तरह की प्रजा उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—ऋषि उत्तर देते हैं कि हे कबन्धी कात्यायन ! विराट् प्रजापति ने विचार करके भोक्तारूप अग्नि को और भोग्यरूप चन्द्रमा को रचा। यहाँ मायाविशिष्ट परमेश्वर से जगत् की उत्पत्ति होती है, विराट् से नहीं; ऐसा कहना चाहिए था। किन्तु इस रहस्य को कात्यायन पहले से जानता था, इस लिए आचार्य पिप्पलाद ने मायाविशिष्ट परमेश्वर से उत्पन्न महासृष्टि की उपेक्षा करके विराट् से उत्पन्न सृष्टि का निरूपण किया। अग्नि और चन्द्रमा को विराट् ने यह विचार कर उत्पन्न किया कि ये दोनों मेरी बहुत सी प्रजा को उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

विशेष—इस मन्त्र का सरल अभिप्राय यह है—पिप्पलाद कहते हैं कि हे ऋषे ! कल्प के आदि में पूर्वजन्म के कर्मों के फल से सबसे पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ। "प्रजा की उत्पत्ति हो" इस इच्छा से उसने तप किया, फिर आकाशादि रचे, फिर सूर्य चन्द्रमा को उत्पन्न किया। तदनन्तर उनसे साध्य संवत्सररूपी काल (समय) को रचा। तत्पश्चात् सूर्य चन्द्रमा से सिद्ध होनेवाले यवादि अन्नों को, फिर उससे वीर्य को, ततः मनुष्यादि प्रजा को रचा। इसके बाद सबके साधनभूत स्त्री और पुरुषों की सृष्टि की। इस मन्त्र में 'इति' शब्द का निश्चय अर्थ है ॥४॥

उक्त 'प्राण' और 'रयि' शब्दों का अर्थ कहते हैं, यथा—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

भावार्थ—यह निश्चय है कि आदित्य ही प्राण है और रयि ही चन्द्रमा है।

जो भी कुछ मूर्त और अमूर्त है, याने स्थूल और सूक्ष्म है सब रयि ही है, अतः मूर्ति ही रयि है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले मन्त्र में आये हुए प्राण और रयि शब्दों का अभिप्राय कहते हैं कि निःसन्देह सूर्य प्रसिद्ध प्राणरूप है, अन्न का भोक्ता अग्नि है—और चन्द्रमा अन्नरूप है। यह भोक्ता और भोग्य (अन्नरूप) दोनों एक ही प्रजापति है, यही मुख्य दशा में भोक्ता और गौण अवस्था में अन्न है। जो स्थूल तथा सूक्ष्म, मूर्त तथा अमूर्त जगत् है वह सब भोक्ता भोग्यरूप होने पर भी रयि है, अन्नरूप ही है। अमूर्त से, सूक्ष्म से अन्य जो मूर्त, स्थूलरूप है वही रयि अन्न है, क्योंकि अमूर्त भोक्ता से वह भोगा जाता है ॥ ५ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में प्राणशब्द से आदित्य और रयि शब्द से चन्द्रमा को कहकर प्रतिदिन सामने दीखनेवाले सूर्य चन्द्र का नहीं, प्रत्युत सूर्यमण्डल तथा चन्द्रलोक में स्थित पुरुष का ग्रहण करना चाहिए। चन्द्र सूर्यमण्डल तो जड लोकवत् हैं। जिस पुरुष में सूर्योपाधि है, वह भोक्ता है और चन्द्रोपाधिक भोग्य है। पृथ्वी, जल, और तेज मूर्त पदार्थ हैं, और वायु आकाश अमूर्त हैं। सूर्य को प्राण, अग्नि और भोक्ता तथा चन्द्रमा को रयि, जल एवं भोग्य कहा गया है।

इस श्रुति में सूर्य को प्राण कहा गया है, क्योंकि दिन रात के विभाग से सब नये पदार्थों को पुराने करता हुआ सूर्य मनुष्यादिकों के जीवन का मुख्य कारण होने से प्राण कहा जाता है। और धनादि भोग्य ऐश्वर्य का प्रधान निमित्त होने से मन को प्रसन्नता देनेवाले चन्द्रमा का नाम रयि है। "आदित्याज्जायते वृष्टिः" इस मानव धर्मशास्त्र में भी यह प्रदर्शित है कि 'सूर्य से वर्षा, उस से अन्न तथा अन्न से मनुष्य आदि प्राणियों की उत्पत्ति होती है।' यह समझो कि भोक्ता प्राणियों की स्थिति में परम्परया सूर्य ही मुख्य निमित्त है, भोगनेवाली क्रिया बढ़ानेवाला सूर्य ही है। और चन्द्रमा भोग्यप्रकृति को बढ़ानेवाला है, अतः भोग्य है। चन्द्रमा की किरण फैलने से प्रायः भोग्य औषधि आदि पदार्थ बढ़ते हैं। जो मूर्त, स्थूल और अमूर्त सूक्ष्म भोक्ता भोज्य जगत् है, वह रयि, भोग्य वस्तु 'मूर्तिरेव' स्थूल ही है ॥ ५ ॥

इस प्रकार रयि शब्द से कहे हुए अन्न की प्रजापतिरूप सर्वात्मकत कहते हैं, यथा—

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्या-

न्प्राणान्रश्मिषु संनिधत्ते यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब सूर्य उदय होकर पूर्व दिशा में जाता है, उस समय वह अपने प्रकाश की व्याप्ति से पूर्व दिशा के सम्पूर्ण प्राणों को अपनी किरणों के अन्तर्गत कर लेता है। इसी तरह जिस समय वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर, अग्निकोण आदिकों (दिशाओं को) प्रकाशित करता है, उस समय भी वह उन सबके प्राणों को अपनी किरणों से धारण करता है। अर्थात् अपनी किरणों के अन्तर्गत कर लेता है ॥ ६ ॥

वि० बि० भाष्य—सूर्य सब लोगों की चक्षु इन्द्रियों में प्रवेश करके स्थित है, उदय होने पर वह अपनी किरणों से पदार्थों को देखने की शक्ति देता है। इसी सूर्य की किरणें सबके शरीरों के बाहर भीतर व्याप्त होकर सबका पालन पोषण करती हैं। इसी तरह सूर्य अन्यान्य दिशाओं में उदय होकर अपनी किरणों से उन्हें आच्छादित करके उनमें स्थित हो, उनकी सर्वप्रकार की रक्षावृद्धि, समृद्धि करता है। इस कारण सूर्य सबका आश्रय है, सबका व्यापक आत्मा है ॥ ६ ॥

विशेष—महात्माओं से सुना है कि यहाँ प्राण शब्द से हृदय में स्थित श्वासरूप वायु न लेकर सब प्राणियों के जीवन का हेतु भोग करने करानेवाली शक्ति का ग्रहण करना चाहिए। उसे चाहो सूर्य अग्नि कुछ भी कहो। सब तैजस वस्तुओं का कारणभूत सूर्य के आश्रय से सब भोग भोगनेवाली शक्ति बढ़कर अपने अपने काम में प्रवृत्त होती है। जहाँ जहाँ सूर्य की किरणें फैलती हैं, वहाँ वहाँ औषधि, वृक्ष, वनस्पति, फल फूल आदि में प्रविष्ट होकर भोक्तृत्व शक्ति के चरितार्थ होने के लिए क्षेत्र तैयार करती हैं। अतः सबका रक्षक होने के कारण सूर्य अखिल विश्व का आत्मा है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते । तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—वह यह भोक्ता वैश्वानर विश्वरूप प्राण अग्नि ही प्रगट होता है, यही बात मन्त्र द्वारा भी कही गई है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—यह यह आदित्य सकल जीवरूप और सम्पूर्ण स्थावर जङ्गमरूप विश्वात्मा है। इसी से यह प्राण अग्निरूप है और यही नित्य प्रति सब दिशाओं में सूर्यरूप से अपना स्वरूप प्रकाशित करता हुआ उदय होता है, इसी बात को मन्त्र ने भी नीचे लिखे प्रकारानुसार कथन किया है ॥ ७ ॥

विशेष—यह सूर्य वैश्वानर अग्नि है, क्योंकि सभी जीवों को इसका प्रकाश प्रत्यक्ष हो रहा है, और सर्वजीवात्मक है याने सर्वरूप है। दाह का हेतु है, यही ऊपर को जाकर सर्वत्र प्रकाश करनेवाला है, यही बात ऋग्वेदस्थ वक्ष्यमाण जगती मन्त्र से कही गई है ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस सर्वरूप, किरणोंवाले, ज्ञानवान्, सर्वाधार, जगचक्षु, अद्वितीय, तापक्रिया करनेवाले सूर्यदेव को ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। यह आदित्य देव सहस्रों किरणोंवाला तथा सहस्रों प्रकार से वर्तमान और प्रजाओं के प्राणरूप से उदय को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्र में सूर्य की प्रशंसा के लिए अनेक विशेषणों का उल्लेख और उनके उदय का वर्णन किया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि साधक सूर्य के प्रकाश में असावधान न रहकर अपने भीतर उन गुणों को आश्रय दे, जो उसके भविष्य जीवन को कार्यक्षेत्र में ऐसा चमका दें जैसे सूर्य नभोमण्डल में उदय होकर जगत् प्रपञ्च को प्रकाशमान कर देता है ॥ ८ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में सूर्यदेव का बड़प्पन और कार्यसाधिका शक्ति का वर्णन करके यह सिद्ध किया गया है कि इस सूर्यसम्बन्धिनी शक्ति को अतुल सामर्थ्य प्रदान करनेवाला कितना महत्त्वशाली होगा ॥ ८ ॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥९॥

भावार्थ—संवत्सर ही प्रजापति है, उसके दक्षिण और उत्तर ये दो अयन-जो लोग इष्ट और पूर्तरूप कर्ममार्ग का आश्रयण करते हैं वे चन्द्रलोक पर ही विजय पाते हैं, अर्थात् वे केवल चन्द्रलोक को ही प्राप्त होते हैं। वे ही बारम्बार प्रजारूप से उत्पन्न होते हैं, वे ही पुनः पुनः आवागमन के चक्कर में पड़ते हैं, अतएव प्रजा की इच्छावाले सन्तानेच्छुक ऋषि लोग दक्षिणमार्ग को ही प्राप्त होते हैं अर्थात् उस मार्ग से गमन करते हैं, इस तरह जो पितृयाण है वही रयि है अर्थात् यह दक्षिणमार्ग चन्द्रमा से अधिष्ठित होने के कारण चन्द्रस्वरूप पितृयान है याने पितरों का मार्ग है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—सूर्य और चन्द्रमा ये दोनों संवत्सरादिरूप काल के सूचक हैं। प्रजापतिरूप संवत्सर के दक्षिणायन और उत्तरायण ये छः छः महीने के अवधिवाले दो मार्ग हैं, इनका दक्षिण और उत्तर की ओर जानेवाले सूर्य से पता लगता है, जो इष्ट, पूर्त याने श्रौत, स्मार्त कर्म करनेवाले हैं, वे चन्द्रलोकरूप स्वर्ग में जाते हैं, और वहाँ उत्तमोत्तम भोगों का भोग करके उन्हें इसी लोक में लौट आना पड़ता है, यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रजा की कामनावाले याज्ञिक लोग उन चन्द्रादि लोकों को दक्षिणायनमार्ग से जाते हैं, इसे पितृमार्ग भी कहते हैं। यह पितृयाणचन्द्रस्वर्ग, रयि है—भोग्य अन्न है ॥ ९ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में इष्ट शब्द से अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदानुष्ठान, अतिथिसत्कार और बलिवैश्वदेव इन श्रौतकर्मों का ग्रहण किया गया है। और पूर्त शब्द से, बावड़ी, कूआँ, तालाब आदि तथा देवमन्दिरनिर्माण, अन्नसत्र, (सदावर्त) आराम (विश्रालय) ये स्मार्तकर्म लिये गये हैं ॥ ९ ॥

दक्षिणायन से सूचित मार्ग से प्राप्त होने के कारण चन्द्र दक्षिणायन है यह कहकर अब सूर्य को उत्तरायण कहते हैं, यथा—

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानम-न्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामयतनमेतदमृतम-भयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोध-स्तदेषश्लोकः ॥ १० ॥

भावार्थ—किन्तु साधक दूसरे—इन्द्रियों को वश में रखनारूप तप, ब्रह्म-चर्य, श्रद्धा और ज्ञान के द्वारा स्थावर जङ्गम के आत्मा और प्राणरूप सूर्य को

"मैं यही हूँ" ऐसा जानकर उत्तर सूर्यलोक को पाते हैं। यह सूर्यलोक ही सकल प्राणों का समष्टिरूप आश्रय, अविनाशी और भयरहित है, यही परम आश्रय है, इस जगह से फिर कोई लौटता नहीं है, इस कारण यही अन्तिम गति है। इससे संसार की गति रुकती है, अथवा इससे अज्ञानी हटते हैं, इस कारण इसको 'निरोध' कहते हैं। इसी विषय में अगला श्लोक कहा गया है जो ऋग्वेद का [१।१६४।१२] मन्त्र है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे दक्षिणायनमार्ग से चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है, उसी तरह उत्तरायणमार्ग उपासक को सूर्यलोक प्राप्त कराता है। तप, ब्रह्मचर्य आदिक उसके वहाँ पहुँचा देने के साधन हैं, क्योंकि साधक 'अहंग्रह' रूप उपासना करके सूर्यरूप ही हो जाता है। इस उत्तरायणमार्ग से कर्मी लोगों के चलने की मनाही है। इसी बात का अगला मन्त्र समर्थन करता है ॥ १० ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में "एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते" अर्थात् सूर्यलोक या सूर्यमण्डल द्वारा ब्रह्मलोक में गया मनुष्य फिर लौटता नहीं है, और उपासना के बिना केवल कर्मी उस लोक में जा नहीं सकता। यह उक्ति गीतावचन से विरुद्ध होती है, उसमें लिखा है कि—'ब्रह्मलोकपर्यन्त जितने लोक हैं उन सबसे इस संसार में अवश्य आना पड़ेगा।' उत्तर है कि—जो पुरुष उपासना के बिना पञ्चाग्निविद्या, अश्वमेध, और ब्रह्मचर्य आदि साधनों से उत्तरायणमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में गये हैं, उनका पुनरागमन होता है। और जो ईश्वरोपासना तथा अहंग्रहोपासना से वहाँ गये हैं वे यहाँ नहीं लौटते। वे मनुष्य ब्रह्मलोक, सूर्यलोक में ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार कोई विरोध नहीं रह जाता। क्योंकि गीता में पञ्चाग्निविद्या, तथा अश्वमेधादिकों से (ईश्वरोपासना बिना) ब्रह्मलोक में जाकर लौटना लिखा है, इस उपनिषद् में आदित्य भगवान् की अहंग्रह उपासना से प्राप्त लोक से लौटने का अभाव लिखा है, अतः विषयभेद है ॥ १० ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥

भावार्थ—कोई कालवेत्ता लोग इस आदित्य को पाँच पैरोंवाला, सबका जनक, बारह अवयवोंवाला, जलवाला, अन्तरिक्ष लोक से परे, ऊँचे स्थान में रहनेवाला

बताते हैं। परन्तु दूसरे ज्ञानी उसे सर्वज्ञ कहते हैं, और उस सात चक्र तथा छः अरेवाले में ही इस जगत् को अर्पित बतलाते हैं ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—इस संवत्सररूप आदित्य को काल के ज्ञान से परिचित पुरुष पाँच पाँववाला और छः आकृतिवाला कहते हैं। हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, और शरत् ये पाँच ऋतुएँ इसके पाँच पाँव हैं, क्योंकि ये इसके गमनागमन को सूचित करते हैं। हेमन्त और शिशिर को एक मानकर यहाँ पाँच ऋतुएँ कही गई हैं। यह चैत्र, वैशाख मास आदि बारह अवयवोंवाला है। वही संवत्सर वृष्टि द्वारा उत्पन्न अन्न सबका जनक है, उसका स्थान अन्तरिक्ष लोक से भी ऊँचा है, वही जल बरसाता है। अन्य कोई कालज्ञ विद्वान् ऐसा भी कहते हैं कि वह सर्वज्ञ अर्थात सूर्यरूप संवत्सर; जिसमें ६ अरे लगे हुए हैं, ऐसे सात अश्वरूप चक्रवाला है, याने सप्त अश्वरूप सात चक्र, षड् ऋतुरूप ६ अरोंवाले उस निरन्तर गतिशील कालात्मा में ही सम्पूर्ण जगत् ऐसे अर्पित है, जैसे रथ के नाभि में अरे लगे रहते हैं ॥ ११ ॥

विशेष—कोई यह भी कहते हैं कि भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य ये ७ व्याहृति नामक लोक ही जिस संवत्सररूप काल में पहिए की तरह घूम रहे हैं। चाहे कोई कुछ कहे या माने. किन्तु यह निःसन्देह बात है कि सूर्यरूप प्रजापति उक्त दोनों ही प्रकार से सकल जगत् का कारण है, क्योंकि इससे संसार का रक्षण होता है ॥ ११ ॥

" संवत्सर भी मास तथा अहोरात्र के बिना औषधि आदिक उत्पन्न नहीं कर सकता, उत्तर यह है कि मास आदिक भी वही है, यह कहते हैं कि—

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्॥१२॥

भावार्थ—मास ही प्रजापति है, उसका कृष्णपक्ष रयि है और शुक्लपक्ष में यज्ञादि को करते हैं। और दूसरे अन्य पक्ष में, क्योंकि ये अन्न की उपासना करनेवाले हैं ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—मासरूप प्रजापति का कृष्णपक्ष रयि अन्न है और शुक्लपक्ष प्राण भोक्ता है, इस प्रकार प्राण आदित्यरूप अग्नि भोक्ता को जो जानते हैं वे कृष्णपक्ष में भी यज्ञ करते हुए मानों शुक्लपक्ष में करते हैं। जिन्हें उक्त ज्ञान नहीं है उनके शुक्लपक्ष में भी किये जानेवाले इष्ट पूर्त आदि कर्म कृष्णपक्ष में किये हुए समझे जाते हैं ॥ १२ ॥

विशेष—जैसे अन्धों को सूर्य के प्रकाश में अँधेरा ही जान पड़ता है, वैसे ही अन्तःकरण की ज्योतिः शक्ति का उत्तेजक शुक्लपक्ष ज्ञान के न होने से अज्ञों को कृष्णपक्ष ही दिखाई देता है, और ज्ञानशक्ति का आच्छादक कृष्णपक्ष भी विद्वानों को अखण्ड ज्ञानज्योति के माहात्म्य से शुक्लपक्ष ही रहता है ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

भावार्थ—दिन रात भी प्रजापति है, उनके दिन ही प्राण हैं और रात्रि ही रयी है, वे लोग प्राण की ही हानि करते हैं, जो दिन के समय रति के लिए संयोग करते हैं और जो रात्रि के समय रति करते हैं वे तो ब्रह्मचर्ययुक्त ही हैं ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे संवत्सररूप प्रजापति मासरूप अवयवों से पूर्ण होता है उसी तरह मासरूप प्रजापति की भी दिन रातरूप अङ्गों से पूर्णता होती है, अतः वह दिन रात भी प्रजापति है। दिन ही प्राणरूप अन्न का भोक्ता सूर्य है और रात ही अन्नरूप भोग्य चन्द्रमा है। जो मूर्ख दिन में स्वस्त्री के साथ मैथुनरूप रति करते हैं, वे दिनरूप प्राणों को गँवाते हैं। रात्रि ही ऋतुकाल में रतिक्रिया के लिए कही गई है, शास्त्रानुसार ऐसा करनेवाले ब्रह्मचर्यव्रत से भ्रष्ट नहीं होने पाते ॥ १३ ॥

विशेष—शरीर चतुर्वर्ग (धर्मार्थकाममोक्ष) का साधन है, इस शरीर-सम्पत्ति की रक्षा के लिए ऋषियों ने जरा जरा सी बात पर ध्यान दिया है और दिलाया है। दिन में उष्णता बढ़ी रहती है और रति में गर्मी बढ़ती है इससे प्राण न सूख जाय, इस लिए दिन में इसका निषेध किया गया है, और यह भी बात है कि वीर्य जीवन है, जैसे धन के नष्ट हो जाने से मनुष्य का मन तत्काल ही नृत्य कीर्तन आदिकों में नहीं लगता, उसी तरह रतिक्रिया में वीर्यव्यय से मनुष्य मनोयोगपूर्वक किसी काम के करने में समर्थ नहीं रहता इसी लिए इस रतिक्रिया का रात्रि में करने का अभिधान किया गया है। जीवनतत्त्वरूप वीर्य के रात्रि में व्यय होने पर विश्राम लेकर मनुष्य फिर दैनिक कार्य करने में समर्थ हो जाता है। फिर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्त्री जैसी अपनी बराबरी की शक्ति पर सदाचार-परायण पुरुष ही अधिकार रख सकता है, भला कहिए तो सही जो हर समय

कामोद्दीपक इङ्गित चेष्टायें करके स्त्रियों के समक्ष अपनी तुच्छता प्रगट करता रहेगा उस का दाम्पत्यजीवन कभी स्पृहणीय नहीं हो सकता। उपदेशार्थ प्रसङ्गतः यह कथन कर दिया गया है ॥ १३ ॥

अब तक जो कहा है वह उपयोगी होने के कारण कहा है साक्षात् प्रकृत नहीं। इस समय 'किससे यह प्रजा उत्पन्न होती है ? इस प्रकृत बात को कहते हैं, यथा—

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

भावार्थ—अन्न ही प्रजापति है, उसी से वह वीर्य उत्पन्न होता है, उस वीर्य ही से यह सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—अन्नरूप ही प्रजापति है, क्योंकि उपर्युक्त क्रम से दिन रातरूप प्रजापति अन्नरूप से परिणत हो जाता है। उस भक्षण किए हुए अन्न से प्रसिद्ध बात है कि पुरुष स्त्री का वीर्य-रेत उत्पन्न होकर सब मनुष्य आदि प्राणी उत्पन्न होते हैं। हे कबन्धिन्! प्रजा किससे उत्पन्न होती है ? तुम्हारे इस प्रश्न का 'दिन रातपर्यन्त सूर्य चन्द्ररूप जोड़े आदि के क्रम से अन्नरूप रेत के द्वारा यह प्रजा उत्पन्न होती है' यह उत्तर हुआ ॥ १४ ॥

विशेष—प्रसिद्ध व्रीहि यव आदि जो अन्न है, वह प्रजापति है, यह अन्न क्या चीज है ? दिन, मास तथा वर्षरूप काल इसके तैयार होने में लगते हैं, अतः तद्रूप ही यह अन्न है। जो जैसा अन्न खायगा, उससे बने वैसे ही रजो वीर्य से वैसी ही सन्तति उत्पन्न होगी। भाव यह है कि प्राणियों का खाया हुआ अन्न, पचकर रसादिरूप होकर चालीसवें दिन सातवाँ धातु वीर्य बनता है, वही स्त्रीपुरुषसंयोग से सन्तानोत्पत्ति का कारण होता है ॥ १४ ॥

इस प्रकार प्रश्न का निर्णय करके विहित मैथुन का इष्टफल कहते हैं, यथा—

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

भावार्थ—प्रसिद्ध है कि जो उस प्रजापतिव्रत का अनुष्ठान करते हैं वे मिथुन को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् लड़का लड़कीरूप जोड़ा पैदा करते हैं। उन्हीं को यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है, जिनमें तप, ब्रह्मचर्य है और जिनमें सत्य स्थित है ॥ १५ ॥

वि० वि० भाष्य— संसार में जो गृहस्थ प्रजापतिव्रत का आचरण करते हैं अर्थात् ऋतुकाल में भार्यागमनरूप व्रत का पालन करते हैं वे पुत्र और पुत्री को उत्पन्न करते हैं। जो इन्द्रियदमनरूप तपस्या और नियम के साथ पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु के समीप साङ्गोपाङ्ग पूर्ण रूप से वेद पढ़ते हैं, जो असत्य भाषण का त्याग करके सर्वथा सत्य बोलते हैं जो इष्ट पूर्त दान करनेवाले हैं और जो ऋतुकाल में ही स्त्रीसहवास के इच्छुक हैं, उन पुरुषों को ही चन्द्रमण्डल में पितृयानरूप ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में प्रजापतिव्रत के पालन करने का आदेश है। साथ ही उस व्रत का मिथुनोत्पत्तिरूप (पुत्र, कन्या का जोड़ा) फल भी कहा गया है, इसका अभिप्राय यह है कि शास्त्रों में कहे पौर्णमासी, एकादशी पर्वों को छोड़कर ऋतुसमय में अपनी स्त्री से संयोग करनारूप प्रजारक्षक नियम का जो सेवन करते हैं, वे अवश्य ही कन्या या पुत्र दोनों प्रकार के योग्य सन्तानों को पाते हैं, ऐसा करनेवालों को निर्वंश होने के कारण रोना नहीं पड़ता। न उनके सन्तान रोगी होते हैं। न उनके घर हिजड़े ही पैदा होते हैं ॥ १५ ॥

केवल कर्मी गृहस्थों के चन्द्रलोक प्राप्तिरूप फल को कहते हैं कि—

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

भावार्थ—जिनमें कुटिलता, अनृत, माया नहीं है—छल कपट नहीं है, उन्हीं को इस विशुद्ध ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—अनेकों विरुद्ध अटपटे व्यवहारों के कारण साधारण गृहस्थ लोगों में जिस प्रकार की कुटिलता—छल, कपट, प्रपञ्च, वञ्चना आदि होती है, वह जिनमें नहीं है, आम लोग जिस तरह क्रीड़ा—नाच, गान, विनोद आदि के समय असत्य भाषण करते हैं, वह जिनमें नहीं है और किसी प्रकार का मायावीपन का दोष नहीं है उनको ही साधनों के अनुसार निर्मल ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥१६॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में "बाहर से और प्रकार का प्रतीत होना और भीतर से दूसरी तरह का" यही मिथ्याचाररूपा माया का अर्थ है। लोक में "मन में कुछ और कहना कुछ अन्य, करना कुछ दूसरा ही" मायावियों का यह स्वभाव देखने में आता है। सत्यसम्भाषण, कौटिल्यराहित्य, मायाराहित्य और ईश्वरो-

पासन इन साधनों के बिना ब्रह्मलोक की प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहते हुए पिप्पलाद ऋषि ने अग्नि चन्द्रमा द्वारा प्रजापति ही सर्वजगत् का कर्ता है, यह उपदेश दिया, इस प्रकार प्रजापति विराट् को जगत् का कारण निश्चय करके अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर पा जाने के कारण कात्यायन ऋषि चुप हो गये ॥ १६ ॥

॥ इति प्रथमः प्रश्नः ॥

अथ द्वितीयः प्रश्नः

आधिदैविक—प्राणात्मा प्रजापति की उपासना कहकर उसी श्रेष्ठ गुणवाले प्राण की आत्मात्मिकरूप से उपासनाविधान के लिए कहते हैं कि—

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ, भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत्प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद उन महर्षि पिप्पलाद से विदर्भ देश के रहनेवाले भार्गव ने प्रश्न किया कि—'भगवन् ! इस प्रजा को कितने देवता धारण करते हैं ? उनमें से वे कौन कौन हैं जो इसे प्रकाशित कर रहे हैं ? तथा उनमें कौन सर्वश्रेष्ठ है ? ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले प्रश्न करने और उसका समाधान हो जाने के बाद उन आचार्य पिप्पलाद से भृगुपुत्र वैदर्भि ऋषि ने दूसरा प्रश्न किया कि (क)—हे भगवन् ! मन तथा प्राण इन तत्त्वों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों और आकाश आदि पञ्च महाभूतों के अभिमानी अधिष्ठातृ देवता में कितने इस शरीररूप प्रजा को विशेष रूप से धारण करते हैं ? । (ख)—ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों में विभक्त हुए उन देवताओं में से कौन से अपनी अपनी महिमा को प्रकाशित करते हैं ? याने अपने माहात्म्य को प्रकट करते हैं ? । (ग)—और इन भूत तथा इन्द्रिय-देवताओं में से कौन सर्वश्रेष्ठ है ? अर्थात् इनमें प्रधान कौन सा है ? ॥ १ ॥

विशेष—इस प्रकरण में प्रश्न करनेवाला, दूसरा ऋषि है, इसी से इसे दूसरे प्रश्न का पूछा जाना कहा गया है । पर यहाँ दूसरे मुनि ने साथ ही तीन प्रश्न पूछे हैं । यहाँ आचार्य पिप्पलाद के प्रति 'हे भगवन् ! यह सम्बोधन देने का

प्रयोजन यह है कि ये ज्ञानरूपी ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, ये शरीर ही सृष्टि हैं, इनकी स्थिति का मुख्य हेतु कौन है ? यह जानने के लिए द्वितीय प्रश्न किया गया है ॥ १ ॥

धारण करना, प्रकाश करना, और श्रेष्ठता प्राण को ही है, यह बात कहने के लिए आख्यायिका आरम्भ करते हैं ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ॥ ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

भावार्थ—पिप्पलाद ऋषि ने स्पष्ट उत्तर दिया कि ये जो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाक् मन, चक्षु और श्रोत्र देवता हैं याने जो शक्तियाँ हैं, एक समय अपनी अपनी सामर्थ्य को प्रकाशित करके कहा कि हम हर एक इस शरीर को सहारा देकर रक्षा करते हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—पिप्लाद ने कहा कि आकाश ही वह देव है और शरीर को आरम्भ करनेवाले आकाशसहित वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पञ्च महाभूत और इनके कार्य वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र आदि कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ ये या इनके अधिष्ठातृ देवता अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अपनी अपनी योग्यता प्रगट करते हुए स्पर्धापूर्वक कहने लगे कि इस संघात को आश्रय देकर हमने ही धारण किया है ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र में "वयम्" इस बहुवचन का प्रयोग अपने महत्त्व के बोधन के लिए कहा है। जैसे आकाश श्रोत्रादिकों ने शरीरधारणोपयोगी एक ही सामर्थ्य दिखाई। जैसे आकाश ने अवकाश देनेमात्र, श्रोत्र ने केवल सुनने की और चक्षु ने देखने की, किन्तु फिर भी उन्होंने अकेले ही शरीरसंघात के सभी व्यवहार को सिद्ध करने की दावा की। प्राण की श्रेष्ठता दिखलाना ही इस आख्यायिका का अभिप्राय है, भवतिक इन्द्रियाँ अभिमान के साथ कहती हैं कि इस शरीर को हमी कायम रखते हैं और चलाते हैं, अन्यथा टेक न रहने से छप्पर की तरह शरीर हमारे बिना शीघ्र ही गिर जाय ॥ २ ॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति । तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस समय सर्वश्रेष्ठ प्राण ने उनसे कहा कि तुम मोह में मत पड़ो, मैं ही अपने को पाँच भागों में विभक्तकर शरीर को आश्रय देकर इसकी रक्षा करता हूँ। पर उन्होंने उनका विश्वास नहीं किया ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—प्राण ने सबसे कहा—तुम व्यर्थ ही अज्ञानवश मिथ्या अभिमान के फेर में पड़े हो, मेरे बिना तुम कुछ नहीं कर सकते। मैं प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, इन पाँच रूपों को धारण करके शरीर को स्थित रखता हुआ इस प्रत्येक कार्यों के करने में समर्थ बनाता हूँ, पर प्राण की बातों पर उन्होंने विश्वास नहीं किया ॥ ३ ॥

विशेष—प्राण का अपने को श्रेष्ठ बताना यथार्थ है, क्योंकि कान, आँख आदि इन्द्रियों के बिना अन्धे बहरे आदि जीवित रहते हैं, पर प्राण की श्रेष्ठता आकाशवादियों ने एक दूसरे का मुँख देखते हुए और हाथों की अनेक इङ्गित चेष्टाओं तथा हास्य द्वारा बातों में उड़ा दिया ॥ ३ ॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह सुनकर प्राण अभिमान में भरकर ऊपर उठने लगा, तब तो उसके पीछे ही और सब इन्द्रियाँ भी उठने लगीं अर्थात् बाहर को निकलने लगीं। और जब प्राण फिर आकर बाहर ठहर गया तब ही सब इन्द्रियाँ भी उसके पीछे पीछे आकर वहीं स्थित हो गईं। जैसे मधुमक्खियों के राजा के उड़ जाने पर सब मधुमक्खियाँ उसके पीछे उड़ जाती हैं और उसके बैठ जाने पर बैठ जाती हैं, ऐसा ही वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्र आदि की शक्तियों ने भी किया, इसके अनन्तर ये सब सन्तुष्ट होकर प्राण की स्तुति करने लगीं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जब प्राण शरीर से निकल जाता है तब कोई इन्द्रियाँ काम नहीं देती हैं। इसी लिए लोकव्यवहार में मनुष्यों को सर्वस्व निछावर करके भी प्राणों की रक्षा करते हुए देखा गया है ॥ ४ ॥

विशेष—सदाचार प्राणों का भोजन है। और दुराचार उसके लिए हला-हल विष है, सदाचरण बिना प्राण सूख जाते हैं ॥ ४ ॥

अब प्राण की स्तुति करते हैं, यथा—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—यह प्राण अग्नि होकर तपता है, यह सूर्य है, यह मेघ, इन्द्र, वायु है, यह देव ही पृथ्वी, रयि, तथा जो सत् असत् एवं अमृत है, अर्थात् देवताओं का भोग्यरूप अमृत यह पदार्थ तुम ही हो ॥ ५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह प्राण अग्नि होकर तप रहा है, यह सूर्यरूप से प्रकाश कर रहा है, यह मेघ बनकर बरस रहा है, यह इन्द्र होकर प्रजा का पालन और मर्यादानाशक असुरों को दण्ड देता है, यह आवह प्रवह आदि सात प्रकार का वायु होकर मेघ तथा तारामण्डल को चलाता है, पृथ्वी होकर सब चराचर विश्व-प्रपञ्च को धारण करता है और यह चन्द्रमा होकर सबका पोषण करता है। कहाँ तक कहा जाय—स्थूल और सूक्ष्मरूप जगत् तथा देवताओं की स्थिति का कारण जो अमृत है, सो सब यही है ॥ ५ ॥

विशेष—जैसे "आयुर्वै घृतम्" की यहाँ घृत ही को आयु कहा है, उसी प्रकार प्रकृत में प्राण को अग्नि, सूर्य इन्द्रादिरूप से कहा है, जिसके बिना जो कार्य-साधक नहीं हो सकता, उस साधक को उस पदार्थ के साथ तद्रूपता का व्यवहार लोक में देखा गया है। प्राण सबमें प्रधान है उसके बिना अग्नि आदि कोई काम नहीं कर सकते, अतएव प्राण के लिए "यह अग्नि है, यह सूर्य है" इत्यादि कहा है ॥ ५ ॥

प्राण की सर्वात्मकता कहकर वह सबका आधार है अब यह कहते हैं कि—

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं उसी प्रकार ऋक, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण ये सब प्राण में ही स्थित हैं ॥ ६ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह संसार एक चक्र के तरह है, उसमें प्राण पहिए के नाभीस्थानीय है, उस प्राणरूप नाभी में ऋग्वेदादि पृथिवी, चन्द्र, सूर्य और भी जो माया के कार्य हैं वे सब प्राण में अरों के तरह अर्पित हैं ॥ ६ ॥

विशेष—जो कुछ है प्राणरूप ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ऋक्–ऋचा नाम, जिन मन्त्रों में पादों का संकेत हो। यजु उसको कहते हैं जिन मन्त्रों के पादों का नियमन हो। और साम वह है जो मन्त्र गायन के तरह पढ़ा जाय ॥ ६ ॥ और भी—

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे प्राण ! विराटरूप प्रजापति तूँ ही पिता के शरीर में वीर्यरूप से और माता के शरीर में सन्तानरूप से विचरता है। तूँ माता पिता की आकृतिवाला होकर उत्पन्न होता है, ये मनुष्यादि सकल प्राणी तुझे ही भेंट अर्पण करते हैं, क्योंकि तूँ सब इन्द्रियों के साथ स्थित रहता है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे प्राणदेव ! तुम प्रजापति हो, विराट् हो, तुम माता के गर्भ में पहले से स्थित होकर उत्पन्न होते हो, तुम राजा की तरह शरीरमहल में विराजमान हो, तुम्हारे लिए यह मनुष्यादि सब प्रजा नेत्रादि पात्रों में रखकर रूपादिकों के ज्ञानरूप सामग्री को भेंट दे रहे हैं ॥ ७ ॥

विशेष—सबके निकलने और पैठने का निमित्त वायु है। गर्भाशय में वीर्य का प्रवेश और वहाँ से बच्चे का निकलना, प्राण या प्राण के भेदों से ही होता है, अतः उत्पत्ति विनाश का हेतु प्राण का होना समुचित ही है ॥ ७ ॥

प्राण ही मुख्य विभूति है अब वह कहते हैं कि—

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा । ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥

भावार्थ—तूँ देवताओं के लिए मुख्य अग्नि है। पितृगण के लिए पहली स्वधा है। और अथर्वाङ्गिरस ऋषियों के लिए अर्थात् चक्षु आदि प्राणों के लिए सत्य आचरण है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—हे प्राण ! तूँ होम किए हुए पदार्थों को देवताओं तक पहुँचानेवाला परमश्रेष्ठ अग्निस्वरूप है, नान्दीमुख श्राद्ध में पितरों के निमित्त दिये हुए अन्न के लिए स्वधा शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह कर्म देवताओं की पूजा से भी पहले किया जाता है, उसे पितरों के समीप पहुँचानेवाला तूँ ही है, चक्षु आदि

इन्द्रियों का चेष्टित और उनकी देह आदि को धारण करने आदि की सत्ता तूँ ही है। अथवा तूँ ही ऋषिगणों का सत्याचरण और आङ्गिरस ऋषियों में अथर्वा है ॥ ८॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में 'ऋषीणाम्' यहाँ ऋषि शब्द से 'इन्द्रियाँ' ली गई हैं, यहाँ इन्द्रियों को प्राण भी कहा गया है। यहाँ पर 'ऋषीणाम्नाम-इन्द्रियाणाम्' का विशेषण है 'अथर्वाङ्गिरसाम्'। इसका अर्थ है—जो संघात को पुष्ट करे वह हुआ 'अथर्वा' आगे 'अङ्गिनः-शरीरस्य रसाः सारभूताः' जो शरीर का सार रस हो। सम्मिलित अर्थ यह हुआ कि संघात को पुष्ट करनेवाला शरीर का रस है ऐसी जो इन्द्रियाँ उनकी चेष्टाओं का जो सत्य हो-सचमुच स्थान हो-शरीर हो, वह भी तूँ है ॥ ८ ॥

'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके देवताओं को बलि दी जाती है; 'स्वधा' शब्द पितरों के लिए दिये गये भाग के समय प्रयुक्त होता है; 'वषट्' शब्द का प्रयोग ऋषियों के लिए आता है ॥ ८ ॥

और भी—

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

भावार्थ—हे प्राण! तूँ इन्द्र है, तेज के कारण तूँ ही रुद्र है, तूँ ही पालनकर्ता है, तूँ ही ज्योतिर्गण का अधिपति सूर्य है तथा अन्तरिक्ष में सञ्चार करता है ॥९॥

वि० वि० भाष्य—हे प्राणदेव! सबको राजनियन्त्रण में रखनेवाला दैवीशक्ति को तत् तत् कार्यों में नियुक्त करनेवाला तूँ इन्द्र है, तूँ ही संहारक तेज से जगत् का प्रलयकर्ता रुद्र है, स्थितिकाल में विश्व का पालनकर्ता विष्णु भी तूँ ही है। तूँ ही सम्पूर्ण ज्योतिर्मण्डल का अधिपति सूर्य है, क्योंकि अनन्त अन्तरिक्ष में विचरण करने की तेरे में असीम सामर्थ्य है ॥ ९ ॥

विशेष—कोई पण्डित यह भी अर्थ लगाते हैं कि उत्पत्ति, स्थिति तथा लय में भी प्राण ही सबका रक्षक है, इसी से उसे इन्द्र, रुद्र और विष्णु कहा गया है। उत्पत्ति स्थिति में तो प्राण सहायक हैं ही, किन्तु लय में मरने में भी वह रक्षक है, क्योंकि जिनकी प्राणशक्ति प्राणायामसामर्थ्य-प्राणधारण करने की योग्यता अधिक बढ़ी हुई होगी, यह इच्छामरण (तीर्थकाल देश में ही मरना) होगा। जैसे

भीष्मपितामह आदि अनेक सन्त हुए और होते हैं। प्राण तेजस्वी पुरुषों का रक्षक है, क्योंकि वह उनके हृदयाकाश में विचरता है, अर्थात् उनके हृदय में बल देता है ॥९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणते प्रजाः। आनन्द-रूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥ १० ॥

भावार्थ—हे प्राण! जब तुम मेघरूप होकर बरसते हो, तब तुम्हारी यह सब प्रजा यह समझकर आनन्द से स्थित होती है कि 'अब यथेच्छ अन्न होगा'—'खूब खाद्य सामग्री पैदा होगी' ॥ १० ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे प्राणदेव! जिस समय तूँ बादल बनकर पानी बरसाता है, उस समय यह सम्पूर्ण प्रजा अन्न प्राप्त करके प्राणन यानी प्राणक्रिया करती है याने जीवन धारण करती है। उसे आशा हो जाती है कि अब क्या कमी है? खाने पीने की खूब मौज हो जायगी ॥ १० ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि अनुकूल वायु की प्रेरणा से समय पर आकाश में बादल फैल जाते हैं, फिर ताप से वे बरसते हैं, उससे औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनका भक्षण कर मनुष्य और पशु कीट पतङ्गादि प्राणिमात्र को जीवन धारण करके आनन्द प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यह सर्वात्मक-सर्वरूप भी है तो भी इसमें कोई अशुद्धि का सम्पर्क नहीं है, यह कहते हैं, यथा—

व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वय-माद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे प्राण! तूँ व्रात्य है (संस्काररहित है) एकर्षि नामक अग्नि तूँ है, भोक्ता, विश्व का सत्पति तूँ है, हम तेरे लिए खाद्य (खाने पीने के पदार्थ) देनेवाले हैं, हे वायो! तूँ हमारा पिता है ॥ ११ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे प्राणदेव! तूँ व्रात्य याने संस्कारहीन है, क्योंकि तू सबसे पहले उत्पन्न हुआ है, उस समय न तो कोई संस्कारविधि बनी थी, न कोई संस्कार करानेवाला आचार्य ही था। अर्थात् तूँ स्वभाव से शुद्ध है। ऋषियों में प्रसिद्ध 'एकर्षि' नामक अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियों का भोक्ता और संसार का सर्वोत्तम पति है। हम लोग तेरे खानेयोग्य हविषान्न के देनेवाले हैं। हे मातरिश्वन्! तूँ हमारा पिता है [पाठान्तर में] तूँ वायु का पिता है ॥ ११ ॥

विशेष—'एकर्षि' नाम का अग्नि अथर्ववेद में प्रसिद्ध है। सारे संसार की वस्तुओं का संस्कार का—बनाव शृङ्गार होता है, पर जो सबको दुरुस्त करे उसे कौन सुधार सकता है? फिर जो अनादि हो उसे संस्कृत करने का मौका ही किसे मिल सकता है, क्योंकि उससे पहले और कोई था ही नहीं ॥ ११ ॥

स्तुति करके अब कार्य कहते हैं, यथा—

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥

भावार्थ—तेरा जो स्वरूप वाणी में स्थित है, तथा जो कान, आँख और मन में व्याप्त है, तूँ उसे शान्ति दे, तूँ उत्क्रमण मत कर ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—हे प्राणदेवते! बोलने की चेष्टा करती हुई जो तुम्हारी मूर्ति वाणी में स्थित है, जो श्रोत्र इन्द्रिय में, और जो मन में व्याप्त हो रही है, उस को शान्त भाव से स्थित-स्थिर करो, कृपा करके उस मूर्ति को बाहर न निकलने दो, उसी से हम सबका कल्याण होगा—भला होगा। हम लोग सब आप के सेवक हैं।

विशेष—जो आया है सो जायगा अवश्य, जो जन्मा है वह अपने पाकेट में धरकर मृत्यु को भी साथ लाया है, यह सही है तो भी मनुष्य को सदा शुभसङ्कल्प करना चाहिए, इसी लिए प्रकृत मन्त्र में कहा है कि—'हे प्राण! तूँ हमारे शरीर में से न निकलना, अन्यथा हम कहीं के न रह जायँगे। तूँ अपान-मूर्ति से हमारी वाणी में विराजमान है, व्यानरूपी तेरी मूर्ति कर्णेन्द्रिय में स्थित रहकर सुनने के काम को कर रही है, मुख और नासिका से जा-आकर प्राणमूर्ति अपने व्यापार में लगी है। इसी तरह हमारे प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग में तेरी मूर्ति-अपनी कार्यवाही में रत है, यदि तूँ चलता बना तो कुशलप्रबन्धक के छोड़ देने पर कारखाने की तरह हमारे शरीररूपी पुतलीघर का सारा ही काम काज चौपट हो जायगा। अतः हमारे चाहे जिस सेवा के बदले में तूँ कहीं मत जा ॥ १२ ॥

हम पहले की तरह स्वतन्त्रबुद्धि नहीं हैं, यह कहते हैं, यथा—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥

भावार्थ—यहाँ सब कुछ एवं स्वर्गलोक में जो कुछ वर्तमान है, वह प्राण के

ही अधीन है। जैसा माता पुत्र की रक्षा करती है, उसी तरह तूँ हमारा संरक्षण कर, और हमें श्री तथा बुद्धि दे ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस लोक में जो कुछ भोगोपयोगी सामग्री हैं और स्वर्ग में देवताओं के लिए जो भोग्य पदार्थ हैं वे सब प्राण के ही अधीन हैं, हे प्राण ! जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है, वैसे ही तुम हमारी रक्षा करो। हमें ऐश्वर्यप्रदान करो, क्योंकि हमें सांसारिक व्यवहारार्थ इसकी आवश्यकता पड़ती है, साथ ही हमें बुद्धि भी इस लिए दो कि हम आप के दिए हुए ऐश्वर्य का सदुपयोग कर सकें, और आपकी महिमा को जान सकें, तथा अपने कर्तव्याकर्तव्य को समझ सकें ॥ १३ ॥

विशेष—प्राण सब कुछ दे सकता है, प्राण की कृपा होगी, याने प्राण रहा तो ब्राह्मण को वेदरूप ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है, क्षत्रियों को शौर्य, वैश्यों को निधि और शूद्रों को सेवाधर्म का ऐश्वर्य मिल सकता है। इसी तरह संन्यासी प्रशमरूप ऐश्वर्य, गृहस्थ पालन, वानप्रस्थों को यम नियम और ब्रह्मचारियों को गुरुशुश्रुषारूप ऐश्वर्य-सम्पत्ति मिलने में सफलता प्राप्त हो सकती है। प्राण नहीं तो कुछ नहीं। इस प्रकार प्राण की स्तुति करके मन आदि इन्द्रियाँ चुप हो गईं। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है, शिवि के पुत्र सत्यकाम को अपने प्रश्न या प्रश्नों का समुचित उत्तर सुनकर बड़ा सन्तोष हुआ। और वे आचार्य को प्रणाम करके एक ओर चुप होकर बैठ गये ॥

॥ इति द्वितीय प्रश्नः ॥

——❁❁❁——

॥ अथ तृतीयः प्रश्नः ॥

सर्वात्मक होने के कारण भोक्ता, प्रजापति प्राण की श्रेष्ठता निश्चित होने पर अन्य उपासनाविधान करने के लिए उस प्राण की उत्पत्ति और स्थिति आदि के निर्णयार्थ तीसरे प्रश्न का आरम्भ किया जाता है, यथा—

अथ हैनं कौशल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

भावर्थ—इसके बाद कोशलदेश के रहनेवाले आश्वलायन नामक ऋषि ने प्राण की उत्पत्ति, स्थिति के निर्णय के लिए निम्नोक्त ६ प्रश्न किये। हे भगवन्! १—यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है ?। २—इस शरीर में किस प्रकार आता है ?। ३—यह अपना विभागकर किस प्रकार स्थित रहता है ?। ४—फिर किस वृत्ति से शरीर में से बाहर को निलकता है ?। ५—किस प्रकार बाहर के अधिभूत, अधिदैव पदार्थों को धारण करता है ?। ६—और अध्यात्मवस्तुओं को भी कैसे धारण करता है ? ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जब पिप्पलाद ऋषि ने दूसरे प्रश्न का उत्तर दे दिया तो आश्वालायन ने पूछा कि–हे आचार्य !

क—प्राण की उत्पत्ति का कौन उपादान या निमित्त कारण है ?।

ख—इस स्थूल शरीर में इसके आने की ऋति क्या है ?।

ग—प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान इन भेदों से इस देह को किस तरह धारण करता है ?।

घ—मरते समय किस दरवाजे से बाहर को निकलता है ?।

ङ—पञ्च महाभूतों को कैसे आश्रय देता है ?।

च—और देह तथा इन्द्रियादिकों को कैसे सहारा देता है ? ॥ १ ॥

विशेष—उक्त दूसरे प्रश्न में प्राण का महत्त्व मुख्य भोक्तृत्व तथा अनेकरूपता कही गई है, अब इस तीसरे प्रश्न में प्राण के शरीर में स्थित रहने के विषय में कहा जाता है ॥ १ ॥

कौशल्य से इस प्रकार पूछे जाने पर—

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसोति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

भावार्थ—आचार्य पिप्पलाद ने उससे कहा "तूँ बड़े कठिन प्रश्न पूछता है, तूँ बड़ा ब्रह्मवेत्ता है, अतः मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ" ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—पिप्पलाद मुनि ने परमप्रसन्न होकर उससे कहा कि पहले तो प्राण को जानना ही बड़ा कठिन काम है, तिस पर भी तूँ परमदुर्विज्ञेय प्राण का जन्म आदि पूछता है, इसी तरह तैंने और भी प्राण के विषय में पूछ ताछ की है, ये तेरे प्रश्न बड़े कठिन हैं इनके उत्तर के लिए शायद मुझे कहीं पर युक्त,

युञ्जान विधियों का अनुशीलन करना पड़ जाय। चाहे जो कुछ भी हो तो भी तूँ ब्रह्मवेत्ता है, अतः मैं तुझ से कहता हूँ सावधान होकर सुन ॥ २ ॥

विशेष—विद्वान् लोग प्रश्न के बोलने की भाषा से ही दूसरे की बुद्धि की परीक्षा कर लेते हैं, प्रकृत में कौशल्य ऋषि ने जो पूछा है उससे उसके ज्ञान की योग्यता का पता चल गया, प्रश्नकर्ता कितने पानी में हैं, उसकी गहराई को नापकर आचार्य उद्दालक ने उत्तर देना सहर्ष स्वीकार कर लिया ॥ २ ॥

पहले प्रश्न का उत्तर देते हैं कि यथा—

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैत-स्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है, जैसे मनुष्य से छाया उत्पन्न होती है, वैसे ही इस आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, याने उसमें व्याप्त रहता है, और मनःकृत सङ्कल्प से इस शरीर में जाता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस प्राण की उत्पत्ति परमात्मा से ही है, शरीर में छाया के समान यह मन के कार्य से अर्थात् मन के सङ्कल्प और इच्छादि से जो कर्म होते हैं उनसे इस शरीर में आता है। शरीर से उत्पन्न हुई छाया की तरह यह प्राण सत्य अक्षर परमपुरुष से उत्पन्न होता है। छाया भी एक मिथ्या ही है, उसी प्रकार छायास्थानीय यह मिथ्या तत्त्व है, जो परमपुरुष में व्याप्त है, समर्पित है ॥३॥

विशेष—इस एक मन्त्र में यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है, यह पहले प्रश्न का उत्तर हो गया। मन के सङ्कल्प करके उत्पन्न हुए जो शुभाशुभ कर्म हैं उनसे ही इस स्थूल शरीर में आता है, यह दूसरे प्रश्न का उत्तर हो गया ॥ ३ ॥

अपने विभागों से प्राण कैसे रहता है ? दृष्टान्त के साथ इस तीसरे प्रश्न का उत्तर कहते हैं, यथा—

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रा-मानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे कोई चक्रवर्ती राजा ही "तुम इन इन गावों का शासन करो" इस प्रकार कर्मचारियों को अधिकार देकर नियुक्त करता है। वैसे ही यह प्राण भी चक्षुइन्द्रिय आदि रूप अन्य प्राणों को भिन्न भिन्न स्थानों में स्थापित करता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—"कुरु देश के इतने ग्रामों का अध्यक्ष तुमको बनाया" "तथा पाञ्चालदेश के इतने ग्रामों का अधिष्ठाता तुमको बनाया" इस प्रकार का अधिकार जैसे सार्वभौम राजा अपने अधिकारियों को देता है, उसी तरह इस मुख्य प्राण ने चक्षु आदि इन्द्रियों को तथा अपानादि अपने भेदों को भिन्न भिन्न स्थानों में नियुक्त कर रखा है ॥ ४ ॥

विशेष—समुदाय में मुख्य तथा बलवान् ही राजा होता है, इस शरीर में प्रधान होने के कारण प्राण इन्द्रियों का राजा है। उसने इन्द्रियों को उन उनके कर्म और स्थान में अपनी शक्ति से नियत कर रखा है अर्थात् भाव यह है कि प्राण ने ही नेत्र आदि भेद से इस शरीर को चला रखा है ॥ ४ ॥

विभाग और प्रेरकता को कहते हैं कि—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

भावार्थ—वह प्राण, पायु और उपस्थ में अपान को नियुक्त करता है, मुख और नासिका से निकलता हुआ यह प्राण, आँख तथा कान में, इसी तरह मध्य में समान रहता है, खाए हुए अन्न को समभाव से शरीर में सर्वत्र पहुँचाना समान वायु का काम है, उस प्राणाग्नि से ही यह सात ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—यह प्राण मलद्वार और मूत्रद्वार जननेन्द्रिय में इस लिए अपान वायु को स्थापित करता है जिससे कि वह मल मूत्र को बाहर ढकेल सके। सम्राट् प्राण खुद मुख और नासिका के द्वार से निकलकर नेत्र और कर्ण में निवास करता है, खाए हुए अन्न के रस को शरीरदेश में सब जगह पहुँचाने के लिए मध्य में समान वायु को नियुक्त किया हुआ है। अतः समान वायु से जो अन्नरस जहाँ तहाँ जाता है उससे सात ज्वालाएँ निकलती हैं ॥ ५ ॥

विशेष—इस मन्त्रमें सप्तार्चिषः पद का भाव यह है कि जठराग्नि में जो अन्न हवन किया जाता है वही मानों इन्धन है उससे जठरानल में जो उत्ताप होता है उससे सात लपटें निकलती हैं। २ नेत्र, २ कर्ण, २ नासिका, १ मुख ये सात लपटें हैं अर्थात् इन सातों में प्राण दर्शन श्रवण आदि विषयों का प्रकाशक होता है ॥ ५ ॥

व्यान नाडी के स्थान में कहने के लिए नाडियों का उत्पत्तिस्थान हृदय है यह कहते हैं कि—

हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

भावार्थ—हृदय में ही यह आत्मा है। इस हृदय में १०१ प्रधान नाडियाँ हैं, उन नाडियों में प्रत्येक में एक एक सौ शाखानाडियाँ हैं। और फिर उनमें भी एक एक शाखानाडी में बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखानाडियाँ हैं। इन सब में व्यान प्राण विचरता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—इस शरीर के अस्थि मज्जा, त्वचा आदिकों को नाड़िरूप रस्सियों ने इस प्रकार बाँध रखा है जैसे लकड़िहारा लकड़ियों के भार को बाँध लेता है। जैसे सूर्य से निकली हुई किरणें इधर उधर फैली हुई हैं उसी तरह हृदय से निकलकर इधर उधर छितराई हुई नाडियों का नियन्त्रण व्यान करता है। अन्यथा यह शरीर सन्धिस्थान, स्कन्धदेश और मर्मस्थल आदि जगहों से तुरन्त ही गिर पड़े ॥ ६ ॥

विशेष—"नाडियाँ इतनी ही हैं" इसका नियम नहीं है, इनकी संख्या के विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। सामान्यतया इनकी संख्या के विषय में यह प्रसिद्धि है कि मूलशाखा और प्रतिशाखारूप सब नाड़ी मिलकर ७२ करोड़ ७२ लाख १० हजार दो सौ एक होती हैं। (७२७२१०२०१) ॥ ६ ॥

इस समय उदान का स्थान कहते हुए 'किस कारण से उत्क्रमण करता है ?' इस चौथे प्रश्न का उत्तर कहते हैं, यथा—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—तथा एक नाड़ी द्वारा ऊपर की ओर जानेवाला उदान वायु जीव को पुण्यजनक शास्त्रोक्त कर्म द्वारा पुण्यलोक को ले जाता है और पापकर्म से पापमयलोक को पहुँचाता है। और पुण्य पाप दोनों तरह के मिश्रित कर्मों करके उसे मनुष्यलोक को प्राप्त कराता है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य— ऊपर नाड़ियों की जो संख्या बताई गई है उनमें से एक सुषुम्ना नाम की नाड़ी ऊपर को गई है, उसके द्वारा उदान वायु ऊपर को जाकर जीव को पुण्यजनक कर्म के द्वारा देवयोनि आदि पुण्यलोक को, पापपूर्ण कर्म से पशु पक्षी आदि की योनिरूप परलोक को और मिश्रित कर्म से मनुष्ययोनि को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

विशेष—१—किस द्वार से ? २—किस वृत्ति से ? तथा ३—किस निमित्त से ?, प्राण निकलते हैं, ये तीन प्रश्न हैं। सुषुम्नानाड़ीद्वार से तथा उदानवृत्ति से निकलते हैं, इस प्रकार प्रथम दो अंशों का उत्तर देकर अब प्रकृत मन्त्र में उक्त तृतीय अंश का उत्तर दिया गया है ॥ ७ ॥

'कैसे बाह्य शरीर को धारण करता है ?' और 'कैसे आभ्यन्तर देह को धारण करता है ?' इस समय दो कण्डिकाओं से इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देते हैं, यथा—

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापान-मवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

भावार्थ—निश्चय है कि आदित्य ही बाह्य प्राण है। यह इस चक्षु में स्थित प्राण पर अनुग्रह करता हुआ उदित होता है। पृथ्वी में जो देवता है वह मनुष्य के अपान वायु को आकर्षण किये हुए है। इन दोनों के बीच में जो आकाश है वह समान है और वायु ही व्यान है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—जो चक्षु में स्थित प्राण को सहायता देता है अर्थात् रूपग्रहण करने के लिए नेत्र में ज्योति देता हुआ उदित होता है वह आदित्य ही बाहर का प्राण है। "मैं पृथिवी हूँ" इस अहमिति का अभिमान करनेवाला जो देवता है वह मनुष्य के अपान को वश में किये हुए है, अर्थात् उसे (अपान को) नीचे की तरफ खींचकर सहायता देता है। स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य में जो आकाश है उसमें रहनेवाला वायु आकाश शब्द से कहा जाता है। वह वायु के ऊपर अनुग्रह करता है और जो बाहर का सामान्य वायु है वह व्यान वायु को सहायता देता है ॥ ८ ॥

विशेष—प्रकृत व्याख्यान में पृथ्वी और स्वर्ग के बीच के आकाश में जो वायु है उसे "मञ्चाः क्रोशन्ति" याने मचान कुरसी बोल रही हैं ऐसा कथन बाधित

होने के कारण "मञ्च पर बैठे आदमी बोल रहे हैं" इस न्याय से आकाश कहा गया है ॥ ८ ॥

कहते हैं कि—पृथ्वी का अभिमानी देवता वह पुरुष की अपानवृत्ति को आकर्षण अपने अधीन करके स्थित रहता है। अर्थात् अपान वायु को नीचे की ओर आकर्षण खींचे रहता है, यह खिचाव शरीर पर मानों बड़ा ही अनुग्रह है। सचमुच अवश्य ही बड़ी कृपा है, पृथ्वी के अभिमानी अग्नि देवता की। नहीं तो यह शरीर अपने भारीपन के कारण गिर पड़ता अथवा अवकाश मिलने पर आकाश में उड़ जाता। इसी प्रकार आदित्यरूप प्राण भी नेत्रों पर बड़ा अनुग्रह रखता है, अन्यथा आँखें घट पटादि कुछ भी देख ही न पावें ॥ ८ ॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥ ९ ॥

भावार्थ— प्रसिद्ध तेज ही उदान है, अतः जिसका तेज शान्त हो जाता है वह मन में लीन हुई इन्द्रियों के सहित पुनर्जन्म को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—यह बात लोकप्रसिद्ध है कि आदित्यरूप तेज ही उदान है अर्थात् वही अपने प्रकाश से उदान वायु को अनुगृहीत करता है। उत्क्रमण करनेवाला उदान वायु है, वह तेजःस्वरूप है। इस लिए जब मनुष्य की गरमी ठण्डी हो जाती है तब वह मन में प्रविष्ट होती हुई वागादि इन्द्रियों के सहित पुनर्जन्म के हेतुभूत मृत्यु को—देहान्तर को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

विशेष—मुख्य सहायक सर्वान्तर्यामी तेज की सहायता से उदान नामी प्राण सब जीवों को जीवित रखने में समर्थ होता है। इसी लिए रोग वृद्धावस्था आदि कारणों से जब शरीर का स्वाभाविक तेज नष्ट हो जाता है, जब देह की गरमी निकल जाती है तब सहायक के बिना ठहरने में सर्वथा असमर्थ 'उदान' इन्द्रियों को मन में रखकर, पथिक की तरह मनरूप झोले में रख या ट्रंक में धर, साथ लेकर निकल जाता है ॥ ९ ॥

उत्क्रमण (निकल जाने का) क्रम दिखाकर शरीरान्त शरीरान्तरप्राप्ति को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥

भावार्थ—जिसका जैसा चित्त होता है उसके सहित यह जीव प्राण को प्राप्त होता है। और प्राण तेज से युक्त होता हुआ जीवात्मा को उसके सङ्कल्प के अनुसार योगी को प्राप्त होता है॥ १०॥

वि० वि० भाष्य—मरने के समय कर्मानुसार इस जीव का चित्त जिस देवता, मनुष्य, पशु आदि योनियों की ओर जाता है, वैसे ही चित्त के साथ वह प्राण को प्राप्त होता है, अर्थात् इन्द्रियों की वृत्ति क्षीण होकर केवल मुख्य प्राणवृत्ति के साथ ही स्थित रहता है। वह प्राण, तेज अर्थात् उदानवृत्ति से युक्त होकर शरीर के स्वामी जीवात्मा के साथ तादात्म्य को पाता है, और पुण्य पापरूप कर्म के वशीभूत हुआ, मन में जैसी वासना भरी रहती हैं उनके अनुसार लोकान्तर, देहान्तर तथा दशान्तर में याने अनेक योनियों में पहुँचा देता है, याने यथासङ्कल्पित योनियों में पहुँचा देता है॥ १०॥

विशेष—मरणकाल में इस जीव का जिन शुभ तथा अशुभ शरीरों में चित्त होता है, प्राणवृत्ति सहित होकर पहले शरीर को त्याग करके उदानवृत्ति से उनको प्राप्त होता है। भाव यह है कि सूर्य, अग्नि, आकाश, सामान्य वायु और तेजरूप हुआ मुख्य प्राण; सूर्य, अग्नि आदिक बाह्य अधिदैव को धारण करता है। अर्थात् सूर्य आदि रूप से स्थित होना ही उन सूर्य आदिकों का धारण करना है। और 'सूर्य भगवान् उदय हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों का अनुग्रह करता है' इत्यादि कथन से आदि रूप बाह्य अधिभूत को मुख्य प्राण सूर्य आदि रूपसे धारण करता है यह सूचन कराकर तथा अन्य श्रुति में यह कहा है कि 'यह प्राण ही चक्षु, वाक्, मन, श्रोत्रादि रूप से स्थित होता है, इन कथन से चक्षु आदि अध्यात्म का धारण कहा॥ १०॥

मरने के समय जीवात्मा का सबसे पहले इन्द्रियों से सम्बन्ध टूट जाता है, केवल प्राण के आश्रय जीवात्मा रहता है, तब मनुष्य कुछ भी बोल सुन नहीं सकता। केवल श्वासमात्र चलने से सम्बन्धी समझते हैं कि 'अभी यह जीता है' तदनन्तर उदान से युक्त प्राण लिङ्गशरीर के सहित जीवात्मा को शरीर से निकालकर कर्मानुसार योनियों में ले जाकर बुरे भले भोगों को प्राप्त कराता है॥ १०॥

इस प्रकार प्राण के स्वरूप को कहकर उसकी उपासनाविधि कहते हैं, यथा—

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥ ११॥

भावार्थ—जो विद्वान् प्राण को इस प्रकार जानता है उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती, वह अमर हो जाता है, इस विषय में यह श्लोक है ॥ ११ ॥

वि० चि० भाष्य—जो ज्ञानी पुरुष प्राण के रहस्य को इस प्रकार से जानता है। लोक में उसका कुछ भी नुकसान नहीं होता, याने उसकी पुत्र, पौत्रादि प्रजा; हस्ती, अश्व, रथादि नाना वाहन तथा सम्पत्ति आदि की किसी प्रकार की हानि नहीं होती। इसी सिद्धान्त को यह मन्त्र कहता है ॥ ११ ॥

विशेष—जो प्राण के तत्त्व को जानता है, जो यह समझता है कि प्राणों की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए। जो प्राणों को धर्मार्थकाममोक्ष का साधन मानता है, जिनकी प्राणशक्ति प्रबल है उनके पुत्र पौत्रादिकों की किसी तरह की हानि कोई नहीं कर सकता। पहले तो प्राणविद्या के महत्त्व को समझनेवाले बलवान् की किसी सामग्री को कोई नष्ट करने का साहस ही नहीं कर सकता, फिर ऐसे पुरुष के पुत्र-पौत्रादि परिपुष्ट होंगे ही, न वे अकाल में नष्ट होंगे, न उन्हें कोई कष्ट दे सकता है, वे सबके इष्ट रहेंगे। यह बात अगले मन्त्र में स्पष्ट कही है ॥ ११ ॥

उस मन्त्र को कहते हैं, यथा—

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा। अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति।

भावार्थ—प्राण की उत्पत्ति, आगमन, स्थान, व्यापकता, एवं बाह्य और आध्यात्मिक भेद से पाँच प्रकार की स्थिति जानकर मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है—अमरत्व प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

वि० चि० भाष्य—जो मनुष्य प्राण की उत्पत्ति परमात्मा से जानते हैं, कर्म करके इस शरीर में स्थिति को जानते हैं, तथा प्राण सब का स्वामी है, प्राण-अपान आदि पाँचरूप से स्थित है, और बाह्य आदित्यरूप से तथा अध्यात्म नेत्रादि रूप से स्थिनि को जो जानता है, वह मनुष्य प्राण सायुज्यरूप अमृतत्त्व को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में कौशल्य आश्वालायन के छहों प्रश्नों की चर्चा की गई है और यह भी कहा गया है कि जो इनके ठीक ठीक उत्तर को जानकर इनका ज्ञान प्राप्त करता है, वह अमृत मरणरहित हो जाता है (विज्ञायामृतमश्नुते) [इस पद की द्विरुक्ति प्रश्नार्थ की समाप्ति सूचित करने के लिए है]

इस मन्त्र में उत्पत्ति, आयत्ति, स्थान, विभुत्त्व और अध्यात्म इन पदों से छओं प्रश्नों के उत्तर के संक्षेप का दिग्दर्शन कराया गया है ॥ १२ ॥

इस प्रकरण में प्राणविद्या का महत्त्व दिखाया गया है, भारतीय ऋषिगण इस विद्या का प्रयोग करते तथा कराते रहे हैं। यद्यपि प्राणपूजा तो आजकल भी होती हैं। इच्छा से या अनिच्छा से इस उपयोगी प्राणपूजा को सभी को करना पड़ता है। आजकल भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागमन आदि अनेक दूषित रीतियों से लोगों ने प्राण-रक्षा के उपाय काम में ला रखे हैं इस से शारीरिक परिपुष्टि तो हो जाती है, पर मनस्तुष्टि नहीं हो सकती। मनस्तुष्टि ही सृष्टि में इष्ट है, इसी से मनुष्यसृष्टि पर परमात्मा की कृपादृष्टि की सुधावृष्टि होगी।

॥ इति तृतीय प्रश्नः ॥

॥ अथ चतुर्थः प्रश्नः ॥

प्राण उत्पत्तिवाला है, उसमें अनात्मता निश्चय होने पर उसके अतिरिक्त आत्म स्वरूप के निश्चय करने के लिए उत्तरग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है ॥ १ ॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति, कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति, कस्यैतत्सुखं भवति, कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद आचार्य पिप्पलाद मुनि से सूर्य के पौत्र गार्ग्य ने पूछा कि "हे भगवन्! इस जीव के शरीर में कौन सोता है? कौन जागता रहता है? कौन सी शक्ति स्वप्न देखती है? इस सुख का अनुभव कौन करता है? और किसमें ये सब प्रतिष्ठित हैं?" ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे आचार्य! जो जागता होगा वही शयन करेगा, इससे मैं पूछता हूँ कि जाग्रत् किसका धर्म है? इसी के साथ यह भी कहिए कि सोता कौन है? (१)। शरीर की अवस्थात्रय में सावधान हुआ ही इस शरीर की रक्षा कर सकेगा, इस लिए मेरा प्रश्न है कि जागता कौन है? (२)। जो स्वप्न में

सावधान रहेगा उसी के आश्रय स्वप्न होगा, अतः मैं जानना चाहता हूँ कि स्वप्न कौन देखता है ? (३)। सुषुप्तिकाल में जो रहेगा उसी को सुषुप्ति के सुख का अनुभव होगा, और उसमें ही सुषुप्ति की आश्रयता होगी, अतः मैं जानना चाहता हूँ कि इस सुख का अनुभव कौन करता है ? (४)। और सुषुप्ति में सब प्राणादिक किस में स्थित होते हैं ? इस प्रश्न से अवस्थात्रय से तुरीय अक्षर पूछी गई है (५) ॥ १ ॥

विशेष—इस मन्त्र में पाँच प्रश्न किये गये हैं उनमें पहले दो प्राण और इन्द्रियों से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे—इस शरीर में कौन सोते हैं ? और कौन जागते हैं ?। बीच के दो प्रश्न जीवात्मा सम्बन्धी हैं, जैसे कौन स्वप्न देखता है ? और किसको सुख होता है ?। अन्त का एक प्रश्न परमेश्वरविषयक है, जैसे किस की सत्ता से सब स्थित रहते हैं ? ॥ १ ॥

पिप्पलाद ऋषि उक्त प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं कि—

तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥

भावार्थ—यह सुनकर आचार्य पिप्पलाद ने कहा कि हे गार्ग्य ! जैसे सूर्य के अस्त होने के समय उसकी सब किरणें उस तेजोमण्डल में ही एकत्रित हो जाती हैं और सूर्योदय होने के समय उसमें से निकलकर वे फिर बाहर फैल जाती हैं, उसी प्रकार वे इन्द्रियाँ अपने से श्रेष्ठ देवरूप मन में एकीभूत हो जाती हैं याने लीन हो जाती हैं, इसी कारण उस समय वह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न कुछ ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न मलोत्सर्ग करता है और न गमनागमन की चेष्टा करता है अर्थात् कुछ भी नहीं करता, तब उसे यह "सो रहा है" ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे सूर्य के अस्त होने पर उसमें किरणों का लय और उदय होने पर उनका फैल जाना होता है, वैसे ही नेत्रादि इन्द्रियों के प्रकाशक

मन के सुषुप्ति में लय हो जाने पर इन्द्रियाँ भी उसी में लीन हो जाती हैं, इन्द्रियों के लीन होने से अर्थात् श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा, वाक्, शिश्न, गुदा, पाद इन इन्द्रियों के निर्व्यापार होने से मनुष्य देखना सुनना आदिक कुछ भी नहीं कर सकता है। ऐसी अवस्थावाले मनुष्य को "यह सो गया" ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥

विशेष—इन्द्रियों में बहुत शक्ति है, पर मन की शक्ति सबसे बड़ी है और मुख्य है, अतः सब इन्द्रियाँ मन के पीछे चलती हैं, मन के सो जाने पर ये जगी नहीं रह सकतीं। इस शरीर में सो जानेवाली इन्द्रियाँ ही हैं, यह पहले प्रश्नांश का उत्तर है ॥ २ ॥

इस समय 'कौन इसमें जागता है ?' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि—

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद् गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस शरीररूपी पुर में सुषुप्ति के समय प्राणाग्नि ही जागते हैं। यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है तथा व्यान अन्वाहार्यपचन है और जो गार्हपत्य ले जाया जाता है, वह प्राण ही ले जाया जाने के कारण आहवनीय अग्नि है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस शरीररूपी पुर में केवल प्राणाग्नि अर्थात् घर में रक्षा किये हुए अग्नियों के समान प्राण अपान आदि पाँच वायु जागते रहते हैं। उनमें यह अपान ही गार्हपत्य याने यज्ञ का प्रधान अग्नि है। व्यान अन्वाहार्यपचन याने दक्षिणाग्नि है। प्रणयन कहिए जिससे और अग्नि बनाये जायँ, ऐसे गार्हपत्य से आहवनीय बनाया जाता है ॥ ३ ॥

विशेष—यहाँ सुषुप्ति में विद्वान् पुरुष को श्रुति ने अग्निहोत्र की प्राप्ति कही है; यह दिखाते हैं कि जैसे प्रसिद्ध अग्निहोत्रव्रत धारण करनेवाले पुरुषों के यहाँ गार्हपत्य नामक अग्नि स्थिर रहता है और आहवनीय नामक अग्नि होम करने के समय गार्हपत्य अग्नि से उठाकर प्रज्वलित किया जाता है, वैसे ही यहाँ अन्तर्प्रवेश करनेवाले अपान वायु से बाह्यगमन करनेवाला प्राण वायु उठाया जाता है। इसी तरह व्यान वायु दक्षिण अग्निरूप है, क्योंकि जैसे प्रसिद्ध अग्निहोत्रशाला में वह दक्षिण दिशा में स्थित किया जाता है वैसे ही यह व्यान वायु हृदय के पाँच छिद्रों में में से दक्षिण छिद्र में रहता है, इससे व्यान को दक्षिणाग्निरूप से कहा है। संक्षेप से

यह भाव है कि यज्ञादिकों में तीन प्रकार का अग्नि प्रसिद्ध है। १—यजमान के वामकुण्ड में निरन्तर वर्तमान रहनेवाले अग्नि का नाम "गार्हपत्याग्नि" है। २—यज्ञ करनेवाले के दक्षिणकुण्ड में जो अग्नि स्थित रहता है उसे "दक्षिणाग्नि" कहते हैं, इसी का "अन्वाहार्यपचन" नाम है। ३—और जो अग्नि गार्हपत्याग्नि से निकालकर अग्निहोत्र के लिए मध्य के अग्निकुण्ड में स्थापित किया जाता है वह "आहवनीयाग्नि" कहा जाता है ॥ ३ ॥

यहाँ अग्निहोत्र के ऋत्विक् का वर्णन किया जाता है, यथा—

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

भावार्थ—उच्छ्वास और निश्वास अर्थात् ऊर्ध्वश्वास और अधःश्वास ये मानो अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं, इन्हें जो समभाव से विभक्त करता है वह समान है याने होता है। निश्चय जानो कि मन ही यजमान है, और इष्टफल ही उदान है। वह उदान इस मनरूप यजमान को प्रतिदिन आनन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त कराता रहता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—यह जो उच्छ्वास और निश्वास हैं यह अग्निहोत्र की आहुतियों के समान हैं। अर्थात् मुख और नासिका ये दो अग्निकुण्ड हैं, इनसे श्वासों का आना जाना ही दो आहुति हैं। समान वायु इन आहुतियों को शरीर की स्थिति के लिए हवनकुण्ड में पहुँचाता है। कर्ता और फल का भोक्ता होने के कारण मन ही यजमान है। उदान ही यज्ञ का फल है क्योंकि वह मन नामक यजमान को प्रतिदिन सुषुप्तिकाल में ब्रह्म की प्राप्ति कराता है। सुषुप्ति अवस्था में प्रपञ्च के शान्त होने से परमानन्द का अनुभव होता है। यही ब्रह्मभाव है ॥ ४ ॥

विशेष—महात्माओं से सुना है कि जो श्वास बाहर को आता है वही फिर भीतर को जाता है। यदि वह भीतर को जाकर बाहर न आवे और बाहर को आकर भीतर को न जावे, अथवा एक ओर विशेष चले या कम चले तो शरीर का ठहरना कठिन हो जाय, अतः श्वास प्रश्वास की व्यवस्था को ठीक रखनेवाला समान प्राण है। कोई महात्मा यहाँ यों समझाया करते हैं कि इस मन्त्र में मन से जीवात्मा लेना, निद्रारूप यज्ञानुष्ठान है, श्वासों का बाहर भीतर आना जाना

आहुति है, जीवात्मा यजमान है, समान ऋत्विक है, उदान फल दिलानेवाला सञ्चित कर्म है। वह उदान ही सुषुप्ति अवस्था और समाधिकाल में जीवात्मा को फलरूप ब्रह्म को प्राप्त कराता है ॥ ४ ॥

जो यह प्रश्न किया गया है कि 'कौन देव स्वप्न को देखता है' इसका उत्तर कहते हैं कि—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति, यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस स्वप्न अवस्था में यह देव अपनी विभूति का अनुभव करता है, इस ने जाग्रत् अवस्था में जो देखा है उसी को पीछे देखा हुआ सा अनुभव करता है, सुनी हुई बातों को ही सुनता है, और अनेकों देश-दिशाओं में अनुभव की हुई वस्तुओं को बार बार अनुभव करता है। अधिक क्या कहें, यह देखे, बिना देखे, सुने, बिना सुने, अनुभव किये, बिना अनुभव किये, सत्स्वरूप तथा असत्स्वरूप सभी पदार्थों को देखता है, और स्वयं अपने को भी सर्वरूप देखता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—यह मन ही चेतन प्रतिविम्बित हुआ नाना प्रकार के स्वप्नों को देखता है। जो पदार्थ जाग्रत् अवस्था में या पूर्व जन्म में बहुलता से देखे जाते हैं वे ही स्वप्न में देखने में आते हैं। जैसे मनुष्य जाग्रत् अवस्था में पुत्र कलत्र आदि को देखता है, उनके संस्कारसहित अविद्या के प्रभाव से वह उनको सो जाने पर देखा करता है, ऐसे ही सुने तथा सर्वत्र अनुभव किए हुए पदार्थों को देखता है। यही बात नहीं है, पूर्वजन्म में भी जो पदार्थ देखे, सुने, या अनुभव किये हैं उन्हें भी स्वप्न में देखा करता है। जो जल आदि की तरह सत् है और जो मरु-मरीचिका के समान असत् रूप है, ऐसी वस्तुओं को भी वह उस समय देखा करता है और वह स्वयं सर्वरूप से मनोवासनारूप उपाधिवाला होकर देखा करता है ॥ ५ ॥

विशेष—जो पदार्थ आज भी वर्तमान हों, याने स्वप्न देखने के समय नष्ट नहीं हो गये हों उनका तो स्वप्न में देख लेना ठीक है। किन्तु जो पदार्थ अब देखे हैं वे तो वहाँ हैं नहीं, और पूर्वजन्म के देखे सुने पदार्थ नष्ट हो गये, तब उन को स्वप्न में कैसे

देखा जायगा ? यह शङ्का ठीक नहीं है, पदार्थों के रहने न रहने की कोई बात नहीं है। जाग्रत् अवस्था में देखे पदार्थों के मनुष्य के मन में संस्कार बैठ जाते हैं, वे अनन्तसंस्कार निद्राशक्ति की महिमा से ऐसे उद्‌बुद्ध हो जाते हैं जैसे जमीन में पड़े हुए बीज समय पानी आदि सहायक पाकर अङ्कुरित हो जाते हैं। यह बात दूसरी है कि मन उनको उस अवस्था में नये रचकर ऐसे देखने लगता है, जैसे चित्रपट पर (सिनेमा में) चित्र विलक्षण दिखाई देने लगते हैं, फिर वह भी उन्हीं जैसा बन उनमें रम जाता है ॥ ५ ॥

किस को यह सुख अनुभव होता ह ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं, यथा—

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस समय यह मनरूपी देवता तेज याने नाडीगत पित्त से अभिभूत, आक्रान्त, तिरस्कृत हो जाता है, उस समय यह आत्मदेव स्वप्न के पदार्थों को नहीं देखता, किन्तु शरीर में ब्रह्मानन्दसुख को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस समय मनोरूप देवता चिन्ता नाम सूर्य के तेज से नाडीरूप शय्या में सब ओर से तिरस्कार को पा जाता है, अर्थात् उठने बैठने का द्वाररूप स्वप्नभोग का दाता कर्म दब जाता है, तब इन्द्रियों सहित मन की वासनारूप किरणें हृदय में लीन हो जाती हैं। तब मन वन के अग्नि के समान सारे शरीर में चैतन्यरूप से व्याप जाता है, तभी सुषुप्ति अवस्था होती है। उस समय यह मनदेवता स्वप्नों को नहीं देखता है, क्योंकि देखने का द्वार तो रुका रहता है, तब पीछे से शरीर में अबाधभाव से सर्वत्र व्यापक निर्मल ज्ञानस्वरूप सुख होता है ॥ ६ ॥

विशेष—सुषुप्ति और समाधि में चित्त की एकाग्रता तुल्य ही रहती है, केवल भेद इतना ही है कि समाधि में सत्त्वगुण प्रबल होकर रजोगुण तथा तमोगुण को दबा देता है और सुषुप्ति में प्रबल हो तमोगुण दोनों को आच्छादित कर लेता है। दोनों दशाओं में जीवात्मा ब्रह्म में स्थित रहता है। यद्यपि सुषुप्ति में ब्रह्मसम्बन्धी आनन्द तमोगुण से आच्छादित हो जाता है, तथापि जाग्रत् और स्वप्न की अपेक्षा उसमें फिर भी आनन्द अधिक ही होता है।

सुषुप्ति का आश्रय भी मन ही है, क्योंकि वह सुषुप्ति में भी सूक्ष्मरूप से रहता है। 'मन को ही वह सुख होता है' यह उत्तर उस प्रश्न का जिसमें 'किसको यह सुख होता है' यह पूछा गया है ॥ ६ ॥

'किसमें ये सब प्रतिष्ठित हैं' इस प्रश्न का दृष्टान्त देकर उत्तर कहते हैं, यथा—

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे सौम्य! जैसे पशु पक्षी सायंकाल के समय निवास के वृक्ष की ओर को जाकर आश्रय लेते हैं, याने अपने बसेरे के वृक्षों पर जाकर बैठ जाते हैं, वैसे ही यह सब कार्य-करण-संघात परमात्मा में जाकर आश्रय ग्रहण करता है ॥७॥

वि० वि० भाष्य—हे प्रियदर्शन! मन में आत्मा का प्रतिबिम्ब है, उस आत्मा में ही यह प्राणादि सम्पूर्ण जगत् स्थित है। जैसे लोक में, दिन में जहाँ तहाँ यथेच्छ विचरनेवाले पक्षिगण अपने निवासवृक्षों पर रात को आ बैठते हैं, उसी तरह पृथ्वी आदि पञ्चभूत, उनके गन्ध आदिक पाँच गुण, नेत्र आदि दस इन्द्रियाँ, अन्तःकरणचतुष्टय, और पञ्च प्रकार का प्राण ये सब उस आत्मा में स्थित होते हैं ॥ ७ ॥

विशेष—संसार में सब कुछ परमात्मा के सहारे से हो रहा है, जितने खेल दिखाई दे रहे हैं वे सब अन्त में आत्मसुखार्णव में निमग्न हो जायँगे। भाव यह है कि प्रलयावस्था में क्रियारहित होकर सर्वविश्व उस परमात्मा में लीन हो जायगा, यह सब उसी से उत्पन्न हुआ है। आज दुनियाँ की जो चहल पहल देखने में आ रही है वह कुल उसी के सहारे से हो रही है, याने यह जगत् उसी के सहारे से उसी में ठहरा हुआ है। आलस्यरहित भगवती श्रुति ने अगले मन्त्र में यही बात विस्तार से समझाई है ॥ ७ ॥

वह सब कौन हैं? इस 'सर्व' शब्दार्थ को दिखाते हैं, यथा—

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च

मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

भावार्थ—पृथिवी, गन्धतन्मात्रा, जल, रसतन्मात्रा, तेज, रूपतन्मात्रा, वायु, स्पर्शतन्मात्रा, आकाश, शब्दतन्मात्रा, नेत्र, रूप, कान, शब्द, नाक, गन्ध, जिह्वा, रस, त्वचा, स्पर्श करने योग्य वस्तु, हाथ, ग्रहण करने योग्य पदार्थ, उपस्थ, आनन्द, गुदा, मल, पाँव, गन्तव्य स्थल, मन, मनन करने योग्य, बुद्धि, जानने योग्य, अहङ्कार, अहङ्कार का विषय, चित्त, चेतनीय, तेज, प्रकाश्य वस्तु, प्राण और धारण करने योग्य पदार्थ; ये सभी आत्मा में लीन हो जाते हैं ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—स्थूल पृथिवी और सूक्ष्म पृथिवी, जल तथा जल का तन्मात्रारूप सूक्ष्म जल, तेज और सूक्ष्म तेज आदि मन्त्रोक्त सकल कार्य कारण नामरूपात्मक पदार्थ सुषुप्तिकाल में आत्मा में लीन हो जाते हैं ॥ ८ ॥

विशेष—पृथ्वी से आरम्भ कर प्राण सूत्रात्मा तक गिनाये गये ये सब कुछ परमेश्वर में स्थित हैं। क्योंकि पर-आत्मा के लिए संहत हुआ नामरूपात्मक सम्पूर्ण कार्यकारणजात इतना ही है ॥ ८ ॥

केवल पृथिवी आदि जड प्रपञ्च ही पर अक्षर आत्मा में स्थित नहीं है, किन्तु उपाधिविशिष्ट जीव ने भी उसमें आश्रय ले रखा है, यह कहते हैं, यथा—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

भावार्थ—अधिष्ठान आत्मा ही नेत्रादिकों से मिलकर द्रष्टा, श्रोता, स्प्रष्टा, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है। जब कि आत्मा की उपाधि का अक्षरात्मा में लय होता है तब तो उपाधिउपहित (विशिष्ट) आत्मा का भी अक्षर में लय होना निश्चित है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—जल में पड़नेवाले सूर्य के प्रतिबिम्ब की तरह शरीर-देश में प्रविष्ट हुआ विज्ञानस्वरूप पुरुष ही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला,

सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला और प्राण आदि का कर्ता है। यह भी सुषुप्तिकाल में अविनाशी परमात्मा में इस प्रकार लीन हो जाता है, जैसे जल आदि में पड़नेवाला सूर्य का प्रतिबिम्ब जल आदि के सूख जाने पर सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

विशेष—जीवात्मा इन्द्रियादिकों का स्वामी है, वह इन्द्रियों और प्राण आदि के साथ कार्य करनेवाला है। जैसे पृथिवी आदि परमात्मा में टिके हुए हैं उसी प्रकार जीवात्मा भी उसी में ठहरा हुआ है ॥ ९ ॥

अक्षर ब्रह्म के साथ विज्ञानात्मा का एकत्व जाननेवाले को जो फल मिलता है, उसे कहते हैं, यथा—

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीर-मलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

भावार्थ—हे सौम्य ! इन कामनाओं से रहित हुआ जो मनुष्य, उस अज्ञान-रहित, नाम रूप सकल उपाधियों के शरीर से रहित, सम्पूर्ण गुणाभावयुक्त, उज्ज्वल और अविनाशी अजन्मा को जानता है वह सर्वज्ञ है। जो पहले अविद्या से असर्वज्ञ था, वह बाद में विद्या से अविद्या दूर होने पर सर्वरूप होता है। इसी को अगला मन्त्र कहता है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—परमात्मा में अज्ञानान्धकार का लेश भी नहीं है, वैसे ही जैसे सूर्य में अँधेरा नहीं रहता। नाम रूप प्रपञ्च से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसमें किसी उपाधि का प्रवेश ही नहीं है; न उसे काला पीला ही कहा जा सकता है, गुणातीत होने के कारण सत्त्व, रज, तम गुणों से उसे कोई वास्ता नहीं है, उसे किसी भी बाह्याभ्यन्तर शुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे ब्रह्म को कोई बिरला अधिकारी भी तब तक नहीं जान सकता, जब तक ब्रह्मश्रोत्रिय, तथा ब्रह्मनिष्ठ किसी कृपालु आचार्य की कृपादृष्टि न हो। हाँ, उसे जानने पर जाननेवाला सर्वज्ञ हो जाता है, क्योंकि उसने सबको अपना आत्मा करके ही जान लिया है। वह सबका आत्मरूप स्वस्वरूप हो जाता है, इस सिद्धान्त को अगला मन्त्र भी कहता है ॥ १० ॥

विशेष—हे देखने में प्यारे लगनेवाले कौशल्य ! जो मनुष्य उसे 'अच्छायम्'

अशरीर, अलोहित और शुभ्र तथा अक्षर जानता है वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है। भाव यह है कि जिसने परमेश्वर को छाया नाम अन्धकाररहित जान लिया है, वह उससे अवश्य प्रेम और सम्बन्ध रखने का यत्न करेगा, क्योंकि प्रकाश की सबको अपेक्षा है। जो उसे अशरीर जानेगा, वह कभी भी अपने स्थूल, पुष्ट, सुन्दर शरीर का अभिमान नहीं करेगा। इसी प्रकार प्रभु के और और नामों में भी जो गुण हैं, वे साधक में भी आ जाते हैं ॥ १० ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे सोम्य! जिस अक्षर में समस्त देव, विज्ञानात्मा, प्राण और भूत यथार्थतः ठीक ठीक प्रकार से स्थित होते हैं, उसे जो जानता है वह सर्वज्ञ सभी में आविष्ट प्रविष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—हे परमप्रेमास्पद! अन्तःकरण की उपाधिवाला आत्मा, सकल प्राण, पञ्चभूत, ये अग्नि आदि सकल देवताओं के साथ अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ जिस अविनाशी ब्रह्म में लीन होते हैं, उस अविनश्वर को जो जानता है वह सर्वज्ञ होकर सब में ही प्रवेश करता है ॥ ११ ॥

विशेष—इस मन्त्र में कहा गया है कि जो अधिकारी सर्वाश्रय अक्षर ब्रह्म को जानता है वह सर्वज्ञ होता है एवं सर्वरूप हो जाता है। इसका भाव यह है कि जिस समय मनुष्य की अज्ञानावस्था होती है उस समय भी वह सर्वज्ञ तथा सर्वरूप है, पर अज्ञान करके भूला हुआ है। जब ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है तब उसे अपना स्वरूप ऐसा मालूम होता है कि मानों मैंने ज्ञात को ही जाना है, बीच में जरा भूल हो गई थी। जैसे कण्ठ में स्थित भूषण को भूलकर फिर जानने पर याद आ जाने से कहते हैं कि उस प्राप्त की प्राप्ति हुई है। इति शब्द प्रकृत प्रश्न के उत्तर में प्रयुक्त मन्त्रों की समाप्ति के सूचनार्थ है ॥ ११ ॥

॥ इति चतुर्थः प्रश्नः ॥

अथ पञ्चमः प्रश्नः

अब आगे पर और अपर ब्रह्म की प्राप्ति की साधनस्वरूप ओंकारोपासना का विधान करने की इच्छा से यह प्रश्न आरम्भ किया जाता है, यथा—

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

भावार्थ—तदनन्तर शिबि के पुत्र सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया कि हे भगवन्! मनुष्यों में जो विचारवान् पुरुष मरणकाल तक यावज्जीवन ओंकार का ध्यान करता है, वह उस ओंकारोपासना के प्रभाव से किस लोक को जीत लेता है? अर्थात् किस लोक को प्राप्त होता है?॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे महर्षे! जो अधिकारी पुरुष अपने सारे जीवन भर दुष्कर ओंकाररूप प्रणव का श्रद्धाभक्तिपूर्वक चिन्तन करता रहता है वह ध्याता मनुष्य पृथिवी आदि लोकों में, स्वर्गादि त्रिभुवनों में, याने भूर्भुवः आदि व्याहृति नामक खण्डों में से किस स्थान को प्राप्त होता है?॥ १ ॥

विशेष—जिस पुरुष के चित्त में अक्षर ब्रह्म के उपदेश से भी अक्षर परमात्मा का ज्ञान न हो सके, ऐसे मनुष्य के लिए इस मन्त्र में प्रणव की उपासना का विधान किया गया है। यहाँ यह पूछा गया है कि गृहाश्रमादिकों में होनेवाले संसारी सुख को छोड़कर जो विद्वान् आजन्म ब्रह्मचर्यधारण पूर्वक योगाभ्यास और तप करता हुआ प्रणव ब्रह्म की उपासना करता है, उसे कौन सा लोक मिलता है?॥ १ ॥

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

भावार्थ—यह सुन पिप्पलाद ने उत्तर दिया कि हे सत्यकाम! यह जो ओंकार है, यही निश्चय पर अपर ब्रह्म है अर्थात् सत्‌रूप निर्गुण परब्रह्म और हिरण्यगर्भरूप अपर ब्रह्म है। अतः विद्वान् पुरुष इस प्रणव का आश्रय करके उनमें से किसी एक ब्रह्म को प्राप्त होता है॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सत्यकाम! यह जो ओंकार है सो निःसन्देह

निर्विशेष अविनाशी परब्रह्म है, और प्रथम उत्पन्न हुआ जो प्राण–सूत्रात्मा, यह अपर ब्रह्म है। कहने का तात्पर्य यह है कि ओंकार पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म दोनों का प्रतीक है अतः ओंकार में दोनों का ध्यान होता है। इस कारण इस उपाय से विद्वान् मनुष्य अपनी साधना के अनुसार पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म इन दोनों में से किसी एक को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

विशेष—यह "ओम्" अक्षर परब्रह्म है। परब्रह्म नाम अक्षर का है, और अपरब्रह्म नाम प्राणस्वरूप का है। जैसे शालग्राम शिला में विष्णु का ध्यान करने का शास्त्र में विधान किया गया है, वैसे ही ओंकार में परब्रह्म का तथा अपर ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। जो पुरुष इसमें जिस रूप से ध्यान करेगा उसको वही प्राप्त होगा ॥ २ ॥

त्रिमात्रिक ओंकार की उपासना का जो विधान किया गया है, उस की प्रशंसा के लिए उसके एक देश की उपासना से भी विशेष फल होता है। अङ्गवैगुण्य से कुछ हानि नहीं होती, अर्थात् उपासना के लिए ओंकार की केवल एक मात्रा ले लेने से भी कोई दुर्गति नहीं, यह दिखाते हैं कि—

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्ण-मेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनु-भवति ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह साधक यदि ओंकार की केवल एक मात्रा 'अकार' का ही ध्यान करता है, तो उस के द्वारा बोध को प्राप्त कर शीघ्र ही पृथिवी पर जन्म पाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्यलोक में ले जाती हैं याने मनुष्ययोनि में पहुँचा देती हैं। वह वहाँ तपस्या ब्रह्मचर्य और आस्तिकबुद्धि से सम्पन्न होकर ऐश्वर्य को पाता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—अकार, उकार और मकार ये ओंकार की तीन मात्राएँ हैं। उन मात्राओं के अग्नि, वायु, और सूर्य तीन ऋषि हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर ये तीन देवता हैं। भूः, भुवः और स्वः ये तीन स्थान हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें हैं। ऋग्, यजु, साम ये तीन इन के वेद हैं। जो कोई इन के विधान को अच्छी प्रकार न जानकर यदि एक मात्रा—एक अवयव—अकार-रूप का ध्यान करता है, तो वह उसकी सामर्थ्य से पृथिवीलोक में प्राप्त हो जाता है।

पृथिवी पर आते ही उस साधक को ऋग्वेदाभिमानी देवता मनुष्यशरीर की प्राप्ति करा देते हैं। वह उस मनुष्यशरीर में स्वधर्माचरणरूप तप से, अष्टविध मैथुन-त्यागरूप ब्रह्मचर्य से, और वेद में कही हुई आस्तिकरूप बुद्धि से संयुक्त होकर विभुति को, मानवानन्द को याने राजश्री को प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

विशेष—हमने संन्यासी ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं से सुना है कि मानवादि धर्म-शास्त्रों में यह उल्लेख मिलता है कि "अ, उ, म्" इन तीन वर्णों को परमेश्वर ने ऋक्, यजु, साम इन तीन वेदों से निकालकर और तीनों को साथ मिलाकर एक "ओम्" नाम रखा है। इस लिए यह परमात्मा का मुख्य नाम है, क्योंकि इसमें तीनों वेदों का संयोग है। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड ये तीन वेदों के मुख्य विषय भी ओंकार की क्रमशः एक एक मात्रा में आ जाते हैं। कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीनों से सम्बन्ध रखनेवाले भूः, भुवः, स्वः इन तीनों का भी ओंकार की मात्राओं से सम्बन्ध है। "समुदाय अर्थवान् होता है, उसका एकदेश अनर्थक है" इस न्याय का आश्रयण करके जो लोग यह शङ्का करते थे कि ओंकार की एक मात्रा अर्थरहित होने से किसी को कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकती, उनकी समझ में पूर्वोक्त रीति से ओंकार के एक एक अवयव की सार्थकता आ गई होगी ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

भावार्थ—और यदि वह साधक 'अकार, उकार' दो मात्रारूप से ओंकार का मन में ध्यान करे तो उसको यजुर्वेद के अभिमानी देवता अन्तरिक्ष में स्थित चन्द्र-लोक में पहुँचा देते हैं। उसके बाद सोमलोक के ऐश्वर्य का अनुभव करके फिर वह मनुष्यलोक में ही लौट आता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—मनुष्य ओंकार की अकार, उकार इन दो मात्राओं का यजुर्वेद रूप से चिन्तन करता है। पहले केवल उकार मात्रा का यजुर्वेदरूप से कथन किया गया है, फिर यहाँ अकार, उकार इन दो मात्राओं का यजुर्वेदरूप से चिन्तन करना क्यों कहा जाता है? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, यहाँ अकारसहित उकार का चिन्तन करना कहा है, अर्थात् प्रधानता उकार की ही है। अस्तु, उस ध्याता पुरुष को यजुर्वेदाभिमानी देवता ऐसे लोक में ले जाते हैं

जहाँ मर्त्यलोक की अपेक्षा उत्तमोत्तम सुख प्राप्त होते हैं। उस स्वर्गलोक का सुख चिरकालस्थायी होता है, पर अन्त में उस भोक्ता को यहीं आना पड़ता है ॥ ४ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र के कथन का यह आशय हुआ कि ओंकार की अकार-रूप एकांश उपासना से उपासक पुरुष पृथिवी पर राजश्री भोगने के लिए अधिष्ठाता सम्राट् होता है। और ओंकार की द्विगुणी अर्थात् अकार उकार रूप से उपासना करनेवाले को उच्च चन्द्रादिलोकों में या स्वर्गादिकों में मानससुख का अनुभव प्राप्त होता है। त्रिमात्रिक ओंकार की उपासना करनेवालों के फल का वर्णन आगे किया जायगा। प्रकृत मन्त्र में "द्विमात्रेण" इस पद से दीपिकाकारादि कोई विद्वान् 'अ उ' इन दोनों मात्राओं की साथ ही उपासना करने का कथन करते हैं, और किसी किसी के मत में केवल 'उकार' मात्रा की उपासना का विधान किया गया है ॥ ४ ॥

इस प्रकार ओंकार की स्तुति करके उसकी उपासनाका प्रकार कहते हैं, यथा—

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो 'ओम्' इस तीन मात्रावाले अक्षर के द्वारा पर पुरुष का ध्यान करता है वह तेजोमय सूर्यलोक में पहुँचता है। जैसे साँप काँचली से अलग हो जाता है वैसे ही वह पाप से मुक्त हो जाता है। फिर उसे सामवेद के मन्त्रों के अभिमानी देवता हिरण्यगर्भ के सत्यलोक या ब्रह्मलोक में पहुँचा देते हैं। उस समय वह सम्पूर्ण जीवों के आधार हिरण्यगर्भपद से परात्पर सकल शरीरों में पूर्ण पुरुष का दर्शन करता है। इस विषय में अगले दो मन्त्र कहे गये हैं ॥ ५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो मनुष्य 'अकार उकार मकार' इन तीन मात्राओं से ओंकार का चिन्तन करता है और शालग्राम शिलावत् उसका अक्षरब्रह्मरूप से ध्यान करता है, उस ध्याता को सामवेद के अभिमानी देवता सूर्यमंडल के मार्ग से ब्रह्मलोक में पहुँचा देते हैं। जैसे स्वर्गादि लोकों से कर्मफलभोग के अनन्तर ध्याता लौट आता है, वैसे ब्रह्मलोक से कभी नहीं लौटना पड़ता। क्योंकि ओंकार का ब्रह्मरूप से ध्यान करनेवाले पुरुष का पुनरावर्तन, आवागमन नहीं होता। उस समय

वह ध्याता ऐसा पापरहित हो जाता है, जैसे काँचली निकल जाने पर सर्प साफ हो जाता है। ब्रह्मलोक में वह हिरण्यगर्भ के उपदेश को ग्रहण करके अज्ञान से परे परिपूर्ण आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। इस तत्त्व को अगले दो मन्त्र संक्षेप से कहते हैं ॥ ५ ॥

विशेष—ओंकार ब्रह्म की उपासना करनेवाला साधक काँचली छोड़े हुए साँप की तरह सब पापों से रहित हो शुद्ध हो जाता है। फिर वह तपश्चर्यादि नियमों से सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् महात्माओं की सत्संगति करने योग्य हो जाता है। उससे वह सामवेद का विद्वान् बनकर उसके आशयरूप ज्ञान से आत्मा का ज्ञाता हो जाता है, अर्थात् उसे हृदयस्थित परमपुरुष का साक्षात्कार होने लगता है। कोई विद्वान् इस मन्त्र का व्यावहारिक अर्थ बताते हुए यह कहते हैं कि मुमुक्षु की लोकस्थिति ऐसी होनी चाहिए, फिर वही मरकर परमपद को प्राप्त होगा ॥ ५ ॥

अब "यः पुनरेतम्" इस मन्त्र में कहे अर्थ के साथ इस मन्त्र को जोड़ते हैं, यथा—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥ ६ ॥

भावार्थ—ओंकार की तीनों मात्राएँ मृत्यु से युक्त हैं। यदि अच्छी प्रकार से प्रयोग की हुई बाह्य, आभ्यन्तर, मध्यमा क्रियाओं में उनका परस्पर सम्बद्ध आनुपूर्वी प्रयोग किया जाय तो ज्ञाता पुरुष विचलित नहीं होता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—ओंकार की अकार उकार और मकार ये तीन मात्राएँ ब्रह्मदृष्टि न रखकर केवल वर्ण के ध्यान मात्र से उपासना की हुई मृत्युविषयक होती हैं। अर्थात् उनके उपासक मृत्यु से नहीं बच सकते, वे बार-बार आवागमन के चक्र में पड़ते हैं। और यदि इन तीनों मात्राओं का बाह्य—जाग्रत्, आभ्यन्तर—सुषुप्ति, मध्यमा—स्वप्नस्थानीय क्रियाओं में सम्यक् प्रयोग किये जाने पर अर्थात् परस्पर सम्बद्ध और आनुपूर्वी उपासना करने पर ज्ञाता पुरुष मृत्यु के पार होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

विशेष—जैसे ओंकार की तीनों मात्राएँ परस्पर मिली हुई हैं, वैसे ही शब्द, अर्थ और ज्ञान इनके साथ साधक पुरुष 'ओम्' शब्द का जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति दशा में

अभ्यास करता रहे, अर्थात् मन को लगाता रहे तो वह अन्त में लोक में होनेवाले फलों से नहीं विचलित होता। क्योंकि उसे ब्रह्मानन्द के स्वाद की अनुभूति हो जाती है ॥ ६ ॥

यह दूसरा मन्त्र उपर्युक्त सम्पूर्ण अर्थ के संग्रह के लिए है—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७ ॥

भावार्थ—इसको विद्वान् लोग जानते हैं कि मुमुक्षु ऋग्वेद से इस लोक को, यजुर्वेद से अन्तरिक्ष को और सामवेद द्वारा उस लोक को प्राप्त होता है। एवं उस ओंकाररूप आश्रय से ही विद्वान् उस लोक को प्राप्त होता है जो शान्त है, अजर है, तथा अमर, अभय और सबसे श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—उस ज्ञानी को ऋग्वेद के मन्त्रों के अभिमानी देवता इस मनुष्यलोक में पहुँचा देते हैं। दो मात्राओं का ध्यान करने पर यजुर्वेद के मन्त्रों के अभिमानी देवता उसे चन्द्रलोक में पहुँचा देते हैं। और सामवेद के मन्त्रों के अभिमानी देवता उस लोक में पहुँचा देते हैं जिसको ज्ञानी पुरुष जानते हैं। वह ऐसा ब्रह्मलोक है कि ज्ञानी पुरुष उस लोक को तीन मात्रा के प्रणव की उपासनारूप साधना के द्वारा ही पाते हैं, जो शान्ति से भरा हुआ है, जिसमें बुढ़ापे का बखेड़ा नहीं है, जहाँ पर कोई मरता नहीं, जहाँ किसी तरह का डर नहीं है, कहाँ तक कहें, वह सबसे श्रेष्ठ स्थान है ॥ ७ ॥

विशेष—इस प्रकरण में उत्तम, मध्यम और निम्न इन तीन प्रकार की उपासनाओं से उपासक को तीन प्रकार के फलों का पाना कहा गया है। जहाँ शान्ति हो, बुढ़ापा न आये, मरना न पड़े और डर न हो ऐसे सर्वश्रेष्ठ पद को जो भाग्यवान् महापुरुष प्राप्त कर लेते हैं या करने का यत्न करते हैं, वे वन्दनीय हैं एवं अभिनन्दनीय हैं ॥ ७ ॥

॥ इति पञ्चमः प्रश्नः ॥

अथ षष्ठः प्रश्नः

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन् हिरण्यनाभः कौशल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ। तमहं कुमारमब्रवं नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके पश्चात् भारद्वाज गोत्रोत्पन्न सुकेशा नामक ऋषि ने आचार्य पिप्पलाद से पूछा–भगवन्! अयोध्या का निवासी हिरण्यनाभ नामक राजकुमार मेरे पास आकर यह पूछने लगा कि आप षोडश कलावाले पुरुष को जानते हैं? यह सुनकर मैंने राजकुमार को उत्तर दिया कि मैं ऐसे पुरुष को नहीं जानता, यदि मैं जानता होता तो तुम्हें क्यों न बतलाता? जो मनुष्य मिथ्या भाषण करता है, वह जडसहित सूख जाता है, अतः मैं तुमसे झूठ नहीं बोल सकता। यह सुनकर राजकुमार चुपचाप रथ पर चढ़कर चला गया। सो अब मैं आपसे पूछता हूँ कि यह सोलह कलापूर्ण पुरुष कौन है? ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे आचार्य! राजकुमार हिरण्यनाभ ने मेरे पास बड़ी श्रद्धापूर्वक आकर पूछा था, किन्तु मैं उसके प्रश्न का उत्तर न दे सका। क्योंकि मुझे उसके प्रश्न के विषय में कुछ भी मालूम नहीं था। मेरी बात पर राजकुमार ने विश्वास नहीं किया, उसने समझा कि सुकेशा ऋषि मुझसे किसी न किसी कारण से कहना नहीं चाहता। मैंने सत्य का आश्रय लेकर अपनी अनभिज्ञता का विश्वास दिलाया, तिस पर भी वह 'ठीक है, या वेठीक है' यह कुछ भी न कहकर मानो वह मेरे कथन की उपेक्षा सी करके सवारी में चढ़कर घर चला गया ॥ १ ॥

विशेष—सुकेशा ने बड़े विषाद के साथ कहा कि 'मैं राजकुमार के प्रश्न का उत्तर न दे सका, इसका मुझे दुःख है। जब से वह क्षत्रिय होकर मुझ ब्राह्मण के पास आया, तब से मेरा जो उत्तर न देने का अज्ञान है, वह शूल की तरह मेरे हृदय

में चुभ रहा है। फिर मुझे भी जिज्ञासा हो गई है, जब तक वह शान्त न होगी, बाण की तरह चुभती रहेगी। आप विज्ञानादित्य हैं, अतः मेरे प्रश्न का उत्तर देकर मेरे हृदयमन्दिर के अज्ञानान्धकार को दूर करने की कृपा कीजिये ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥२॥

भावार्थ—पिप्पलाद मुनि ने उससे कहा—हे प्रियदर्शन! इसी शरीर के हृदयकमल में वह षोडश कलायुक्त पुरुष स्थित है, उसी से प्राण आदिक सोलह कला उत्पन्न होती हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य! षोडश कलावाला पुरुष शरीर के हृदयस्थान में साक्षीरूप से स्थित है, और ये सोलहों कला इस साक्षीरूप में वर्त्तमान हैं। वह साक्षी आत्मा ही सर्वजगत् का अधिष्ठान और सर्व का नियन्ता है। इस आत्मा की अद्वितीयता बोधन करने के लिए सर्वजगत्‌रूप सोलह कलाओं की आत्मा से ही उत्पत्ति होती है, यह भगवती श्रुति प्रतिपादन करती है ॥ २ ॥

विशेष—यद्यपि परमात्मा सब चराचर जगत् में एकरस व्याप्त है, तो भी दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह वह ज्ञानियों के शुद्ध अन्तःकरण में स्थित हुआ प्रतीत होता है। वही जगत् को चला रहा है, तुम उसे अपने हृदयाकाश में देख सकोगे ॥२॥

कलाओं का प्रादुर्भाव किस प्रकार से हुआ होगा, तथा सृष्टि चेतनपूर्विका है; यह बतलाने के लिए इस प्रकार कहा जाता है कि—

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस साक्षी पुरुष ने ऐसा विचारा कि देह में से किसके निकलने पर मैं निकला हुआ सा होऊँगा, और किसके स्थित रहने पर मैं अचल स्थित सा होऊँगा ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे भारद्वाज! यह आत्मा अपने बन्धन के वास्ते षोडश कलारूप उपाधि की उत्पत्ति के लिए इस प्रकार का चिन्तन करने लगा—मैं आत्मा साक्षीरूप से इस शरीर में स्थित हुआ भी व्यापक तथा क्रियारहित हूँ। तो भी मैं इस स्थूल शरीर से किसके चले जाने पर चला गया हुआ प्रतीत होता हूँ और किसके रहने पर मैं वहाँ टिका हुआ सा मालूम पड़ता हूँ ॥ ३ ॥

विशेष—सर्वव्यापक परमात्मा का न कहीं से जाना बनता है न आना ही। आकाश कहीं से निकल गया, या आ गया, यह कहना असम्भव है। यह सब व्यवहार कलाओं से ही होता है। कलाओं की उत्पत्ति स्थिति एवं लय करनेवाला परमात्मा है। परमात्मा के साथ उनका जन्यजनक या दृश्यदर्शक का सम्बन्ध होने के कारण लोग मनुष्य के मर जाने पर कह दिया करते हैं कि अमुक मनुष्य की देह से आत्मा चला गया, या जन्मकाल में अमुक में आ गया, अथवा उदरस्थ शरीर में आत्मा प्रविष्ट हो गया। यह निकलना, पैठना, सबल निर्बल आदि होना या कार्य का बनना बिगड़ना सब कलाओं के अधीन है ॥ ३ ॥

राजा के समान पुरुष ने ही सर्वाधिकारी प्रजा की रचना की है। वह जिस प्रकार की है, उसे कहते हैं, यथा—

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस (षोडश कलावाले) पुरुष ने पहले प्राण को रचा, फिर प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन और अन्न को, उससे वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म एवं लोक फिर लोकों में नाम की सृष्टि की ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—इसके बाद उस षोडश कलावाले साक्षी पुरुष ने पञ्चवृत्तिवाले, सबके प्राणस्वरूप हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया। क्योंकि उस प्राण के द्वारा ही आत्मा का शरीर से निकलना तथा परलोक में आवागमन का व्यवहार होता है। तदनन्तर उस प्राण से सकल प्राणियों की शुभकर्म में प्रवृत्ति होने की हेतु, आस्तिक्यबुद्धिरूप श्रद्धा को उत्पन्न किया। उसके बाद कर्म करने तथा उन के फल भोगने के आधारभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पञ्च महाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों की एवं मन की रचना की। पश्चात् मन की स्थिति करनेवाले अन्न को, और उसके परिपाक से सम्पूर्ण कर्मों के साधक बल वा प्रजा उत्पन्न करने के सामर्थ्यरूप वीर्य को पैदा किया। फिर वीर्य से उत्पन्न होनेवाला जो चित्त है उसको शुद्ध करनेवाले तप को, बाद में कर्म के उपयोगी ऋक्, यजु, साम तथा अथर्ववेदरूप मन्त्रों को, तदनन्तर अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म को, फिर कर्मों के फलरूप चौदह लोकों को, इसके पश्चात् लोकों में उत्पन्न होनेवाले

प्राणियों के नामों को उत्पन्न किया। ये ही सोलह कलाएँ हैं, जो कि अविद्या आदि दोषरूप बीज से विकृत दृष्टिवालों को प्रतीत होनेवाले दो चन्द्रमाओं के समान तथा स्वप्न देखनेवाले के कल्पना किये हुए स्वप्न के पदार्थों की तरह निर्माण की गयी हैं ॥४॥

विशेष—जीवों की कार्यसिद्धि के सुभीते के लिए परमेश्वर ने १—प्राण, २—श्रद्धा, ३—आकाश, ४—वायु, ५—अग्नि, ६—जल, ७—पृथिवी, ८—इन्द्रियाँ, ९—मन, १०—अन्न, ११ वीर्य, १२—तप, १३—मन, १४—कर्म, १५—लोक और १६—नाम; ये सोलह कलाएँ, अर्थात् कार्य जगत् के अंश क्रम से रचे। इन सोलह कलाओं में सब कुछ आ जाता है। इन्हें वही धारण करता है, और पोषण करके फिर प्रलय में अपने में लीन कर लेता है। इन कलाओं में जो सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है, वही सचराचर में व्याप्त परमेश्वर है। उसी को जानो, तब इस जगत् का रहस्य मालूम होगा ॥ ४ ॥

पहले मन्त्र में आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अध्यारोप करके जगत् की उत्पत्ति को कहा है, अब उसके अपवाद को दृष्टान्त के साथ कहते हैं, यथा—

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः ॥ ५ ॥

भावार्थ—वह इस प्रकार है, याने वह दृष्टान्त यों है कि जैसे समुद्र की ओर बहती हुई गङ्गा आदि नदियाँ समुद्र में पहुँचकर अस्त हो जाती हैं, और उन के न नाम रह जाते हैं न रूप ही, वे 'समुद्र' है ऐसा कहकर पुकारी जाती हैं। वैसे ही इस सर्वद्रष्टा की ये सोलह कलाएँ, जिनका आश्रय पुरुष ही है, उसको प्राप्त होकर लीन हो जाती हैं। उनके नाम रूप नष्ट हो जाते हैं और वे 'पुरुष' ऐसा कहकर ही पुकारी जाती हैं। जो उपासक मनुष्य आत्मा को ऐसा जानता है वह कलाहीन और अमर हो जाता है। अगला श्लोक इसका समर्थक है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे सभी नदी नाले बहकर समुद्र में जा मिलते हैं,

उनके जल का रूप तथा वेग चाहे जैसा, जितना भी हो, पर वे समुद्र में मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। फिर उनका न वह नाम ही रहता है और न रूप वेगादि ही, बस 'यह समुद्र है' लोक में यही व्यवहार होने लगता है। इसी प्रकार इस जीवरूप साक्षी की, परम पुरुष की ओर जानेवाली प्राण आदि सोलह कला, उस पुरुष को प्राप्त होकर उसी में लीन हो जाती हैं। उनका कोई नाम तथा रूप न रहने से केवल वह पुरुष ही रह जाता है। जो पुरुष ऐसा जान जाता है, उस पर कलाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं रह जाता, फिर वह क्लेशों से भी छूट जाता है। अगला मन्त्र इसमें प्रमाण है ॥ ५ ॥

विशेष—समुद्र में नदियों की तरह नामरूप से रहित हुआ यह सब कार्यरूप प्रत्यक्ष जगत् जिस परमात्मा में लय हो जाता है, उस ब्रह्म को तत्त्वतः जाननेवाला सब दुःखों से छूट जाता है। वस्तुतः जैसे नदी और समुद्र का जल तो एक ही है, केवल नाम और रूप की उपाधि मिटी है, वैसे ही अखिल विश्व परमेश्वरस्वरूप ही है, जो वस्तु इसे उससे अलग किये हुए थी वह मिट गई। अन्त में निष्कर्ष यह निकलता है कि जो परमेश्वर को जितना ही अधिक जान लेगा, वह उतना ही मृत्यु के डर से दूर हो जायगा ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥

भावार्थ—रथ के पहिये की नाभि में जैसे तिरछे काष्ठ लगे रहते हैं, जमे रहते हैं, उसी प्रकार जिसमें सब कलाएँ स्थित हैं, उस जानने योग्य पुरुष को इस प्रकार जानो, जिससे कि मृत्यु तुमको पीड़ा न दे सके ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—नाभि में जैसे अरे लगे रहते हैं, वैसे ही आत्मा में ये षोडश कला स्थित हैं। हे ऋषियो ! उस अधिष्ठानरूप अकल को तुम निश्चय करो। क्योंकि उसके ज्ञान के बिना तुम्हें मृत्यु छोड़ नहीं सकता। जैसे निद्रा से जायमान स्वप्न में दिखाई देनेवाला सिंह बिना जाग्रत् के नष्ट नहीं हो सकता, वैसे ही अज्ञान से उत्पन्न मृत्युरूप सिंह ब्रह्मज्ञानरूप जागरण के बिना निवृत्त नहीं होगा। अतः उसकी निवृत्ति के लिए आत्मा का निश्चय करो ॥ ६ ॥

विशेष—यहाँ परमेश्वर को सर्वाधार जानने के लिए रथनाभि का दृष्टान्त दिया है। अराओं की तरह ब्रह्म में सब ठुके हुए हैं, मजाल क्या है जो जरा भी

टस से मस हो सकें। ऐसे परमेश्वर को जो जानता है, वह मुक्त तो हो ही जाता है, पर मरने के समय उसकी चित्त की प्रसन्नता नष्ट नहीं होती। दर असल सब से बड़ी बात मनुष्य की मौत तो अज्ञान है। आत्मज्ञानियों का जीवन ऐसा है जैसे चित्रपट पर चित्रों का बोलना आदि व्यापार दिखाना। उन पटचित्रों में (सीनेमा की मूर्तियों में) स्वतः कुछ नहीं होता, वह तो जादूगर का खेल है ॥ ६ ॥

इस समय श्रुति शिष्यों की कृतार्थता बोधन करती है, यथा—

तान् होवाचैतावदेवाहमेतत् परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

भावार्थ—इसके बाद आचार्य पिप्पलाद ने उन ऋषियों से कहा कि मैं इस परब्रह्म को इतना ही जानता हूँ। इससे अन्य जानने योग्य श्रेष्ठ पदार्थ कोई नहीं है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—इसके अनन्तर महर्षि पिप्पलाद ने उन छहों ऋषियों को सम्बोधन करते हुए स्पष्ट कह दिया कि मैं ब्रह्म के विषय में इतना ही जानता हूँ, अधिक नहीं जानता। फिर बात यह भी है कि इसके अतिरिक्त किंचिन्मात्र तुमको ज्ञातव्य भी नहीं है, तुमने तुमको जितना जानना चाहिए था जान लिया। इसी में तुम्हारा काम हो गया। आगे वाचारम्भण के रगड़े में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं रह गई है। तुम कृतार्थ हो गये ॥ ७ ॥

विशेष—पिप्पलाद ऋषि के कहने का तात्पर्य यह है कि बहुत कहने, उपदेश देने या सुनने से बोध नहीं होता, जो साररूप से ग्रहण किया, उसे आचरण में लाना थोड़ा ही बहुत होता है। उन्होंने संक्षेप में ही सब कुछ कह दिया है, इससे परे कुछ है भी, नहीं, न इसके आगे कोई कह सकता है। वे अभिमान नहीं करते कि मेरे सिवाय अब दूसरा कोई कुछ कहने के योग्य संसार में है ही नहीं। उनके कहने का यही अभिप्राय है कि जहाँ तक ब्रह्म के विषय में यहाँ कथन कर दिया है, उसके आगे अब वह (ब्रह्म) वाणी का विषय रह ही नहीं गया है ॥७ ॥

वे छहों ऋषि स्तुतिपूर्वक आचार्य की वन्दना करते हैं, यथा—

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः

परं पारं तारयसीति । नमः परमऋषिभ्यो नमः परम-ऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

भावार्थ—तब उन छहों ऋषियों ने पिप्पलाद की पूजा करते हुए कहा कि आप तो हमारे पिता हैं, जिन्होंने हमें अविद्या की दूसरी पार तक पहुँचा दिया, याने हमें अज्ञानसागर में डूबने से बचा लिया। ऐसे परम ऋषि को हमारा नमस्कार हो, प्रणाम हो ॥ ८ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस प्रकार के उपदेश को सुनकर वे छहों ऋषि आचार्य पिप्पलाद महर्षि के चरणों में दण्डवत् कर पुष्प आदि से पूजन करने के अनन्तर नम्रता से कहने लगे—आपने हमारे सब संदेहों को दूर करके हमें कृत-कृत्य कर दिया। जब कि संसार में स्थूल शरीर को उत्पन्न करनेवाला (प्रेम के झूँठे जंजाल में फँसानेवाले अनेक बन्धनों के कारणरूप इस शरीर को जन्म देनेवाला) पिता भी वन्दनीय होता है, किन्तु आपने तो अविद्या के परदे को हटाकर नित्य, अजर, अमर, अभय, ब्रह्मशरीर को बनाया है। अर्थात् अविद्या को दूर कर निरावरण ब्रह्म का निश्चय कराया है। इस कारण उक्त गौण पिता की अपेक्षा आप हमारे परम वन्दनीय प्रधान पिता हैं। आपने अपनी ज्ञानरूप नौका से तारकर हमको अविद्यार्णव की परली पार पहुँचा दिया है। आपके इस उपकार के बदले में भेंट करने योग्य इस संसार में हम कोई भी पदार्थ नहीं देखते हैं, अत एव आपके सदृश ब्रह्मविद्या के प्रवर्तक परम ऋषियों को हमारा केवल बार बार प्रणाम ही है ॥ ८ ॥

विशेष—प्रकृत उपनिषद् के प्रकरण में कहा गया है कि सब दुःखों की निवृत्ति का कारण ब्रह्मज्ञान है। पिप्पलाद मुनि से इस ज्ञान को प्राप्त करके छओं ऋषि कृतार्थ हो गये। इस तरह हम लोग इस विद्या को बराबर पढ़ा सुना करते हैं पर हमारा उद्धार क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि वे ऋषि ब्रह्मचर्यादि तपों से शुद्धान्तःकरण थे। और हम लोग मल विक्षेपादि दोषों से दूषित हो रहे हैं। सूर्य के प्रकाश में सब लोग देख सकते हैं, पर अन्धे को दिखाई नहीं देता। इसी तरह ब्रह्मज्ञान सबका उद्धारक है, पर दूषितान्तःकरण के ऊपर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। मल विक्षेप से दूषित पुरुष को दिया हुआ उपदेश, वेदान्ताध्ययन तथा श्रवण आदि ये सब राख में होम करने के सदृश निरर्थक हैं। सुकेशा आदि ऋषियों के आचरण तथा साधन पहले ही से उत्तम थे, तभी तो पिप्पलाद ऋषि के थोड़े से

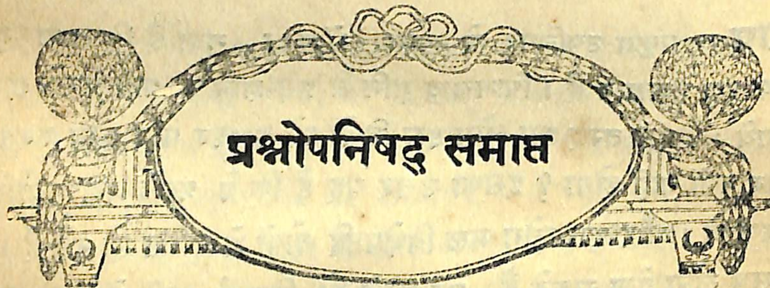
उपदेश से ये ब्रह्मज्ञानयुक्त हो गये। अन्त में सुकेशादिकों ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए आचार्य से कहा—हमारा आपको बार बार नमस्कार है, ब्रह्मविद्यासम्प्रदाय के प्रवर्तक परम ऋषियों की सेवा में हम लोग पुनः पुनः अभिवादन करते हैं ॥ ८ ॥

षष्ठ प्रश्न समाप्त ।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳪंसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इस प्रकार यह प्रश्नोपनिषद् पर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज द्वारा विरचित विद्याविनोद भाष्य समाप्त हुआ ।







ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

मुण्डकोपनिषद्

विद्याविनोद भाष्यसहित

प्रथम मुण्डक प्रथम खण्ड

सब उपनिषदों में यह उपनिषद् उत्तम होने के कारण मस्तकरूप है। अतएव इसे 'मुण्डक' कहते हैं। इसमें तीन मुण्डक हैं, और प्रत्येक मुण्डक के दो दो खण्ड हैं, इस प्रकार इसमें तीन मुण्डक और छै खण्ड हुए। यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनकीय शाखा के मन्त्रभागान्तर्गत है। इसके आरम्भ में ब्रह्मविद्या की परम्परा दी गयी है, उस पराम्परा में पहला नाम ब्रह्मा का है। इस उपनिषद् में परा और अपरा दो विद्याओं का वर्णन किया गया है, उनमें परमार्थतत्त्व का बोध करानेवाली परा विद्या है और जो सांसारिक जीवों की प्रवृत्ति का विषय है, उसे अपरा विद्या कहते हैं। वास्तव में अविद्या ही अपरा विद्या है, व्यवहार में उपयोग होने के कार[ण] इसका विद्या शब्द से व्यवहार होता हैं। जब यह बात है तो आत्मतत्त्वप्रतिपाद[क] उपनिषत्शास्त्र में इसकी चर्चा क्यों की गयी ? इस पर कहते हैं कि ग्रन्थों में कुछ विष[यों] का हेयत्वेन उपपादन करने की शैली होती है और कुछ का उपादेयत्वेन। अर्था[त्] बहुत सी बातें छोड़ देने के लिए लिखी जाती हैं और बहुत ग्रहण करने के लिए। जैसे रामायण आदि ग्रन्थों में रावणादिकों के आचरण का उल्लेख त्यागने के लिए [औ]र रामादि के आचरणों का उल्लेख स्वीकार करने के लिए कहा गया है। इस [ग्र]न्थ के पूर्वार्ध में अधिकतया अपरा विद्या का और उत्तरार्ध में विशेषतया परा [विद्या] का वर्णन किया गया है। साधारणतया लोग प्रश्नोपनिषद् के अनन्तर इस[को] पढ़ते हैं, किन्तु भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्यादि विद्वान् इसका प्रश्नोपनिषद् से पहले अध्ययन करना मानते हैं। जो हो, है यह उपनिषद्

बड़ी ही प्रभावशालिनी। जो अनुबन्धचतुष्टय और शान्तिपाठ प्रश्नोपनिषद् का है वही इसका भी है। यथा—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए ब्रह्मविद्यासम्प्रदाय के कर्ताओं का कथनरूप इतिहास कहते हैं, यथा—

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ १॥

भावार्थ—सब सृष्टि का कर्ता, जगत् का रक्षक ब्रह्मा सब देवताओं में पहले उत्पन्न हुआ। उसने अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्वा को सब विद्याओं में उत्तम ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया॥ १॥

वि० वि० भाष्य—प्रकाश, कान्ति आदि गुणोंवाले जि[illegible] उनमें ब्रह्मा सर्वप्रथम स्वतन्त्र भाव से उत्पन्न हुआ, अथवा इन्[illegible] ब्रह्मा प्रधान हुआ। क्योंकि वह सब विश्व का कर्ता और सर्वप्र[illegible] उसने अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्वा को उस ब्रह्मविद्या (ब्र[illegible] उपदेश दिया जो मूल अज्ञान का नाश करने वाली है, और [illegible] है। अन्यान्य विद्याएँ यत्किञ्चित् अर्थप्रकाशिका हैं, ब्रह्म[illegible] होने के कारण ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत सब विद्याएँ ऐसे [illegible] फल में सब ग्रासों का रस अन्तर्भूत हो जाता है॥ १[illegible]



विशेष—ब्रह्मा ने इस ब्राह्मकल्प के आरम्भ [illegible] देश अपने मुख्य शिष्य अथर्वा ऋषि को किया था, वही [illegible] से आज तक चला आ रहा है। सब देवगणों में ब्रह्मा [illegible]











ब्रह्मविद्या की आचार्यपरम्परा

१—ब्रह्मा-अथर्वा, २—अथर्वा-अङ्गिः, ३—अङ्गिः-भारद्वाज, ४—भारद्वाज-अङ्गिराः,
५—अङ्गिराः-शौनक। (१ मु०, १ ख०, १-३ मन्त्र)

બ્રહ્મવિદ્યાની આચાર્યપરંપરા.

૧—બ્રહ્મા-અથર્વા, ૨—અથર્વા-અંગિઃ, ૩—અંગિઃ-ભારદ્વાજ, ૪—ભારદ્વાજ-અંગિરાઃ,
૫—અંગિરાઃ-શૌનક. (૧ મુ૦, ૧ ખં૦, ૧-૩ મન્ત્ર)

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये गुण विद्यमान हैं। ऐसा बड़ा महापुरुष जिस विद्या का आद्य प्रवर्तक हो, उस अत्यन्तोपयोगिनी शक्ति का मनुष्य अवश्य सञ्चय करे। ॐकार का यहाँ सर्वप्रथमोच्चारण मङ्गलार्थक है ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् । स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसं परावराम् ॥ २ ॥

भावार्थ—ब्रह्मा ने अथर्वा को जिस ब्रह्मविद्या का उपदेश किया था, पूर्वकाल में वह विद्या अवर्था ने अङ्गी को कही। अङ्गी ने उसे भरद्वाज गोत्रोत्पन्न सत्यवह से कहा। इस प्रकार बड़े से छोटे को प्राप्त होती हुई वह ब्रह्मविद्या भरद्वाजगोत्रीय सत्यवह ने अङ्गिरा से कथन की ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—परमेश्वर जिसका मूल है, ऐसे सब विद्याओं के मूल वेदों के ज्ञाता ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ ने पहले जिस विद्या को अथर्वा से कहा था, उसे ही उत्तरोत्तर अङ्गी, भरद्वाज के पुत्र सत्यवह और अङ्गिरा ने एक दूसरे से से कहा। वही ब्रह्मबोधस्रोत गुरुशिष्यपरम्परा से आज तक भी चला आ रहा है, क्योंकि इस विद्यागङ्गा का आदि स्रोत वेद-हिमालय से प्रवाहित हुआ है अतः यह कभी शुष्क होनेवाला नहीं है। लय प्रलय होते रहेंगे, पर यह प्रलयानन्तर भी ऐसे ही बहता रहेगा ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र में दो ऋषि एक ही नामवाले से प्रतीत होते हैं, उन नामों में यह भेद है कि पहला नाम 'अङ्गिर्' है और दूसरा 'अङ्गिरस्' है। 'सत्यवहाय' यहाँ पर अनेक पुस्तकों में 'सत्यवाहाय' ऐसा पाठ मिलता है, पर आचार्य भाष्यकार का अभिमत पाठ 'सत्यवहाय' यही है। इसी से हम भी यही पाठ शुद्ध मानते हैं। 'परावराम्=परस्मादवरेण प्राप्ताम्' श्रेष्ठ से कनिष्ठ को मिलने के कारण इस ब्रह्मविद्या को 'परावरा' कहा गया है। अथवा पर अवर सब विद्याओं के विषयों की व्याप्ति के कारण, अथवा पर जो ब्रह्म, उससे अवर, छोटा जो ब्रह्मा उससे प्राप्त होने से यह 'परावरा' कही गयी है ॥ २ ॥

फिर अङ्गिरस से किसने ब्रह्मविद्या प्राप्त की, यह कहते हैं, यथा—

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

भावार्थ—महागृहस्थ शौनक ने शास्त्रोक्त विधि से अङ्गिरा के समीप उपस्थित होकर यह प्रश्न किया कि—हे भगवन्! किस एक को जान लेने पर यह सब जाना हुआ हो जाता है? ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले समय में ऋषि (ब्राह्मण) लोग प्रायः गृहारम्भ करके अधिक सामग्री एकत्र करना इस लिए ठीक नहीं समझते थे कि इस घटपट की खटपट में पड़ने से अध्ययनाध्यापन में बाधा होगी। यदि कभी किसी विशेष अवसर में यज्ञादि कर्म के लिए धन अन्न आदि की आवश्यकता पड़ जाती थी तो उसे उस समय के नृपति पूर्ण कर दिया करते थे। प्रतीत होता है, शौनक इसके अपवाद थे, उन्हें इस मन्त्र में महाशाल, महागृहस्थ लिखा है। एक समय अङ्गिरा ऋषि प्रातःकाल स्नानादि नित्यकर्म करके किसी स्वच्छ एकान्त जगह में विचारमग्न हुए बैठे थे, ये ऋषि सर्ववेदवेत्ता और वेदप्रतिपादित ब्रह्म में निष्ठावाले थे। उस समय शौनक ऋषि ने समिध-दन्तधावनादि काष्ठों को ले विधिपूर्वक उनके पास जाकर प्रश्न किया कि हे महानुभाव! किस एक के जानने से सर्वजगत् जाना जाता है? अर्थात् जिस एक के जानने से सबका ज्ञान हो जाय उस वस्तु को कृपा करके आप मुझसे कहिए॥ ३ ॥

विशेष—शौनक ऋषि महाशाल थे—'महत्यः शालाः गृहाणि प्रासादाः यस्य सः, सर्वगृहाश्रमैश्वर्यसम्पन्नः'—अर्थात् इनके बड़े बड़े मकान थे, याने ये धन-कुल-विद्यादि से सम्पन्न थे। इन्हें निष्काम, सर्व इच्छाओं से रहित, ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मश्रोत्रिय गुरु मिल गये, शौनक विधिवत् उनके पास गये। यहाँ विचार यह करना है कि अन्य लोग भी तो उपदेश ग्रहण करने अपने गुरुओं के पास गये थे, तो क्या वे विधिवत् नहीं गये थे? उत्तर में कहा जाता है कि यह कोई बात नहीं है। मन्त्र में 'विधिवत्' शब्द देहलीदीपकन्याय से बीच में रखा गया है, उसका सम्बन्ध सभी उपदेश ग्रहण करनेवालों से है। और हम लोग भी यह शिष्टाचार मानते हैं कि जब कोई गुरुदेव से उपदेश ग्रहण करने जाय तो उनके प्रतिदिन काम में आनेवाली सामग्रियों में से किसी को ले जाकर उनके अर्पण करे, अन्य कुछ देने की बात न्यारी है। देहलीदीपकन्याय का अभिप्राय यह है कि जैसे देहली पर धरा हुआ दीपक बाहर भीतर दोनों ओर चाँदना करता है, उसी प्रकार बीच में आये हुए 'विधिवत्' शब्द का अथर्वा, अङ्गी, सत्यवह और अङ्गिरस से भी सम्बन्ध लगा लिया जाता है॥ ३ ॥

अङ्गिरा के पूछने पर शौनक ऋषि उस वस्तु को कहने के लिए उसके साधन विद्याओं को कहते हैं, यथा—

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥

भावार्थ— अङ्गिरा ने शौनक से कहा—ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है कि एक परा, दूसरी अपरा ये दो विद्याएँ जानने योग्य हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—उक्त प्रश्न श्रवण करके शौनक ऋषि से अङ्गिराचार्य ने कहा कि ब्रह्मज्ञानी महात्मा लोगों के कथनानुसार दो विद्याएँ जानने योग्य हैं, मुझे ऐसा स्मरण भी होता है। उनमें एक तो परा विद्या है, जिसका सम्बन्ध परमात्मा से है, और दूसरी वह अपरा विद्या है, जो धर्म अधर्म के साधन और उनके फल का वर्णन आदि करनेवाली है ॥ ४ ॥

विशेष—यहाँ 'किस वस्तु के जानने से सबका जाननेवाला होता है' शौनक का यह प्रश्न है, फिर उत्तर देने में समर्थ अङ्गिरा ने 'दोनों विद्या जानने योग्य हैं' यह बिना पूछा हुआ उत्तर क्यों दिया? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ प्रत्युत्तर के लिए क्रम की आवश्यकता है। अविद्या निषेध करने योग्य है, बिना उसके स्वरूप को जाने उसका निराकरण नहीं हो सकता, इस लिए यहाँ पूर्व पक्ष को निषेध करने के लिए ही अपरा विद्या भी ज्ञातव्य कोटि में ली गयी। तदनन्तर ही उस वस्तु के ज्ञान का उपदेश सम्भव है जिसके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार उक्त दोनों विद्याओं में परा विद्या की प्राप्ति की उपायस्वरूपा अपरा विद्या को पहले कहते हैं—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

भावार्थ—उन विद्याओं में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये अपरा विद्या हैं। और जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है, वह परा विद्या है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—चारों वेदों के उच्चारण आदि की रीति बतानेवाली, पाणिनि आदि मुनियों से रचित 'शिक्षा' कही जाती है। वेदप्रतिपादित कर्मकाण्ड के अनुष्ठान करने की विधि बतलानेवाले, आश्वलायन कात्यायन आदि ऋषियों के द्वारा प्रकाशित सूत्ररूप 'कल्प' कहे जाते हैं। शब्दशुद्धि का ज्ञान करानेवाला 'व्याकरण' है। वेदों के अप्रसिद्ध पदों के अर्थ का बोधक 'निरुक्त' शास्त्र है। गायत्री, जगती आदि वैदिक छन्दों का बोध करानेवाला 'पिङ्गल' है। वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का काल आदि बतानेवाला, आदित्य गर्ग आदि का कहा हुआ 'ज्योतिष' है। ये वेद के छै अङ्ग भी अपरा विद्या कहाते हैं। जिस विद्या से शुद्ध अक्षर वस्तु का निश्चय हो, उस विद्या का नाम परा विद्या है ॥ ५ ॥

विशेष—जब कि चारों वेद अपरा विद्या में कहे गये हैं, तो वेदों का अन्तिम भाग होने के कारण अपरा विद्या में वेदान्त का भी समावेश हो जायगा, फिर इसे परा विद्या क्यों कहा गया ? अर्थात् उपनिषद् भी तो त्रिकाण्ड वेद का ज्ञानकाण्ड रूप अंश ही है, इस कारण जब वेद अपरा विद्या हुए तो उपनिषद् भी परा विद्या नहीं हो सकती। इसका उत्तर यह है कि वेदों में कर्म और उपासना का वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है, इस वास्ते यहाँ वेद शब्द से उसका कर्मकाण्ड ही अपरा विद्या माना गया है। और वैराग्यादि साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी पुरुषों के सुनने, मनन करने तथा निदिध्यासन करने योग्य, वेद का ब्रह्मप्रतिपादक ज्ञानकाण्ड उपनिषद् तो परा विद्या ही है। भाव यह है कि अनात्मभूत संसार का वर्णन करनेवाली विद्या का नाम अपरा विद्या है और परा विद्या उसका नाम है जिससे शुद्ध, अविनाशी ब्रह्म को जाना जाय ॥ ५ ॥

अक्षर ब्रह्म का निर्देश करते हुए पराविद्या के विशेषणों का वर्णन किया जाता है, जैसे—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि-पादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूत-योनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो वह अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षुश्रोत्र, अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म, अव्यय तथा सम्पूर्ण भूतों का कारण है, उसे ज्ञानी महात्मा लोग सर्वत्र देखते हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—वह अक्षर ब्रह्म पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं है, वह कर्मेन्द्रियों का भी विषय नहीं। वह वंश गोत्रादि से रहित है, ब्राह्मणत्वादि अथवा शुक्लत्वादि वर्णशून्य, नेत्रश्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियरहित तथा हस्तपादादि कर्मेन्द्रिय से शून्य है। वह नित्य है, सर्वरूप है, व्यापक है, दुर्विज्ञेय होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, वृद्धि क्षय से रहित है, तथा सम्पूर्ण प्राणिमात्र की उत्पत्ति का हेतु है। उस अक्षर ब्रह्म को ज्ञानी पुरुष अपने आत्मरूप से निश्चय करते हैं। उस अक्षर की जो विद्या, याने ब्रह्मज्ञान, उसकी प्रतिपादिका जो उपनिषद् उसका नाम परा विद्या है ॥ ६ ॥

विशेष—अपरा विद्या के अन्तर्गत सभी विद्यायें आ जाती हैं, किन्तु इनसे आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति नहीं होती है। हाँ बुद्धिमान् पुरुष इसे मुक्तिसाधिका पराविद्या की उपकारक बना सकते हैं। क्योंकि ब्रह्मचर्यपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेदशास्त्रों के अनुशीलन करने से शुद्धान्तःकरण में ज्ञान अङ्कुरित होकर पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है ॥ ६ ॥

वह भूतयोनि है, याने सर्वप्राणियों का उत्पत्तिकारण है, ऐसा पहले कह आये हैं। उसे ही तीन दृष्टान्तों से स्पष्ट बोधन करने के लिए उसमें बिना सहकारी के ब्रह्म की जगत्‌उत्पादनकारणता के विषय में पहला दृष्टान्त कहते हैं, यथा—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सं-भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे मकड़ी अपने जाल का विस्तार करती है और फिर उसे समेट लेती है याने उदरस्थ कर लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जिस तरह जीवित पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अविनाशी परमात्मा से यह समस्त जगत् उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे ऊर्णनाभि कीट (मकड़ी) तन्तुओं (जाले) को अपने में से उत्पन्न करता है और अपने ही में लय कर लेता है। जैसे एक ही पृथिवी से बीजभेद करके नाना प्रकार की व्रीहि यवादि ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे जीवितावस्था में चेतन पुरुष से जड नख केश लोमादि उत्पन्न होते हैं; वैसे ही उस चेतनरूप अक्षर से यह जड जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ ७ ॥

विशेष—यह परमात्मा नामरूपात्मक जगत् का आप ही निमित्त कारण है,

और आप ही उपादान कारण है। इससे यह अक्षर आत्मा इस जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण होता है। यहाँ दृष्टान्त रूप में यों समझना चाहिए कि मकड़ी अपने जाल का उपादान कारण है तथा आप ही निमित्त कारण है। जिस कारण में रहकर कार्य उत्पन्न हो, वह कारण उपादान कारण कहाता है, जैसे घटादि मृत्तिका से उत्पन्न हुए, मृत्तिका में ही स्थित रहते हैं, इससे घटादिकों का मृत्तिका उपादान कारण है। जो कारण तटस्थ होकर कार्योत्पत्ति करे वह निमित्त कारण कहा जाता है, जैसे दण्ड, चक्र, कुलालादि घटादिकों के निमित्त कारण हैं। जो आप ही निमित्त कारण हो तथा आप ही उपादान कारण हो उसको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कहते हैं, जैसे मकड़ी जाले का कारण है। इससे यह बात समझ में आ सकती है कि परमात्मा इस जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण है।

जब कि परमात्मा अपरिमित ऐश्वर्यसम्पन्न है और यही सृष्टि का उक्त कारण है, तो फिर प्रजा के सुखी, दुखी उत्पन्न होने के कारण परमात्मा में निर्दयता और विषमता का दोष आ जाता है। क्योंकि वह किसी को सुखी उत्पन्न करता है तथा किसी को दुःखी उत्पन्न करता है। किसी को सुखी उत्पन्न करना उसकी विषमता है, और किसी को दुखी उत्पन्न करना उसकी निर्दयता, निर्घृणता है। पर ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ईश्वर कर्मानुसार ही उनकी सृष्टि करता है। कर्मसापेक्ष होने के कारण ईश्वर को उक्त दोनों दोष नहीं लग सकते, इससे यह आया कि ईश्वर कर्मसापेक्ष हुआ जगत् को उत्पन्न करता है।

जैसे चेतन पुरुष से जड नख केश लोमादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही चेतन अक्षर से, आत्मा से जगत् की उत्पत्ति हुई है। जो यह शङ्का करते थे कि चेतन आत्मा से यह जड जगत् कैसे उत्पन्न हुआ, इस दृष्टान्त से यह शङ्का निवृत्त हो गयी ॥ ७ ॥

अब विश्व की उत्पत्ति कहते हैं—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

भावार्थ—सबसे प्रथम तप से याने सृष्टिविषयक ज्ञानशक्ति से परब्रह्म कुछ उपचय, स्थूलता को प्राप्त हो जाता है। उसी से अन्न उत्पन्न होता है, फिर अन्न से क्रमशः प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और उससे अविनाशी कर्मफल उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—जगत् की उत्पत्ति से पहले आत्मा जगत् को विषय करनेवाले ज्ञान से इस प्रकार स्थूलता को प्राप्त होता है, जैसे पृथिवी में स्थित बीज जल के सम्बन्ध से फूल जाता है। ब्रह्म की स्थूलता नाम जगत् की उत्पत्ति की अनुकूलता मात्र है। स्थूल भाव को प्राप्त ब्रह्म से अव्याकृत अज्ञान उत्पन्न हुआ। यद्यपि सिद्धान्त में अज्ञान अनादि है अतः उसकी उत्पत्ति कहना व्यर्थ है, तथापि जगत् की उत्पत्तिकाल में जगत् उत्पन्न करने की उन्मुख अवस्था की प्राप्तिरूप जन्म को प्राप्त होता है। उस चिदाभाससहित अज्ञान से ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्तिविशिष्ट हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, उससे विराट उत्पन्न हुआ। तदनन्तर उससे भूः आदि सप्तलोक उत्पन्न हुए, फिर उन लोकों में रहनेवाले प्राणियों के कर्मों की उत्पत्ति हुई। बाद में अवश्य प्राप्त होनेवाला स्वर्गादिरूप कर्मफल उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥

विशेष—यह जो सृष्टिक्रम दिया गया है, यह सोपानपरम्पराक्रम है, भाव यह है कि साधारण मनुष्यों की बुद्धि में ईश्वर की सामर्थ्य का कुछ क्रमिक आभास हो जाय। क्योंकि जहाँ जहाँ विशेष विभूति होती है, वहाँ वहाँ ईश्वर की शक्ति का विकास अधिक देखने में आता है। अधिकारी इस सृष्टिक्रम की सोपानपरम्परा द्वारा आरोहणक्रम से यह जान सकेगा कि ईश्वर विराट, हिरण्यगर्भ, अव्याकृतादिकों से श्रेष्ठ है। और उसे अवरोहक्रम से यह मालूम हो सकेगा कि जगत् प्रभुमय है, उसी का सब कुछ पसारा है ॥ ८ ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्‌ यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्‌ ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो सर्वज्ञ तथा सर्ववित् है, और जिसका तप ज्ञानमय है, उस से ही हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्म, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—जो परमात्मा सबको सामान्य रूप से जानता है तथा जो सभी को विशेष रूप करके जानता है, जिस परमात्मा का ज्ञानरूप ही तप है, उस परमेश्वर से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है। उसी से देवदत्तादि नाम, नील पीतादि रूप, और व्रीहि यवादि अन्न उत्पन्न हुए ॥ ९ ॥

विशेष—'यह कुछ है' यह सामान्य ज्ञान है, 'यह देवदत्त है' यह विशेष ज्ञान है। परमात्मा सामान्य ज्ञानवान् तो ह्यी है किन्तु देवदत्तादि का नाम तथा उनके शुभाशुभ कर्मों का ज्ञान इत्यादि विशेष ज्ञान भी उसको है। यह तो समझाने

के लिए कह दिया गया है, वस्तुतः परमेश्वर ज्ञानस्वरूप ही है। संसार भर के पास जो ज्ञानभण्डार है, वह इसी ईश्वररूप केन्द्र से प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

प्रथम खण्ड समाप्त।

अथ द्वितीय खण्ड

पहले जो परापर विद्याओं का वर्णन किया गया है उनमें एक का विषय संसार है और दूसरी का मुक्ति, यही कहने के लिए अगले ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है। उनमें से बिना संसार का स्वरूप जाने वैराग्य हो नहीं सकता, अतएव वैराग्यप्राप्ति के लिए पहले अपर विद्या के विषय संसार का स्वरूप कहते हैं, यथा—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकाम एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

भावार्थ—ऋषियों ने अपर विद्या के मन्त्रों में जिन कर्मों का साक्षात्कार किया था, वही यह सत्य है। त्रेतायुग में या वेदत्रयी में उन कर्मों का अनेक प्रकार से विस्तार हुआ है। कर्मफल की कामना से युक्त होकर उनका नित्य अनुष्ठान करो, अपने किये हुए कर्म के फल की प्राप्ति के लिए यही मार्ग है, लोक में यही रास्ता है ॥ १ ॥

वि० बि० भाष्य—हे शौनक! वेदोक्त कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है, इसी से कर्मों को श्रुति में सत्यरूप कहा है, वसिष्ठ आदि ऋषियों ने वेदमन्त्रों में उन कर्मों को देखा। त्रेतायुग में उन कर्मों का बड़ा प्रचार हुआ। उन कर्मों को तुम भी अपनी अभीष्ट फलसिद्धि के लिए करो। इष्ट फल की प्राप्ति का यह कर्म ही मार्ग है, बिना कर्म के किञ्चिन्मात्र भी फल प्राप्त नहीं होता। स्वर्गादि फल तो सकाम कर्म बिना प्राप्त ही नहीं हो सकते। निष्काम कर्म बिना चित्तशुद्धि नहीं हो सकती, उसके बिना ज्ञान भी नहीं हो सकता, ज्ञान बिना मोक्ष नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म बिना किञ्चित्फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः फलप्राप्ति के लिए कर्म करना चाहिए ॥१॥

विशेष—मनुष्य को अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ईश्वर की आज्ञारूप वेदप्रतिपादित अग्निहोत्रादि अथवा सत्यभाषणादि कर्म अवश्य करने चाहिएँ। तात्पर्य

यह है कि मनुष्य अच्छे कर्मों में अवश्य लगा रहे, इससे अन्तःकरण दर्पणवत् निर्मल हो जायगा, फिर उसमें ईश्वरीय ज्ञानप्रकाश होने में देर न लगेगी। वैदिक कर्म करनेवाले की दुर्गति नहीं होती ॥ १ ॥

उक्त कर्मों को विशेष रूप से दिखाने के लिए सब कर्मों में प्रधान होने के कारण पहले अग्निहोत्र को कहते हैं, यथा—

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि के भले प्रकार से प्रज्वलित होने पर जब उसमें लपटें उठने लगें, उस समय दोनों आज्यभागों के मध्य में सबेरे और शाम को आहुतियाँ प्रदान करे ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जब अग्नि खूब प्रज्वलित हो जाय तब आहुति डालनी चाहिए। मनुष्य जब होम करे पवित्रता से श्रद्धापूर्वक करे, सात्त्विक याग की बड़ी महिमा है। आत्मज्ञान की प्राप्ति में याग सहायक होते हैं, यज्ञ में श्रद्धापूर्वक वेदमन्त्रों के पाठ से परमात्मा का गुणानुवाद और शुभ फलप्राप्ति की प्रार्थना करनी चाहिए। उस से अन्तःकरण की शुद्धि होकर सुबुद्धि बढेगी। जहाँ ऐसा होगा, वहाँ आत्मज्ञान का प्रकाश न फैले, ऐसा हो नहीं सकता।

जब समिधाओं से, लकड़ियों से प्रज्वलित अग्नि में ज्वालाएँ उठें तब दर्श और पौर्णमासरूप दोनों घृत के भागों की आहुतियों को बिचले कुण्ड में देवताओं का उद्देश्य करके डाल देना चाहिए ॥ २ ॥

विशेष—शास्त्रों में ऐसा विधान किया गया है कि सब श्रौत स्मार्त होम यज्ञों के प्रारम्भ में प्रधान याग से पहले ही अग्नि और सोम के लिए दो आज्यभाग नामक आहुतियाँ देनी चाहिएँ। उन में से पहली आहुति कुण्ड के उत्तर पूर्वार्द्धस्थ प्रज्वलित अग्नि में और दूसरी कुण्ड के दक्षिण पूर्वार्द्ध में छोड़नी चाहिए।

और भी स्पष्टतया इस मन्त्र को यों समझना चाहिए कि "तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्" अर्थात् उस समय दोनों आज्यभागों के मध्य में आवाप स्थान में देवतोद्देश्यक आहुतियाँ डाले। दर्श पौर्णमास यज्ञ में 'आहवनीय' अग्नि के उत्तर और दक्षिण की तरफ 'अग्नये स्वाहा' तथा 'सोमाय स्वाहा' इन मन्त्रों से दो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें 'आज्यभाग' कहते हैं। इन के बीच का भाग

'आवापस्थान' कहलाता है। शेष सब आहुतियाँ उसी में दी जाती हैं। 'सूर्याय स्वाहा' 'प्रजापतये स्वाहा' प्रातः काल में, 'अग्नये स्वाहा' 'प्रजापतये स्वाहा' सायंकाल में इन मन्त्रों से दी जानेवाली ये दो आहुतियाँ प्रसिद्ध हैं। प्रकृत मन्त्र में 'आहुतीः' यह बहु वचन अनेक दिवस पर्यन्त आहुति डालने के अनुष्ठान की अपेक्षा से है ॥२॥

अग्निहोत्र का यथावत् होना बड़ा ही दुष्कर है, और इस में विघ्न भी बहुत हैं, ऐसा विचार कर वैराग्य के लिए कहते हैं, यथा—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयण-मतिथिवर्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्त-मांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस अग्निहोत्री का अग्निहोत्र दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण और अतिथिपूजन से रहित तथा ठीक समय किये जानेवाले हवन एवं वैश्वदेव से विवर्जित अथवा विधिपूर्वक नहीं किया जाता है; ऐसा ठीक ठीक न होनेवाला अग्निहोत्र उस करनेवाले के सात लोकों को नाश करता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर अपने मन से अग्निहोत्रादि कर्म करते हैं, उन्हें अभीष्ट फल की सिद्धि नहीं होती है यह कहते हैं, यथा—जिस यज्ञानुष्ठानकर्ता का दर्श-इष्टि से रहित (जिसे अमावास्या और प्रतिपदा की सन्धि में करना चाहिए), पौर्णमासेष्टि यज्ञ से वर्जित (जो पूर्णमासी वा प्रतिपदा के दिन किया जाता है), चातुर्मास्येष्टियों से रहित (वैश्वदेव, वरुणप्रघास, शाकमेध, शुनासीरीय ये चार पर्व फाल्गुनी पौर्णमासी से लेकर होनेवाले चातुर्मास्य यज्ञ कहलाते हैं), आग्रयण से रहित (शरद् वसन्त ऋतुओं में होनेवाली नवान्नेष्टियाँ आग्रयण कहलाती हैं), अतिथिसत्काररहित (जिस के आगमन का तिथि, वार आदि काल निश्चित न हो उस धर्मशास्त्रोक्त आगन्तुक अभ्यागत को अतिथि कहते हैं), शास्त्रविधि के अनुसार हवनरहित कर्म एवं जिस अग्निहोत्र के साथ वैश्वदेव नामक महायज्ञ नहीं होता वह, और विधिरहित निन्दित प्रकार से अविश्वासपूर्वक किया गया होम; यह सब वासनारूप से सञ्चित कर्म बनकर उस कर्ता के सातों लोकों को नष्ट कर देता है अर्थात् असमर्थ, निर्बल बना देता है ॥ ३ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में "आसप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति" पाठस्थ 'आसप्त-मान् लोकान्' इस का तात्पर्य यह है कि जो विधिपूर्वक वैदिक कर्म नहीं करता, उसके

सात लोक हानि को प्राप्त होते हैं। अर्थात् पिता, पितामह, प्रपितामह, तीन ये; पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र तीन ये और सातवाँ स्वयं सब दुर्गति को प्राप्त होते हैं। अथवा वह भूः, भुवः, स्वः आदि सातों उच्चलोकों के सुखों से वञ्चित हो जाता है। पातालादि लोकों में कोई जाना नहीं चाहता अतः उनका कथन यहाँ इष्ट नहीं। अथवा अन्य लोकों की तथा सात पीढ़ियों की बात तो दूर रही, वेदप्रतिकूल आचरण करनेवाले पुरुष की अपनी ही तथा यहाँ ही अत्यन्त हानि हो जाती है। अर्थात् वह ब्रह्मज्ञान के साक्षात् कराने के हेतु श्रवण, मनन, निदिध्यासन, शम, दम, तितिक्षा और उपरति (वैराग्य) नामक सातों लोकों याने प्रकाशों का हनन कर देता है, कार्य सिद्ध करने में असमर्थ, निर्बल हो जाता है ॥ ३ ॥

अगले मन्त्र में कुछ अधिक कहने की इच्छा से अग्नि की सात जिह्वाओं को बताते हैं, यथा—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ४

भावार्थ—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुची देवी ये उस अग्नि की लपलपाती हुई सात जिह्वायें हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—काल के समान दीखनेवाली, डरानेवाली, मन के समान वेगवाली, अत्यन्त लाल वर्ण से युक्त, अत्यन्त धूमैली, चिनगारियों से दीप्तिवाली देवी, सकल सुन्दरताओं से युक्ता प्रज्वलित स्वभावा; ये अग्नि की सात जिह्वायें हैं ॥ ४ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में अग्नि की सात जिह्वाओं का अभिप्राय यह है कि अग्निदेव जहाँ प्रकट होगें वहाँ इन सात जिह्वाओं के साथ ही होंगे। अर्थात् इन लपटों में से कोई न कोई भेद अवश्य रहेगा। इन लपटों को जिह्वा कहने का अभिप्राय यह है कि हविष्यान्न को ही क्या, सारे संसार की वस्तुओं को ये चाट सकती हैं। प्रलयकाल में प्राणी आदि चराचर को कालस्वरूपा अग्निजिह्वा का परिचय मिलता है। किसी नगर या घर को जलानेवाली विकराल जिह्वा होती है। मन जैसे वेगवाली अग्निजिह्वा का व्योमयान, रेल आदि की द्रुत गति से परिचय मिलता है। अग्नि की लाल जिह्वा का परिचय विद्युत तथा धूमरहित कोयले की आग में मिलता है। धूमैली अग्निजिह्वा गीले इन्धन में लगी हुई अग्नि से प्रतीत होती है। किसी विशेष काष्ठ में चट चट करती हुई अग्नि में स्फुलिङ्गिनी जिह्वा

की प्रतीति होती है। विश्वरुचि अग्निजिह्वा की प्रतीति जठरानल तथा महानसादि अग्नि में होती है ॥ ४ ॥

अब उक्त सात जिह्वाओं का प्रयोजन कहते हैं, यथा—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ५

भावार्थ—अग्निशिखायें प्रज्वलित होने पर जो यथासमय अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठान करता है. उसकी दी हुई आहुतियों को ग्रहण करती हुई सूर्य की किरणें होकर उसे उस स्वर्ग में ले जाती हैं, जहाँ देवताओं का एक मात्र राजा इन्द्र सब से ऊपर रहता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जो यजमान देदीप्यमान अग्निजिह्वाओं के किसी एक भेद में जिस कर्म का जो काल है, उसका अतिक्रमण नहीं करता हुआ अग्निहोत्रादि का आचरण करता है, उसको ये आहुतियाँ सूर्य की किरणें होकर देवताओं में सब से बड़े इन्द्रदेव के पास ऐसे पहुँचा देती हैं, जैसे पुष्पक विमान ने रघुनाथजी को क्षण मात्र में लंका से अयोध्या को पहुँचा दिया था ॥ ५ ॥

विशेष—अग्नि में पड़ी हुई आहुतियाँ सूर्यकिरण होकर अर्थात् सूर्य की किरणों द्वारा यजमान को इन्द्रलोक में पहुँचा देती हैं ? इस कथन को पाठक असम्भव न समझें, याने आजकल के वैज्ञानिक युग में तो इसे ठीक ही मानें। विदेशों में होनेवाले गायन, व्याख्यानों को सूर्य की किरणें हवा में उड़ाकर सब लोगों तक पहुँचाती रहती हैं, जिनका अनुभव लोग रेडियो यन्त्र के सामने बैठकर नित्य करते रहते हैं ॥ ५ ॥

आहुतियाँ सूर्य की किरणों द्वारा यजमान को कैसे ले जाती हैं ? इस पर कहते हैं, यथा—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ ॥

भावार्थ—पूर्ण रूप से प्रज्वलित होती हुई ये आहुतियाँ "आओ, आओ, तुम्हारे सुकर्मों से प्राप्त हुआ यह पवित्र ब्रह्मलोक (स्वर्गलोक) है" यजमान से इस

प्रकार के प्रसन्न करनेवाले वचनों को कहती हुई सूर्य की किरणों द्वारा बड़े सत्कार से ले जाती हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—विधिपूर्वक अग्निहोत्रादि कर्म करनेवालों को आहुतियाँ बड़े प्रिय शब्दों से बुलाकर स्वर्गलोक में ले जाती हैं। पैदल नहीं वल्कि सूर्य की किरणरूप यान में बैठाकर बड़े आराम के साथ पहुँचा देती हैं ॥ ६ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में स्वर्ग ही को ब्रह्मलोक कहा है। क्योंकि प्रकरणानुरोध से कर्मों से स्वर्गरूप फल की प्राप्ति होनी ही सम्भव है। कर्म निष्फल नहीं जाते, उनका सूक्ष्म संस्कार बना रहता है, वे अनुकूल समय में कारणादि पाकर उद्बुद्ध हो फल के उन्मुख होते हैं ॥ ६ ॥

वैराग्य के लिए उपर्युक्त कर्मफल की और उनके करनेवालों की निन्दा करते हैं, यथा—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते न पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिन यज्ञादि कर्मों में अश्रेष्ठ कर्म अपरा विद्या करके कहा गया है, उनमें ये अठारह (अर्थात् सोलह ऋत्विक्, एक यजमान, एक उसकी धर्मपत्नी) यज्ञ के साधन अस्थिर एवं नाशवान् डोंगी (छोटी नौका) की तरह हैं। 'यह कर्ममार्ग ही कल्याणमार्ग है' ऐसा जानकर जो मूर्ख इनका अभिनन्दन करते हैं, हर्षित होते हैं, वे फिर भी जरा मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक! यह यज्ञरूप छोटी नौका संसारसागर से पार करने में समर्थ नहीं हो सकती। जैसे तृणादिकों से अथवा साधारण काष्ठों से बनाई हुई बहुत छोटी नौका समुद्र के उस पार नहीं ले जा सकती, किन्तु मत्स्य आदि जलजन्तुओं के मारने के उपयोग में आने के बाद उसे लौटकर इसी पार के किसी घाट पर लगना पडता है, वैसे ही यज्ञकर्मों से संसारसागर के पार जाना नहीं हो सकता। हाँ, स्वर्गादि फलरूप मत्स्य की प्राप्ति होने के अनन्तर फिर इसी लोक में आना पड़ता है। संसारार्णव से पार उतरने के लिए तो ज्ञानरूपी जहाज ही सर्वदा अपेक्षित है। कर्म तो ज्ञान से अत्यन्त न्यूनकोटिप्रविष्ट है। जो कर्म यज्ञ करानेवाले सोलह ऋत्विक् ब्राह्मण, दो यजमानदम्पती इन अठारह जनों से सिद्ध होता है,

उसको ही जो मूढ मोक्ष का साक्षात् साधन मानते हैं, वे कुछ समय तक स्वर्ग में रहकर वहाँ का उत्तम सुख भले ही लूट लें, पर अन्त में वहाँ से गिरकर संसार में घटीयन्त्र की तरह घूमते हुए जरा मृत्यु के पंजे से नहीं छूट सकते ॥ ७ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में ज्ञानप्राप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी फल के लिए किये गये कर्मों की निन्दा की गयी है। मन्त्र में "अष्टादशोक्तम्" यह वाक्य आया है। यहाँ वे अग्निहोत्र कर्म के सहायक अठारह कौन हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, नेष्टा, अग्नीध्र, प्रतिहर्ता, ग्रावस्तुत्, उन्नेता, पोता, सुब्रह्मण्य, यजमान, तत्पत्नी ये हैं ॥ ७ ॥

फिर भी कर्मों की निन्दा करते हैं, यथा—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो लोग अविद्या के बीच में फँसे हैं, और अपने को बड़ा विद्वान् तथा पण्डित माननेवाले हैं, वे मूढ पुरुष पीडित होते हुए सब ओर ऐसे भटकते रहते हैं, जैसे अंधे से ले जाये जाते हुए अंधे गड्ढे में गिरा करते हैं ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—कर्मी पुरुष सदा अविद्या में ही फँसे रहते हैं। हैं तो वे अत्यन्त मूढ पर अपने आपको बड़ा ही अकल का पुतला पण्डित मानते हैं। जैसे एक अंधे के पीछे सहारे से चलनेवाले अंधे क्लेश को ही पाते हैं, वैसे ही कर्म करनेवाले ज्ञानान्ध गुरु के पीछे चलनेवाले शिष्य भी बार बार संसारदुःख का ही अनुभव करते हैं ॥ ८ ॥

विशेष—प्रतीत होता है उपनिषत्काल में भी ऐसे अज्ञानियों की कमी नहीं होगी जो कुछ भी नहीं जानते हुए अपने को बुद्धिसागर मानते थे। उनकी दृष्टि में ज्ञानकाण्ड को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था। वे यज्ञ अग्निहोत्रादि कर्मों में तो फँसे रहते थे, पर उन्हें यह ज्ञान नहीं था कि सर्व सचराचर विस्तार में मेरा ही आत्मा विराजमान है। कर्म के साथ ज्ञानशक्ति को भी आश्रय देना चाहिए। बहुत से लोग यह भी नहीं जानते कि गुरु बनाकर किसका अनुसरण करना चाहिए ? 'लोभी गुरु लालची चेला, मिली न कौड़ी गया अधेला' कहावत के अनुसार संसारी जन

स्वसमान प्रपञ्चभाराक्रान्त किसी मनुष्य को गुरु बनायेगा तो उसका उद्धार कैसे होगा ? विरक्त समदर्शी महात्मा ही गुरुरूप में उपदेश देकर मनुष्य के भवबन्धन काट सकते हैं ॥ ८ ॥

और भी—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ६ ॥

भावार्थ—बहुत से कर्मी लोग अविद्या में फँसे रहते हैं, वे हम कृतकृत्य हैं, हम कृतार्थ हैं' इस प्रकार का अभिमान किया करते हैं। क्योंकि कर्मकाण्डी पुरुषों को कर्मफलविषयक राग के कारण आत्मतत्त्वज्ञान नहीं होता, इस लिए वे अत्यन्त पीड़ित होते हुए स्वर्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। क्योंकि उनका कर्मफल क्षीण हो जाता है अतः उन्हें स्वर्ग से च्युत होना पड़ता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—बहुत से लोग अज्ञानवश सांसारिक झगड़ों के जाल में उलझे पड़े हैं, वे ज्ञानभाव को त्याग कर अज्ञानी बालकों की तरह कर्मानुष्ठान का खेल खेल रहे हैं। आश्चर्य तो यह है कि वे अपने प्रति 'नास्ति धन्यो मदन्यः' याने मेरे समान कोई सफलजीवन नहीं है, ऐसा अभिमान करते हैं। क्योंकि ऐसे लोगों को कर्म के फलों में विशेष लालसा है, इसी से वे खास तौर पर तत्त्वज्ञान को नहीं समझते। पर उन्हें यह तो समझना ही चाहिए कि पुण्य क्षीण होने पर फिर भी कुछ दिन के बाद हमें यहीं आकर धक्के खाने पड़ेंगे ॥ ६ ॥

विशेष—महात्मा लोग कहा करते हैं कि जो मनुष्य मुक्तिसुखप्राप्ति के राग से भी मोक्ष के लिए उद्योग, यत्न करता है वह मुक्ति को नहीं पा सकता। क्यों कि बन्धन का कारण राग वहाँ बना हुआ है, जहाँ राग होगा वहाँ द्वेष भी अवश्य होगा। बस राग द्वेष ही सब बखेड़ों की जड़ है, यही वह शृङ्खला है, जिस में सारा जगत् बँधा है। इस अविद्या में डूबे, परमार्थ से विमुख मनुष्य ब्रह्मज्ञान के परमानन्द का अनुभव नहीं कर सकते, अतः चौरासी का चक्कर लगाते रहते हैं ॥ ६ ॥

और भी कहते हैं, यथा—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।१०।

भावार्थ—जो महामूढ इष्ट-यज्ञादि और पूर्त-वापीकूपनिर्माणादि कर्मों को ही सर्वोत्तम मानते हैं, और अन्य किसी वस्तु को श्रेय का साधन नहीं जानते, वे स्वर्गलोक के प्रधान स्थान में अपने कर्मफल का भोग करके इस लोक में या इससे भी अत्यन्त हीन लोक में प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—अज्ञानी लोगों का कुछ विचार या कर्तव्य ही निराला सा होता है। वे याग आदि इष्ट, और वापी आदि खुदवानारूप पूर्त कर्म को परम श्रेष्ठ याने मोक्ष का मुख्य साधन मानते हैं, वे आत्मज्ञानरूप श्रेयसाधनों पर कुछ भी ध्यान नहीं देते। वे स्वर्ग के सर्वोत्तम भोग को तो भोगते हैं, पर अन्त में अपने कुछ बाकी बचे कर्मों के अनुसार, फिर मनुष्यशरीर तथा इससे भी हीन पशु पक्षी आदि की योनि को प्राप्त होते हैं। उनसे यह नहीं बन पड़ता कि यहीं इसी शरीर से स्वर्ग जाने के विचार को त्याग कर ऐसा काम करना चाहिए जिससे निरन्तर रहनेवाला सुख प्राप्त हो सके। अन्यथा किरायेदारों की तरह जहाँ तहाँ से निकल बाहर मारे मारे फिरना पड़ेगा ॥ १० ॥

विशेष—पाठक वर्ग यह न समझें कि इस मन्त्र में श्रौत स्मार्त कर्मों की निन्दा की गई है, किन्तु उन अज्ञानियों की समालोचना की गई है जो परमार्थ सम्बन्धी परोक्ष सुख को तुच्छ मानकर स्त्री, पुत्र, धन, राज्य सम्बन्धी ऐश्वर्य के अनित्य वैषयिक सुख को ही सब कुछ मान बैठे हैं। वे प्राप्त सुख की रक्षा तथा अधिक की प्राप्ति की इच्छा से श्रौत कर्म और नाम कायम करने आदि की अभिलाषा से बावली, कूआ बनवाना आदि स्मार्त कर्म करते हैं। पर सर्वोत्तम तथा स्थायी सुख के साधन समाधि, वेदान्तश्रवण, गुरूपसदन और त्याग वैराग्य आदि की ओर मन नहीं देते ॥ १० ॥

केवल कर्मियों के फल कहकर सगुण ब्रह्म की उपासना सहित आश्रमकर्मियों के ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप फल को कहते हैं, यथा—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो शान्त तथा विद्वान् लोग वन में रहकर भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए निश्चयपूर्वक तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे शुद्ध कर्म के

आचरण से निर्मल होते हुए उत्तरायण मार्ग से सत्यलोक में प्राप्त होते हैं। जहाँ वह अमृतस्वरूप तथा अविनाशी स्वभाववाला पुरुष रहता है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—इस में सन्देह नहीं, जो जितेन्द्रिय उपासना करनेवाले विद्वान भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते हुए एकान्त वन में, जहाँ पुत्र कलत्र मित्र आदिकों का जरा भी संपर्क नहीं है, रहकर अपने निज आश्रमोचित विहित कर्मरूप तप और हिरण्यगर्भ आदि की उपासनारूप श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे पुण्य पाप की वासना से रहित होकर सूर्य के द्वारा अर्थात् उत्तरायण में शरीर को त्याग कर उस लोक को जाते हैं, जहाँ वह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा रहता है जो अमृतस्वरूप और अविनाशी स्वभाववाला है। अर्थात् वह हिरण्यगर्भ जब तक संसार है तब तक स्थायी है तथा सब से पहले उत्पन्न हुआ है। भाव यह हुआ कि अपरा विद्या से प्राप्त होनेवाली सांसारिक गतियाँ तो बस यहीं तक हैं ॥ ११ ॥

विशेष—अन्तःकरण की शुद्धि के लिए पवित्र, शान्त और भोगों से विरक्त होकर श्रद्धा और विश्वास के साथ परमेश्वर की आज्ञारूप वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों का सेवन करना चाहिए। ऐसे ही अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश होता है। ऐसे लोग वैदिक कर्म से निष्पाप हो उत्तर मार्ग से हिरण्यगर्भ के पास जा पहुँचते हैं ॥ ११ ॥

यहाँ तक अपरा विद्या से प्राप्त संसार की गतियाँ कही गईं। इस समय साध्य साधन के लक्षण द्वारा संसार से विरक्त को पराविद्या में अधिकार बोधन के लिए कहते हैं, यथा—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—कर्मों से पाने योग्य लोकों को जानकर ब्रह्मवेत्ता वैराग्य को प्राप्त करे। कर्मरहित नित्यरूप परमात्मा कर्म करने से प्राप्त होने योग्य नहीं है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को उस परमात्मा के जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में उपस्थित होना चाहिए ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—मुमुक्षु पुरुष को संसार की दशा पर खूब गौर से विचार करना चाहिए। यदि भोगों में दुःख मालूम हो तो उनसे वैराग्य प्राप्त कर

ले। जितने लोक, परलोक के सुख हैं वे कर्मों के फल हैं। कर्मजन्य सभी फल अनित्य होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य कर्म करके खेत आदि में अन्न को उत्पन्न करता है और भोगने के बाद वह अन्न समाप्त हो जाता है, उसी तरह कर्म से रचे हुए लोक परलोक आदि सभी भोग के अनन्तर नष्ट हो जानेवाले हैं। ऐसे बहुत से दृष्टान्तों से सब लोकों को अनित्य जानकर विरक्त हो जाय और साथ ही यह भी निश्चय कर ले कि कर्म से जन्य संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं, नित्य पदार्थ तो कोई दूसरा ही होगा, उसे ही मुझे जानना चाहिए। अनन्तर उस नित्य पदार्थ के जानने के लिए मुमुक्षु हवन की समिधा, पुष्प, फल, दन्तधावनादि हाथ में लेकर वेदवेत्ता ब्रह्मविचारमग्न आचार्य गुरु के समक्ष उपस्थित हो ॥ १२ ॥

विशेष—हे शौनक! मुमुक्षु को चाहिए कि वह ब्रह्मलोक की प्राप्ति के उपाय श्रवण आदिकों का त्याग न कर बैठे। क्योंकि ब्रह्मलोक की प्राप्ति में अनेक विघ्न बाधायें उपस्थित रहती हैं, अतएव मुमुक्षु 'कर्म से प्राप्त होनेवालों की अवश्य निवृत्ति होगी' यह विचार करके सब लोकों से वैरागी हो जाय। ऐसे सर्वोत्तम विचार से वह विद्वान् गुरु के पास जाय, क्योंकि इन्द्रियातीत अगम्य तत्त्व का बोध कोई पहुँचा हुआ धुरन्धर विद्वान् गुरु ही दे सकता है। आत्मज्ञान का बोधन करना ऐरे गैरे पञ्चकल्याणी गुरु का काम नहीं है ॥ १२ ॥

ऐसे शिष्य के लिए गुरु को अवश्य आत्मज्ञानोपदेश देना योग्य है, यह कहते हैं, यथा—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥ १३ ॥

भावार्थ—अपने निकट आये हुए, पूर्ण रूप से शान्तचित्त तथा शमदमादि सम्पन्न शिष्य को विद्वान् गुरु उस वेदान्तप्रतिपादित विद्या का यथार्थ रूप से उपदेश करे, जिससे उस सत्यस्वरूप तथा अविनाशी पुरुष का ज्ञान होता है ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—जब मुमुक्षु शान्तचित्त विरक्त और सदाचारी होकर गुरु की शरण में प्राप्त हो जाय, तब वह ऐसे अधिकारी के प्रति ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का तत्त्वरूप से बोधन करे, जिससे उसको अक्षय और सत्य का ज्ञान हो जाय ॥ १३ ॥

विशेष—कर्मानुष्ठान चाहे कितनी ही श्रद्धा, भक्ति, विधि से क्यों न किया

जाय, उससे ब्रह्मज्ञान होना असम्भव है। क्योंकि ब्रह्म किसी कर्म का फलरूप नहीं है, हाँ, यह बात अवश्य है कि फल की कामनाओं को छोड़कर किया हुआ कर्म अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा आत्मज्ञान का परम्परया साधक हो सकता है॥ १३॥

द्वितीय खण्ड और प्रथम मुण्डक समाप्त।

द्वितीय मुण्डक, प्रथम खण्ड आरम्भ

इस प्रकार प्रथम मुण्डक में फलसहित अपरा विद्याविषयक कर्मों को कहकर परा विद्या का विषय जो ब्रह्म है, उसके ज्ञान के लिए दूसरा मुण्डक आरम्भ किया जाता है। आचार्य शंकर यह कहते हैं कि यहाँ तक अपरा विद्या का सारा कार्य कहा गया, यही संसार है। इसका जो सार है, जिस स्वमूलभूत अक्षर से यह उत्पन्न होता है और जिसमें इसका क्षय होता है, वह पुरुषसंज्ञक अक्षर ब्रह्म ही सत्य है। जिसका ज्ञान होने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है, वह परा विद्या का विषय है। उसे बतलाना है, इसलिए आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है।

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ १॥

भावार्थ—हे सोम्य! यह वह अक्षर ब्रह्म सत्य है, जैसे भली प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के समान रूपवाली हजारों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही उस अक्षर से अनेकों भावों का प्रादुर्भाव होता है। वे फिर उसी में लीन हो जाते हैं॥ १॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक! कर्म का फल सभी काल में सत्य नहीं होता, अर्थात् त्रिकालाबाधित नहीं है और अक्षर ब्रह्म कालत्रय में सत्य है। उस सत्य आत्मा से ही यह चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है। खूब तेज जलते हुए अग्नि से उसी के समान रूप और दाह करनेवाली जैसे हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही जड़ चेतनरूप सम्पूर्ण संसार उस अक्षर परमात्मपुरुष से उत्पन्न होता है, और फिर अन्त में उसमें ही समा जाता है। अभिप्राय यह है कि अक्षर आत्मा से कुछ भी भिन्न नहीं है, तत्स्वरूप ही है। यदि यह बात है तो जीवेश की पारस्परिक

भेदप्रतीति क्यों हो रही हैं ? इसका उत्तर यह है कि वह भेद जल और तरङ्ग के भेद के सदृश केवल भ्रममात्र है ॥ १॥

विशेष—इस मन्त्र में 'जिस एक के जान लेने पर सर्वप्रपञ्च जान लिया जाता है' ऐसे ब्रह्मज्ञान होने की साधनभूता परा विद्या का वर्णन किया गया है। वास्तव में इस प्रकरण में शौनक ऋषि के प्रश्न के समाधान के लिए अङ्गिरा नामक गुरु ने बार बार प्रपञ्च की उत्पत्ति का कथन किया है। एक के ज्ञान से सबका ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न का कई तरह से उपपादन करना दृढता के लिए है, कोई पुनरुक्ति न समझे ॥ १ ॥

इस प्रकार एकत्व की सिद्धि के लिए अक्षर की औपाधिक जीवोत्पत्तिहेतुता तथा उसकी लयहेतुता कही गयी है। अब उसके निरुपाधिक स्वरूप का कथन करते हैं, यथा—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥

भावार्थ—वह अक्षर ब्रह्म निश्चय करके स्वयंप्रकाश, रूपरहित, परिपूर्ण, बाहर भीतर व्याप्त, अजन्मा, प्राणवायुरहित, सङ्कल्प विकल्परहित, विशुद्ध, मायोपाधिक ईश्वर से और हिरण्यगर्भ से श्रेष्ठ है, या कार्यवर्ग की अपेक्षा अक्षर अव्याकृत प्रकृति से भी उत्कृष्ट है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक ! इस जगत् का रचनेवाला अक्षर आत्मा स्वप्रकाश है, अमूर्त याने स्थूलतादि रहित हो सर्वत्र व्यापक है, पुरुष है याने पूर्ण है, अथवा शरीररूपी पुर में शयन करनेवाला है, बाहर भीतर सहित सर्वत्र वर्तमान, अज–जो किसी से उत्पन्न न हो, प्राण तथा मन से रहित है। याने उसे जीवित रहने के लिए न पञ्च प्राण आदि की आवश्यकता होती है न वह किसी वस्तुविषयक संकल्प विकल्प ही करता है। कार्य की दृष्टि से पर जो अज्ञान उससे भी अज्ञान का अधिष्ठान आत्मा पर है ॥ २ ॥

विशेष—ये प्राणादिक सब आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं और उसी में ठहरते हैं, फिर लीन भी उसी में हो जाते हैं। इससे ब्रह्म अद्वितीय है। स्वाभाविक भेद तो ब्रह्म में है ही नहीं। मन और प्राणादिकों की उपाधि ही भेद सिद्ध करनेवाली है, वे उपाधिरूप मन प्राण आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं, इससे आत्मा में औपाधिक भेद भी नहीं है।

मुमुक्षु के लिए सर्वोत्तम उपासना कौन सी है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि जो सबमें व्याप्त, प्रकाशरूप, निराकार, अनन्त, सूक्ष्म, सब इन्द्रियों के सम्बन्ध से रहित, शुद्ध सनातन और प्रकृति से परे परमेश्वर है. वही इस मन्त्र में कथित अक्षर सबका उपासनीय है। अन्यान्य उपास्य तो इसी के दरबार के भिखारी हैं, वे कर क्या सकते हैं ॥ २ ॥

उक्त शुद्ध ब्रह्म ही माया में प्रतिबिम्बित हो प्रतिबिम्ब रूप से कारण हो जाता है, यह कहते हैं, जैसे—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस अक्षर पुरुष से प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सारे संसार को धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस ब्रह्मात्मा से प्राण उत्पन्न होते हैं, तथा मन सहित सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, एवं आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पञ्चभूत अपने गुणों सहित उत्पन्न होते हैं। अर्थात् 'शब्द' इस एकगुण सहित आकाश, 'शब्द स्पर्श' इन दो गुणों सहित वायु, 'शब्द स्पर्श रूप' इन तीन गुणों सहित अग्नि, 'शब्द स्पर्श रूप रस' इन चार गुणों सहित जल, तथा 'शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध' इन पाँच गुणों सहित पृथिवी इस ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है। इन भूतों में एक एक गुण अपना है और दूसरे गुण कारण के है ॥ ३ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में सबसे पहले प्राणों की उत्पत्ति बतायी है, किन्तु सबसे प्रथम तो आकाश उत्पन्न हुआ है। अतः "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा ? यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि प्रपञ्च की उत्पत्ति में वेद का तात्पर्य नहीं है, यहाँ तो यही कहना है कि सब कुछ उस अक्षर से ही उत्पन्न हुआ है, फिर कोई आगे उत्पन्न हुआ हो या कोई पीछे। अतः यहाँ आकाशादिकों की उत्पत्ति प्राणादिकों के पश्चात् कहने पर भी कोई विरोध नहीं है।

अथवा 'पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है' इस न्याय से 'एतस्मान्माया-प्रतिबिम्बितादक्षरात् खम् जायते' यह अन्वय कर लेना चाहिए। ऐसा ही औरों में भी जान लेना। इससे पहले मन्त्र में अक्षर आत्मा को 'अप्राण' प्राणपञ्चकरहित कहा है और प्रकृत मन्त्र में 'एतस्माज्जायते प्राणः' इससे प्राण उत्पन्न हुए, ऐसा कथन किया है। जैसे देवदत्त को पुत्र उत्पन्न न हो तो उसे अपुत्र कहा जाता है किन्तु

पुत्र सहित को नहीं, ऐसे ही जब कि आत्मा से प्राण उत्पन्न हुए तो वह अप्राण कैसा ? इस पर कहते हैं कि निरुपाधिक शुद्ध ब्रह्म से तो किसी की उत्पत्ति नहीं होती, अतः उसके लिए अप्राण कहना ठीक है। हाँ जब उससे किसी की उत्पत्ति कहनी हो तो उसमें अविद्या या माया के सम्बन्ध का आरोप करके ही कहा जायगा। अतः यहाँ 'एतस्मात्' इसका 'मायाप्रतिबिम्बितात् अक्षरात्' माया में पड़े चेतन की प्रतिच्छाया से, ऐसा अर्थ करना चाहिए ॥ ३ ॥

वह केवल सबकी ही उत्पत्ति का कारण नहीं है अपितु विराटरूप से सर्वमय सर्वस्वरूप भी है, यह कहते हैं, यथा—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! अग्नि (स्वर्गलोक) जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ कर्ण हैं, सब वेद विस्तृत वाणी है, वायु प्राण है, समस्त विश्व जिसका अन्तःकरण है और पृथिवी जिसके चरणों से उत्पन्न हुई है; निश्चय करके वही सब भूतों का अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक ! अग्निस्वरूप स्वर्गलोक हिरण्यगर्भ से उत्पन्न विराट् का शिर है, चन्द्रमा और सूर्य ये दोनों नेत्र हैं, क्योंकि इन्हीं से वह सारे विश्व को देखता है। दसों दिशाएँ कान हैं, क्योंकि उसके यह कान सब जगह सबकी सुना करते हैं, प्रसिद्ध चारों वेद वाणी है, इसी से वह सबको अपनी आज्ञा दे रहा है, वायु उसका प्राण है, समस्त संसार अन्तःकरण हृदय है, तथा उसके दोनों चरणों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। कहाँ तक कहा जाय, वही सकल भूतों का अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

विशेष—इस मन्त्र में परमेश्वर की कैसी सुन्दर मूर्ति का वर्णन किया गया है ! अग्नि आदि जो तत्त्व इस मन्त्र में आये हैं, उन सबमें परमेश्वर को देखना चाहिए। जैसे लोक में हम देखते हैं कि दो आखोंवाला कुम्भकार कैसे कैसे घट, मूर्तियाँ बनाता है, उसी प्रकार परमात्मा चन्द्र सूर्य जैसी आखों से देखकर संसार के सारे कामों को कर रहा है। "अग्निर्मूर्द्धा" 'अग्नि उसका मस्तक है' इसी एक वाक्य का भाव समझकर उसके अन्य अङ्गों का भी अभिप्राय लगा लेना चाहिए। समझो

कि अग्नि अन्धकार का नाशक है, शक्ति को उत्तेजित करनेवाला है, यह तैजस तत्त्व सृष्टि में सबसे पहला है। अग्नि स्वर्गलोक है, याने जैसे मस्तक सारे शरीर में उत्तमाङ्ग होता है, जैसे स्वर्ग याने द्युलोक और लोकों से ऊपर है वैसे ही अग्नि सब से ऊँचा है ॥ ४ ॥

लोगों की वृद्धि के कारण जो पञ्चाग्नि हैं, उनकी उत्पत्ति द्वारा उक्त पुरुष से ही प्रजा की उत्पत्ति होती है, यह कहते हैं, यथा—

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्। पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् संप्रसूताः ॥ ५ ॥

भावार्थ—उस पुरुष से ही वह अग्नि उत्पन्न हुआ, जिसका सूर्य इन्धन है। सोम से मेघ उत्पन्न हुआ, वह सोम स्वर्गरूप अग्नि से उत्पन्न होता है। मेघ से पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, उन ओषधियों से उत्पन्न वीर्य को पुरुष स्त्री में सींचता है। इस क्रम से पुरुष से ही असंख्य प्रजा उत्पन्न होती है, या हुई है ५ ॥

वि॰वि॰ भाष्य—जिस विराट् भगवान् से स्वर्गलोकरूपी अग्नि उत्पन्न हुआ है, उस अग्नि का सूर्य समिधा (इन्धन–काष्ठ) है। उससे चन्द्र नामक सोम उत्पन्न हुआ, उस द्रवीभूत सोम से पर्जन्य मेघ उत्पन्न हुआ, मेघ से वृष्टि द्वारा पृथिवी में व्रीहि यवादि अन्न उत्पन्न हुए। वे अन्न पुरुष को प्राप्त होकर वीर्यरूप में परिणत हुए, वह वीर्य स्त्री के गर्भ में जाकर पुत्र पौत्रादि प्रजोत्पत्ति का कारण हुआ। इस प्रकार परमात्मा से उत्पन्न विराट् से पञ्च अग्नियों की उत्पत्ति द्वारा ब्राह्मण आदि सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न हुई ॥ ५ ॥

विशेष—छान्दोग्य उपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के तृतीय खण्ड में स्वर्ग, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री ये पाँच अग्नि कहे गये हैं। यहाँ यों समझना चाहिए कि १—परमात्मा से स्वर्गरूप प्रथम अग्नि उत्पन्न हुआ, २—उससे मेघरूप द्वितीय अग्नि, ३—उससे पृथिवीरूप तृतीय अग्नि, इस अग्नि से उत्पन्न अन्नादि के परिणाम से— ४—पुरुषरूप चतुर्थ अग्नि, और ५—उससे स्त्रीरूप पाँचवा अग्नि उत्पन्न हुआ ॥ ५ ॥

कर्म के साधन और फल भी उस ही से उत्पन्न हुए, यह कहते हैं, यथा—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो

दक्षिणाश्च । संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥

भावार्थ—उसी पुरुष से ऋग्वेद के मन्त्र, साम, यजुः, दीक्षा, सब यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान और वे लोक जिनको चन्द्रमा पवित्र करता है, तथा सूर्य उत्पन्न हुए ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! उस अक्षर परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद उत्पन्न हुए तथा मुक्तबन्धनादि कर्म के नियम, यूपरहित सम्पूर्ण यज्ञ, अग्निहोत्रादि, एवं यूपसहित क्रतु, गौ, सुवर्ण आदि दक्षिणा, संवत्सरादि काल, यज्ञ करानेवाले यजमान और उनके कर्म का फल स्वर्गादि लोक, जिनमें चन्द्रमा तथा सूर्य विचरते हैं; ये सब परमात्मा से उत्पन्न हुए ॥ ६ ॥

विशेष—इस मन्त्र में, जिस परमात्मा से विराट् उत्पन्न हुआ 'उसीसे वेदादिकों की उत्पत्ति हुई' यह कहा गया है। कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड प्रतिपादक मन्त्रों का उपदेश परमेश्वर ने दिया है। यजमान को अभिमान छोड़कर ऐसा समझते हुए अनुष्ठान करना चाहिए कि दक्षिणादि के लिए धन, जिसमें यज्ञ किया जाय उस समय का विभाग, यज्ञकर्ता, कर्म, साधन, आधार और फल ये सब परमेश्वर ने ही रचे हैं। वही सबका स्वामी है, मैं तो उसकी आज्ञा पालन करनेवाला हूँ। मन्त्र में जो लोकोत्पत्ति कही गयी है, वे लोक यजमान को दक्षिणायन तथा उत्तरायण इन दो मार्गों से प्राप्त होने योग्य हैं। 'उसी पुरुष से ऋचायें, साम, यजु उत्पन्न हुआ' मन्त्र में यह कहा गया है। उनमें ऋचा नाम उनका है जिनके पाद नियत अक्षरों में समाप्त होनेवाले हैं, जैसे गायत्री आदि छन्दोंवाले मन्त्र। साम उन मन्त्रों को कहते हैं जो 'पाञ्चभक्तिक' अथवा 'साप्तभक्तिक' 'स्तोभादि' गानविशिष्ट हैं। हीङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, निधन; ये पाँच अवयव जिस मन्त्र में हों, उसे पाञ्चभक्तिक, जिसमें उपद्रव, आदि; ये दो अवयव और जोड़ दिये गये हों उसे साप्तभक्तिक कहते हैं। अर्थरहित अक्षरों का नाम स्तोभ है, जैसे हुँ फट् इत्यादि। जिनके पादों का अन्त नियमित अक्षरों में नहीं होता ऐसे वाक्यरूप मन्त्र यजुः कहाते हैं ॥६॥

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयाᳬसि । प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

भावार्थ—उससे ही यज्ञादि कर्मों के अङ्गभूत बहुत से देवता, साध्य गण, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा विधि ये सब उत्पन्न हुए हैं ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—उस पुरुष से कर्म के अङ्ग वसु आदि बहुत प्रकार के देवता, साध्यनायक देवता, कर्म के अधिकारी मनुष्य तथा पशु, पक्षी उत्पन्न हुए। मनुष्यों का जीवनस्वरूप ऊपर को जानेवाला प्राणवायु, नीचे को गमन करनेवाला अपनावायु, व्रीहि यव आदि धान्य, यज्ञ आदि कर्मों का अङ्गभूत और मनुष्यों के शरीर का शोधक स्वाश्रमधर्म का आचरण, यज्ञादि कर्मों में आस्तिकबुद्धि, सत्यवचन, अष्टविध मैथुनत्यागरूप ब्रह्मचर्य और सब कर्मों का विधान ये सब उत्पन्न हुए ॥ ७ ॥

विशेष—इस मन्त्र में जो चेतन और जड़ सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है वह इसलिए कि अधिकारी सर्वत्र ईश्वर की शक्ति का अवलोकन कर सके। जगत् की वस्तुओं में अनेक भेद हैं। एक वस्तु दूसरी से नहीं मिलती, जो मिल भी जाती हैं वे इतनी अधिक हैं कि उनकी गणना कोई नहीं कर सकता। वह ईश्वर इतना शक्तिशाली है कि जगत्निर्माणकार्य में उसे किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँच सकती ॥ ७ ॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥

भावार्थ—उस पुरुष से ही सात प्राण, याने मस्तक में स्थित सात इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। उसीसे उनकी सात ज्योतियाँ, सात समिधा, सात होम और वे सात स्थान जिनमें वे सञ्चार करते हैं; इस प्रकार प्रति देह में स्थापित सात सात पदार्थ उत्पन्न हुए हैं ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—उस परमात्मा से ही शरीर के मस्तक में रहनेवाले दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिका और एक वाक् ये इन्द्रियरूप सप्त प्राण उत्पन्न हुए। तथा उन नेत्रादिकों से उत्पन्न हुई जो सात प्रकार की वृत्तियाँ हैं, उनके जो रूपादि सप्त विषय हैं तथा उन विषयों के जो सप्त ज्ञान और सात इन्द्रियों के जो सप्त गोलक हैं, जिनमें नेत्रादिक विचरते हैं; सब प्राणियों में ये सात सात उत्पन्न हुए ॥ ८ ॥

विशेष—उस परमात्मा ने प्राणियों की जो साङ्गोपाङ्ग रचना की है, इस मन्त्र में उसीका दिग्दर्शन कराया गया है। देखिए कि जगत् का सब व्यवहार

चलाने के लिए ज्ञानेन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियाँ, उनके गोलक, उनके विषयादि तथा कर्मेन्द्रियों की कुशलता रचकर जिसने प्रत्येक शरीर में यथास्थान स्थापित कर दी हैं, उस अनन्तशक्ति परमेश्वर की सब जिज्ञासुओं को उपासना करनी चाहिए ॥ ८ ॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः । अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

भावार्थ—इसी पुरुष से सम्पूर्ण समुद्र और पर्वत उत्पन्न होते हैं। इसीसे अनेक प्रकार की नदियाँ निकलती हैं। एवं इसीसे सम्पूर्ण ओषधियाँ और वह रस प्रकट हुआ है, जिस रस से यह अन्तरात्मा भूतों से परिवेष्टित हुआ सबके मध्य में स्थित होता है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—इस अक्षर से ही सप्त समुद्र, हिमाचलादि पर्वत, गङ्गा आदिक नदियाँ, व्रीहि यवादि ओषधियाँ और उनके मधुरादि रस उत्पन्न हुए हैं, उस रस के द्वारा स्थूल शरीर में लिङ्गशरीरविशिष्ट आत्मा स्थित है ॥ ९ ॥

विशेष—जिस परमात्मा ने प्रत्यक्ष में दिखाई देनेवाले पर्वत, नदी, समुद्र, जल, अन्न और रसादि सब पदार्थ प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति स्थिति के लिए निर्माण किये, उस महामहिम महापुरुष का मनुष्यों को सदा ध्यान रखना चाहिए ॥ ९ ॥

इस प्रकार अध्यारोपित जगत् के अपवाद से आत्मा का शुद्ध रूप दिखाते हैं, यथा—

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥१०॥

भावार्थ—हे सोम्य ! यह दृश्यमान जगत्, कर्म और तप (ज्ञान) सब पुरुषरूप ही है, वह पर और अमृतरूप ब्रह्म है। उसे जो सब प्राणियों के हृदय में स्थित जानता है, वह इस लोक में या इसी शरीर में चित्‌जडग्रन्थि का याने माया की ग्रन्थि का नाश कर देता है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक ! यह सर्व जगत् जिस कारण से, परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, इस हेतु से ही यह उस अक्षर से किञ्चित् भिन्न नहीं है। यह पुरुष

ही सर्वविश्व है। अग्निहोत्रादि कर्म तथा उपासना एवं वेदादि सर्वजगत् परब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसको विवेकी पुरुष अपनी बुद्धिरूपी गुहा में साक्षीरूप से स्थित जाने। इस प्रकार "एक के ज्ञान से सबका ज्ञान कैसे हो सकता है" इस प्रश्न का समाधान कई रीतियों से किया गया है॥ १०॥

विशेष—परमात्मा सबसे सूक्ष्म है किन्तु वह सबसे बड़ा भी तो है, अतः सबसे स्थूल होने के कारण और सर्वत्र व्यापक होने से भी निर्मल दर्पण में रूप दीखने के तुल्य शुद्ध अन्तःकरण में ही उसका प्रकाश होता है। परमात्मा तो सबके हृदयमन्दिर में विराजमान है, अतः अमृतरूप उस ब्रह्म को 'यह मैं ही हूँ' इस विज्ञान से जो जानता है, उसकी अविद्या की गाँठ खुल जाती है॥ १०॥

प्रथम खण्ड समाप्त।

अथ द्वितीय खण्ड

एक बार उपदेश करने पर भी जिसको उक्त अक्षर ब्रह्म का ज्ञान न हो सके उसके प्रति प्रकारान्तर से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न कराने के लिए इस खण्ड का आरम्भ किया जाता है। यथा—

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ १॥

भावार्थ—वह ब्रह्म प्रकाशमान, सबके हृदयाकाश में स्थित, गुहाचर नामवाला और महत्पद याने सब विश्व का निधान है। उसी में चलायमान, प्राणवान् और निमेष उन्मेष करनेवाले ये सब समर्पित हैं, याने स्थित हैं। तुम इसे सद् असद्रूप, प्रार्थनीय, मनुष्यों के विज्ञान से परे याने दिव्यज्ञान से ही जानने योग्य और सर्वश्रेष्ठ जानो॥ १॥

वि० वि० भाष्य—अब उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए साधन कहते हैं—हे सोम्य! यह अक्षरब्रह्म नित्य स्वयंज्योतिस्वरूप है तथा बुद्धिरूप गुहा में स्थित है और व्यापक है। जैसे रथनाभि में अरा गँथे रहते हैं ऐसे ही अक्षर ब्रह्म में सर्व जगत् स्थित है। प्राण अपान आदि से युक्त मनुष्य, पशु आदिकों के शरीरों से

मिलकर यह आत्मा ही प्राणादिकों की तथा नेत्रादिकों की चेष्टा को करता है। इस अक्षर से स्थूल, सूक्ष्म आदि कुछ भी भिन्न नहीं है। यही प्रार्थनीय है। अक्षर से भिन्न कोई नित्य पदार्थ नहीं है, ऐसा जानकर अधिकारी को इसी की कामना करनी योग्य है। संसार में चाहने योग्य जितने पदार्थ हैं उन सबमें यही वाञ्छनीय है क्योंकि इसकी चाहना में सब चाहनायें आ जाती हैं ॥ १ ॥

विशेष—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण ब्रह्म, ज्ञानी लोगों के हृदय में अभ्यास द्वारा प्रकाशमान होता है, पर अज्ञानी लोग हजारों जन्मों में भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते। ब्रह्मज्ञानी या जीवन्मुक्त की अपेक्षा यहाँ लौकिक विद्वान् भी अज्ञानी माने जाते हैं, क्योंकि उनकी लौकिक बुद्धि भी यहाँ कुण्ठित हो जाती है ॥१॥

और भी कहते हैं—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥

भावार्थ—जो प्रकाशमान तथा अणु से भी अणु है, एवं जिसमें सब लोक और उनके निवासी स्थित हैं, वही यह अविनाशी ब्रह्म है। वही प्राण, वाक् और मन है, वही यह सत्य और अमृत है। उसका वेधन करना चाहिए, अर्थात् वह मनोनिवेश द्वारा चित्त से भावना करने योग्य है, तुम ऐसा जानो ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—वह अक्षर ही प्रकाशमान सूर्य-आदिरूप है, सूक्ष्म श्यामाक आदिकों से भी अति सूक्ष्म है, स्थूल पृथिवी आदिकों से भी अति स्थूल है। भूः आदि सर्वलोक तथा उनमें रहनेवाले मनुष्य देवतादि भी उसमें स्थित हैं। वह अक्षर ही, प्राण, वाक्, मन आदि सर्वकारणरूप है, उसके कृपाकटाक्ष से ही प्राणादि जडसंघात चेष्टा कर रहा है। यह सत्य और अमृत है और यह अक्षर ही वेधन करने योग्य है अर्थात् इसी में मन को समाहित करना चाहिए। हे सोम्य! जब ऐसी बात है तो तुम इसी का वेधन करो, याने अपने चित्त को इसी में लगादो ॥ २ ॥

विशेष—सूक्ष्म लक्ष्य का वेधन करना कठिन काम है, ब्रह्म तो अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है, बड़े बड़े ज्ञानी भी उसके वेधने में विफलप्रयास हो जावे हैं। इस लिए इसमें बार बार मन लगाकर यत्न करना चाहिए, क्योंकि सुगम रीति से कोई ब्रह्म को जान नहीं सकता ॥ २ ॥

उसका किस प्रकार वेधन करना चाहिए सो बतलाया जाता है, यथा—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! उपनिषदों में वर्णित महाअस्त्ररूप धनुष को ग्रहण करके उस पर तीव्र उपासना द्वारा खूब तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ा तथा फिर उसको खींचकर ब्रह्मभावानुगत चित्त से अर्थात् तन्मयता की भावना से युक्त अन्तः-करण द्वारा उस अक्षररूप लक्ष्य का ही वेधन करना चाहिए ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्रह्म मन से जिस प्रकार वेधने योग्य है उसको दिखलाते हैं—हे शौनक ! जैसे कोई शूरवीर पुरुष अपने धनुष से बाण चलाकर मृगादि लक्ष्य का वेधन करता है, वैसे ही इस मुमुक्षु को धैर्य के साथ अपने वैराग्य तथा आत्मविवेक के बल से काम क्रोधादि को जीतकर अक्षररूप लक्ष्य का भेदन करना चाहिए ॥ ३ ॥

विशेष—लोक में जैसे व्याध चित्त लगाकर लक्ष्यवेध करता है, जरा सा भी प्रमाद होने पर वह सफलप्रयास नहीं हो सकता, इसी प्रकार जिज्ञासु को उपासना की प्रबलता के साथ तन्मय हो अक्षर ब्रह्म का अनुसन्धान करना चाहिए । भाव यह है कि जिज्ञासु मनुष्य अपनी बुद्धि को सब ओर से रोककर ब्रह्म में ही लगा दे ॥ ३ ॥

उक्त धनुष आदि का कथन करते हैं, यथा—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रणव धनुष है, याने ॐकार को धनुष समझो, सोपाधिक आत्मा, बुद्धिविशिष्ट चैतन्य बाण है, और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है । वह प्रमाद-रहित पुरुष से वेधने योग्य है, उसे वेधनेवाला बाण की तरह तन्मय, तदाकार हो जाय ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—सब उपनिषदों में प्रसिद्ध जो प्रणव है सो ही धनुष है, देहेन्द्रियादिकों से भिन्न शोधित साक्षी बाण है, वा बुद्धिविशिष्ट चैतन्य बाण है ।

'मैं ब्रह्म हूँ' इस रीति से जो महावाक्य का चिन्तन है वही धनुष का आकर्षण, खींचना है, शुद्ध ब्रह्म अक्षर ही लक्ष्यस्वरूप है। ऐसे प्रणवरूप धनुष में शोधित 'त्वंपदार्थ' साक्षीरूप बाण के चढ़ाने से याने अर्पण से तथा अभेदचिन्तनरूप धनुष के आकर्षण से लक्ष्यरूप ब्रह्म में साक्षीरूप बाण लगता है। उस लक्ष्यरूप शुद्ध ब्रह्म में साक्षीरूप बाण प्राप्त होकर तद्रूप हो जाता है ॥ ४ ॥

विशेष—जैसे बाण लक्ष्य में प्रवेश करता है, वैसे ध्यानादि उपाय से सूक्ष्म हुई बुद्धि जिज्ञासु को ब्रह्म में प्रविष्ट करानी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बाण का अपने लक्ष्य में एकरूप हो जाना ही फल है, उसी प्रकार जिज्ञासु देहादि में आत्मत्व की प्रतीति का तिरस्कार कर उस अक्षर ब्रह्म से एकात्मस्वरूप फल प्राप्त करे। ऊपर्युक्त रूपकालङ्कार में उपमान के अवयवों के साथ उपमेय की एकता दिखाई गयी है ॥ ४ ॥

अक्षर ब्रह्म का लक्ष्य में आना बड़ा कठिन काम है, अतः लक्ष्य में आने के लिए पुनः पुनः उसी को कहते हैं, यथा—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस अक्षर में स्वर्ग, पृथिवी, आकाश, सर्व प्राणों सहित मन समर्पित हैं, ओत प्रोत हैं, हे शिष्यो! तुम लोग उस एक आत्मा को ही जानो, और कहना सुनना छोड़ो। यही अमृत का सेतु है, याने मोक्ष की प्राप्ति में भवसागर के पार उतारनेवाला पुल है ॥ ५ ॥

द्वि० वि० भाष्य—जिस अक्षर पुरुष में स्वर्ग, पृथिवी और आकाशरूप जगत् तथा पञ्च प्राणों सहित मन प्रविष्ट हो रहा है उस आत्मा को ही जानो। वह सांसारिक लक्ष्य वस्तुओं की तरह परिच्छिन्न नहीं है, किन्तु सूर्य, चन्द्रमा तथा पृथिवी आदि जिसके एकदेश में वर्तमान हैं, वह अत्यन्त बड़ा लक्ष्य बड़े उपायों से प्राप्त होगा। अन्य बातों को छोड़ दो, तुम्हें संसारसागर से पार उतारनेवाला बस यही एक मात्र पुल है ॥ ५ ॥

विशेष—इस अक्षर में ही स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक तथा अन्तरिक्षलोक टिके हुए हैं। श्रुतिमाता मुमुक्षु जनों को बार बार उपदेश देती है कि हे मोक्षार्थियो! उस

एक आत्मा का निश्चय करो, अनात्मपदार्थ विषयक चिन्ता छोड़ दो, और उन अनात्म-पदार्थों के कथन करनेवाले जो अनन्त वचन हैं, उन्हें बकवाद समझकर त्याग दो। वे काक के दाँतों की गिनती की तरह निष्फल हैं। हाँ, ऐसे वाहियात शब्दों के उच्चारण से गला सूखने का ही कष्ट होता है, मन को विक्षेप होगा सो अलग। सिर्फ उपनिष-त्प्रतिपाद्य, प्रत्यगभिन्न ब्रह्म का उपनिषदों के परिशीलन से निश्चय करो। वेदान्तरूप उपनिषदों के विचार से, उनके तात्पर्यरूप व्यासप्रणीत शारीरक सूत्रों तथा शाङ्कर भाष्य से, उपनिषदर्थतुल्य अर्थवाली गीता आदि स्मृतियों से, और उपनिषदों के उपयोगी अन्य प्रकरणों, निबन्धों, व्याख्यानों तथा ग्रन्थों से, खूब ही आत्मानुशीलन करो। उससे समुत्पन्न विचार से ब्रह्मज्ञानप्राप्ति द्वारा मोक्षरूप फल की प्राप्ति होगी। जो वेदान्तविचार को न्याय, व्याकरण आदिकों की तरह मानते हैं वे वेदान्त-शास्त्र के तात्पर्य को न समझनेवाले अज्ञ बालकों की तरह हैं। वे वेदान्तशास्त्र को निरर्थक मानकर उसमें मन न लगने से, तथा निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान से नरक को प्राप्त होते हैं। बहुत क्या कहें, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मुमुक्षु सुषुप्ति पर्यन्त तथा मरने तक वेदान्त का विचार करे। यही वह सेतु है, पुल है, जिस पर चढकर मनुष्य भवसागर के पार हो सकेगा। ब्रह्मज्ञान वह सेतु है, जिससे साधक उस पार मुक्तिरूप स्थल ब्रह्मधाम में जा पहुँचेगा ॥ ५ ॥

और भी कहते हैं—

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषो-ऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आ-त्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरा लगे रहते हैं, उसी तरह जिसमें सब देह की नाड़ियां समर्पित हैं, एकत्रित हैं, उस हृदय के भीतर यह अनेक उपाधियों के साथ अनेक प्रकार से उत्पन्न हुआ विचरता है। उस आत्मा का ॐ इस रूप से, प्रणवरूप से ध्यान करो। अज्ञान की परली पार जाने के लिए तुम्हारा कल्याण हो। अर्थात् 'शुभास्ते पन्थानः' तुम्हारा मार्ग निष्कण्टक हो, निर्विघ्न हो ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक ! जैसे रथ के चक्र की नाभि में अरा स्थित हैं, वैसे ही हृदयकमल में शत सहस्रों नाडियाँ मिली हैं। उस हृदयकमल में यह स्वप्रकाश आत्मा सर्वदा विराजमान रहता है, वास्तव में आत्मा जन्मरहित हुआ भी शरीरा दिउपाधि करके जन्म को प्राप्त होता है। जो मनुष्य 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जानने

में समर्थ नहीं है वह प्रणवरूप से ब्रह्म का ध्यान करे। वह ध्याता भी उस ध्यान के बल से प्रतिबन्धरूप पाप को निवृत्त करके ब्रह्म को जान सकता है। जैसे प्रणव का ध्यान पापनिवर्तक है, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता गुरु का आशीर्वाद भी पापनाशक है। इसलिए चाहिए कि अधिकारी गुरुदेव को प्रसन्न करे, प्रसन्न हुए गुरु शिष्य को ऐसा आशीर्वाद देते हैं कि अज्ञान तथा उसके कार्यरूप संसारसमुद्र के पार जो ब्रह्म है, उसकी प्राप्ति के लिए तुम्हें कोई विघ्न न हो ॥ ६ ॥

विशेष—हृदय में रहनेवाली नाड़ियों के मार्ग से जो चित्त की वृत्तियाँ इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलती हैं उनको भीतर रोककर बहुत काल तक नित्य नियमपूर्वक ध्यान करने से परमात्मा प्राप्त होना है ॥ ६ ॥

यह जो अज्ञानान्धकार के परे संसार महासागर को पार करके जानने योग्य परा विद्या का प्रदेश है, वह किसमें वर्तमान है ? यह कहते हैं, यथा—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥७॥

भावार्थ—जो साधारणरूप से और विशेषरूप से सबको जानता है, जिसका प्रभुत्व भूलोक आदि में सर्वत्र फैला हुआ है, वह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुर हृदयाकाश में स्थित है। वह मनोमय, प्राण तथा शरीर को ले जानेवाला अर्थात् सूक्ष्म शरीर को एक शरीर से दूसरे देह में प्राप्त करानेवाला पुरुष हृदय को आश्रित करके अन्नमय शरीर में वर्तमान है। जो आनन्द और अमृत रूप से प्रकाशमान हो रहा है उसको धैर्यवान् पुरुष ब्रह्मविज्ञान द्वारा देखते हैं ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—उस आत्मा का प्रताप पृथिवी में सर्वत्र व्याप्त, फैल रहा है। वह प्रताप, महिमा यह है जैसे—जिस आत्मा से भयभीत हुए सूर्य, चन्द्रमा आदि नक्षत्रगण हमेशा आकाश में चक्कर काटते रहते हैं, उसके डर से ही समुद्र नदियाँ आदि अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकतीं। जिसकी आज्ञा से स्थावर जहाँ के तहाँ खड़े हैं और जङ्गम अपने अपने काम में लगे हुए हैं और दिन, रात, मास, ऋतु, दक्षिणायन, उत्तरायण, वर्ष, युग इत्यादि काल जिसकी आज्ञा के उल्लंघन करने की शक्ति नहीं रखते, ऐसी उस परमेश्वर की महिमा संसार में प्रसिद्ध

है। जैसे सर्वदेशाधिपति श्री रामचन्द्रजी के प्रति 'अयोध्या में रहते हैं' ऐसा कहा जाता है, वैसे ही सर्वजगत् में व्यापक ब्रह्म को हृदय में साक्षीरूप से प्रतीत होने के कारण 'हृदय में ब्रह्म है' ऐसा कहा जाता है। अत एव श्रुति में हृदय को ब्रह्मपुर कहा गया है। मन की उपाधि से आत्मा को मनोमय कहा करते हैं। यह प्राणादिरूप सूक्ष्म शरीर को एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में ले जाता है और सर्व संघात को प्रकाशित करता हुआ इस स्थूल शरीर के हृदय में स्थित है। जो प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मानन्दरूप स्वमहिमा में स्थित है वह विवेकी पुरुषों को भासता है, क्योंकि वे उसे धैर्य के साथ विज्ञान से देखते हैं ॥ ७ ॥

विशेष—यद्यपि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है किन्तु निर्मल दर्पण में मुखादि देख पड़ने के तुल्य प्रबल उपायों से शुद्ध किये अन्तःकरण में ही उपासकों को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

उक्त आत्मज्ञान के फल को कहते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

भावार्थ—उस कारण और कार्यरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर अविद्या के कारण होनेवाली विषयवासनारूप हृदय की गाँठ खुल जाती है। सम्पूर्ण सन्देह नष्ट हो जाते हैं, और इस साधक के मोक्ष को रोकनेवाले सकल सकाम कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—परावर कार्यकारणरूप जिस आत्मा से भिन्न यह जीव नहीं है, उस आत्मा का साक्षात्कार करने से अज्ञानरूप कारण की निवृत्ति हो जाती है। देहादिकों में आत्मत्वअध्यासरूप हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है। सर्व संशय जाते रहते हैं। 'परावरे' याने पर और अवर का अर्थ 'श्रेष्ठ प्रकृति और अश्रेष्ठ जगत्, कारण कार्य' यह है। हृदयग्रन्थि नाम हृदय शब्द से उपलक्षित बुद्धि की आश्रित ग्रन्थि है ॥ ८ ॥

विशेष—"छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" यहाँ पर सर्व संशयों का आकार कैसा है सो कहते हैं, जैसे—आत्मा देहरूप है वा देह से भिन्न है? यदि भिन्न है तो इन्द्रिय या प्राण या मनरूप है अथवा इन सब से भी भिन्न है? भिन्न होने पर भी कर्तारूप है या अकर्तारूप है? अकर्तारूप होने पर भी भोक्ता है या अभोक्ता है? अभोक्ता होने पर भी ज्ञान, आनन्द का आश्रय है या ज्ञान, आनन्दरूप है? इत्यादि

संशय तो 'त्वं पदार्थ' जीव के विषय में हुए। ईश्वरविषयक संशय ये हैं, यथा—परिच्छिन्न हस्तपादादिक अवयववान् वैकुण्ठादिलोकवासी ईश्वर है या हस्तादिकों से रहित विभु है? व्यापक मानने पर भी वह परमाणु आदि सापेक्ष जगत् का कर्ता है या उन से निरपेक्ष कर्ता है? परमाणु आदि से निरपेक्ष कर्ता कहें तो भी ईश्वर केवल निमित्त कारण है या अभिन्न निमित्तोपादान कारण है? उभयरूप कारण कहें तो कर्मनिरपेक्ष होने से विषमता निर्घृणतारूप दोषवान् है? या कर्मसापेक्ष होने से सर्वकलङ्करहित है? ये 'तत्पदार्थ' ईश्वरविषयक संशय हैं। इसी प्रकार चिद्घनानन्दजी महाराज ने एकताविषयक संशय, मोक्षसाधनविषयक संशय, मोक्षस्वरूपविषयक संशय और प्रमाणरूप वेदविषयक संशयों का सविस्तर वर्णन किया है। चाहे जितने सर्वसंशय हों किन्तु वे विवेक से निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञानाग्नि सब को भस्म कर देता है।

यद्यपि निदिध्यासन से विपर्ययरूप अध्यास की, मनन से प्रमेयगत अनेक संशयों की और श्रवण से प्रमाणगत संशयों की निवृत्ति हो जाती है, अद्वैतकौस्तुभादि वेदान्तग्रन्थों में ऐसा लिखा है। केवल ज्ञान से सर्व संशय विपर्ययों की निवृत्ति का होना उन ग्रन्थों के विरुद्ध होता है। तथापि श्रवणादिकों से संशयादिकों की निवृत्ति का होना हम भी मानते हैं, परन्तु उन श्रवणादिकों से संशयादिकों के कारण अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। हाँ, यह बात है, अज्ञानरूप कारण के निवृत्त होने से उनके कार्य जो संशयादिक हैं उन की निवृत्ति अवश्य हो जायगी। अत एव कोई भी विरोध नहीं है। कर्मों के विषय में यह कहा जाता है कि प्रारब्ध, सञ्चित, आगामी इन तीनों कर्मों में से संचित और आगामी का ही ज्ञान से क्षय होता है, प्रारब्ध कर्मों का तो उपभोग से ही क्षय होता है। इस मन्त्र का संक्षेप से यह अर्थ हुआ कि आत्मज्ञान से अध्यास की निवृत्ति और प्रारब्ध से भिन्न सर्व कर्मों की निवृत्ति हो जाती है ॥ ८ ॥

जो आत्मा कहा गया है, उसी को फिर संक्षेप से कहते हैं, यथा—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ॥९॥

भावार्थ—श्रेष्ठ प्रकाशमय कोश में निर्मल, अवयवों से रहित ब्रह्म विराजमान है। वह शुद्ध और सम्पूर्ण प्रकाशकों का भी प्रकाशक है तथा वह ऐसा है जिसे विवेकी पुरुष जानते हैं ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक ! यह आत्मा निरवयव है अर्थात् सोलह कलारूप अवयवों से रहित होने के कारण अखण्ड है। अविद्या आदि के मल से रहित है। देहादिकों की अपेक्षा से पर, प्रकाशस्वरूप बुद्धि में वह आत्मा साक्षीरूप से स्थित है। ऐसे शुद्ध तथा सूर्यादिकों के प्रकाशक स्वयंज्योतिस्वरूप आत्मा को विवेकी पुरुष स्वस्वरूप से निश्चय करते हैं ॥ ९ ॥

विशेष—तलवार के म्यान के तुल्य हृदयावकाश में स्थित, विभु, शुद्ध, सनातन, निष्पाप, निर्मल, निरञ्जन, प्रकाशकों के भी प्रकाशक ब्रह्म को लौकिक भोगों, सुखों से जिनका मन विरक्त हो गया है ऐसे शुद्धान्तःकरणवाले शान्त विद्वान् लोग ही जानते हैं ॥ ९ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १० ॥

भावार्थ—वहाँ (आत्मा में) सूर्य प्रकाश नहीं कर सकता और न चन्द्रमा, न तारे ही, तथा ये बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं। फिर यह अग्नि किस गिनती में है ? याने अग्नि तो प्रकाश करेगा ही कहाँ से ? किन्तु सम्पूर्ण पदार्थ उसके प्रकाशित होने से ही प्रकाशित होते हैं, अतएव ये सब उसके प्रकाश से ही प्रकाश पाते हैं ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—यद्यपि सूर्य सम्पूर्ण घट पटादिकों के प्रकाश करने में समर्थ है तथापि आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता। चन्द्रमा, तारे, बिजली आदि आत्मा से ही प्रकाश पाकर फिर उसे कैसे प्रकाशित करेंगे ? जब कि सूर्यादि बड़े बड़े तेजस्वी वहाँ कुछ नहीं कर सकते तो अग्नि का फिर ठिकाना ही क्या है ? जैसे प्रकाशरहित काष्ठ, लोहपिण्डादि अग्नि के प्रकाश से प्रकाशित होकर घट पटादिकों का प्रकाश करते हैं और दाह भी करते हैं, वैसे ही ये सूर्यादिक भी आत्मा से प्रकाश पाकर संसार के प्रकाशक हो रहे हैं। उनमें अपना स्वतन्त्र प्रकाश कुछ नहीं है। अभिप्राय यह हुआ कि सब नामरूपात्मक जगत् में आत्मा ही प्रकाश करता है ॥ १० ॥

विशेष—सूर्यादि आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकते, क्योंकि परमेश्वर उन से अधिक तेजवाला है। ब्रह्मज्ञान के उपायों में सूर्यादिकों के प्रकाश का उपयोग अपेक्षित नहीं है, किन्तु नेत्र द्वारा विषयदर्शन से ध्यान बट जाने पर बाधा ही होती

है। और यह भी बात है कि आत्मा ज्येष्ठ–बड़ा है, जब सूर्यादिक नहीं थे तब भी उसमें प्रकाश था ही ॥ १० ॥

पहले जो ब्रह्म को सबका प्रकाशक कहा है, उसी का उपसंहार करते हैं, यथा–

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

भावार्थ—यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही पूर्व में है, ब्रह्म ही पश्चिम में है, ब्रह्म ही दक्षिण तथा उत्तर की ओर है। वह ही नीचे तथा ऊपर फैला हुआ है। यह सारा जगत् सर्वोत्तम ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, नीचे, ऊपर अर्थात् सकल प्रपञ्च में चारों ओर ब्रह्म ही ब्रह्म व्याप्त हो रहा है। ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है और सबका अधिष्ठान है, अतएव प्रपञ्च ब्रह्मात्मा से भिन्न नहीं है। क्योंकि कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं हुआ करती है। जैसे कि स्वप्न का प्रपञ्च स्वप्नद्रष्टा से भिन्न नहीं है। यों समझिये कि जैसे रज्जु में कल्पित सर्प रज्जु से पृथक् नहीं है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित जगत् ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है ॥ ११ ॥

विशेष—बात यह है कि ब्रह्मज्ञानियों का चित्त सदा ब्रह्म में ही रमा रहता है। इससे वे सब काल में, सब दिशाओं में, सब प्रकारों से सब अवस्थाओं में, सर्व प्राणियों में और जो भी कुछ है सब में ही उस सर्वोत्तम ब्रह्म को ही जानते हैं और देखते हैं ॥ ११ ॥

द्वितीय खण्ड और द्वितीय मुण्डक समाप्त।

अथ तृतीय मुण्डक, प्रथम खण्ड

यद्यपि ब्रह्म के विषय में पहले कह चुके हैं, तथापि अति दुर्बोध होने के कारण दूसरी तरह से निश्चय करने के लिए और उसके सहकारी सत्यादि साधनों का वर्णन करने के लिए अगला ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले 'तत् त्वं' पदार्थों को कहते हैं, यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥



…सुपर्ण सखा (जीव ईश्वर) [मु० ३-१-१]   બે સુપર્ણ સખા (જીવ ઇશ્વર) [મુ૦ ૩-૧-૧]

भावार्थ—जीव और ईश्वर नामक, सदा साथ रहनेवाले, सखाभावयुक्त या समान आख्यानवाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय करके रहते हैं। उन में एक तो मधुर फल का भोग करता है, याने अज्ञान से कर्मफल का अनुभव करता है, और दूसरा नहीं भोगता, केवल साक्षी होकर देखता रहता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—शरीररूपी वृक्ष पर जीव ईश्वर नामक दो पक्षी रहते हैं, वे सुन्दर पर्णवाले याने नियम्यनियामकभाव की प्राप्तिरूप सुन्दर पंखवाले, समान आख्यानवाले, अर्थात् जिनकी अभिव्यक्ति का कारण समान है, तथा सत् चित् आनन्द रूप से एक से स्वभाववाले हैं। एक जीव कर्म के फल सुख दुःख को भोगता है, और दूसरा ईश्वर प्रकाश करता हुआ उदासीन भाव से स्थित रहता है। वृक्ष के समान उच्छेद में समानता होने के कारण शरीर को वृक्ष कहा गया है ॥ १ ॥

विशेष—यह मन्त्र ऋग्वेद में भी आता है। जिस परा विद्या से अक्षर पुरुष नामक सत्य प्राप्त होता है, जिस की प्राप्ति होने से हृदय की ग्रन्थि और संशय आदिक संसार के कारण का अत्यन्त नाश हो जाता है, ऐसी परा विद्या का वर्णन पहले कर चुके हैं। और धनुषादिकों के ग्रहण की कल्पना से अक्षर के दर्शन का उपाय भी कहा गया है अब इस प्रकृत प्रकरण में उस ज्ञान के सहकारी सत्य आदि साधनों को बताया जायगा ॥ १ ॥

इस से प्रकृत में क्या सिद्ध हुआ, यह कहते हैं, यथा—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥

भावार्थ—ईश्वर के साथ एक ही शरीररूपी वृक्ष पर रहनेवाला, अविद्याधीन जीवात्मा अपने दीनस्वभाव के कारण अर्थात् इष्टानिष्ट फल की प्राप्ति में असमर्थता से, अविवेक से मोहित हो रहा है। जब वह अपने से विलक्षण, ध्यान द्वारा योगियों से सेवित ईश्वर और उस की महिमा के प्रपञ्च को देखता है उस समय वह शोकरहित हो जाता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—भोक्ता जीव एक ही वृक्षरूप शरीर में अविद्या, काम और कर्मफल के बोझ के कारण निमग्न हो रहा है। अर्थात् देह आदिकों को ही इसने स्व स्वरूप मान रखा है और पुत्र पौत्रादि सम्बन्धियों को अपना समझ रखा है। इसी कारण जब इन में से किसी की हानि होती है तब मोह में पड़कर अनेक

अनर्थयुक्त अविवेक से यह चिन्ता करता है कि 'मैं निकम्मा हूँ, स्त्री मर गयी, पुत्र भी जाता रहा, अब मुझे जीकर क्या करना है' इत्यादि दीनतापूर्ण असामर्थ्य से शोकातुर होता है। इसके बाद प्रेत पशु-पक्षी मनुष्यादि योनियों में जाता है। वहाँ वह जीव अनेक जन्मार्जित शुभकर्मों के कारण किसी दयालु महात्मा के बताये हुए योगमार्ग में अहिंसा सत्यादि से युक्त सावधान चित्तवाला होकर, अनेक योगियों और कर्मिष्ठों से सेवित, देहरूप वृक्ष की उपाधियों से शून्य, भूख प्यास मृत्यु आदि से रहित असंसारी ईश्वर का दर्शन पाता है। तब 'मैं सकल प्राणियों में स्थित अखिल विश्व का आत्मा हूँ, अविद्याकृत उपाधियों से परिच्छिन्न नहीं हूँ' ऐसी विभूतिरूप महिमा को जब ध्यान करके देखता है तब सभी क्लेशों से रहित हो जाता है ॥ २ ॥

विशेष—यह मनुष्य प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियों में निरन्तर भ्रमण किया करता है। उन अनेक जन्मों में उसे कभी शुद्ध धर्म संचय होने के कारण किसी परमकारुणिक गुरु का सत्संग प्राप्त हो गया तो उससे योगाभ्यास की शिक्षा लेने पर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, सर्वत्याग, शमदमादि से सम्पन्न तथा समाहित चित्त होकर, जो वह जगत्रूप विभूति को देखकर ईश्वर की महिमा का अनुभव करता है अर्थात् 'सम्पूर्ण जगत् में व्यापक परमेश्वर मेरा ही स्वरूप है' ऐसा निश्चय करता है तब शोकसागर के पार होकर कृतकृत्य हो जाता है ॥ २ ॥

दूसरा मन्त्र भी इसी बात को विस्तार से कहता है, यथा—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस समय साधक स्वयंप्रकाश, ब्रह्मा के उत्पत्तिस्थान उस सृष्टिकर्ता ईश्वर पुरुष को देखता है, तब वह ज्ञानी पुरुष पुण्य पाप कर्मों को जलाकर यानि त्यागकर निर्मल हो उत्कृष्ट अद्वैतरूप समता को प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस समय ज्ञानवान् साधक ज्योतिर्मय, जिसका प्रकाश अविनाशी है, उस सकलजगत्कर्ता तथा अपरब्रह्मरूप हिरण्यगर्भ के उत्पत्तिस्थान, परम पुरुष ईश्वर का दर्शन करता है, उस समय बन्धन के कारण पुण्य पापजनक दोनों प्रकार के कर्मों को त्यागता हुआ मायामल से रहित होकर अद्वैतरूप निरतिशय समता को प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

विशेष—मनुष्य जब परमेश्वर को ही सब कुछ समझ लेता है, तब निरञ्जन, निर्लेप अर्थात् क्लेशरहित होकर सब में समदृष्टि हो जाता है। अर्थात् वह उत्कृष्ट याने निरतिशय समानता का आश्रय बन जाता है। इस अद्वैतरूप साम्य के समक्ष द्वैतविषयक समता निकृष्ट ही है ॥ ३ ॥

तथा—

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान्भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर निश्चय करके सबका प्राण है, सम्पूर्ण भूतों के रूप में भासमान हो रहा है, इसे जानकर विद्वान् अतिवादी, बहु वाद विवाद करनेवाला नहीं होता है। वह आत्मा में क्रीडा करनेवाला और उसी में रमण करनेवाला, क्रियावान् पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में परम श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जो प्राणों का प्राण परमेश्वर ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण चराचर में भासमान हो रहा है, उस प्राणस्वरूप को 'यह मैं ही हूँ' ऐसा साक्षात्भाव से जाननेवाला विद्वान् अतिवादी नहीं होता है। अर्थात् किसी में न्यूनाधिक भाव नहीं देखता, याने बहुत बोलनेवाला नहीं होता किन्तु प्रयोजन के अनुसार थोडा ही बोलता है। वह परमात्मस्वरूप में ही क्रीड़ा करता है, अन्य स्त्री पुत्रादिकों के साथ नहीं, और उस परमात्मा में ही प्रीति करता है, खान पानादिकों में नहीं। वह सदा ज्ञान, ध्यान एवं वैराग्यादि के सत्कार्य करता है, वह ब्रह्मवेत्ताओं में परम श्रेष्ठ याने प्रधान हो जाता है ॥ ४ ॥

विशेष—ब्रह्मज्ञानी को यह आत्मा ही सर्वभूतरूप से प्रतीत होने लगता है, इसी कारण सर्वत्र आत्मभाववेत्ता पुरुष अतिवादी नहीं होता। अन्य के मत का खण्डन करके स्वमत स्थापित करनेवाले का नाम अतिवादी है, यतः विवेकी जीवन्मुक्त होता है अतः उसे भेद की प्रतीति न होने से कोई आवश्यकता नहीं। जब कि यह देख लिया कि सब आत्मा ही है तब वह किसका अतिक्रमण करके बोलेगा? जिसकी दृष्टि में अपने परायेपन के आश्रय पदार्थ प्रतीत हो रहे हों, वही एक दूसरे से बढ़ चढ़कर बोला करता है। किन्तु यहाँ तो विद्वान् आत्मा से भिन्न न कुछ देखता है न सुनता है और न कुछ जानता ही है। इस लिए वह बिना मतलब के बहुत सी बकवाद नहीं करता ॥ ४ ॥

अब सम्यक् ज्ञान के सहकारी, सत्य आदि निवृत्तिप्रधान साधनों का विधान किया जाता है, यथा—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

भावार्थ—नित्य सत्यवचन-सत्याचरण से, तप से, यथार्थ ज्ञान से और ब्रह्मचर्य से यह आत्मा प्राप्त होने योग्य है। निश्चय ही यह आत्मा शुद्ध, स्वयं प्रकाशमान और हृदयाकाश में विराजमान है। उसको दोषरहित यति लोग आत्मभाव से देखते हैं॥ ५॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक! मिथ्यावचन के त्यागरूप सत्य से, मन सहित नेत्रादिक इन्द्रियों के निरोधरूप तप से, यथार्थ ब्रह्मबोधरूप ज्ञान से और उपस्थेन्द्रिय संयमरूप ब्रह्मचर्य से काम क्रोध आदि से रहित निर्मलचित्त साधक शरीर के भीतर हृदयकमल के आकाश में विराजमान ज्योतिर्मय शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार करते हैं॥ ५॥

विशेष—इस मन्त्र में सत्य, तप, सम्यग् ज्ञान और ब्रह्मचर्य इन चार साधनों से आत्मज्ञान की उपलब्धि कही गयी है। परन्तु ये साधन तभी आत्मज्ञानोपयोगी हो सकते हैं, जब कि इनका नित्य निरन्तर सेवन किया जाय। यह नहीं कि यदा कदा सत्यादि आचरण कर लिया तो आत्मज्ञान का अधिकार हो गया। भाव यह है कि योगी लोग ध्यान से जिस परमेश्वर का अनुभव करते हैं, उसी का अन्य जिज्ञासु भी सत्य आदि साधनों को अत्यन्त दृढता से सेवन करके अपने ही अन्तःकरण में प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं॥ ५॥

उक्त चारों साधनों में सत्य की प्रधानता का वर्णन करते हैं, यथा—

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्यात्मकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ६

भावार्थ—सत्यवादी ही जय को प्राप्त होता है, मिथ्यावादी नहीं। सत्य से स्वर्गादि लोकों के मार्ग का विस्तार होता है, जिस मार्ग से वासनारहित ऋषि लोग उस पद को प्राप्त होते हैं, जहाँ वह सत्य का परम निधान वर्तमान है, याने जहाँ सत्य का भण्डार परिपूर्ण है॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक ! सत्यवक्ता पुरुष की ही जय होती है, सत्यवक्ता का कहीं पर भी मार्गअवरोध नहीं हो सकता। मिथ्यावादी कदापि विजय प्राप्त नहीं कर सकता, मिथ्यावादी को कदाचित् पूर्व सुकृत से विजय प्राप्त हो भी जाय, तो वह थोड़े ही दिन रहकर फिर नष्ट हो जाती है, और कुछ दिन रही भी तो सुखदायी नहीं हो सकती। देवयानमार्ग की प्राप्ति भी सत्य से ही होती है। मिथ्यावादी को इस मार्ग की प्राप्ति होना असम्भव है। वासनारहित ऋषि लोग देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक में जाकर आत्मज्ञान की प्राप्ति करके अधिष्ठान को प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

विशेष—सत्य कभी भी विकारी नहीं होता, सत्य सदा एक ही होता है। अन्य सांसारिक सत्य सापेक्ष हो सकते हैं किन्तु परमात्मा सत्यस्वरूप ही है। यही कारण है कि परमात्मा की प्राप्ति के साधनों में सबसे प्रधान सत्य को कहा गया है ॥ ६ ॥

वासनारहित ऋषिगण जिस ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, उसका वर्णन किया जाता है, यथा—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—वह ब्रह्म सबसे बड़ा प्रकाशस्वरूप और मन बुद्धि से अचिन्त्य है। वह सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म भासमान हो रहा है। वह अविद्वानों से दूर है और विद्वानों को इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। वह चेतनावान् प्राणियों में इस शरीर के भीतर उनकी बुद्धिरूप गुहा में छिपा हुआ है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—वह आत्मा आकाशादिकों से भी व्यापक है, स्वप्रकाश है और इन्द्रियातीत होने से अचिन्त्यरूप है। परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों से भी व्यापक होने के कारण वह अत्यन्तसूक्ष्म है अर्थात् वह सूर्य चन्द्रादि रूप से प्रकाशक हो रहा है। बहिर्मुख पुरुषों को दूर से भी अत्यन्त दूर है और साधनसम्पन्न अन्तर्मुख पुरुषों को अपनी बुद्धिरूप गुहा में अत्यन्त समीप प्रतीत होता है। अर्थात् चराचर ब्रह्माण्ड में आत्मा ही सर्वत्र ओतप्रोत हो रहा है ॥ ७ ॥

विशेष—जो मनुष्य विषयवासनाओं में फँसे हैं, वे सर्वत्र भोगसामग्रियों

ही को देखा करते हैं। उनके चर्मचक्षु कहीं पर भी ईश्वर की झलक नहीं देख पाते। ऐसे लोगों से ईश्वर सदा ही दूर रहता है, वे असंख्य जन्मों में भी उसे पा नहीं सकते, और जो आत्मदर्शी अन्तर्मुख पुरुष हैं वे सभी पदार्थों में उसी को देखा करते हैं ॥ ७ ॥

फिर भी आत्मप्राप्ति का असाधारण साधन कहते हैं, यथा—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥

भावार्थ—वह आत्मा चक्षु से नहीं ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से, न तप से और न कर्म से ही। जब मनुष्य ज्ञान के प्रसाद—कृपा से शुद्धान्तःकरण हो जाता है, तभी वह ध्यान करने पर याने मनन करता हुआ उस प्राणादि कलारहित आत्मतत्त्व का अवश्य साक्षात्कार करता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—उस आत्मा को नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वागादि कर्मेन्द्रियाँ नहीं ग्रहण कर सकतीं। वह केवल अग्निहोत्रादि कर्मों से भी प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु जब इन्द्रियों के विषयसम्बन्ध से उत्पन्न रागादि मल दूर होने पर निर्मल जल और दर्पण आदि के समान बुद्धि स्वच्छ तथा शान्त हो जाती है, तब उस ज्ञान के अनुग्रह से शुद्धान्तःकरणवाला पुरुष ध्यानयोग के द्वारा उस निरवयव परमात्मा का दर्शन करता है ॥ ८ ॥

विशेष—परमात्मा के जानने की सामर्थ्य इन्द्रियों में नहीं है, क्योंकि वह परम स्थूल विषयों से अत्यन्त दूर है। हाँ, उसके जानने का साधन तप तथा शुभ कर्मानुष्ठान हो सकते हैं, किन्तु वे भी साक्षात् नहीं बल्कि परम्परा से। जैसे—तपादि के करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है, उससे निर्मल बुद्धि द्वारा ध्यान में तत्पर योगी ईश्वर का साक्षात्कार करता है। मलिन अन्तःकरण में आत्मा स्थित है, तो भी अज्ञों को प्रतीत नहीं होता ॥ ८ ॥

उस आत्मा को साधक इस प्रकार देखता है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस शरीर में पाँच प्रकार का प्राण प्रविष्ट है, उस शरीर के भीतर ही यह सूक्ष्म आत्मा विशुद्ध विज्ञान द्वारा जानने योग्य है। जिससे प्राण याने इन्द्रियों के सहित प्रजा के समस्त चित्त, अन्तःकरण व्याप्त हैं, उस चित्त के शुद्ध याने क्लेशादि मल से रहित होने पर वह आत्मरूप से प्रकाशित होने लगता है। अर्थात् वह पूर्वोक्त आत्मा अपने विशेष रूप से प्रकट होता है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक, यह सूक्ष्म आत्मा केवल शुद्ध चित्त से ही जाना जाता है, जिस में पञ्च प्रकार का प्राण स्थित है ऐसे शरीर के हृदयदेश में ही आत्मा प्राप्त होता है। यद्यपि पञ्च प्राण आत्मा में स्थित हैं तथापि समझाने के लिए 'हृदय में स्थित हैं' ऐसा कहा गया है। जैसे घृत ने दूध को व्याप्त कर रखा है तथा जैसे अग्नि ने काष्ठ को व्याप्त कर रखा है, वैसे ही सर्व प्राणियों के प्राण तथा अन्तःकरण से उपलक्षित सर्व जगत् को व्याप्त करनेवाला आत्मा है। वह आत्मा ही रागद्वेषादि कलङ्क से रहित शुद्ध अन्तःकरण में नित्य अजर अमर परिपूर्ण आनन्दरूप से प्रतीत होता है ॥ ९ ॥

विशेष—जैसे निर्मल दर्पण में छाया साफ प्रतीत होती है वैसे ही शुद्ध हृदय में ब्रह्म दिखाई देता है। अत एव चित्त की प्रसन्नता के लिए यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम का सेवन अवश्य करना चाहिए। इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि जिस शरीर में प्राणापानादि पाँच भेदों से प्राण ने प्रवेश किया, उस शरीर में ही इस सूक्ष्म आत्मा को विशुद्ध चित्त से ज्ञानस्वरूप जाना जाता है। प्राणियों के इन्द्रियों सहित सकल चित्त चैतन्य से व्याप्त हो रहे हैं। चित्त के क्लेश–मनोविकार याने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप मलों से रहित शुद्ध हो जाने पर उस में यह वर्णन किया हुआ आत्मा अपने स्वस्वरूप में प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार जो उपर्युक्त सर्वात्मा को आत्मस्वरूप से जानता है, उस का सर्वात्मा होने से ही सर्वप्राप्तिरूप फल बतलाते हैं, यथा—

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥ १० ॥

भावार्थ—निर्मलान्तःकरण आत्मज्ञानी पुरुष जिस जिस लोक की कामना करता है और जिन भोगों को चाहता है, वह उस उस लोक तथा उन उन कामनाओं

को—भोगों को प्राप्त कर लेता है। अत एव आत्मश्रेय चाहनेवाला पुरुष याने ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाला व्यक्ति आत्मज्ञानी की पूजा करे ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक ! जो विवेकी पुरुष सर्वरूप आत्मा को ही अपना स्वरूप जानता है, वह अपने लिए अथवा किसी दूसरे के लिए जिन स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति का संकल्प करता है, उसे वे प्राप्त हो जाते हैं। तथा शुद्धान्तःकरणाधिकारी जिन जिन पुत्रादिकों को 'यह मेरे लिए या दूसरों के लिए हो जायँ' ऐसा मन से विचारता है, और जिन भोगों को चाहता है, वह सकल सामग्री तथा वे सकल भोग के पदार्थ ध्यान करते ही अपने ज्ञान के बल से पा जाता है। इस कारण ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुष को चाहिए कि शुद्ध अन्तःकरणवाले, सत्यसंकल्प आत्मज्ञानी का बार बार पूजन सत्कार करे ॥ १० ॥

विशेष—जो सर्वत्र आत्मभाव देखता है, उस के लिए अति दुर्लभ भोग भी सुलभ हो जाते हैं। यही नहीं, बल्कि उस की सेवा करनेवालों को भी उस के सत्य संकल्प से मनचाहा ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। लोक में आज कल ब्रह्मवेत्ताओं का जैसा सम्मान होना चाहिए नहीं होता है, इस से ज्ञानियों की कोई हानि नहीं होती, प्रत्युत सर्वसाधारण ही आपत्ति में पड़ते हैं। क्योंकि कहा है—"अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानाञ्च व्यतिक्रमः। त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥" कहने का भाव यह है कि यही अपूज्य की पूजा है कि धिक्कार देने योग्य को धन्यवाद देना। इसी का परिणाम है कि आज आर्यजाति दुर्भिक्ष, मरण और भय की ज्वाला में जलती हुई अनाथों की तरह विनष्ट हो रही है ॥ १० ॥

प्रथम खण्ड समाप्त।

अथ द्वितीय खण्ड

पूर्वोक्त विद्वान् की सर्वप्राप्ति में हेतु बतलाते हैं—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

भावार्थ—जिस ब्रह्म में सब जगत् अर्पित है और जो स्वयं शुद्धरूप से भासमान हो रहा है, इस परम आश्रयरूप ब्रह्म को आत्मवेत्ता जानता है। जो

निष्काम होते हुए उस आत्मज्ञानी पुरुष की उपासना करते हैं, वे विवेकी लोग इस वीर्य का अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् गर्भप्रविष्ट नहीं होते ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—यह आत्मज्ञानी सर्व कामनाओं के आश्रयभूत उस परब्रह्म परमात्मा को जानता है, जिस परम धाम में यह सकल विश्व स्थित है और जो अपने शुद्ध प्रकाश से भासित हो रहा है। जो बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुष ऐश्वर्य की कामना से रहित होकर परमात्मदेव के सदृश उस आत्मज्ञ पुरुष की सेवारूप उपासना करते हैं, वे शरीरोत्पत्ति के हेतुरूप वीर्य को लाँघ जाते हैं, अर्थात् रेत होकर फिर गर्भावास में प्रवेश नहीं करते ॥ १ ॥

विशेष—यह तो ठीक ही है कि ब्रह्मवेत्ताओं का जन्म मरण नहीं होता। यही नहीं, प्रत्युत निष्काम भाव से जो विवेकी ब्रह्मज्ञानियों की सेवा शुश्रूषा करते हैं वे भी जन्म मरण के क्लेश से निवृत्त हो जाते हैं। जो सब चराचर को अपने आत्मा से अतिरिक्त नहीं समझते, उन महापुरुषों का जिस देश में सम्मान होगा, वहाँ की ऐश्वर्यवृद्धि में कोई सन्देह नहीं रह जाता है ॥ १ ॥

कामना का त्याग करना ही मुमुक्षु के लिए प्रधान साधन है, इस बात को दिखलाते हैं, यथा—

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र । पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष कामनाओं का स्मरण करता हुआ भोग करने की इच्छा करता है, वह कामनाओं की वासना से अनेक लोकों या योनियों में उत्पन्न होता रहता है। परन्तु जो कृतकृत्य हो गया है, उस पूर्णकाम पुरुष की तो सभी वासनायें इसी लोक में विलीन हो जाती हैं, यानी नष्ट हो जाती हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो मनुष्य इस लोक के और परलोक के भोगों को चाहता है, वह मूढ भोगों की इच्छा करता हुआ स्ववासना के कर्मानुसार उन उन भोगों के लिए जन्म को धारण करता है। किन्तु जो ज्ञानी हिरण्यगर्भादि रूप से अपने को सर्व पदार्थों का भोक्ता मानता हुआ तुच्छ विषयसुख की इच्छा नहीं करता, उस को आत्मस्वरूप का साक्षात् प्रकाश हो जाता है, तथा उस की धर्माधर्मप्रवृत्ति की कारणरूप सकल वासनायें इस शरीर में ही विलीन हो जाती हैं ॥ २ ॥

विशेष—जब तक मनुष्य की भोगवासनायें जागृत हो रही हैं और वह इन्द्रियों की शक्ति को स्वाधीन करने में असमर्थ हो रहा है, तब तक उसका आत्म-ज्ञान या मुक्ति के लिए यत्न करना सफल नहीं हो सकता। जैसे निर्मल वस्त्र पर रङ्ग अच्छा चढ़ता है, इसी तरह से मल विक्षेपादि दोष से रहित मुमुक्षु ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो सकता है ॥ २ ॥

इस प्रकार यदि और सब लाभों की अपेक्षा आत्मलाभ ही सर्वोत्तम है तो उस की प्राप्ति के लिए प्रवचन आदि उपाय अधिकता से करने चाहिएँ, इसी बात पर कहा जाता है, यथा—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ३

भावार्थ—यह आत्मा वेद शास्त्राध्ययन से प्राप्त होने योग्य नहीं है। न ग्रन्थधारणसमर्थ बुद्धि से और न बहुत श्रवण करने से प्राप्त होने योग्य है। यह विद्वान् जिस परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा करता है उस इच्छाशक्ति से ही इस की प्राप्ति हो सकती है। यह आत्मा अपने स्वरूप को उसके प्रति प्रकट कर देता है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे शौनक! यह आत्मा केवल वेदाध्ययन करने से प्राप्त नहीं होता। तीक्ष्ण बुद्धि भी इस की प्राप्ति का साधन नहीं है, और अनेकों अनात्मप्रतिपादक शास्त्रों के सुनने से भी आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। जो अधिकारी आत्मा का अभेद रूप से चिन्तन करता है, ऐसा ध्याता ही उसको प्राप्त करता है। उस ध्याता के प्रति आत्मा अपने शुद्ध सच्चिदानन्द अद्वितीय रूप को प्रकट करता है। जैसे शुद्ध अचल जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रतीत होता है, वैसे ही निष्काम कर्म से शुद्ध तथा ध्यान करने से एकाग्र अन्तःकरण में आत्मा की अभिव्यक्ति होती है ॥ ३ ॥

विशेष—यह स्मरण रखना चाहिए कि वेदादि शास्त्रों में प्रवीण और उनके उपपादन में अनेक तर्क युक्तियों के कथन करनेवाले संसार में ही प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। ब्रह्मज्ञानप्राप्ति में तो उनका चञ्चुप्रवेश भी नहीं होने पाता। हाँ, शास्त्र में लिखे आदेशों को अनन्यचित्त होकर जब मनुष्य आचरण में लाता है तब वह आत्म-ज्ञान से होनेवाले सुख का भागी होता है, तब ब्रह्म भी उस के लिए स्वयं प्रकाशमान हो जाता है ॥ ३ ॥

आत्मज्ञान में बलादि भी सहकारी हैं, यह कहते हैं, यथा—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् । एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह आत्मा न बलहीन पुरुष को प्राप्त हो सकता है, न प्रमाद से और न लिङ्गरहित तपस्या से ही उपलब्ध होता है, अर्थात् न संन्यास—त्यागरहित तपश्चर्या से ही मिलता है। किन्तु जो ब्रह्मनिष्ठ इन उपायों से उस आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उद्योग करता है, उसे यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट करा देता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—काम क्रोधादि शत्रुओं से जो वश में नहीं हुए हैं ऐसे मन और इन्द्रियों का स्ववशकरणरूप जो बल है, उससे रहित पुरुष को यह आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता । विषयासक्ति से, कर्तव्य के विस्मरणरूप प्रमाद से भी आत्मोपलब्धि नहीं होती और संन्यासरहित शुष्क ज्ञान से भी ब्रह्मदर्शन नहीं मिलता। अभिप्राय यह है कि चाहे कितना ही उग्र तप किया जाय, याने कितना ही दृढ ज्ञान क्यों न हो, यदि वह अलिङ्ग हो अर्थात् उससे संन्यास का सम्बन्ध न हो तो वह आत्मज्ञान का साधन नहीं हो सकता है। जो विवेकी धैर्यसहित है, प्रमाद से रहित है, संन्यास को प्राप्त हुआ है और वेदान्तश्रवणादिकों में यत्न करता है, उस विद्वान् का यह आत्मा ब्रह्मधाम में सम्यक्‌रूप से प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

विशेष—यद्यपि इन्द्र, अजातशत्रु, जनक, गार्गी आदिकों ने संन्यास धारण नहीं किया था, तो भी ये आत्मा के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाता थे, अतः "संन्यासरहित केवल ज्ञान से उस आत्मा की प्राप्ति नहीं होती" यह कथन विरुद्ध हुआ। तथापि संन्यास बिना तो आत्मप्राप्ति हो ही नहीं सकती। जनकादिकों का भी जन्मान्तर में संन्यास था। यदि यह कथन ठीक नहीं है, तो भी अन्तर् से वे पक्के संन्यासी थे। यह बात नहीं है कि केवल बाह्य संन्यास का ही मोक्ष में अत्युपयोग है। यदि अन्तःसंन्यास हो और दृष्टिविक्षेप की निवृत्ति के लिए बाह्य संन्यास भी हो तो उसकी महिमा का क्या कहना है ? प्रतीत होता है कि यहाँ श्रुति भगवती ने अन्तःसंन्यासपूर्वक बाह्य संन्यास को अखिल वर्णाश्रमधर्मों से श्रेष्ठ प्रतिपादन किया है। पाठकवर्ग ही विचार करें कि बिना संन्यास के, बिना त्याग के शुष्क ज्ञान आत्मबोधोपयोगी नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

विद्वान् किस प्रकार से ब्रह्म में प्रविष्ट होता है, यह बताते हैं, यथा—

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

भावार्थ—ऋषि लोग इस आत्मा को जानकर उस ज्ञान से ही तृप्त, स्वस्वरूप के ज्ञाता तथा रागादिरहित होते हुए शान्त भाव को प्राप्त होते हैं। वे विवेकी पुरुष उस सर्वव्यापी परमात्मा को सब ओर प्राप्त कर देहावसानकाल में समाहित चित्त हो सर्वात्मभाव से सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक ! जो विवेकी पुरुष इस आत्मा को प्राप्त करते हैं, वे विद्वान् अपने स्वस्वरूपज्ञान से ही तृप्त रहते हैं। शरीर को स्थूल दृढ करनेवाले पौष्टिक पदार्थों से उनकी तृप्ति नहीं होती। जो वीतराग हैं और शान्तचित्त हैं, ऐसे वे जीवन्मुक्त, परिपूर्ण, अद्वितीय, आनन्दस्वरूप आत्मा को प्राप्त करके सदा समाहित हो शरीरस्थितिकाल में भी ब्रह्म में ही स्थित हैं। जिन जीवन्मुक्तों ने वेदान्त के श्रवण से ब्रह्मात्मैक्य का निश्चय किया है तथा संन्यास से अन्तःकरण की शुद्धि की है, वे प्रारब्ध कर्मों का भोग करके नाश करते हुए ब्रह्मभाव को प्राप्त हो, मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥

विशेष—जो मुमुक्षु सदा ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन करते रहते हैं, वे विषयभोगों की वासनाओं से रहित होकर केवल ज्ञान से ही संतृप्त रहते हैं। आत्मज्ञान से तृप्त हुए वे बाहर के, क्षणिक, क्षयी, पौष्टिक आहारादिकों की प्राप्ति से लिए अपने जीवन का अमूल्य समय नहीं खोते हैं ॥ ५ ॥

तथा—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

भावार्थ—वेदान्त के विचार से उत्पन्न आत्मतत्त्व का जिन्होंने अच्छी तरह निश्चय कर लिया है, वे संन्यासयोग से अर्थात् सब कर्मों के त्यागरूप योग से यत्न करनेवाले शुद्धान्तःकरण पुरुष देह के त्यागने पर ब्रह्मलोक में परम अमरभाव को प्राप्त हो सब ओर से मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् उनके लिए कोई बन्धन शेष नहीं रह जाता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जिन्होंने महावाक्यजन्य विज्ञान से विज्ञेय परमात्मा का संशय विपर्यय से रहित निश्चय कर लिया है, कर्मत्यागरूप संन्यास और श्रवणादि-रूपा ब्रह्मनिष्ठा इनसे रागादिरहित शुद्धान्तःकरणवाले वे सब यति लोग लिङ्गशरीर-भङ्गरूप अन्तिम मरणसमय में, सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मात्मभूत होकर उपाधिपरित्याग होने से ब्रह्मलोक में एकता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

विशेष—जिन्होंने परमात्मा का सब प्रकार से साक्षात्कार कर लिया है, वे समाहितचित्त, शुद्धान्तःकरण ज्ञानी पुरुष अन्तिम जन्म में मुक्त हो जाते हैं, उनका वही अन्तिम शरीर होता है। जब वे ब्रह्म में लीन हो जाते हैं तो उन्हें शरीर धार नहीं करना पड़ता है ॥ ६ ॥

मोक्ष के प्रकार को कहते हैं, यथा—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ७

भावार्थ—देह को आरम्भ करनेवाली प्राणादि पन्द्रह कलायें अपने आश्रयों में स्थिर हो जाती हैं। समस्त देवगण अपने प्रतिदेवता आदित्यादिकों में लीन हो जाते हैं और प्राणी के संचितादि कर्म तथा विज्ञानमय आत्मा आदि, चिदाभासविशिष्ट बुद्धि ये सब अविनाशी परमात्मा में एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—अन्त काल में देह के आरम्भक प्राणादि पन्द्रह अवयव अपने अपने कारण में जाकर लीन हो जाते हैं। शरीर में स्थित नेत्र आदि इन्द्रियों की शक्तियाँ अपने अपने सूर्यादि प्रतिदेवताओं में जाकर प्रवेश कर जाती हैं। ऐसे कर्म जो भोगने से बचे हुए हैं और जिनके फल का आरम्भ नहीं हुआ है तथा विज्ञानमय आत्मा; इन सब उपाधियों के भी दूर होने पर सत्, पर, अव्यय, अजन्मा, अजर, अमर, अभय, अकारण, अद्वैत, शिव और शान्तस्वरूप ब्रह्म में मुमुक्षु जाकर इस तरह लीन हो जाता है जिस प्रकार जल के पात्र को दूर करने से सूर्य आदि का प्रतिबिम्ब सूर्यादिकों में एवं घटादि उपाधियों को दूर करने पर घटाकाश आदि महाकाश में एकीभूत हो जाते हैं ॥ ७ ॥

विशेष—इस मन्त्र में प्राणादिकों के लय का प्रकार बतलाया गया है। प्रश्नोपनिषद् में इन कलाओं की चर्चा की गयी है, यहाँ वे ही प्राण, श्रद्धा, महाभूतपञ्चक, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोक ये कला हैं ॥ ७ ॥

उक्त विज्ञानमय के एकीभाव को दृष्टान्त से स्पष्ट कहते हैं, यथा—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे बहती हुई नदियाँ अपने नाम रूप का परित्याग करके समुद्र में लीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष नाम रूप से रहित होकर प्रकाशमान अविनाशी पुरुष को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—हे शौनक ! जैसे गङ्गा यमुना आदिक प्रसिद्ध नदियाँ समुद्र में जाकर लीन हो जाती हैं, फिर न उनका नाम ही रहता है न स्वरूप ही; वैसे ही यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष नाम और रूप से रहित होकर अज्ञान और तत्कार्य से निवृत्त हो शुद्ध आत्मदेव को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

विशेष—समुद्र में मिल जाने पर नदियों के पृथक् नाम और रूप का व्यवहार नहीं होता, क्योंकि क्षुद्र जलधारा और उसका नाम प्रधान समुद्र में मिलकर अपना पृथक् अस्तित्व कायम नहीं रख सकता । वैसे ही जीव ब्रह्म का ऐक्य हो जाता है ॥ ८ ॥

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हो जाने पर मोक्ष में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं रह जाता है, इसको कहते हैं कि—

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥

भावार्थ—निश्चय ही जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है । वह शोक याने मन के संताप से रहित हो जाता है, पाप से छूट जाता है और हृदय की संशयरूप ग्रन्थियों से छूटकर अमृतत्व प्राप्त कर लेता है । यही नहीं बल्कि उस विद्वान् के कुल में ऐसा कोई नहीं होता जो ब्रह्म को नहीं जानता हो ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—जो कोई उस प्रसिद्ध परब्रह्म को साक्षात् 'मैं ही हूँ' इस प्रकार जानता है, वह प्रतिकूल गति को प्राप्त नहीं हो सकता । उसकी परमगति में देवतागण भी विघ्न नहीं डालते, कैसे डालेंगे ? वह तो उनका भी आत्मा हो जाता है । कोई भी बुद्धिमान् अपने आत्मा के प्रतिकूल आचरण नहीं करता । तात्पर्य यह

निकला कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है। जीवित दशा में ही उसको इच्छित वस्तुओं के वियोग से उत्पन्न हुए मनःसन्तापरूप शोक का लेश भी नहीं रहता। वह पाप से पार हो जाता है और अविद्या की वासनामय हृदय की गाँठ के खुल जाने से वह अमर हो जाता है। उस विद्वान् की शिष्यपरम्परा में या वंशपरम्परा में कोई ऐसा नहीं होता जो ब्रह्मज्ञानी न होता हो ॥ ९ ॥

विशेष—ब्रह्मज्ञानी की इतनी महिमा है कि वह अपना उद्धार तो करता ही है, प्रत्युत जो उसके सम्पर्क में रहते हैं उन्हें भी परमपद प्राप्त करा देता है। गीता में वर्णित दैवी सम्पत्तियों में सबसे पहले अभय का उल्लेख किया गया है। "द्वैताद् वै भयं भवति" याने ब्रह्मात्मैक्य के विज्ञानियों को भय कम्पादि नहीं होते। ब्रह्मज्ञानी में निर्भयता का इतना बाहुल्य होता है कि उसका अभय अखिल विश्व में प्रसरित होने पर भी न्यून नहीं होता। ब्रह्मवेत्ता जिस देश या काल में रहता है, वहाँ का वातावरण प्राणियों के अनुकूल होता हुआ सदा शान्त बना रहता है ॥ ९ ॥

अब ब्रह्मविद्या प्रदान की विधि का प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार किया जाता है, यथा—

तदेतदृचाभ्युक्तम् । क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः । तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ १० ॥

भावार्थ—जो शास्त्र में कहे हुए कर्म का अनुष्ठान करनेवाले, वेदवेत्ता, परब्रह्म की जिज्ञासावाले तथा श्रद्धावान् होकर एकर्षि नामक अग्नि में हवन करते हैं, और जिन्होंने शास्त्रोक्त विधि से अथर्ववेदोक्त अग्नि को मस्तक पर धारण करनारूप व्रत लिया है, उनको ही इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिए। यही बात अगले मन्त्र में भी कही गयी है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—अब इस मुण्डकोपनिषद् के पठन करने की रीति कहते हैं। आगे के अन्तिम मन्त्र में विद्या के सम्प्रदाय का ही निरूपण किया गया है। जो अधिकारी अपने वर्णाश्रम के धर्मों को करते हैं, वेदाध्ययन तथा सगुण ब्रह्म की उपासना में परायण हैं, पर निर्गुण ब्रह्म की जिज्ञासावाले हैं, शिर में अग्निधारणरूप व्रत का अनुष्ठान करते हैं और आथर्वणिकों के एकर्षि नामक प्रसिद्ध अग्नि में श्रद्धापूर्वक हवन करते हैं; ऐसे अधिकारी पुरुषों को ही इस मुण्डकोपनिषद् का उपदेश करना चाहिए ॥ १० ॥

विशेष—जैसे कि ऊपर भूमि में बोया हुआ बीज और उस बोने का परिश्रम, या जलवितांडन, अथवा काकदन्तपरीक्षा आदि व्यापार व्यर्थ होते हैं, उसी प्रकार अनधिकारी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करना राख में हवन करने के समान व्यर्थ तो है ही, साथ ही उससे अत्यन्त हानि भी होती है। इससे उसको विद्या न देनी चाहिए, यह महात्माओं का अनुभव है ॥ १० ॥

उक्त ग्रन्थ के अधिकारी को दिखाते हुए प्रकृत कथा का उपसंहार करते हैं, यथा—

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते ।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११ ॥

भावार्थ—पूर्व काल में इस सत्य अक्षरपुरुषरूप विज्ञान को अङ्गिरा ऋषि ने समीप आये हुए, अपनी सेवा में उपस्थित, विधिपूर्वक पूछनेवाले शौनक ऋषि से कहा था। जिसने शिरोव्रत का अनुष्ठान नहीं किया, वह इस विज्ञान को नहीं पढ़ सकता। परम ऋषिओं को नमस्कार है, परम ऋषियों को नमस्कार है ॥ ११ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पहले की बात है कि अङ्गिरा नामक ऋषि ने अपनी शरण को प्राप्त हुए शौनक ऋषि को सत्यस्वरूप आत्मा का उपदेश किया था। वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न होकर जिन मुमुक्षुओं ने इस उपनिषद् का श्रवण किया है, उन्हें ब्रह्मज्ञानप्राप्ति द्वारा यह मोक्षदायक है। इससे यह आया कि साधनसहित होकर ही इस उपनिषद् का पाठ करे। जिन्होंने शिर में अग्निधारणरूप व्रत का तथा वैराग्यादि साधनों का सम्पादन नहीं किया, वे इस उपनिषद् का अध्ययन न करें। जिनसे यह ब्रह्मविद्या परम्पराक्रम से प्राप्त हुई है, उन परम ऋषियों को प्रणाम है, बारबार नमस्कार है ॥ ११ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में द्वितीय बार नमस्कार शब्द का प्रयोग अत्यन्त आदर और उपनिषद् की समाप्ति की सूचना के लिए किया गया है। अर्थ यह है कि जिन ब्रह्मादिक ऋषिओं से यह ब्रह्मविद्या गुरुशिष्यपरम्परा द्वारा प्राप्त हुई है तथा हम अधिकारियों को मिली है, उन सब महर्षियों को हम लोगों का बारम्बार प्रणाम है, मुहुर्मुहु नमस्कार है ॥ ११ ॥

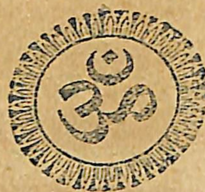
द्वितीय खण्ड और तृतीय मुण्डक समाप्त ।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इस प्रकार यह मुण्डकोपनिषद् पर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज द्वारा विरचित विद्याविनोद भाष्य समाप्त हुआ ।




ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

माण्डूक्योपनिषद्

विद्याविनोद भाष्यसहित

यह उपनिषद् अन्यान्य उपनिषदों की अपेक्षा बहुत ही छोटी है। मन्त्र तो इस में कुल बारह ही हैं, पर इसका महत्त्व अन्य सभी उपनिषदों से बढ़कर है। भगवान् श्री गौडपादाचार्य ने इस पर कारिकाओं का बहुत ही सुन्दर विद्वत्तापूर्ण निर्माण करके इसे और भी अधिक महत्त्व प्रदान कर दिया है। यह उपनिषद् अथर्ववेद के ब्राह्मणभाग में आयी है। कहते हैं कि किसी माण्डूक्य नामक ऋषि के द्वारा लोक में इसका प्रचार हुआ है, अतः इसका नाम 'माण्डूक्योपनिषद्' हो गया। इसके अतिरिक्त महात्मा लोग यह भी कहा करते हैं कि जैसे मेंढक प्रायः तीन या चार छलाँग मारकर जल में प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्मारूपी मण्डूक अर्थात् अन्त.करणविशिष्ट आत्मारूप दर्दुर पहले जागृत अवस्थादि प्रथम पादरूप स्थान से उछलकर स्वप्नावस्थादि द्वितीय पादरूप स्थान को, फिर वहाँ से सुषुप्ति अवस्थादि तृतीय पादरूप स्थान को प्राप्त हो जाता है। इसके अनन्तर उस तृतीय पादरूप स्थान से उछलकर चतुर्थ अमात्रिक अपने परब्रह्मस्वरूप जल में जा पहुँचता है। उस आत्मारूप मेंढक की प्रतिपादक होने से इस उपनिषद् को 'माण्डूक्य' नाम से कहते हैं। अनेक श्रुतियों से प्रमाजित, संन्यासियों करके उपास्य, तथा ब्रह्मप्राप्ति में सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ आलम्बन जो त्रिमात्रिक ओंकार है, केवल उसकी ही प्रतिपादक और ब्रह्मात्मा के अभेद की बोधक होने से सभी उपनिषदों में इसकी अधिक प्रतिष्ठा है। यद्यपि सभी उपनिषद ब्रह्मात्मैक्यबोधक हैं तथापि सब से इसकी इस लिए विशेषता है कि अन्यान्य उपनिषदों में सृष्टि-प्रकरण और प्राण आदिकों की उपासना आदि में अन्य प्रसंगों का भी कथन किया गया है, किन्तु इस उपनिषद् में केवल ओङ्कार के प्रतिपादन से ब्रह्म आत्मा की

अभेदता ही बोधन की गयी है। अतएव इस उपनिषद् को मुख्य मानकर श्री शङ्कराचार्यजी के गुरु गौडपादाचार्य ने अद्वैतसिद्धान्तहर्म्य की सुदृढ नींवँ की तरह इस पर दो सौ पन्द्रह कारिकायें रच डालीं, जिन में आगम, वैतथ्य, अद्वैत, अलातशान्ति ये चार प्रकरण हैं।

यद्यपि वेदान्तशास्त्र में जो जो सम्बन्ध, विषय, प्रयोजन और अधिकारी हुआ करते हैं, वे ही इस ग्रन्थ के भी हो सकते हैं। तो भी विद्वानों का कथन है कि जिन्हें किसी प्रकरणग्रन्थ की व्याख्या करने की इच्छा हो, उन्हें संक्षेप से उनका वर्णन कर ही देना चाहिए। जिस प्रकार रोगी पुरुष को रोग की निवृत्ति होने से पर स्वास्थ्यलाभ होता है, उसी प्रकार दुःखाभिमानी आत्मा को द्वैतप्रपञ्च की निवृत्ति होने पर स्वस्थता मिलती है। इस से यह आया कि अद्वैतभाव ही इसका प्रयोजन है, विषय ब्रह्म है, प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है, साधन-चतुष्टयसम्पन्न व्यक्ति अधिकारी हैं। इसका भी शान्तिपाठ पूर्ववत् है, यथा—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ओङ्कार ब्रह्म का वाचक है, वाच्य और वाचकों का अभेद लोकप्रसिद्ध है। अतः ब्रह्मनामक ओंकार का ब्रह्मदृष्टि से वर्णन करते हैं, यथा—

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ १॥

भावार्थ—'ओम्' यह अक्षर ही सर्व जगत् है। भूत, वर्तमान और भविष्य ये सब उसी की व्याख्या हैं, अतएव यह सब ओंकार ही है। और जो इसके अतिरिक्त कालत्रय से पृथक् अव्याकृतादि अन्य वस्तुयें हैं वे भी ओंकार ही हैं॥ १॥

वि० वि० भाष्य—यह सम्पूर्ण नामरूपप्रपञ्च ओंकार ही है, उस से

भिन्न नहीं। ब्रह्म सब का अधिष्ठान है और कल्पित वस्तु अधिष्ठान से पृथक् नहीं होती, अतः ब्रह्म से कोई भी वस्तु भिन्न नहीं है। उस अधिष्ठानरूप ब्रह्म का वाचक होने से ओंकार ही ब्रह्म है। जैसे शालग्राम शिला में विष्णुमूर्ति का ध्यान करने से उस में विष्णुरूपता मानी गयी है, वैसे ही इस ओंकार में ब्रह्मस्वरूप का ध्यान करने से यह ओंकार भी ब्रह्मरूप है। जैसे भ्रान्तिकाल में स्थाणु के अज्ञान से ही चोर प्रतीत होता है, ज्ञान हो जाने पर उसका बाध हो जाता है, इसी को बाध-समानाधिकरण कहते हैं। वैसे ही ओंकार का अधिष्ठान ब्रह्म है, इस से ओंकार ब्रह्म है, इस में भी बाधसमानाधिकरण है। और नामी की सिद्धि नाम के अधीन होती है, ओंकार भी ब्रह्म का नाम है, जैसे नाम से नामी भिन्न नहीं होता, वैसे ही ओंकार नाम से नामी ब्रह्म भिन्न नहीं है। एवं जैसे अर्थप्रपञ्च में ब्रह्म व्यापक है, वैसे ही शब्दप्रपञ्च में व्यापक ओंकार है। अतः व्यापकता को ग्रहण करके ओंकार ही ब्रह्म है। तथा उस ब्रह्म से कार्यप्रपञ्च भिन्न नहीं है, इसी तरह ब्रह्मरूप ओंकार से यह प्रपञ्च भिन्न नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ओङ्कार ही सर्व नामरूप प्रपञ्च है। जो तीन कालों से परिच्छिन्न पदार्थ हैं वे सब ओंकार ही हैं, अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यत्. इन तीनों कालों से जो कुछ परिच्छेद्य है वह सब ओंकार ही है। और इसके अतिरिक्त जो तीनों कालों से परे अपने कार्य से ही विदित होनेवाले और काल से अपरिच्छेद्य अव्याकृत आदि हैं वे भी ओंकार ही हैं॥ १॥

विशेष—इस माण्डूक्य उपनिषद् में पहला मूल मन्त्र यही है, आगे आनेवाले इसी के व्याख्यानरूप मन्त्र हैं। इस में जो 'ओम्' यह शब्द है, इसका वाच्य परमेश्वर है। ओम् ब्रह्म का सबसे बड़ा नाम है। हमने महात्माओं द्वारा ओंकार से सम्पूर्ण सृष्टि की रचना के व्यावहारिक रूप को स्वयं देखा है। हृषीकेशस्थ तपोवन के एक विद्वान संन्यासी महात्मा ओंकार से सृष्टि की सभी वस्तुएँ बनाकर दिखला दिया करते थे। उन्होंने अपनी कल्पना से ओंकार के कुछ टुकड़े काटकर अलग अलग कर रखे थे, वे उन टुकड़ों में से सभी भाषाओं की वर्णमालायें, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप्, कीट, पतङ्ग और वृक्षों तथा मकान आदिकों के ठीक ठीक आकार स्पष्ट निर्माण करके दिखा देते थे। इस निर्माणविधि का ज्ञान कुछ मुझे भी है॥ १॥

इस प्रकार भूतादि कालों में होनेवाले सब पदार्थ ओंकार के वाच्य हैं, तो वाचक ओंकार के साथ उनका अभेद कहकर इस समय ओंकार से अभिन्न सर्ववस्तुओं को ब्रह्म का कार्य होने से उनका ब्रह्म के साथ अभेद कहते हैं—

सर्वं ँ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥२॥



प्रणवात्मा चतुष्कल ब्रह्म ❀ પ્રણવાત્મ ચતુષ્કલ બ્રહ્મ



भावार्थ—यह सब ओंकाररूप ब्रह्म ही है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार भागोंवाला है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले मन्त्र में ओम् शब्द से जिसका कथन किया गया है, उस अभिधेय ब्रह्म का यहाँ विशेष रूप से प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि वह विभु होने से मानवर्जित है तथापि सम्पूर्ण मेय पदार्थों में व्यापक होने के कारण लोगों को समझाने के लिए यहाँ पर या अन्यत्र उसके मान की कल्पना की गयी है। वस्तुतः वह अपरिमेय है, वह सर्वत्र व्यापक आत्मा, जैसे रुपये में चार आने अथवा सेर में चार पाव होते हैं, उसी प्रकार चार पादवाला है ॥ २ ॥

विशेष—पहली श्रुति में ओंकार ही सर्व नाम रूप प्रपञ्च है, ऐसा कहा गया था, इसमें सम्पूर्ण वाच्य प्रपञ्च को वाचक ओंकाररूप से निरूपण करते हैं। तात्पर्य दोनों का अभेद में ही है, याने वाच्य वाचक दोनों को शुद्ध ब्रह्म में लय करके अधिष्ठाननिर्विशेष ब्रह्म का निश्चय करना चाहिए। नित्य, अपरोक्ष, साक्षी आत्मा ही ब्रह्म है, इससे भिन्न नहीं। इस प्रकार महावाक्य के श्रवण से भी जिस मन्दबुद्धि पुरुष को आत्मज्ञान न हो सके, उसके बोध के लिए आत्मा के चार पादों का कथन किया गया है कि यह आत्मा ही चतुष्पाद है। जैसे लौकिक व्यवहार के लिए एक मुद्रा में चार भाग किये गये हैं, वैसे ही एक आत्मा में मुमुक्षु जनों के बोध के लिए चार पादों की कल्पना की गयी है। इसको यों समझना चाहिए कि जैसे विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय ये जीव के चार पाद हैं, वैसे ही विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और ईश्वरसाक्षी ये ईश्वर के चार अंश हैं ॥ २ ॥

वह किस प्रकार चार पादोंवाला है, यह बताते हैं, यथा—

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

भावार्थ—जाग्रत् अवस्था जिसका स्थान है अर्थात् जिसकी अभिव्यक्ति जाग्रत् काल में होती है, जो बाह्य विषयों को प्रकाशित करनेवाला है याने बाह्य विषयों में जिस की बुद्धि स्थित रहती है, उसके सात अङ्ग तथा उन्नीस मुख हैं और वह स्थूल विषयों का उपभोग करनेवाला है। यह प्रथम पाद वैश्वानर है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—विराट् का विश्व से अभेद है, इस बात को मन में धारण करके विश्वरूप प्रथम पाद का श्रुति वर्णन करती है। विश्व से अभिन्न जो विराट्

है वह आत्मा का प्रथम पाद है। वह जाग्रत् अवस्था तथा स्थूल शरीर का अभिमानी है और बाह्य शब्दादिकों में प्रवृत्तिवाला है। इस विश्वाभिन्न विराट् के सात अङ्ग हैं, अर्थात् वैश्वानर आत्मा का स्वर्गलोक शिर है, सूर्य नेत्र है, आकाश मध्यस्थान (धड़) है, समुद्रादिरूप जल मूत्रस्थानीय है, पृथिवी पाद है, आहवनीय अग्नि मुख है। इसी प्रकार उस वैश्वानर के उन्नीस मुख हैं, जैसे पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच प्राण और मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त ये चारों अन्तःकरण; ये उन्नीसों मुख की तरह भोग के साधन होने से मुख कहे गये हैं। यह स्थूल शब्दादि विषयों को भोगता है, अतः इसे स्थूलभुक् कहते हैं। यह ही सर्वनररूप है, अतएव इसे वैश्वानर कहते हैं। यह प्रथम पाद है॥ ३॥

विशेष— परमात्मा में चतुष्पाद होने की कल्पना वेद में भी की गयी है। जैसे मनुष्य की चार अवस्थायें होती हैं वैसे ही जिज्ञासुओं के तत्त्वबोधनार्थ कार्यभेद से परमेश्वर की ये चार अवस्थायें मान ली गयी हैं। वस्तुतः परमेश्वर में तो एक दो पाद भी नहीं हैं फिर चार पादों का तो कहना ही क्या है। इसी तरह परमात्मा तो सदैव जागता ही रहता है, फिर भी विशेष कर जाग्रत अवस्था को उसका स्थान बताना कहाँ तक युक्त है? ये सब समझाने की शैलियाँ हैं, जैसे—जब विश्व की जाग्रत् अवस्था होती है उस समय वह प्राणिमात्र को स्व स्व कर्मों में प्रवृत्त होने आदि की सामर्थ्य प्रदान करता है॥ ३॥

अब दूसरे पाद को कहते हैं, यथा—

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥ ४॥

भावार्थ—जिसका स्वप्न स्थान है तथा जिसकी अन्तर्मुख प्रज्ञा है, जो सात अङ्गोंवाला और उन्नीस मुखोंवाला है, वह सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है। वह तैजस नामक इसका द्वितीय पाद है॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—व्यष्टि सूक्ष्मशरीर के अभिमानी तैजस का समष्टि सूक्ष्मशरीर के अभिमानी हिरण्यगर्भ के साथ अभेद है। हिरण्यगर्भ से अभिन्न तैजस ही स्वप्नावस्था का अभिमानी है। यह तैजस मनोमात्र जो पदार्थ हैं उनको भोगता है। इसीसे तेजस को अन्तःप्रज्ञ कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अन्तः याने सूक्ष्म अविचारचित पदार्थों में जिसकी प्रज्ञा हो उसको अन्तःप्रज्ञ कहते हैं। जिस

प्रकार विश्व के सात अङ्ग और उन्नीस मुख कहे गये हैं, वैसे ही यहाँ तैजस के भी जानना। यह उसका द्वितीय पाद है॥ ४॥

विशेष—प्रकृत में जो सात अङ्ग और उन्नीस मुख का वर्णन किया गया है, उनमें यह विवेक है कि वे विश्व के तो ईश्वररचित हैं और तैजस के मनोमात्र हैं। मनुष्य जैसे स्वप्नावस्था में अपने भीतर ही स्वप्न देखता है, इन्द्रियों द्वारा बाहर के विषयों का अनुभव नहीं करता, वैसे ही बीच की प्रलयों में जब सब प्राणियों या सब तत्त्वों का प्रलय नहीं होता, उस समय अर्धसुप्त मनुष्य के तुल्य ईश्वर अवशिष्ट वर्तमान जगत् का धारण, पालन करता हुआ अपने स्वरूप में ही ध्यानावस्थित होता है। यही द्वितीय दशा को प्राप्त द्वितीय भाग का रूप है॥ ४॥

अब तृतीय पाद को कहते हैं, यथा—

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥५॥

भावार्थ—जिस अवस्था में मनुष्य सोया हुआ होकर किसी पदार्थ की चाहना नहीं करता है और कोई स्वप्न भी नहीं देखता है, वह गाढ निद्रा सुषुप्ति कहलाती है। वह सुषुप्ति जिसका स्थान है और जो एकीभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय, आनन्द का भोक्ता तथा चेतनारूप मुखवाला है, वह प्राज्ञ ही इसका तीसरा पाद है॥ ५॥

वि० वि० भाष्य—जिस अवस्था में प्राप्त होकर यह जीव किसी भोग की इच्छा नहीं करता तथा जिस अवस्था में अनेक प्रकार के विपर्ययरूप स्वप्नों को नहीं देखता, ऐसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। ऐसी सुषुप्तिवाला ईश्वराभिन्न प्राज्ञ ही तृतीय पाद है। व्यष्टिकारणशरीर अविद्या के अभिमानी प्राज्ञ के ही ये विशेषण हैं, यह प्राज्ञ सुषुप्ति में ईश्वर के साथ एकता को प्राप्त होता है, इसको ही प्रज्ञानघन कहते हैं। जाग्रत् के तथा स्वप्न के सर्व ज्ञान अविद्या में एकरूप हो जाते हैं, इसी से इसको प्रज्ञानघन कहा गया है। अधिक आनन्द को प्राप्त होने से इसे आनन्दमय कहते हैं। यह प्राज्ञ ही अविद्या की वृत्तियों से अज्ञानावृत आनन्द को भोगता है, इससे आनन्दभुक् है और जाग्रत् स्वप्न के ज्ञान में द्वाररूप से वर्तमान होने के कारण इसको चेतोमुख कहते हैं। प्राज्ञ ही जाग्रत् स्वप्न में द्वार है, इससे

यही चेतोमुख हुआ, इसको ही जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में भूत, वर्तमान और भविष्यत् पदार्थों का ज्ञान होता है, इससे इसे प्राज्ञ कहते हैं। जाग्रत् तथा स्वप्न के ज्ञानों से रहित केवल चेतनप्रधानतारूप करके स्थित होने से भी इस तृतीय पाद को प्राज्ञ कहते हैं ॥ ५ ॥

विशेष—महात्मा लोग कहा करते हैं कि उक्त इन तीन मन्त्रों में से प्रथम में सृष्टि की स्थितिदशा में परमेश्वर जैसा कर्म करने से जिस अवस्था को प्राप्त होता है, उसका वर्णन है। द्वितीय मन्त्र में अवान्तर प्रलयदशा को प्राप्त का और तृतीय मन्त्र में प्रलयदशा में अवस्थित ईश्वर का वर्णन है। मतलब यह है कि कार्यजगत् में परमेश्वर तीन प्रकार से उपासनीय है और कार्य के भेद से तीन प्रकारों को प्राप्त हुआ है, ऐसा मानकर तीन भाग या अंशों का आरोपण किया गया है ॥ ५ ॥

सब का कारण होने से उक्त प्राज्ञ की स्तुति करते हैं, यथा—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह प्राज्ञ सबका ईश्वर है, अर्थात् मायोपाधि को त्यागकर चैतन्यरूप से स्थित हो सबका शासन करनेवाला है। यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और यह सबका कारण है, अतएव यह समस्त जीवों की उत्पत्ति तथा लय का स्थान है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—यह प्राज्ञ अखिल प्रपञ्च का अधिष्ठाता है, यह प्राज्ञ ही विश्व के स्थूलतर और सूक्ष्मतम पदार्थों के जरा जरा से भेदों का ज्ञाता है, अतएव यह अन्तर्यामी है। अर्थात् समस्त प्राणियों के भीतर अनुप्रविष्ट होकर उन का नियमन करनेवाला भी यही है। सम्पूर्ण भूत इस प्राज्ञ से ही उत्पन्न होते हैं और इसी में लीन हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि उक्त भेद के सहित सारा जगत् इसी से उत्पन्न होता है, इस लिए यही सबका कारण है। क्योंकि जब ऐसा है इस लिए यही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और लय का स्थान भी है ॥ ६ ॥

विशेष—इस मन्त्र में प्राज्ञ की ईश्वररूपता के सूचनार्थ ईश्वर के धर्मों का प्राज्ञ में वर्णन किया गया है। यहाँ महात्मा लोग यों कहा करते हैं कि प्राज्ञ पुरुष जो ओम् का अभिधेय है, वह अनन्यभाव से सम्पूर्ण जगत् का अध्यक्ष है।

विना ज्ञान के कोई भी उत्तम अधिष्ठाता नहीं हो सकता, अतएव दूसरा विशेषण 'सर्वज्ञ' दिया गया है, अर्थात् वह सबको सब दशा में जानता है। अभिप्राय यह है कि उसका ज्ञान देश काल वस्तु के व्यवधान से रहित है, इस लिए वह अन्तर्यामी है। यहाँ उक्त कथन का तात्पर्य यह निकला कि जो सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है, जिससे ये सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जीते हैं, और अन्त में उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं, उस सर्वोच्च शक्ति ब्रह्म को जानकर जिज्ञासु को अमृतत्व प्राप्त करने का सर्वदा निरन्तर यत्न करते रहना चाहिए ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

भावार्थ—वह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है न अन्तर्बहिरूप उभयतःप्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। विवेकी मनुष्य उस तुरीय को ऐसा मानते हैं कि वह न देखने योग्य, न व्यवहार के योग्य, न इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य, न लिङ्गरूप, न चिन्ता करने योग्य, न शब्द से कहने योग्य, जाग्रदादि चारों अवस्थाओं में एक, प्रपञ्च का उपशम, शान्त याने राग द्वेषादि रहित, शिव—कल्याणस्वरूप और अद्वैतरूप है। वही आत्मा है, और साक्षात् जानने योग्य भी वही है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—स्वप्नावस्था के अधिष्ठाता को नहीं, जाग्रत् अवस्था के अधिष्ठाता को नहीं, इन दोनों के बीच की अवस्था के अधिष्ठाता को नहीं, सुषुप्ति अवस्था के अधिष्ठाता प्रज्ञानघन को नहीं, और द्वैतभाव के ज्ञान से युक्त प्राज्ञ को नहीं, किन्तु जो देखने में नहीं आ सकता, जो विषय न होने के कारण व्यवहार में नहीं आ सकता, अतएव जो कर्मेन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता, जिसका अनुमान नहीं हो सकता, अतएव जो अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है, एकात्मप्रत्ययसार है अर्थात् जाग्रदादि सकल अवस्थाओं में 'एक यह आत्मा ही है' ऐसे विश्वास का विषय है, जो रूप, रस आदि विषयों से परे है, जो रागद्वेष आदि से रहित शान्त है, जो मंगलरूप है और जो निर्विशेष अद्वितीय चेतनपद से कहा जाता है, उसको ही

ज्ञानी पुरुष तीनों पादों की अपेक्षा से कल्पना किए हुआ चौथा पाद मानते हैं। वह ही सबका आत्मा है और मुमुक्षुजनों को चाहिए कि उसको ही आत्मस्वरूप जानें॥७॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में शब्द का साक्षात् अविषय होने से निषेधमुख से इस तुरीय आत्मारूप चतुर्थपाद का निरूपण किया गया है। जैसे—यह तुरीय आत्मा विश्व नहीं है, तैजस नहीं है, प्राज्ञ नहीं है, और जाग्रत् स्वप्नावस्था की मध्यावस्था भी नहीं है, सुषुप्ति अवस्था नहीं, एक काल में सब विषयों का ज्ञाता नहीं, निर्विशेष होने से ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं, इसी से क्रियारहित है, कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं, स्वतन्त्र अनुमान का विषय नहीं, बुद्धि का विषय नहीं, और शब्द का विषय नहीं है। यदि यह बात है तो आत्मा शशविषाण, वन्ध्यापुत्रवत् कोई शून्य पदार्थ होगा, ऐसी शङ्का होने पर उत्तर यह है कि 'यह आत्मा अवस्थात्रय में अनुगत होकर प्रकाश करता है' ऐसी युक्ति से जानने योग्य है जिससे शून्यता की प्राप्ति नहीं हो सकती। फर यह भी बात है कि तुरीय आत्मा अपनी सिद्धि में आप ही प्रमाण है, इससे भी शून्यत्व की शङ्का नहीं रह जाती। तुरीय आत्मा में सब प्रपञ्च का अभाव है, वह निर्विकार है, शुद्ध परमानन्द बोधरूप है, भेदकल्पना से रहित है, और तीन पादों से विलक्षण है। इसी से इस आत्मा को चतुर्थ कहते हैं अर्थात् सब की अपेक्षा से यह तुरीय कहा जाता है। वास्तव में बात तो यह है कि उक्त तीनों पाद आत्मा से भिन्न हैं नहीं, अतः इस आत्मा को जो तुरीय कहा गया है वह केवल उपदेश के लिए ही है। इस प्रकार सर्व कल्पना से रहित तुरीय आत्मा को ही विवेकी पुरुष आत्मारूप से मानते हैं, भिन्न रूप से नहीं। ऐसा आत्मा सर्व कल्पना का अधिष्ठान तुरीय ही मुमुक्षु को जानने योग्य है, इसके जानने से मुमुक्षु कृतकृत्य भाव को प्राप्त हो जाता है॥ ७॥

अब तक जिस ओंकाररूप चतुष्पाद आत्मा का अभिधेय—वाच्यार्थ की प्रधानता से वर्णन किया है, उसके विषय में कहते हैं कि—

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति॥ ८॥

भावार्थ—जो चतुष्पादवाला आत्मा है वही यह ओंकार अक्षर में स्थित है। वह ओंकार मात्रा में स्थित है, वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं, अतः मात्रा ही पाद हैं और पाद ही मात्रा हैं॥ ८॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह ऊपर वर्णन किया हुआ चार पादवाला आत्मा ही 'ओम्' इस अक्षर से कथन किया गया है, और वह ओंकार ही आगे कही जानेवाली मात्राओं पर अधिकार किये हुए है। आत्मा के जो पाद कह आये हैं, वे ही ओंकार की मात्रा हैं, और ओंकार की अकार, उकार तथा मकार ये मात्रा ही आत्मा के पाद हैं ॥ ८ ॥

विशेष—इस मन्त्र में विश्व आदिक पादों का अकार आदि मात्राओं से अभेद वर्णन किया गया है। पूर्व चतुष्पादरूप से निरूपण किया हुआ आत्मा ओंकाररूप है। उसकी तीन मात्रायें हैं, उन में पहली अकार है, दूसरी उकार है और तीसरी मकार है। यहाँ पाद और मात्राओं की समानाधिकरणता दिखलायी गयी है, अर्थात् जैसे पाद मिलकर अभिधेय को सिद्ध करते हैं वैसे ही मात्रायें मिलकर अभिधान को निष्पन्न करती हैं। अब शङ्का यह होती है कि पाद चार बताये गये हैं और मात्रायें तीन, फिर इनका समानाधिकरण कैसे होगा ? उत्तर यह है कि चतुर्थ पाद जिसको तुरीय कहा गया है वह तो अमात्र है। अतः समानाधिकरणता में कोई बाधा नहीं है ॥ ८ ॥

अकारादि मात्राओं की पादरूपता का विभाग कहते हैं, यथा—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥

भावार्थ—व्याप्ति और प्रथम होने के कारण जाग्रत् जिसका स्थान है, वह वैश्वानर ओंकार की पहली मात्रा अकार है। जो प्रथम मात्रा का उपासक निश्चय करके इस प्रकार अकार और वैश्वानर के अभेद को जानता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, और वह श्रेष्ठ पुरुषों में प्रधान गिना जाता है ॥ ९ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जाग्रत् अवस्था का अभिमानी विश्वरूप पुरुष अकाररूप पहली मात्रा है, जैसे अकार से सब वाणी व्याप्त है, वैसे ही विश्वरूप वैश्वानर से सम्पूर्ण विश्व व्याप्त हो रहा है और जैसे अकार सब वर्णों का आदि है वैसे ही वैश्वानर सब पादों का आदि है। इस समता के कारण ही अकार और वैश्वानर की एकता है। जो इस तत्त्व को जानता है, वह ओंकार के द्वारा आत्मतत्त्व की उपासना करता हुआ सकल इच्छित पदार्थों को पाता है, और महान् पुरुषों में प्रथम गिनने योग्य होता है ॥ ९ ॥

विशेष—इस मन्त्र में जिस मात्रा से आत्मा के जिस पाद का अभेद है, वह कहा गया है। जैसे जाग्रत् अवस्थावाले विश्व से अभिन्न वैश्वानर है, सो प्रथम अकारमात्रारूप है। प्रकृत मन्त्र में अभेदसंपादक तुल्य धर्मों का वर्णन किया गया है। जैसे सर्वप्रपञ्च में विराट् व्यापक है, वैसे ही सब वाक् रूप में अकार भी व्यापक है और जैसे आत्मा के पादों में प्रथम पाद विराट् है, वैसे ही ओंकार की मात्राओं में प्रथम मात्रा अकार है। ऐसी ही व्यापकता तथा प्रथमतारूप दो समान धर्मों से दोनों की एकता है। बस इनका अभेद चिन्तन करनेवाला मुमुक्षु अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

भावार्थ—उत्कृष्ट और अकार मकार के मध्य में स्थित होने के कारण स्वप्न जिसका स्थान है, वह तैजस ओंकार की द्वितीय मात्रा उकार है। जो उपासक उकार और तैजस की एकता को जानता है वह अपनी ज्ञानपरम्परा की वृद्धि करता है तथा शत्रु मित्रादिकों के प्रति समान होता है, और उसके कुल में कोई पुरुष ऐसा नहीं होता जो ब्रह्मज्ञान से हीन हो, ब्रह्मवेत्ता न हो ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—स्वप्नावस्थावाला जो तैजस है, सो द्वितीय उकारमात्रारूप है। उत्कृष्टता तथा द्वितीयता ये दोनों समान धर्म दोनों में विद्यमान हैं। तैजसरूप द्वितीय पाद में तथा उकाररूप द्वितीय मात्रा में समान धर्म उत्कृष्टता तथा द्वितीयतारूप जानकर जो पुरुष दोनों का अभेद चिन्तन करता है, वह अत्यन्त ज्ञान की वृद्धि को प्राप्त करता है। और वह शत्रु मित्र में समानतारूप फल को प्राप्त होता है। उस ध्याता पुरुष के वंश में कोई भी अज्ञानी पुत्रादिक नहीं होने पाता ॥ १० ॥

विशेष—स्वप्न स्थानवाला तैजससंज्ञक दूसरा पाद ओंकार की दूसरी मात्रा उकार है। जैसे उकार उत्कृष्ट है, और अकार मकार दोनों के बीच में है, वैसे ही तैजस पाद विश्व पाद की अपेक्षा सूक्ष्म होने से उत्कृष्ट है, और विश्व तथा प्राज्ञ दोनों के मध्य में भी है, अतः दोनों की समानाधिकरणता है। यद्यपि सब वर्णों में पहला, और व्याप्त होने से वास्तव में अकार उत्कृष्ट है, तथापि अकार से अव्यवहितोत्तर

उच्चरित होने के कारण राजा के अनन्तर मन्त्री के सदृश उकार में भी औपचारिक उत्कृष्टता है। इस प्रकार जो विद्वान् दूसरे पाद और दूसरी मात्रा की एकता को जानता है, वह उत्कर्ष की महिमा से स्वबुद्धि की वृद्धि करता है, जैसा मित्र का, वैसा ही शत्रुपक्ष का भी प्रिय होता है, और उसके कुल में कोई मूर्ख तथा नास्तिक नहीं होता ॥ १० ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

भावार्थ—जिसका सुषुप्ति स्थान है, वह प्राज्ञ मान और लय के कारण ओंकार की तीसरी मात्रा मकार है। जो उपासक ऐसा जानता है, वह इस सारे संसार को माप लेता है। अर्थात् इसका यथार्थ स्वरूप जान लेता है तथा अपीति याने जगत् का कारणरूप हो जाता है ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ तीसरी मात्रा मकार है, इसका कारण परिमाण और एकीभाव है। अर्थात् सुषुप्ति के समय वैश्वानर और तैजस प्राज्ञ में प्रवेश करते हैं तथा जाग्रत् अवस्था में उसमें से बाहर निकल आते हैं। इस प्रवेश करने और निकलने के द्वारा प्राज्ञ मानो वैश्वानर और तैजस का परिमाण करता है। वैसे ही ओंकार के उच्चारण के अन्त में अकार और उकार मकार में प्रवेश करते हैं, और उच्चारण के आरम्भ में फिर बाहर निकल आते हैं। यहाँ भी परिमाण करने की समता है। तथा जैसे सुषुप्ति में वैश्वानर और तैजस प्राज्ञ में एकीभूत हो जाते हैं, इस तुल्यता से भी प्राज्ञ और मकार की एकता है। जो ऐसा जानता है, वह निश्चय ही इस सब जगत् को यथार्थ रूप से जानता है, और जगत् के कारण के साथ एकीभूत हो जाता है ॥ ११ ॥

विशेष—यहाँ पर वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थ महात्माओं के मुखारविन्द से हमने यह सुना है कि "ओम्" यह वाचक पद है, इसमें अ, उ, म, ये तीन मात्रायें हैं, इनमें अकार से आप्ति-व्याप्ति, उकार से उत्कर्ष और मकार से मिति-मान-माप अर्थ वाच्य में लिया गया है। ओम् वाचक शब्द जैसा गुण वाच्य में आरोपित किया जाता है, वही वाचक के अकारादि अवयवों में भी वर्णरूप से प्रतीत होता है। जैसे 'मिति' में 'म' आदि, 'उत्कर्ष' में 'उ' तथा 'आप्ति' में 'अ'। इन तीनों अक्षरों से ओम् बनता है, यही वाच्य वाचक की एकता है। बात यह है कि अकार से सब में व्याप्त,

सबको नियमपूर्वक अपने अपने कर्मों में चलानेवाले, उकार से मध्यस्थ होनेवाले, उत्कृष्ट, अवान्तर प्रलयदशा में रहनेवाले, और मकार से सबके प्रमाणकर्ता, ज्ञानस्वरूप वाच्य ईश्वर का ग्रहण है। इस प्रकार इन मन्त्रों से उपासनाप्रसङ्ग में वाच्य वाचक की एकता दिखाई गयी है। जो साधक इस एकता को जानता है वह सब कुछ जानता हुआ अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

अङ्गों की उपासना को कहकर अब प्रधान उपासना को कहते हैं—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥ १२ ॥

भावार्थ—मात्रारहित, तुरीय, मन और वाणी से अगम्य, सकारण प्रपञ्च का नाशक, कल्याणस्वरूप, द्वैतशून्य; इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। जो उपासक उसे इस प्रकार जानता है, वह स्वतः अपने आत्मा ही में प्रवेश कर जाता है ॥ १२॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो चेतन अध्यस्त त्रिमात्रावाला ओंकार के साथ अभेद रूप से प्रतीत होता है, वही यहाँ ओंकार से विवक्षित है। उस ओंकाररूप चेतन की परब्रह्म के साथ एकता होती है। इस तरह मात्राकल्पना से रहित ओंकार का वास्तव अमात्र रूप है, उस अमात्र का तुरीय से अभेद है, वह अमात्ररूप तुरीय क्रिया से रहित है, प्रपञ्च के सम्बन्ध से शून्य है, आनन्दरूप है, और सर्व भेदकल्पना से रहित है। इस प्रकार जाननेवाला अधिकारी अपने आप अपने पारमार्थिक स्वरूप में प्रवेश करता है, अज्ञान के निवृत्त होने से पुनः जन्म मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। यह कृतार्थता ओंकार के ध्यान का ही परिणाम है ॥ १२ ॥

विशेष—इस प्रकरण में विश्व का अकार से अभेद, तैजस का उकार से अभेद तथा प्राज्ञ का मकार से अभेद, इस प्रकार अभेद का निरूपण करके फिर अभेदत्रितय चिन्तन के जो भिन्न भिन्न फल निरूपण किये हैं, वे प्रधान ओंकार के ध्यान के लिए ही किये हैं। इससे ओंकारध्यान का स्तुतिरूप होने से यह कथन अर्थवादरूप है ऐसा जानना। भगवती श्रुति का भिन्न भिन्न फल निरूपण में तात्पर्य नहीं है किन्तु प्रधान ओंकारध्यान के फल प्रतिपादन में ही अभिप्राय है। अन्यथा उपासना की अनेकता प्राप्त हो जायगी। निष्कर्ष यह है कि केवल ओंकार का ध्यान ही श्रुति से विवक्षित है ॥ १२ ॥

१—ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ १ ॥

ओङ्कारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रश्चान्यवीर्यजः ॥ २ ॥

इत्यादि बहुत से वचनों से आकरग्रन्थों में ओंकार का वर्णन किया गया है। ओंकार पितृरूप है, उसको जाने बिना ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं हो सकता। योगमार्ग की उपासना, सभी प्रकार के पुण्यतम कर्मसमूह, जैसे—दान, यज्ञ, तप, स्वाध्याय, जप, ध्यान, सन्ध्योपासना, प्राणायाम, दैव पित्र्य मन्त्रोचारण, ब्रह्मारम्भादि सब कर्म, शुभ कार्य; इनके आरम्भ परिसमाप्ति में जिसके स्मरण किये बिना याने 'ओं तत् सत्' कहे बिना किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती, ऐसा वह ओंकार परमेश्वर का सब से बड़ा नाम है। ऋग्वेद में जिसको स्वरितोदात्त एकाक्षर कहा है, यजुर्वेद में सर्वोदात्त एकाक्षर, सामवेद में दीर्घोदात्त एकाक्षर और अथर्ववेद में संक्षिप्तोदात्त एकाक्षर कहा है, वह सर्वोत्कर्षेण वर्तमान ओंकार ही है।

२—जो ब्रह्म को जानने की इच्छा करनेवाले हैं वे ओंकार का अवलम्बन करें, यह श्रेष्ठ अवलम्बन है। ओंकार ही पर ब्रह्म है, ओंकार में नर, पशु, पक्षी, स्थावर, जङ्गम, चराचर, आकाश, पृथिवी आदि की कल्पना की गयी है, इसे महात्मा लोग प्रत्यक्ष करके दिखा सकते हैं। राजपुत्र सत्यकाम के प्रश्न के उत्तर में जो पर अपर ब्रह्मस्वरूपों का उपपादन किया है, वे दोनों ओंकारस्वरूप ही हैं। वहाँ अकार, उकार, मकार, इन में से एक एक मात्रा के ध्यान के फल का वर्णन किया गया है। मात्रात्रयसमष्टिरूप ओंकार की उपासना करने के फल का तो कहना ही क्या है? यह ओंकार सभी मन्त्रों के आदि में उच्चारण किया जाता है। ओंकार महामन्त्र से चराचर जगत कैसे उत्पन्न हुआ है और वह यावन्मात्र पदार्थों में ओत प्रोत हो कैसे व्याप्त हो रहा है; इसका महत्त्व समझने के लिए महात्माओं के सत्संग का आश्रय लेना चाहिए। जैसे हमने उनकी कृपा से इस विषय में कुछ जाना है, वैसे ही जो चाहे जान सकता है।

३—वास्तव में 'ओम्' शब्द ऐसा व्यापक है कि उसका प्रत्येक धर्मावलम्बी के मत में, चाहे वह सनातनी हो, आर्य हो, जैन, बौद्ध, क्रिश्चियन तथा यवन आदि हो, महत्त्व प्रकट किया गया है। यही नहीं, वृद्ध, बालक, यहाँ तक कि पशु पक्षी भी इस ओंकार के उच्चारण से रिक्त नहीं हैं। क्योंकि यह ओम् अनायास बिना उच्चारणशिक्षा के ही दैवसिद्ध उच्चरित होता है। अर्थात् उदरस्थान से उत्थित वायु से ओष्ठों के भली भाँति खुल जाने पर जिह्वामूल से निकली हुई जो ध्वनि होती है, वह 'अ' होती है, यह ध्वनि श्वास के साथ मुख से निकलती रहती है, जब इस

ध्वनि को करते हुए ओष्ठ बन्द होना चाहते हैं, तब यह ध्वनि 'उ' होकर सुनाई देती है। यह ध्वनि भी मुख से बाहर श्वास के साथ जाती रहती है, और जब इस ध्वनि को करते हुए ओष्ठ बन्द होते हैं तो यह ध्वनि 'म' होकर सुनाई पड़ती है।

४—इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति ओम् से ही हुई है, ओम् में ही विश्व स्थित है, और ओम् में ही लीन हो जाता है। सब से परे परात्पर ब्रह्म है, वेदों में उसे 'ओम्' नाम से कहा गया है। जिज्ञासु को चाहिए कि ध्यान करते समय सब से पहले दीर्घ प्रणव की ओम् ध्वनि तीन बार करे, अथवा छै बार या बारह बार उच्च स्वर से करे। जैसे करतलतालध्वनि खेतों से पक्षिओं को उड़ा देती है, उसी तरह ओंकार की गर्जना मन से संसार की सभी बातों को खदेड़ भगाती है, फिर निष्कण्टकावस्था में खूब ध्यान लगता है।

५—ओंकार ही ब्रह्म का मुख्य नाम है, ऐसा और कोई भी नाम अथवा ध्वनि नहीं है जो इस प्रकार आकाशवत् सर्वव्यापी और परिपूर्ण होकर सत्यस्वरूप ब्रह्म का वाचक हो। इसकी विशेषता का रहस्य जानना हो तो एकान्त में एक घंटा प्रणव का जप कीजिए, फिर दूसरे घंटे में किसी और नाम का। अनन्तर आपको स्वसंवेद्यरूप से प्रतीत हो जायगा। ओंकार की महिमा, देवताओं और मनुष्यों को कौन कहे? सहस्रोंमुखी शेष और प्रणवरूप शिव की शक्ति पार्वती भी इस तारक मन्त्र ओम् का गुणानुवाद करती हुई थक जाती हैं। वेदान्ती संन्यासी महात्माओं के ईशविनय, स्तुति अथवा प्रार्थना के समय भगवान् को प्रेमपूर्वक पुकारने का एकमात्र सहारा ओम् ही है। यह सर्वत्र निर्भय विचरनेवाले संन्यासियों का रक्षाकवच है। अथवा क्षुधा, तृषा की कुछ परवाह न करते हुए इतस्ततः परिव्रजन करनेवाले संतों का यह ओम् पाथेय है—राह खर्च है। जिस स्थान पर विद्वान् ब्राह्मण तथा ब्रह्मवेत्ता संन्यासियों का अहर्निश वेदान्तचिन्तन होता हो, ऐसे मठ का त्रिमात्रिक ओम् तिरङ्गा झंडा है।

६—यह ओंकार परमहंस महात्माओं को अति प्रिय है। जो बहिर्मुख हैं और रागद्वेष्यादि दोषों से दूषित अन्तःकरणवाले हैं, उनका इस ओंकार के ध्यान में अधिकार नहीं है। राग द्वेषादि दोषों से रहित जिन अन्तर्मुख पुरुषों की भोगों में कामना नहीं है, उनको इस जन्म में ही ओंकार के ध्यान से ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिन पुरुषों की परलोक के भोगों में कामना तो है परन्तु उसको रोककर वे गुरुमुख से ओंकार के उपदेश को सुनकर उसका ध्यान करते हैं, उस प्रतिबन्धक के वश से उन्हें ज्ञान तो होता नहीं, किन्तु देवयानमार्ग से ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं। वहाँ गया हुआ ऐसा

उपासक ईश्वर के समान सत्य संकल्पवाला हो जाता है। परन्तु उस उपासक में जगत् की उत्पत्ति इत्यादि करने की शक्ति नहीं होती, वह तो ईश्वर ही में है। हाँ यह बात है कि वह उपासक उस लोक में ही ज्ञान को प्राप्त हो जाता है, और प्रलय काल में जब ब्रह्मलोक का नाश होता है तब हिरण्यगर्भ के साथ ही वह उपासक विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। और यदि ओंकार के ध्याता पुरुष की इस लोक के भोगों में कामना रही हो, तो इस लोक में जो शुद्ध कुलवाले धनाढ्य हैं, उनके घर में वह योगभ्रष्ट उत्पन्न होता है। इस जन्म में अनेक प्रकार के भोगों को भोगकर वैराग्य को प्राप्त हुआ वह ओंकार के ध्यान में अथवा श्रवणादिकों में प्रवृत्त होकर ज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है। ओंकार का ध्यान करनेवाले पुरुष की जब इस लोक के अथवा परलोक के भोगों में कामना नहीं रहती, कोई प्रारब्ध कर्मरूप भावी प्रतिबन्ध ही रहता है तो उस ध्याता पुरुष का द्वितीय जन्म योगी तथा ज्ञानी पुरुषों के कुल में होता है। उस द्वितीय जन्म में अभ्यास वैराग्यादि साधनों को सम्पादन करता हुआ वह ज्ञानप्राप्ति द्वारा मोक्ष को प्राप्त हो जाता है॥ १२॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इस प्रकार यह माण्डूक्य उपनिषद् पर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज
द्वारा विरचित विद्याविनोद भाष्य समाप्त हुआ।





ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

तैत्तिरीयोपनिषद्

विद्याविनोद भाष्यसहित

शीक्षावल्ली, प्रथम अनुवाक

इस तैत्तिरीयोपनिषद् में कठादि उपनिषदों की तरह इतिहासपूर्वक व्याख्यान नहीं है, तो भी तीसरी भृगुवल्ली में किसी प्रकार इतिहास आ गया है। क्योंकि उस वल्ली में भृगु ऋषि पूछनेवाले और उनके पिता उपदेष्टा हैं। इस उपनिषद् में तीन वल्ली हैं, इनमें प्रथम वल्ली शिक्षाध्यायरूप है और द्वितीय तृतीय वल्लियों में ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया गया है। बात यह है कि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए गुरु की कृपा और चित्त की एकाग्रता की परम आवश्यकता है, इसीलिए पहले शिक्षा-वल्ली का कथन किया गया है। इसमें शिष्य का शिष्टाचार तथा आचार्य का सदुप-देश एवं उपासना का कथन इसलिए किया गया है कि जिससे साधक शिक्षावल्ली में उक्त उपासना आदि का आश्रय लेकर औपनिषद सिद्धान्त को हृदयङ्गम करने में समर्थ हो सके।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक के सप्तम अष्टम नवम प्रपाठकों का नाम तैत्तिरीयोपनिषद् है, इसमें जो सातवाँ प्रपाठक है उसे ही (शी) शिक्षावल्ली और सांहिती उपनिषद् भी कहते हैं, तथा अष्टम एवं नवम प्रपाठक को ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली कहते हैं। ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली में ब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तक वरुण हैं, इसी से इन दोनों वल्लियों को वारुणी विद्या अथवा वारुणी उपनिषद् भी कहते हैं। इसका दशम प्रपाठक नारायणोपनिषद् एवं याज्ञिकी उपनिषद् कहा गया है।

कहते हैं कि ब्रह्मचर्यादि व्रत धारण करते हुए याज्ञवल्क्यादि विद्यार्थी व्यासजी के शिष्य वैशम्पायन ऋषि से यजुर्वेदीय शाखा के एक भेदरूप तैत्तिरीयोपनिषद् अर्थात्

यजुर्वेद का अध्ययन करते थे। किसी निमित्त से वैशम्पायन ऋषि को ब्रह्महत्या लग गयी, उसके निवारण के लिए उन्होंने याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त अन्य अल्प अवस्थावाले अपने विद्यार्थियों को नियमाचरण का उपदेश दिया, अर्थात् अपनी ब्रह्म-हत्या निवारण के लिए शिष्यों को प्रायश्चित्तरूप कठिन कर्म करने को कहा। यह सुनकर प्रौढवयवाले उत्तम अधिकारी याज्ञवल्क्य ऋषि ने गुरु से प्रार्थना की—हे भगवन् ! यह कठिन प्रकार का नियमाचरण इन बालक विद्यार्थियों से होना अशक्य है, और मैं परिपक्व आयुवाला तथा शरीर से भी दृढ हूँ, अतएव मैं अकेला ही इस नियमाचरण को करके आपकी ब्रह्महत्या निवारण का यत्न करूँगा, मुझे आज्ञा दीजिए। ब्रह्महत्या के पाप के कारण मलिनबुद्धि गुरु ने शिष्य के विनम्र वचनों को अहंकारयुक्त समझकर कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं मानता हूँ कि तू बड़ा गर्विष्ठ है, तूने ब्राह्मणों के बालक विद्यार्थियों का अपमान किया है, अतएव तू मुझसे अध्य-यन की हुई विद्या का त्याग कर दे। यदि तू ऐसा न करेगा तो तुझे मैं शीघ्र ही मर जाने का शाप दूँगा।

इस प्रकार गुरु वैशम्पायन के अत्यन्त क्रोधपूर्ण शाप के भय से शिष्य याज्ञवल्क्य ने अध्ययन की हुई वेदविद्या को गजक्रियावत् योगबल से वमन करके त्याग दिया। उस समय याज्ञवल्क्य द्वारा वमन की हुई विद्या को अन्य कई एक ब्राह्मणबालक विद्यार्थियों ने अपने गुरु की आज्ञा से तित्तिरि पक्षी बनकर ग्रहण कर लिया। तब से उस विद्या का नाम 'तैत्तिरीय विद्या' हुआ और जिन ब्राह्मणों ने उस विद्या को धारण किया था, आज तक उनके वंश के लोग तैत्तिरीय शाखावाले कहे जाते हैं। एवं तैत्तिरीय शाखा का यह उपनिषद् भी तैत्तिरीयोपनिषद् कहा जाता है।

यह मालूम नहीं है कि यह उपाख्यान कहाँ का है, किन्तु हम इसे विद्वान् ब्राह्मणों तथा वेदान्ती महात्माओं से बराबर सुनते चले आ रहे हैं। इस उपाख्यान में परममाननीय महर्षि वैशम्पायन को क्रोधाविष्ट करके अति तुच्छ दिखाया गया, इससे ऋषि की अप्रतिष्ठा होती है। ऐसे उपाख्यान का ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध करना उचित नहीं प्रतीत होता है। अतः यहाँ यह कहना ठीक होगा कि तित्तिरि किसी ऋषि का नाम था, उनके द्वारा कही गयी विद्या तैत्तिरीय नाम से प्रसिद्ध हुई। उस विद्या का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ भी तैत्तिरीयोपनिषद् कहा गया। यहाँ उपनिषद् शब्द की निरुक्ति भाष्यकार श्री शङ्कराचार्यजी ने इस प्रकार की है—मुमुक्षु पुरुष के गर्भ, जन्म और जरा आदि का उच्छेदन करने या उनका नाश करने के

कारण उपनिषद् शब्द से विद्या ही कही गयी है, अथवा ब्रह्म के समीप ले जानेवाली होने से, या इसमें परम श्रेय ब्रह्म उपस्थित है, इस लिए यह विद्या उपनिषद् है। इस विद्या के ही लिए होने के कारण ग्रन्थ भी उपनिषद् कहा जाता है। प्रत्येक ग्रन्थ की प्रवृत्ति के अङ्गभूत अनुबन्धचतुष्टय होते हैं, वे यहाँ ये हैं—मानान्तर से अनधिगत ब्रह्म यहाँ विषय है, ब्रह्मविद्या द्वारा मुक्ति प्रयोजन है, साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी और प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है।

अन्तःकरण की शुद्धि बिना ब्रह्मविद्या की प्राप्ति असम्भव है, अतः पहले अन्तःकरण की शुद्धि के लिए शिक्षा कही जाती है। उसमें भी नाना प्रकार के विघ्नों की आपत्ति है, अतः उनकी निवृत्ति के लिए सबसे पहले शान्ति करनेवाले मन्त्र का उच्चारण करते हैं, यथा—

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥ नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ १॥

भावार्थ—प्राणवृत्ति और दिन का अभिमानी देवता मित्र-सूर्य हम लोगों को कल्याणकारी हो। अपानवृत्ति और रात्रि का अभिमानी देवता वरुण हमारा कल्याण करे। चक्षु और आदित्य का अभिमानी देवता अर्यमा हमको शुभदायक हो। बल का अभिमानी देवता इन्द्र, वाणी तथा बुद्धि का अभिमानी देवता बृहस्पति हमारा कल्याणकारी हो। और चरणों को बढ़ाकर रखनेवाला विष्णु देवता हमारा मङ्गल करे। ब्रह्मरूप वायु के लिए नमस्कार हो। हे वायो! तुम्हारे लिए नमस्कार है। तुम ही इन्द्रियों के गोचर प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। तुम्हीं को ऋत-शास्त्रोक्त निश्चित अर्थ कहूँगा, और तुम्हीं को सत्य कहूँगा। क्योंकि वाक् और शरीर से सम्पन्न होनेवाले कार्य भी तुम्हारे ही अधीन हैं, अतः तुम विद्यादान के द्वारा मेरी रक्षा करो, तथा ब्रह्म का निरूपण करनेवाले आचार्य की भी रक्षा करो अर्थात् उन्हें वक्तृत्व सामर्थ्य दो। मेरी रक्षा करो और वक्ता की रक्षा करो। तीनों प्रकार के तापों की शान्ति हो॥ १॥

विद्याविनोद भाष्य—सांसारिक पदार्थ विनाशी हैं इसे सभी लोग जानते हैं, फिर भी उनकी रक्षा करने का पूर्ण यत्न करते हैं। जैसे-एक दिन मकान अवश्य गिर पड़ेगा, तो भी मरम्मत आदि करके उसे अधिक स्थायी बनाने का यत्न किया जाता है। और बात तो क्या कहें, इस शरीर का भी एक दिन अवश्य पतन हो जायगा, तत्रापि खान, पान, औषध, शीतोष्ण आदि अनेक उपायों से उसकी रक्षा की जाती है, और करनी भी चाहिए। अपने उपयोग में आनेवाली वस्तुओं की रक्षा करना बुद्धिमत्ता की बात है। जब कि सांसारिक पदार्थों की रक्षा और उनमें आनेवाले विघ्नों की निवृत्ति का उपाय मनुष्य बराबर किया करता है तो जन्म मरणादि दुःखों से सदा के लिए छुड़ा देनेवाली ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में आनेवाले विघ्नों की निवृत्ति के लिए तो प्रबल यत्न करना ही होगा।

प्रकृत मन्त्र में मित्र, वरुण आदि भव्य विभूतियों का इसी लिए स्मरण किया गया है कि जिससे ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के विघ्नों का अत्यन्ताभाव हो जाय। इस मन्त्र में वायु को ब्रह्म कहा गया है, इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवायु के रहते ही ब्रह्मविद्या का चिन्तन किया जा सकता है, याने अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण आत्मज्ञान के प्रति अधिक अन्तरङ्ग है। इस मन्त्र में अपनी और साथ ही आचार्य की रक्षा की प्रार्थना की गयी है, वह इस लिए कि अधिकारी का ब्रह्मविद्याभ्यास निरन्तर होता रहे ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में ब्रह्मविद्याविषयक विघ्ननिवृत्त्यर्थ अधिकारी ने देवताओं को बार बार नमस्कार किया है, इसका और शान्ति की तीन बार आवृत्ति का तात्पर्य आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक तापों की निवृत्ति के लिए है। अर्थात् ज्वरादिक आध्यात्मिक, चौर व्याघ्र आदि उपद्रव आधिभौतिक और यक्ष राक्षस आदि उपद्रव आधिदैविक; ये तीनों ब्रह्मविद्या के इच्छुक अधिकारी को कदापि प्राप्त न हों, इस लिए शान्ति इस शब्द को भी तीन बार कहा गया है ॥ १ ॥

अथ द्वितीय अनुवाक

इस प्रकार प्रथम अनुवाक में कहे हुए मन्त्र के जप से जिसका विघ्न निवृत्त हो गया है; ऐसे पुरुष की अध्ययनकाल में स्वरादिविषयक उदासीनता की निवृत्ति के लिए शिक्षा को कहते हैं, यथा—

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः । स्वरः । मात्रा । बलम् । साम । संतानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥ १ ॥

भावार्थ—अब शिक्षा का स्पष्ट कथन करते हैं। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान ऐसा शिक्षाध्याय कहा गया है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—उपनिषद् अर्थप्रधान है, अर्थात् अर्थज्ञान ही इसमें मुख्य है। इस ग्रन्थ के अध्ययन का प्रयत्न शिथिल न हो जाय इस लिए पहले शिक्षाध्याय आरम्भ किया जाता है। अर्थात् स्वर, मात्रा आदि के उच्चारण का प्रयत्न शिथिल न हो जाय इस लिए शिक्षा का उपदेश किया गया है। जिस करके शिक्षा करते हैं, ऐसा जो वर्ण आदिकों के उच्चारण का लक्षण (शास्त्र), उसको शिक्षा कहते हैं। अकारादि वर्ण, उदात्त आदि कण्ठ की ध्वनिरूप स्वर, ह्रस्व दीर्घ प्लुत-रूप मात्रा, शब्दों के उच्चारण में प्रयत्नरूप बल अर्थात् एक ही नियम से उच्चारण करना, मध्यम वृत्ति से वर्णों के उच्चारण की समतारूप साम और वर्णों का संयोगरूप संतान; यही विषय इस अध्याय से सीखे जाने योग्य हैं। इस प्रकार शिक्षाध्याय कहा गया। शिक्षा ही यहाँ 'शीक्षा' शब्द से कही गयी है ॥ १ ॥

विशेष—एक शब्दशिक्षा, दूसरी अर्थशिक्षा इन भेदों से शिक्षा दो प्रकार की है। शब्दशिक्षा में वर्ण, स्वर, मात्रा, प्रयत्न, मध्यम-द्रुत-विलम्बित वृत्ति और संहिता अवसानादि के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है। इस में शिक्षा नामक वेदाङ्ग और व्याकरण भी आ जाता है। द्वितीय शिक्षा में गुण कर्म स्व-भावों को शुद्ध करना होता है। यह द्वितीय शिक्षा प्रधान है अतः इसका व्याख्यान इस पुस्तक में आगे करेंगे। इस विषय में हमने महात्मा लोगों से सुना है, लेकिन ग्रन्थविस्तारभय से दिग्दर्शन मात्र कर दिया है ॥ १ ॥

अथ तृतीय अनुवाक

पूर्व में शान्तिमन्त्र से विघ्नशान्ति की प्रार्थना की गयी थी, इस समय शिष्य विद्या और उसके फल के उत्कर्ष की प्रार्थना करता है—

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु ।

अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महास ँ हिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः सन्धिः । वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् ॥ १ ॥

भावार्थ—लोक में हम दोनों गुरुशिष्यों को यश प्राप्त हो, और साथ ही हम दोनों को ब्रह्मतेज प्राप्त हो। अब हम संहिता की उपासना का पाँच अधिकरणों में व्याख्यान करेंगे। अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज, अध्यात्म इन पाँच उपासनाओं को महासंहिता करके आचार्य लोग कहते हैं। अब हम अधिलोक को कहते हैं। पृथिवी पूर्व रूप है, स्वर्ग उत्तर रूप है, आकाश संधि है, वायु सन्धान है। इस प्रकार यह अधिलोक कहा गया ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—अब विद्या और उसके फल की उत्कर्षता के लिए शिष्य प्रार्थना करता है,—हम शिष्य और गुरु को विद्या के प्रताप से प्रकट हुई कीर्ति साथ साथ प्राप्त हो, और हम दोनों के मुख की कान्ति साथ ही साथ ब्रह्मतेज से युक्त हो। जिन पुरुषों की बुद्धि शास्त्राध्ययन द्वारा परिमार्जित हो गयी है, वे भी परमार्थ तत्त्व को समझने में सहसा समर्थ नहीं होते। इस लिए अब हम संहिता-वेद की उपनिषद्-उपासना की पाँच ज्ञानाश्रयों में व्याख्या करेंगे। अधिलोकम्=लोकसंबन्धी उपासना, अधिज्यौतिषम्=ज्योतिषसंबन्धी उपासना, अधिप्रजम्=प्रजासंबन्धी उपासना, अधिविद्यम्=विद्यासंबन्धी उपासना, अध्यात्मम्=आत्मसंबन्धी उपासना; ये ही पाँच अधिकरण हैं। पण्डित लोग इन्हें महासंहिता कहते हैं।

अब लोकसंबन्धी उपासना का वर्णन किया जाता है—संहिता का प्रथम वर्ण पृथिवी है, अन्तिम वर्ण स्वर्ग लोक है, मध्यभाग आकाश है और वायु उनका परस्पर सम्बन्ध करानेवाला है ॥ १ ॥

विशेष—पहले जो पाँच उपासनाओं का वर्णन किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण लोकों के अभिमानी देवताओं की जो ध्यानकरनारूप उपासना है, उसको 'अधिलोकोपासना', सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिर्मण्डली के अभिमानी देवताओं की ध्यानरूप उपासना को 'अधिज्योतिष', विद्या के साथ संबन्ध रखनेवाले आचार्य अथवा विद्या के अभिमानी देवताओं की ध्यानरूप उपासना को

'अधिविद्य', संतानसंबन्धी पितरों की ध्यानरूप अथवा पितृदेवताओं की ध्यानरूप उपासना को 'अधिप्रज', और भोक्ता के आश्रय से बर्तनेवाले जिह्वा आदि के अभिमानी देवताओं की ध्यानरूप उपासना 'अध्यात्म' याने देहसंबन्धी उपासना कही गयी है। इन्हीं उपासनाओं को वेदवेत्ता महासंहिता कहते हैं ॥ १ ॥

महासंहिता के पहले अवयव को कहकर अब दूसरे अवयव का कथन करते हैं, यथा—

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम् ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि पूर्व रूप है, सूर्य उत्तर रूप है, जल सन्धि है, बिजली दोनों को मिलानेवाली है। इस प्रकार ज्योतिषसंबन्धी उपासना का वर्णन किया गया है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—महासंहिता का पूर्व भाग अग्नि है, याने पहले अग्नि का ध्यान करे, फिर सूर्य जो उत्तर भाग है उसका ध्यान करे। पुनः दोनों भागों का सन्धिरूप जो जल है, उस जल का ध्यान करे। उन दोनों को मिलानेवाली जो बिजली है, फिर उसका ध्यान करे। इस प्रकार अधिज्योतिःविषयक उपासना कही गयी है ॥ २ ॥

विशेष—अग्नि पूर्व रूप है, अर्थात् पहले पार्थिवाग्नि से जल सूक्ष्म होकर सूर्यलोक के अभिमुख जाता है, फिर सूर्य पृथिवी पर वर्षाता है, उसके बाद अग्नि और सूर्य जल में सन्धि को प्राप्त करते हैं, और बिजली जल में अग्नि और सूर्य इन दोनों के सम्बन्ध को करानेवाली है ॥ २ ॥

अब तृतीय अवयव को कहते हैं, यथा—

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनꣳ संधानम्। इत्यधिविद्यम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—आचार्य पूर्व रूप है, छात्र उत्तर रूप है, विद्या संधि है, प्रवचन अर्थात् ग्रन्थाध्ययन आचार्य और छात्र इन दोनों में संबन्ध स्थापित करनेवाला है। इस प्रकार विद्यासंबन्धी उपासना का वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—संहिता का पूर्व रूप आचार्य है, अर्थात् प्रथम आचार्य का ध्यान करे, और शिष्य संहिता का उत्तर रूप है, इसलिए महासंहिता के उत्तर भाग में शिष्य दृष्टि करे। और विद्या का प्रतिपादक जो ग्रन्थ है वह संधि है, अतः दोनों भागों की संधि में विद्या का ध्यान करे। ग्रन्थ का जो अध्ययन है, वह सन्धान-स्वरूप है, उसमें भी शिष्य ध्यान करे। इस तरह विद्याविषयक उपासना का वर्णन किया गया है॥ ३॥

विशेष—विद्या अध्ययन का विषय है, शालग्राम शिला में विष्णुबुद्धि करके जैसे उपासना की जाती है, उस प्रकार यहाँ विद्या के विषय में उपासना संभव नहीं। लोक में कोई भी ग्रन्थों की उपासना नहीं करता, प्रत्युत उनका अध्ययन करता है। ऐसी शङ्का पर कहना चाहिए कि प्रकृत मन्त्र में 'विद्या के सतत अध्ययन करने में प्रमाद करना उचित नहीं' इस तत्त्व को दृढता से बोधन करने के लिए ही विद्या-विषयक उपासना का वर्णन किया गया है। इस संहिता में आचार्य, छात्र, विद्या आदि का उपासनारूप से संमान सूचन किया गया है॥ ३॥

अब संहिता के चतुर्थ अवयव को कहते हैं, यथा—

अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा सन्धिः। प्रजननꣳ संधानम्। इत्यधिप्रजम्॥ ४॥

भावार्थ—अब प्रजाविषयक उपासना कही जाती है—माता पूर्व रूप है, प्रजा सन्धि है, और सन्तानोत्पत्ति संधान अर्थात् संहितारूप है। इस तरह प्रजा-संबन्धी उपासना का वर्णन किया गया है॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—अब संतानसम्बन्धी उपासना को कहते हैं—माता-जननी पूर्व रूप अर्थात् पूर्व वर्ण है, अर्थात् संहिता के पूर्व वर्ण में मातृदृष्टि करनी चाहिए। पिता—जनयिता उत्तर वर्ण है, अतः उत्तर वर्ण में पितृदृष्टि करनी चाहिए। प्रजा अर्थात् पुत्र पौत्रादिरूपा सन्तति संधि है, इसलिए पूर्वोक्त संधि में प्रजादृष्टि करनी चाहिए। और प्रजनन अर्थात् संतान की उत्पत्ति संधान—संहितारूप है, इससे पूर्वोक्त संधान में प्रजननदृष्टि करनी चाहिए। इस तरह प्रजाविषयक उपासना कही गयी॥ ४॥

विशेष—पुत्र पौत्रादि सन्तानोत्पत्ति के विषय का परिज्ञान यह है कि सन्तानों की उत्पत्ति में माता मूल या मुख्य कारण है। क्योंकि माता अपने अङ्गों में

भ्रूण-गर्भ को सुरक्षित रखती हुई अपने आहार से पुष्ट करती है, और बहुत काल तक स्वयं कष्ट पाकर भी सन्तान के संरक्षण तथा अभिवर्धन में आयु का अधिकांश व्यतीत कर देती है। पिता द्वितीय साधन या ऊपरवाला भाग है, ऊपरवाले भाग का अभिप्राय यह है कि पिता बाह्य साधनों से माता का रक्षणावेक्षण करता है, तथा अपने शरीर के सर्वोत्तम रत्न को सन्ततिसृष्टि के लिए उत्सर्ग कर देता है। सन्तानों की उत्पत्ति होना माता पिता दोनों के अंश—सम्बन्ध अथवा प्रीति के एकत्र होने में कारण है। यही प्रजाविषयक ज्ञान है ॥ ४ ॥

अब पञ्चम अवयव को कहते हैं, यथा—

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम् ॥५॥

भावार्थ—अब देहसम्बन्धी ध्यान को कहते हैं कि नीचे का ओष्ठ पूर्व रूप है, ऊपर का ओष्ठ उत्तर रूप है, वाणी संधि है याने संयोगस्थान है, और जिह्वा मिलानेवाली है। इस प्रकार अध्यात्मोपासना कही गयी है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—संघातविषयक उपासना की व्यवस्था इस प्रकार जाननी चाहिए—जैसे मुख में दो भाग हैं, एक नासिका की ओर ऊपर और दूसरा नीचे ठोडी की ओर। इन दोनों भागों के मेल से अन्न का चबाना और वर्णों का उच्चारण आदि होता है। इन में नीचे का भाग पूर्व रूप है, और ऊपर का भाग नीचे की अपेक्षा गौण साधन है। वाक् संधि है, याने वाणी के उच्चारण में पूर्व तथा उत्तर भागों का मेल होता है। और जिह्वा इस में हेतु है, क्योंकि मुख के नीचे ऊपरवाले दोनों भाग जिह्वा से मिलते हैं। इस प्रकार वर्णों के उच्चारण में शरीर के बीच में विचार करना चाहिए ॥ ५ ॥

विशेष—यहाँ आत्मा शब्द से संघात लिया गया है, याने शरीर का ग्रहण किया गया है। पूर्व वर्ण नीचे का ओष्ठ है, अर्थात् संहिता के पूर्व वर्ण में अधर ओष्ठ की दृष्टि करनी चाहिए। इसी तरह उत्तर वर्ण में भी उत्तरहनु की दृष्टि करनी चाहिए। वाक् शब्द से कण्ठताल्वादि स्थानगत वागिन्द्रिय सन्धि कही गयी है, अर्थात् पूर्वोक्त संधि में वाग्दृष्टि, और पूर्वोक्त संधान में जिह्वादृष्टि करनी चाहिए। इस प्रकार अध्यात्म याने संघातविषयक उपासना कही गयी है ॥ ५ ॥

संहिता के अवयवों का जो पहले प्रतिपादन किया गया है, उसका उपसंहार करते हैं, यथा—

इतीमा महासꣳहिताः । य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥ ६ ॥

भावार्थ—इन सबको ही महासंहिता कहते हैं। इस प्रकार व्याख्या की हुई महासंहिताओं को जो पुरुष इस रीति से जानता है, अथवा इनकी उपासना करता है, वह संतान, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न आदि और स्वर्गलोक को पाता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—शास्त्रानुसार समान प्रत्यय के प्रवाह का नाम उपासना है, वह प्रवाह विजातीय प्रत्ययों से रहित तथा शास्त्रोक्त आलम्बन को आश्रय करनेवाला होना चाहिए। ऐसी ही उपासना सफल होती है। अतएव इस महासंहिता के सम्बन्ध में भी जो पुरुष इस प्रकार उपासना करता है, वह इस मन्त्र में कहे हुए पुत्र पौत्रादि, सुख के हेतु गौ अश्व आदि पशु, ब्रह्मतेज, खाने योग्य अन्न और स्वर्गलोक से संयुक्त होता है। अर्थात् उसको किसी भी सुखसामग्री की कमी नहीं रहती ॥ ६ ॥

विशेष—जो मनुष्य लोकविषयक सम्बन्ध आदि को ठीक ठीक जानकर उनका यथायोग्य उपयोग करता है, अर्थात् अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म को, याने आचार्य-शिष्य और माता-पिता के सम्बन्ध से होनेवाले कार्य को पूरा करता है, वह आजन्म सब प्रकार के संसारी सुखों का भोग करके मरने के पश्चात् अत्यन्त परमार्थ सुख का भागी होता है। वर्णों के सामीप्य का नाम संहिता है, पूर्वोत्तर वर्णों के संयोग को सन्धि कहते हैं, और जिस प्रयत्न से सन्धि होती है, उसको संधान कहते हैं ॥ ६ ॥

——❀❀❀——

अथ चतुर्थ अनुवाक

जो लोग मेधा—धारणारूप बुद्धि से रहित हैं, वे अच्छे अच्छे ग्रन्थों के तत्त्वार्थ सुनकर भूल जाते हैं। उनको ब्रह्मविद्या की प्राप्ति असम्भव है, अतः उनकी मेधा की सिद्धि के लिए इस समय प्रणवजप के मन्त्रों को कहते हैं, यथा—

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव

धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय ॥ १ ॥

भावार्थ—जो वेदों में श्रेष्ठ है, जो सम्पूर्ण वाक्यों में व्याप्त होने से सर्वरूप है और अमरत्व के साधक वेदों से उत्पन्न हुआ है, वह सम्पूर्ण वैभवों का अध्यक्ष ओंकार मुझे बुद्धि प्रदान करके प्रसन्न और बलवान् करे। हे देव! उस बुद्धि को प्राप्त करके मैं अमृतभाव के हेतुभूत ब्रह्मज्ञान का धारण करनेवाला होऊँ। मेरा शरीर ब्रह्मज्ञान को धारण करने में समर्थ हो। मेरी जिह्वा अति मधुर बोलनेवाली हो। मैं कानों से खूब श्रवण करूँ। हे ओंकार! आप ब्रह्म की म्यान हैं, और लौकिक बुद्धि से ढके हुए हैं। मेरे सुने हुए आत्मज्ञान आदि की रक्षा करो ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—सम्पूर्ण विद्याओं में वेद श्रेष्ठ हैं, और उनमें प्रधान होने के कारण ओंकार सर्वश्रेष्ठ है, इस लिए अधिकारी ओंकाररूप परमेश्वर के समक्ष प्रार्थना करता है कि हे ओंकार! आप सर्वोपरि हैं, तथा सम्पूर्ण वाणी में व्याप्त होने के कारण विश्वरूप हैं अर्थात् सर्वमय हैं। छन्द अर्थात् वेद ही अमृत है, उस अमृत से ओंकार प्रधान रूप से उत्पन्न हुआ है। तात्पर्य यह है कि लोक, देव, वेद और व्याहृतियों से सर्वोत्कृष्ट सार ग्रहण करने की इच्छा से तप करते हुए प्रजापति को ओंकार ही सर्वोत्तम साररूप से भासित हुआ था। क्योंकि नित्य ओंकार की साक्षात् उत्पत्ति की कल्पना हो नहीं सकती। इस प्रकार का वह ओंकाररूप इन्द्र याने सम्पूर्ण कामनाओं का स्वामी परमेश्वर मुझे मेधा प्रदान करके प्रसन्न करे। अथवा "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" अर्थात् दुबल को आत्मज्ञान नहीं हो सकता, इस लिए मुझे सबल करे। इस रीति से यहाँ बुद्धि बल के लिए प्रार्थना की जाती है। आगे रोगादि के नाश का हेतु मन्त्रांश कहा जाता है कि—हे ओंकार! मेरा शरीर रोगरहित होकर सर्व कार्य के लिए योग्य बना रहे। मेरी जीभ कभी भी किसी के लिए कटु शब्दों का प्रयोग न कर सके, याने वह अत्यन्त मधुरभाषिणी हो। मैं कानों से सदुपदेश सुनने में बड़ा भारी श्रोता हो जाऊँ। इस कथन का भाव यह है कि मेरा शरीर और इन्द्रियसंघात आत्मज्ञान के योग्य हों। हे ओंकार! तुम ब्रह्म के कोश हो। जैसे कोश में खड्ग की प्रतीति होती है वैसे ही ब्रह्म की प्राप्ति ओंकार के चिन्तन से होती है। बाह्य वृत्तिवाले लोग

बाह्य घटादिकों की तरह ओंकार को नहीं जान सकते। हे भगवन् ! जो आत्मज्ञान मैं श्रवण करता हूँ, उसकी आप रक्षा करो। कहने का मतलब यह है कि मुझको आत्मज्ञान की विस्मृति न हो ॥ १ ॥

विशेष—मुमुक्षुओं के जप के लिए इस प्रकृत मन्त्र का निरूपण किया गया है, अर्थात् यह मन्त्र बुद्धि की कामनावालों के निमित्त जप करने के लिए कहा गया है। साधकों को परमेश्वर से मेधा आदि सर्वोत्तम वस्तुओं की प्रार्थना करनी चाहिए, और यह भी उचित है कि साधक उनकी प्राप्ति के लिए यथाशक्ति पूर्ण उद्योग करे। शरीर की नीरोगता, भाषण का संयम और सदुपदेश श्रवण आदि कर्मों के अनुष्ठान का उद्योग करना तथा उनमें होनेवाले विघ्नों को दूर करने की प्रार्थना सदा शिक्षित पुरुषों को करते रहना चाहिए। मन में बार बार शुभ संकल्पों की आवृत्ति करना मनुष्य को सद्गुणों का पात्र बना देता है ॥ १ ॥

मेधा की कामना के लिए जप के योग्य मन्त्रों का व्याख्यान किया गया, इस समय अन्नादि श्री की सिद्धि के लिए हवन करने के मन्त्रों को कहते हैं, यथा—

आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणाऽचीरमात्मनः। वासा ँ सि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥ २ ॥

भावार्थ—मुझ उपासक के लिए वस्त्र, गौ, अन्न और पान आदि को सदा प्राप्त करानेवाली तथा विस्तार करनेवाली और इनको चिरकाल तक सुलभ करती रहनेवाली जो श्री है, उस लोमवती तथा अन्य पशुओं के सहित विभूति को मेधा की उत्पत्ति के अनन्तर, हे प्रणवस्वरूपेश्वर ! मेरे लिए प्राप्त कर। इसी निमित्त मैं यह आहुति देता हूँ। ब्रह्मचारी लोग मेरे पास आवें—स्वाहा। ब्रह्मचारी मुझसे अलग न हों—स्वाहा। ब्रह्मचारी यथार्थ ज्ञान पावें—स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग इन्द्रियनिग्रह करें—स्वाहा। और ब्रह्मचारी लोग मन का निग्रह करें—स्वाहा। यहाँ स्वाहाकार शब्द होमार्थक मन्त्रों का अन्त सूचित करने के लिए है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ ओंकार से श्री की प्रार्थना की गयी है। ये मन्त्र लक्ष्मीकामी पुरुष को होम के लिए बतलाये गये हैं कि हे परतत्त्वाभिन्न ओंकार! मेरे लिए वस्त्र, गौ और अन्न-पान इन्हें 'आवहन्ती'-लानेवाली, 'वितन्वाना'-विस्तार करनेवाली, 'अचीरम्'—शीघ्र ही, 'आत्मनः' मेरे लिए 'कुर्वाणा'-करनेवाली, 'लोमशा्'-भेड बकरी आदि ऊनवालों के सहित और अन्य पशुओं से युक्त श्री को बुद्धि प्राप्त कराने के अनन्तर तू मेरे पास ला। क्योंकि बुद्धिहीन के लिए तो लक्ष्मी अनर्थ का ही कारण होती है। साधक के लिए श्रीप्रदानार्थ इस द्रव्य की आहुति हो, इस प्रकार के आशय से हवन करने योग्य द्रव्य के प्रक्षेप के लिए यहाँ 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस समय विद्यासम्प्रदायप्रवृत्ति के लिए अर्थात् ब्रह्मविद्या की परम्परा जारी रहने के लिए शिष्यों का सञ्चय करानेवाले हवनप्रतिपादक मन्त्रों को कहते हैं—जैसे १—'आयन्तु' २—'विमायन्तु' ३—'प्रमायन्तु' ४—'दमायन्तु' ५—'शमायन्तु' इत्यादि, ब्रह्मचारी लोग मेरे समीप आवें, 'स्वाहा'—इसी लिए मैं आहुति देता हूँ। ब्रह्मचारी मुझ से अलग न हों, 'स्वाहा'—इस लिए यह आहुति दी गयी है। ब्रह्मचारी यथार्थ ज्ञान पावें, 'स्वाहा'—अतएव मेरा यह आहवनीय द्रव्य समर्पित है। ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय हों, 'स्वाहा'—इसी कारण मैं आहुति देता हूँ और ब्रह्मचारी मन को वश में करें, 'स्वाहा' इसी हेतु से मैं आहुति प्रदानार्थ प्रस्तुत हूँ॥ २॥

विशेष—प्रकृत में श्री की कामना की गयी है, साथ ही यह भी कहा गया है कि साधक को बुद्धि प्राप्ति के अनन्तर ही लक्ष्मी की प्राप्ति हो। क्योंकि निर्बुद्धियों को लोक में श्रीप्राप्ति हो नहीं सकती, यदि दैवात् पुराकृत पुण्यप्रभाव से वह मिल भी जाय तो उसका शीघ्र ही नाश हो जायगा। यही नहीं, बल्कि उस बुद्धिहीन के शरीर का भी पता नहीं लगेगा। यहाँ पर गुरु ने शिष्यों के संग्रह के लिए जो आहुतियाँ दी हैं उनसे ब्रह्मविद्या की परम्परा अक्षुण्ण रखने का उपदेश मिलता है॥२॥

अब कीर्ति प्रदान करनेवाले दो मन्त्रों को कहते हैं, यथा—

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा॥ ३॥

भावार्थ—मैं इस लोक में यशस्वी होऊँ—'स्वाहा'। मैं अतिधनवानों से

भी धनवान् होऊँ—'स्वाहा'। हे भगवन् ! उस ब्रह्मकोशभूत याने ब्रह्म के भण्डार-रूप तुम में मैं प्रवेश करूँ—'स्वाहा'। हे भगवन् ! तुम मुझमें प्रवेश करो—'स्वाहा'। और हे भगवन् ! अनेक भेदवाले तुममें मैं अपने पापाचरणों का शोधन करता हूँ अर्थात् अपने पापकर्मों को धोता हूँ—'स्वाहा' ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे प्रणवाख्य परमेश्वर ! ऐसी कृपा करो कि जिससे मैं सम्पूर्ण जनता में विद्यासम्प्रदायजनित कीर्तिवाला हो जाऊँ। जितने धनवान् हैं उनमें मैं इस लिए अधिक धनी भी होना चाहता हूँ कि अन्य धनियों को धन के सदुपयोग की शिक्षा दे सकूँ, तथा विद्वान् ब्राह्मणों एवं विरक्त महात्माओं की अधिक से अधिक सेवा कर सकूँ, एवं भारतवर्ष की अथच उसके नेताओं की अधिकाधिक सहायता कर सकूँ। अब यशस्वित्व और श्रेयस्त्व हेतु के प्रतिपादक तीन मन्त्रों को कहते हैं, यथा—हे भगवन् ! मैं आप में प्रविष्ट होकर अपने आप को ऐसा सुरक्षित होने की प्रार्थना करता हूँ, जैसे म्यान में तलवार सुरक्षित रहती है। हे भगवन् ! प्रणवरूप आप मुझ उपासक में प्रवेश करें, अर्थात् हम दोनों घुल मिलकर एक हो जायँ। और हे भगवन् ! अनेक मूर्तियों के भेद से युक्त, सहस्र शाखावाले प्रणवरूप तुममें मैं उपासक अपने पापों को धो डालूँ, अर्थात् आपके संपर्क को प्राप्त होकर मैं सम्पूर्ण पापों से छूट जाऊँ ॥ ३ ॥

विशेष—यहाँ पर भग शब्द "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना ॥" इस स्मरण से ऐश्वर्यादि षट् गुणों का वाचक है। प्रकृत मन्त्र में उपासक ने प्रणवरूप ब्रह्म से अपने को विद्वानों और धनवानों में सर्वोच्च होने की प्रार्थना की है। विद्या और धन का एक जगह योग होना कठिन है।। जो धनवान् हो और साथ ही विद्वान् भी हो, ऐसा मनुष्य लोक में अपना तो कल्याण साधन करता ही है, साथ ही अन्य बहुत से लोगों का उद्धार कर सकता है ॥ ३ ॥

जो पहले यह कहा गया है कि "ब्रह्मचारिणो ममायन्तु"—ब्रह्मचारी लोग मेरे पास आवें, इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं, यथा—

यथापः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे जल नीची भूमि की ओर बहता है, जैसे महीने वर्ष में जाते हैं, हे सर्वविधातः ! वैसे ही ब्रह्मचारी सब दिशाओं से आवें—'स्वाहा'। तू शरणागतों का आश्रयस्थान है, अतः मेरे प्रति भासमान हो और मुझे प्राप्त हो॥ ३॥

वि० वि० भाष्य—हे विधातः प्रणव ! जैसे नीचे की तरफ बहना जल का स्वभाव है, और जैसे नियतिवश से वैशाख आदि बारह महीने 'अहर्जरम्' याने संवत्सर को प्राप्त होकर उसमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचारियों की बुद्धि स्वाभाविक रूप से ऐसी हो जाय कि वे स्वयं जहाँ तहाँ से आकर विद्याध्ययन करने में लग जायँ। अर्थात् हे धातः ! मुझ आचार्य के पास सब दिशाओं से शिष्य आ जायँ। तुम थकावट को दूर करनेवाले घर हो, अतः मुझे आचार्यरूप से प्रसिद्ध करो, इसलिए मेरे ऊपर अनुग्रह होना चाहिए॥ ४॥

विशेष—इस मन्त्र में संवत्सर के लिए 'अहर्जर' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि वह 'अहः'—दिनों के रूप में परिवर्तित होता हुआ लोकों को जीर्ण करता है, अथवा उसमें 'अहः'—दिन जीर्ण याने अन्तर्भूत होते हैं। उस संवत्सर में जिस प्रकार से महीने जाते हैं उसी तरह मेरे पास सब ओर से ब्रह्मचारी लोग आवें। श्रमनिवृत्ति के स्थान याने समीपवर्ती गृह को 'प्रतिवेश' कहा जाता है।

ब्रह्मविद्या के प्रकरण में लक्ष्मी आदिकों की कामना करने से ज्ञानप्रकरण का विरोध होता है। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि ये काम्य हैं तो भी इनके पापनिवृत्ति द्वारा ब्रह्मविद्या में उपयोगी होने के कारण ज्ञानप्रकरण से कोई विरोध नहीं होता। अभिप्राय यह है कि इस ज्ञान के प्रकरण में जो लक्ष्मी की कामना कही जाती है, वह धन के लिए है। धन यज्ञादि कर्मों के लिए होता है, और यज्ञादि कर्म संचित हुए पापों के क्षय के लिए हैं। उनके क्षीण होने पर ही ज्ञान का—ब्रह्मविद्या का प्रकाश होता है। जैसा कि यह स्मृति कहती है कि "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् [illegible] पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यन्त्यात्मानमात्मनि॥" अर्थात् जिस प्रकार दर्पण के स्वच्छ हो जाने पर उसमें मुख देखा जा सकता है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तः-करण में याने पापरहित हृदय में आत्मा का साक्षात्कार होता है। इससे यह आया कि पापकर्मों का क्षय हो जाने पर ही पुरुष को ज्ञान होता है॥ ४॥

अथ पञ्चम अनुवाक

तृतीयानुवाक में संहिताविषयक उपासना कही गयी है तथा चतुर्थ अनुवाक में मेधा और श्री की सिद्धि के लिए मन्त्र कहे हैं। इस समय पाँचवें और छठे अनुवाक में प्रधानतया उपास्य रूप से कहा जानेवाला हृदयाकाशस्थ ब्रह्म है। उसके अङ्गभूत देवताओं की उपासना कहने के लिए आरम्भ में उनकी प्रतीकरूप तीन व्याहृतियों को दिखाते हैं, यथा—

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः ॥१॥

भावार्थ—भूः, भुवः, सुवः ये तीन व्याहृतियाँ हैं, इनकी तरह जो चौथी व्याहृति है उसे माहाचमस्य ऋषि ने जाना है। वह चौथी व्याहृति कौन सी है? 'महः' यह है। वही ब्रह्म है, वही आत्मा है। अन्य देवता उसके अवयव हैं। 'भूः' यह व्याहृति यह दृश्यमान लोक है, 'भुवः' अन्तरिक्ष लोक है, और 'सुवः' यह स्वर्गलोक है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—भूः, भुवः, सुवः इन तीन व्याहृतियों की चौथी संख्या को पूर्ण करनेवाली व्याहृति जो महः है, उसे महाचमस ऋषि के पुत्र माहाचमस्य आचार्य ने जाना था। यहाँ माहाचमस्य शब्द का ग्रहण ऋषि के अनुस्मरण के लिए है। ऋषि को याद करना भी उपासना का अङ्ग माना गया है। यह चतुर्थ व्याहृति ब्रह्म-रूप ही है। यह जो शरीर में स्थित आत्मा है, वह भी वही है, और देवता, लोक, वेद, प्राण ये 'महः' इस व्याहृत्यात्मरूप हिरण्यगर्भ के पादादि अवयव हैं। 'भूः' यह व्याहृति प्रसिद्ध प्रत्यक्षगोचर पृथिवीलोक है, 'भुवः' यह अन्तरिक्षलोक है, और 'सुवः' यह शास्त्रप्रसिद्ध द्युलोक है ॥ १ ॥

विशेष—पहले संहितासंबन्धी उपासना का वर्णन किया गया है, इसके बाद मेधा तथा श्री की कामनावाले मन्त्र बतलाये गये हैं। वे भी परम्परा से ज्ञान के उपयोग के लिए ही हैं, यह कहा गया है। उसके पश्चात् प्रकृत में उस व्याहृतिरूप ब्रह्म की आन्तरिक उपासना का आरम्भ किया जा रहा है, जिसका फल स्वाराज्य

है। क्योंकि जिस पुरुष या जाति को भूः, भुवः, सुवः, महः इनकी शक्ति और महत्त्व का ज्ञान नहीं है, वे देश में स्वाराज्य (अपना राज्य) प्राप्त नहीं कर सकते, और दैवात् प्राप्त हुए की रक्षा करना तो संभव ही नहीं। जो लोग स्वाराज्य से आत्मराज्य—आत्मज्ञान का ग्रहण करते हैं, याने उपस्थित वेदान्तप्रकरणानुरोध से स्वाराज्य शब्द का अर्थ ब्रह्मविद्या की प्राप्ति आदि करते हैं, उनसे हमारा कोई मतभेद नहीं। क्योंकि जो आत्मज्ञानी हैं, वे ही निर्भय होकर अपने सब व्यवहार करते हैं, बस वही तो स्वाराज्य है। स्वाराज्य में "अभयं सत्त्वसंशुद्धिः" इत्यादि गीतोक्त दैवी संपत्ति की प्राप्ति होती है।

"व्याह्रियन्ते अनेके अर्थाः याभिः ताः व्याहृतयः, महत्यः व्याहृतयः इति महाव्याहृतयः" अर्थात् जिनके द्वारा अनेक अर्थ प्रकट किये जाते हैं, उन्हें व्याहृति कहते हैं। जैसे भूः आदि शब्दों के वाच्य पृथिव्यादि अर्थों को कहने से भूः आदि का व्याहृति नाम हुआ। क्योंकि लोक वेद में इन्हें अधिक महत्त्व दिया गया है, इस कारण भूः आदि महाव्याहृतियाँ कहाती हैं। यह व्याहृति शब्द का साधारण अर्थ है ॥ १ ॥

मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योती ँषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजू ँषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते॥२॥

भावार्थ—महः यह सूर्य है। सूर्य से ही सम्पूर्ण लोक पूजित अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होते हैं। भूः यही अग्नि है। भुवः यह वायु है। सुवः यह आदित्य है। महः यह चन्द्रमा है। चन्द्रमा से ही सब ज्योतियों की वृद्धि होती है। भूः यही ऋग्वेद है। भुवः सामवेद है। सुवः यजुर्वेद है। महः यह ब्रह्म है। ब्रह्म से ही समस्त वेद वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—महः यह सूर्यलोक है। सर्व लोक सूर्य से ही प्रकाशित होकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं, क्योंकि सूर्य के प्रकाश से ही पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और स्वर्गलोक में प्रकाश फैलता है। उससे प्राणियों को व्यवहार करने की क्षमता प्राप्त होती है, उससे वे स्व स्व कार्यों में वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसी से महः इस व्याहृति की आदित्यरूपता कही गयी है। प्रकृत में पूर्वोक्त चारों व्याहृतियों में

क्रम से लोक, देव, वेद और प्राण इन दृष्टियों का विधान किया गया है। उनमें लोक-दृष्टि तो कह दी गयी, अब देवदृष्टि का विधान किया जाता है—भूः यह व्याहृति अग्नि देवता है। भुवः यह व्याहृति अन्तरिक्ष में स्थित वायु देवता है। सुवः यह व्याहृति सर्वलोकप्रकाशक सूर्य देवता है। महः यह चन्द्र देवता है। चन्द्रमा से अग्नि वायु और आदित्य देवतारूप ज्योतियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं।

अब उन व्याहृतियों में वेददृष्टि का विधान करते हैं—भूः यह व्याहृति पाद-बद्ध मन्त्ररूप ऋग्वेद है। भुवः यह व्याहृति गीतिसहित ऋचारूप सामवेद है। सुवः यह व्याहृति अनियतछन्दात्मक मन्त्ररूप यजुर्वेद है। महः यह व्याहृति ब्रह्म अर्थात् प्रणव है। प्रणव से ही वेद वृद्धि को इस लिए प्राप्त होते हैं, कि प्रणवोच्चारणपूर्वक जो अध्ययन है, वह उसके अधीन है ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत में 'महः व्याहृति ब्रह्म है' ऐसा कहा है। यहाँ ब्रह्म से ओंकार लेना चाहिए, क्योंकि "भूरिति वा ऋचः" यहाँ पर ऋक्, साम आदि वेदावयव-भूत शब्दों के सन्निधान से प्रणवरूप शब्दब्रह्म का ग्रहण करना उचित है। दूसरी बात यह है कि महः इस चौथी व्याहृति में सबसे पहले मुख्य ब्रह्मदृष्टि करना कहा गया है। फिर यहाँ भी महः व्याहृति में ब्रह्मदृष्टि कहने से पुनरुक्त दोष आ जायगा। अतः यहाँ महः व्याहृति का जो ब्रह्म अर्थ कहा गया है, उसका तात्पर्य प्रणव में है॥२॥

उन व्याहृतियों में प्राणादि दृष्टि का विधान करते हैं, यथा—

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ ३ ॥

भावार्थ—भूः यही प्राण है। भुवः अपान है। सुवः व्यान है। और महः [illegible]न है। अन्न से ही सब प्राण वृद्धि को पाते हैं। इस प्रकार भूः, भुवः, सुवः और [illegible]हः ये चारों व्याहृतियाँ हैं, इनमें से प्रत्येक चार चार प्रकार की हैं। जो इन्हें जानता है वह ब्रह्म को जानता है उसे समग्र देवता लोग बलि अर्पण करते हैं॥३॥

वि० वि० भाष्य—भूः यह व्याहृति मुख-नासिका से प्राक् गमनशील वायुरूप प्राण है। भुवः यह व्याहृति अर्वाक् गमनवान् (नीचे की ओर जानेवाला) वायुरूप अपान है। सुवः यह व्याहृति नानाविध गतिशील वायुरूप व्यान है।

और महः यह व्याहृति ब्रीहि यवादिरूप अन्न है। खाये हुए अन्न से ही प्राण, अपान, व्यानरूप सब प्राण तृप्त होते हैं याने बढ़ते हैं। अब जिन व्याहृतियों में लोक, देव, वेद और प्राणों की दृष्टि कही गयी है, उनका उपसंहार करते हैं, जैसे—

भूः भुवः, सुवः और महः इन चारों व्याहृतियों के चारों भेदों को जो जानता है वह ब्रह्म को जानता है। याने उसके द्वारा उस समय षोडश कलावाला पुरुष उपासित हो जाता है और उसको ब्रह्मभावरूप सायुज्य की प्राप्ति होने पर सब देवता अङ्गरूप होकर भेट अर्पण करते हैं॥ ३॥

विशेष—यद्यपि व्याहृति सात हैं तथापि चार को प्रधान मानकर इस पञ्चम अनुवाक में चार का ही व्याख्यान किया गया है। और यह भी बात है कि एक के अधिकांश में चार भाग ही मुख्य होते हैं, जैसे चार वेद, चार उपवेद, चार वर्ण, चार आश्रम, चार युग, चार दिशा, चार उपदिशा, चार अवस्था, मनुष्य के चार भेद और मुद्रा के चार खण्ड आदि। यहाँ चार व्याहृतियों में से एक एक का चार चार पृथिवी-आदि-पदवाच्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध दिखाया है। ऐसा होने पर व्याहृतियों के सोलह भेद हो जाते हैं। पृथिवी, अग्नि, ऋक्, प्राण इन चार के साथ भूः का, अन्तरिक्ष, वायु, यजु, अपान इनके साथ भुवः का, असौ (द्युलोक) आदित्य, सोम, व्यान इनके साथ सुवः का और आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म तथा अन्न इनके साथ महः इस चौथी व्याहृति का सम्बन्ध है। मनुष्य को शिक्षा प्राप्त करते समय व्याहृतियों का अर्थ अच्छी तरह जानना चाहिए॥ ३॥

——❀❀❀——

अथ षष्ठ अनुवाक

पञ्चम अनुवाक में अङ्ग की उपासना कही गयी है, किन्तु छठे में अङ्गी याने ब्रह्म की उपासना कही जाती है। उसमें पहले उपास्य ब्रह्म का स्व[illegible] हैं, यथा—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं [illegible] मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य ए[illegible] स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ॥ १॥

भावार्थ—जो यह हृदय के मध्य में वर्तमान आकाश है, उसमें यह मनोमय अमृतस्वरूप हिरण्मय पुरुष रहता है। दोनों तालुओं के बीच में जो यह थन सा लटकता है, उसमें होकर सुषुम्ना नाडी, जहाँ प्रसिद्ध केशों का मूल भाग विभक्त होकर रहता है अर्थात् जो ब्रह्मरन्ध्र है, उस मूर्धा प्रदेश में मस्तक के कपालों को विदीर्ण करके निकली है। वह नाडी ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग है। ऐसी उपासना करनेवाला पुरुष मरने के समय मूर्धा का भेदन करके भूः इस व्याहृतिरूप अग्नि में स्थित होता है। अर्थात् उक्त व्याहृति के चिन्तन करने से उपासक अग्नि की तरह तेजस्वी और व्यापक हो जाता है। इसी तरह भुवः इस व्याहृति का ध्यान करने से वायु में स्थिति प्राप्त करता है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—प्राण का आश्रय, अनेक नाडीरूप छिद्रयुक्त, ऊँचे नाल और नीचे मुखवाला, कमल के आकार का मांस का पिंड हृदय कहाता है। उसके भीतर के आकाश में, जिससे मनन किया जाता है, उस मन का अभिमानी मरणधर्मरहित प्रकाशमय पुरुष रहता है। हृदय से ऊपर को जानेवाली सुषुम्ना नाडी तालु के मध्य में स्तन के समान लटकते हुए मांस के टुकड़े के बीच में होकर गयी है। जहाँ पर केशों का मूल विभक्त होकर रहता है, वहाँ मस्तक के कपालों को भेद करके वह निकलती है। सुषुम्ना नाडी इन्द्रयोनि, याने ब्रह्म के स्वरूप को पाने का उपाय है। इस प्रकार की उपासना करनेवाला मनुष्य देहान्त के समय भूः इस व्याहृति का चिन्तन करता हुआ अग्निरूप होकर इस लोक को व्याप्त करता है। इसी प्रकार भुवः इस व्याहृति का ध्यान करने से वायु में स्थित होकर महत् पद को प्राप्त होता है॥ १॥

विशेष—भूः, भुवः, सुवः ये अन्य देवता 'महः' इस व्याहृतिरूप हिरण्यगर्भ संज्ञक ब्रह्म के अङ्ग कहे गये हैं। जिसके वे अङ्गभूत हैं उस ब्रह्म की साक्षात् उपलब्धि और उपासना के लिए प्रकृत में हृदयाकाश का स्थान बतलाया गया है, जैसे कि विष्णु के लिए शालग्राम है। उसमें उपासना किये जाने पर ही वह मनोमयत्वादि धर्मविशिष्ट ब्रह्म हथेली पर रखे हुए आमले के समान साक्षात् उपलब्ध होता है। इस के अतिरिक्त सर्वात्मभाव की प्राप्ति के लिए मार्ग भी बतलाना है, इस लिए इस अनुवाक का आरम्भ किया गया है। इस स्थूल शरीर के भीतर हृदय का परिमाण अङ्गुष्ठ मात्र है, उसके भीतर उपाधि का परिच्छेद करके आकाश भी अङ्गुष्ठ परिमाणवाला ही है। उस आकाश के अन्दर जो आत्मा है, घटाकाश की तरह उपाधिपरिच्छिन्न होकर वह भी अङ्गुष्ठ परिमाणवाला

ही कहा जाता है। आत्मा आकाश की तरह व्यापक है, वह हृदयाकाश की तरह हृदय में स्थित है। उसका नाम पुरुष इस लिए है कि उससे भू आदि लोक पूर्ण हो रहे हैं। यद्यपि आत्मा सर्वत्र स्थित है, तो भी हृदय ही उसकी उपलब्धि का स्थान है, मन के निरोध करने से ही उसका साक्षात्कार होता है ॥ १ ॥

सुवरित्यादित्ये । मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः । एतत्ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ॥ २ ॥

भावार्थ—सुवः इस व्याहृति का ध्यान करने से आदित्य में और महः इस व्याहृति की उपासना करने से ब्रह्म में स्थिति हो जाती है। उपासक इस तरह से स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है तथा वह सम्पूर्ण प्राणियों के मनों का भी अधिपति हो जाता है। एवं वह वाणी का पति, नेत्र का पति, श्रोत्र का पति और विज्ञान का पति हो जाता है। यही नहीं, बल्कि इससे भी अधिक हो जाता है। वह उपासक आकाशशरीर, सत्यस्वरूप, मन-आनन्द, शान्तिसंपन्न और अमृतस्वरूप ब्रह्म हो जाता है। हे प्राचीनयोग्य शिष्य ! तू इस प्रकार उस ब्रह्म की उपासना कर ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—उपासक सुवः इत्याकारक तीसरी व्याहृतिरूप आदित्य में और महः इस अङ्गीभूत चतुर्थ व्याहृतिरूप ब्रह्म में आत्मभाव से स्थित हो जाता है। इसके अनन्तर स्वाराज्यभाव को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् अङ्गभूत भूः [illegible] का स्वयं अधिपति हो जाता है। उसे सब प्राणियों के मन का आधिपत्य [illegible] जाता है, क्योंकि सर्वात्मक ब्रह्मरूप विद्वान् सर्वजीवात्मभाववाला होने से सब जीवों के मन का अधिपति हो जाता है। इसी प्रकार वाणियों का पति, चक्षुइन्द्रियों का अधिपति, श्रोत्रेन्द्रियों का अधिपति और सम्पूर्ण प्राणियों की बुद्धि का भी अधिपति याने प्रेरक हो जाता है। जब उपासक समष्टिरूप विराट्भाव को प्राप्त कर लेता है तो उसके बाद उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, फिर वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। पुनः वह 'ततः'—समष्टिरूप विराट्भाव प्राप्ति के अनन्तर, 'एतद्भवति'—वक्ष्यमाण स्वोपास्यस्वरूप ब्रह्म हो जाता है। अच्छा तो यह कहिए कि वह ब्रह्म कैसा है ? उत्तर यह है कि वह 'आकाशशरीरम्'—आकाश की तरह मूर्तिरहित है याने स्वप्रकाशस्वरूप

है, 'सत्यात्म'—सद्रूप है अर्थात् बाधरहित है, याने सर्वजगत्कल्पनाधिष्ठान है। 'प्राणारामम्'—वह वागादि इन्द्रियों का उत्पत्तिस्थान है अथवा प्राणों में—वागादि इन्द्रियों के विषय में रमण करनेवाला है, 'मन-आनन्दम्'—मन को आनन्द देनेवाला है, शान्तस्वरूप और मरणधर्म से रहित है। इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप को कहकर उसकी उपासना का विधान करते हैं कि हे प्राचीनयोग्य ! तुम उस ब्रह्म की उपासना करने के यत्न में लगे रहो ॥ २॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में प्राचीनयोग्य पद आता है, यहाँ कहा गया है कि मनोमयत्व आदि धर्मों से विशिष्ट उपर्युक्त ब्रह्म की, हे प्राचीनयोग्य ! तू उपासना कर। यह आचार्य की उक्ति उपासना के आदर के लिए है। प्राचीनयोग्य नाम के कोई शिष्य हो गये हैं, अथवा प्राचीनयोग्य शब्द से यहाँ किसी ने जीव का भी ग्रहण किया है। जैसे प्राचीन नाम पूर्वकाण्डोक्त कर्म, उनसे जो योग्य हो, अर्थात् क्षीणपाप जीव के प्रति संबोधन करके यह उपदेश दिया गया है। इन व्याहृतियों की उपासना में पहली व्याहृति पाँव हैं, दूसरी हाथ हैं, तीसरी शिर है और चौथी हिरण्यगर्भ ब्रह्म का मध्यभाग आत्मा है। महात्मा लोग यह कहते हैं कि ऐसी कल्पना करनी चाहिए ॥ २ ॥

——❀✱✱——

अथ सप्तम अनुवाक

पूर्व में अतीन्द्रिय मनोमयत्वादि गुणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना कही गयी है, इसके बाद भूः इत्यादि व्याहृतिरूप हिरण्यगर्भ नामक उपास्य ब्रह्म का वर्णन किया गया है। अब इस सप्तम अनुवाक में मन्द अधिकारियों के लिए स्थूल पृथिवी आदिकों की पाङ्क्त स्वरूप करके, याने पञ्चात्मक स्वरूप करके उपासना का विधान करते हैं, यथा—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः। अग्निर्वायु-रादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म माꣳसꣳ स्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय

ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदꣳ सर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳ-स्पृणोतीति ॥ १ ॥

भावार्थ—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशायें, अवान्तर उपदिशायें ये पाँच लोकपञ्चक हैं । अग्नि, वायु. सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पाँच देवपञ्चक हैं । जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा-विराट्रूप ये पाँच भूतपञ्चक हैं । उक्त प्रकार से ये तीनों अधिभूत पञ्चक हैं । इसके बाद तीन अध्यात्मपञ्चक बतलाते हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच वायुपञ्चक है । चक्षु. श्रोत्र, मन, वाक् और त्वचा ये इन्द्रियपञ्चक हैं । चर्म, मांस, नाडी, अस्थि और मज्जा—चर्बी ये धातुपञ्चक हैं । इसको कल्पना करके ऋषि कहता है—निश्चय यह सब पांक्त है—पाँच संख्यावाला है । इस आध्यात्मिक पञ्चक से ही उपासक बाह्य पञ्चक को पूर्ण करता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ पर पांक्तरूप से जो ब्रह्म की उपासना कही गयी है, उसका वर्णन करते हैं—(१) पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्गलोक, पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण रूप चारों दिशा, और अग्नि निर्ऋति वायु ईशान की कोणरूप चारों अवान्तर दिशा; ये सब मिलकर लोक पांक्त हैं । (२) अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र; ये देवता पांक्त हैं । (३) जल, व्रीहि यवादि ओषधि, वृक्षादि वनस्पति, आकाश, और विराट् आत्मा याने जगदात्मा विराट; ये अधिभूत पांक्त हैं । (१) हृदय में स्थित रहनेवाला प्राण, गुदास्थानस्थित अपान, नाभिस्थ समान, कण्ठस्थ उदान और समग्र शरीर में रहनेवाला व्यान; ये वायु पांक्त हैं । (२) चक्षु. श्रोत्र, मन, वाणी, और त्वचा; ये इन्द्रिय पांक्त हैं । (३) चर्म, मांस, नाडी, हड्डी, और मज्जा; ये धातु पांक्त हैं । इन उक्त छै पांक्तों में पहले तीन अधिभूत पांक्त हैं, और दूसरे तीन अध्यात्म पांक्त हैं. याने देहादिसंघात को अधिकार करके वर्तमान हैं । उक्त पृथिव्यादि पञ्चकों के षट्क की कल्पना करके ऋषि—अतिन्द्रिय वेदार्थ के द्रष्टा कोई मुनि यह कहते हैं कि निश्चय करके यह पृथिव्यादि पञ्चक-षट्कोपलक्षित सम्पूर्ण जगत् पांक्त है, याने पंक्तिछन्दसम्बन्धी है । अर्थात् इन अधिभूत और अध्यात्म को लेकर यह सम्पूर्ण जगत् पञ्चात्मक कहा जाता है । इस प्रकार पृथिव्यादिकों में साधक पांक्तोपासना से याने पञ्चात्मकविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करने से विराट् के अभिमानी प्रजापति को प्राप्त हो जाता है ॥ १ ॥

विशेष—यह जो व्याहृतिरूप उपास्य ब्रह्म बतलाया गया है, प्रकृत में

पृथिवी आदि पाङ्क्तरूप से उसी की उपासना का वर्णन किया गया है। यहाँ पाङ्क्त शब्द का क्या अर्थ है ? इस पर कहते हैं—पृथिवी आदि पाँच पाँच संख्या-वाले पदार्थ हैं और पङ्क्ति छन्द भी पाँच पदोंवाला होता है। अत एव पाँच संख्या का योग होने से उन पृथिवी आदि से भी पंक्ति छन्द संपन्न होता है, इसी से उन सब का पाङ्क्तत्व है, अर्थात् पाङ्क्त याने पञ्चक यह अर्थ हुआ। यहाँ आध्यात्मिक पाङ्क्त से ही संख्या में समानता होने के कारण उपासक बाह्य पाङ्क्त को पूरित करता है, अर्थात् उसके साथ एक रूप से उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह सब पाङ्क्त है, जो पुरुष ऐसा जानता है, वह प्रजापतिस्वरूप ही हो जाता है यह तात्पर्य है। यहाँ पर ऋषि शब्द से उक्त दृष्टिसंपन्न किसी मुनि का ग्रहण करना, अथवा 'वेद' यह अर्थ जानना चाहिए ॥ १ ॥



अथ अष्टम अनुवाक

पहले छठे अनुवाक में किञ्चित् सूक्ष्मदर्शी मध्याधिकारी के लिए, मन आदिक उपाधियुक्त ब्रह्म की उपासना कही है। और सप्तम अनुवाक में स्थूलदर्शी मन्द अधिकारी के प्रति पृथिवी आदि-उपाधिक उपासना को कहा है। अब उत्तमाधिकारी के लिए सब उपासनाओं के तथा सब कर्मों के अङ्गभूत ओंकार में ब्रह्मदृष्टि का विधान करते हैं, यथा—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीद ँ सर्वम्। ओमित्येतद-नुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओ ँ शोमिति शस्त्राणि श ँसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ १ ॥

भावार्थ—ओम् यह शब्द ब्रह्म है, ओम् यह सर्वरूप है, ओम् यह अनुकृति है—अनुकरण है, याने सम्मतिसूचक संकेत है, लोक में ऐसी प्रसिद्धि है। 'ओ श्रावय' इस प्रकार प्रेरणापूर्वक याज्ञिक लोग प्रतिश्रवण कराते हैं। 'ओम्' ऐसा कहकर सामगान करनेवाले सामगान करते हैं। 'ओम् शोम्' ऐसा उच्चारण करके शस्त्रों

का पाठ करते हैं, अर्थात् गीतिरहित ऋचाओं को पढ़ते हैं । तथा अध्वर्यु प्रतिगर के प्रति—यजु विशेष के लिए 'ओम्' ऐसा उच्चारण करता है । ब्रह्मा 'ओम्' ऐसा कहकर अनुज्ञा देता है, अर्थात् प्रेरणापूर्वक आश्रवण करता है, वह 'ओम्' ऐसा कहकर अग्निहोत्र के लिए आज्ञा देता है । वेदाध्ययन करने की इच्छा करनेवाला ब्राह्मण 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके 'मैं ब्रह्म को प्राप्त हो जाऊँ' अर्थात् मैं वेद अथवा परब्रह्म को प्राप्त करूँ, ऐसा संकल्प करने से वह ओंकार के द्वारा ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—ओम् यह ब्रह्म है, अर्थ से अभिन्न वाणीमात्र में व्यापक ओंकार सम्पूर्ण जगत्‌रूप है । ओम् यह अनुकरण है अर्थात् 'यह काम करो' ऐसा कहने पर अन्य पुरुष 'ओम्' कहकर उस आज्ञा का पालन करते हैं । 'ओम्' ऐसा कहने पर ऋत्विक् देवताओं को मन्त्र सुनाते हैं । सामवेद के गायक ओम् का उच्चारण करके ही सामगान करते हैं । 'ओम् शोम्' ऐसा उच्चारण करके गीतिरहित ऋचाओं का उच्चारण करते हैं । यजुर्वेदीय ऋत्विक् अध्वर्यु ओम् ऐसा कहकर ही होता के हर एक उच्चारण के पीछे प्रत्युच्चारण करता है । ओम् ऐसा कहकर ही ब्रह्मा प्रेरणा करता है. यजमान ओम् ऐसा उच्चारण करके ही अग्निहोत्र करने की आज्ञा देता है । 'मैं ब्रह्मरूप वेद को पा जाऊँ' ऐसा मन में विचार कर ब्राह्मण अध्ययन के निमित्त मन्त्र का उच्चारण करता हुआ पहले ओंकार का उच्चारण करता है, ऐसा करने से वह वेदवेत्ता हो जाता है । इस कारण ओंकार को ब्रह्मरूप मानकर उपासना करनी चाहिए ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में 'ह' 'स्म' और 'वै' ये निपात प्रसिद्धि के सूचक हैं तथा 'अपि' शब्द वक्ष्यमाण उदाहरणों के समुच्चय के लिए है । प्रत्येक शुभ कर्म के आरम्भ में ओंकार का उच्चारण करना चाहिए । कोई महात्मा ऐसा भी कहते हैं कि इस मन्त्र के अन्त में "ओं दश" यह अधिक पाठ है, इसको लेकर इस मन्त्र में दस ओंकारों का वर्णन किया गया है । यद्यपि सम्पूर्ण जगत् में ओंकार ही व्याप रहा है तथापि मुख्यतः यहाँ दस ही तक उनकी संख्या मानी है । इस अनुवाक में दो बातों का मुख्यतया वर्णन है, एक तो ओम् शब्द द्वारा परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए, और द्वितीय सभी कर्मों का आरम्भ ओम् शब्द का उच्चारण करके करना चाहिए ॥ १ ॥

——✻✻✻——

अथ नवम अनुवाक

"विज्ञान से ऐसा ही स्वाराज्य प्राप्त होता है" ऐसा छठे अनुवाक में कहे जाने के कारण 'श्रौत और स्मार्त कर्म व्यर्थ हैं' ऐसी शङ्का होती है। उस शङ्का के निवृत्यर्थ पुरुषार्थ के प्रति कर्मों का साधनत्व प्रदर्शित करने लिए उनका उल्लेख किया जाता है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥१॥

भावार्थ—ऋत—मन से यथार्थ विचार करना, और वेद को पढ़ना पढ़ाना भी चाहिए। सत्य—वाणी से यथार्थ भाषण करना और पढ़ते पढ़ाते भी रहना चाहिए। तपश्चर्या और अध्ययन अध्यापन भी, दमन करना और वेद का पढ़ना पढ़ाना भी, मन में शान्ति करना और अध्ययन अध्यापन भी, अग्न्याध्यान करना और पढ़ना पढ़ाना भी, अग्निहोत्र करना और स्वाध्याय प्रवचन भी, अतिथिसत्कार करना और अध्ययन अध्यापन भी, लौकिक व्यवहार करना और पढ़ना पढ़ाना भी, प्रजा के लिए यत्न करना और पढ़ना पढ़ाना भी, गर्भाधान करना और पढ़ना पढ़ाना भी, एवं पुत्रादि का विवाह और स्वाध्याय प्रवचन भी करते रहना चाहिए। रथीतर का पुत्र सत्यवचा ऐसा मानता है कि सत्य ही अनुष्ठान करने योग्य है। पुरुशिष्टगोत्रीय तपोनित्य ऋषि केवल तपस्या ही करना मानते हैं और मुद्गल के पुत्र नाक ऋषि के मत में केवल वेद का अध्ययन और अध्यापन करना चाहिए। क्योंकि वे ही तप हैं, वे ही तप हैं॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—शास्त्रानुसार कर्तव्यतया निश्चित जो अर्थ है उसको

ऋत कहते हैं, अर्थात् वेद के सूक्ष्म अर्थ का जो निश्चय करना है वही ऋत शब्द से कहा गया है। अध्ययन किये हुए वेद का प्रतिदिन यथाशक्ति पाठ करने का नाम स्वाध्याय है। उस स्वाध्याय का व्याख्यान करना अथवा वेद का पढ़ाना यह प्रवचन कहाता है। अभिप्राय यह है कि ऋत के साथ वेद का अध्ययन और अध्यापन अवश्य होते रहना चाहिए। इसी तरह सत्य के साथ भी अध्ययनाध्यापन का अनुष्ठान होना चाहिये। पहले शास्त्र से निश्चित किये हुए अर्थ का जो वाणी से उच्चारण करना है उसे सत्य कहते हैं। कृच्छ्र चान्द्रायणादि अथवा भोगत्यागरूप जो तप है उसके अनुष्ठान के साथ बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियों के निषिद्ध विषयों से निवृत्तिरूप दम के साथ; निषिद्धानुचिन्तन से मन का निवर्तनरूप जो शम है, उसके साथ; गार्हपत्य, आहवनीय आदि अग्नियों में हवन के साथ; आहिताग्नि द्वारा सायं प्रातः जो हवन किया जाता है, उसे अग्निहोत्र कहते हैं, उसके साथ; यदा कदाचित् घर में आये अतिथिरूप ब्राह्मण महात्मा आदिकों के सत्कार के साथ; जैसे श्रौत स्मार्त कर्म होते हैं, उसी तरह शिष्टाचारानुरोध से जो विवाह आदि उत्सवों में वस्त्रादिपूजन होता है उसके साथ; पुत्रोत्पत्तिविषयक गर्भाधान आदि संस्कारों के साथ; पुत्रोत्पत्ति के लिए ऋतुकाल में भार्यागमन के साथ; पौत्र आदि के लिए पुत्रादिकों के विवाह के साथ; अर्थात् सभी सांसारिक व्यवहारों के साथ साथ वेदों का पढ़ना और पढ़ाना अवश्य होता रहना चाहिए। इसी कारण प्रकृत में हर एक कर्म के साथ "स्वाध्यायप्रवचने" याने अध्ययनाध्यापन कहा है। अध्ययन किये बिना अर्थज्ञान नहीं हो सकता, इसी से परम श्रेय की प्राप्ति होती है। अर्थ के ज्ञान और धर्म की वृद्धि के लिए आदरार्थ यहाँ बार बार "स्वाध्यायप्रवचने" का अभ्यास किया गया है (बार बार पढ़ने को अभ्यास कहते हैं)।

उक्त सब कर्मों में सत्य, तप, स्वाध्याय और प्रवचन इन चारों के प्रशस्त याने मुख्य होने के कारण इनमें से प्रत्येक की अवश्यकर्तव्यता को मतभेद से कहते हैं, जैसे—रथीतरगोत्रीय, जो सदा सत्य ही बोलता है, उस सत्यवचा आचार्य का कथन है कि सदा सत्य का ही अनुष्ठान करना चाहिए। क्योंकि सत्य ही सब कुछ है। पुरुशिष्ट का अपत्य जो नियमपूर्वक सदा तपश्चर्या करने में ही प्रवृत्त रहता है, ऐसा तपोनित्य ऋषि 'सदा तप का ही अनुष्ठान करना योग्य है' यह कहता है। मुद्गल वंशोत्पन्न आचार्य नाक स्वाध्याय प्रवचन से सन्तुष्ट हुए कहते हैं कि वेद का अध्ययन और अध्यापन ही सर्वोत्तम कार्य है। स्वाध्याय प्रवचन ही तप हैं अतएव वे अनुष्ठान करने योग्य हैं॥ १॥

विशेष—विचारशील पुरुष को ऋत, सत्य, तप, दम, शम, अग्नि, अग्निहोत्र, अतिथि, मानुष, प्रजा, प्रजनन और प्रजातिरूप कर्मों का यथावत् सेवन करना चाहिए। यदि उक्त प्रत्येक कर्मों के साथ पढ़ने और पढ़ाने का व्यवहार न होगा तो उनकी सफलता में सन्देह बना रहेगा। जो लोग नियमपूर्वक पढ़ने पढ़ाने का अभ्यास नहीं रखते, वे नीरोगता, ऋण रहित होना, प्रियों के निकट वास, श्रेष्ठ पुरुषों से मेल, लोक में विश्वास और निर्भय स्थान में निवास आदि सुखों को प्राप्त नहीं कर सकते। विद्वान् ही निर्भय पद में विचरा करते हैं ॥ १ ॥

——❀❀❀——

अथ दशम अनुवाक

पहले स्वाध्याय आदि ब्रह्मयज्ञ को उत्तम तप कहा गया है, किन्तु इस समय बुद्धि के मान्द्य आदि दोष से जो वेद नहीं पढ़ सकते, ऐसे श्रद्धालु अधिकारियों को भी स्वाध्यायरूप ब्रह्मयज्ञ के फल की सिद्धि के लिए तत्स्थानापन्न मन्त्र को कहते हैं—

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविण ँ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥ १ ॥

भावार्थ—मैं संसाररूप वृक्ष का उच्छेदकरूप से प्रेरक हूँ। मेरी कीर्ति पर्वत के शिखर के समान ऊँची है। मेरा कारण पवित्र ब्रह्म है। सूर्य में जैसे अमृत है, उसी प्रकार मैं शुद्ध अमृतमय हूँ। मैं प्रकाशमय आत्मस्वरूप धन हूँ। मेरी बुद्धि शुद्ध है, मैं अमरणधर्मी हूँ, और मैं अविनाशी हूँ। अथवा मैं अमृत से भीगा हुआ हूँ। यह त्रिशङ्कु ऋषि का वेदानुवचन है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—मैं अन्तर्यामीरूप से वृक्ष अर्थात् उच्छेदनीय संसाररूप वृक्ष का प्रेरक हूँ, अथवा विषयवैराग्यरूप शस्त्र से उसे काटनेवाला हूँ। संसारवृक्ष के कट जाने पर मेरी कीर्ति पर्वत के ऊँचे भाग की तरह अत्यन्त उन्नत याने सब से बढ़कर हो गयी है, अर्थात् मेरा मोक्षविषयक यश अत्यन्त उन्नत होता हुआ देवलोक में भी फैल गया है। इसलिए देवता भी मेरे पुरुषार्थ की हानि करने में समर्थ नहीं हो सकते। ज्ञान से प्रकाशित होने योग्य पवित्र परब्रह्म जिस मुझ सर्वात्मा का ऊर्ध्व याने कारण है, वह मैं ऊर्ध्व—पवित्र हूँ, अथवा उत्कृष्ट शुद्धिवाला हूँ। अन्न से युक्त

सूर्य के समान—बहुत सी श्रुति स्मृतियों में यह प्रसिद्ध है कि सूर्य में विशुद्ध अमृत याने आत्मतत्त्व है, उसी प्रकार मैं भी सु अमृत अर्थात् शोभन—विशुद्ध आत्मतत्त्व हूँ। मधुविद्या में सूर्य की अन्नवत्ता प्रसिद्ध है। धनी लोगों के पास रत्नादि धन होते हैं, किन्तु ब्रह्मवेत्ताओं का आत्मतत्त्व ही धन है.—अब यह कहते हैं— वही मैं आत्म-तत्त्व 'सुवर्चस्'—दीप्तिशाली द्रविण याने धन हूँ, अथवा आत्मतत्त्व का प्रकाशक होने से तेजस्वी ब्रह्मज्ञान, जो मोक्षसुख का हेतु होने के कारण धन के समान धन है, वह मुझे प्राप्त हो गया है। मैं अच्छी बुद्धिवाला हूँ अर्थात् ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थ और उनका अर्थ धारण करने की शक्ति मेरी बुद्धि में है। मैं मरणधर्म से रहित हूँ और मुझ में कोई विकार नहीं हो सकता, अथवा मैं अमृत से—स्वरूपानन्दानुभव से, उक्षित—सिंचा हुआ याने व्याप्त हूँ। इस प्रकार के वाक्य त्रिशङ्कु नामक ऋषि के हैं, अर्थात् आत्मज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर वामदेव की तरह अपनी कृतकृत्यता प्रकट करने के लिए त्रिशङ्कु ऋषि ने ये वचन कहे हैं॥ १॥

विशेष—यह ब्रह्मभूत ब्रह्मवेत्ता त्रिशङ्कु ऋषि का 'वेदानुवचन' है,—यहाँ वेद नाम वेदन अर्थात् आत्मैकत्वविज्ञान को कहते हैं, उसकी प्राप्ति के अनु—पीछे का जो वचन है, वह वेदानुवचन कहलाता है। अभिप्राय यह है कि अपनी कृतकृत्यता प्रकट करने के लिए वामदेव के समान त्रिशङ्कु ऋषि द्वारा आर्ष दृष्टि से देखा हुआ यह मन्त्राम्नाय आत्मविद्या का प्रकाश करनेवाला है। अर्थात् "अहं वृक्षस्य रेरिवा' आदि मन्त्राम्नाय स्वाध्याय के लिए है. (यहाँ स्वाध्याय का अर्थ जप है) याने जप के लिए है। स्वध्याय विद्या याने ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बतलाया गया है; यह प्रकरण से ज्ञात होता है। क्योंकि यह प्रकरण विद्या के लिए ही है, इसके अतिरिक्त उसका कोई और प्रयोजन नहीं जान पड़ता। क्योंकि स्वाध्याय के द्वारा जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, उसी को विद्या की उत्पत्ति होनी संभव है।

इस मन्त्र का त्रिशङ्कु ऋषि है, पङ्क्ति छन्द है, परमात्मा देवता है, ब्रह्म-विद्या के प्राप्त्यर्थ इसके जप का विनियोग है। इसका जप विद्या की उत्पत्ति के लिए माना जाता है। "ऋतञ्च" इत्यादि अनुवाक में धर्म का उल्लेख करने के अनन्तर वेदानुवचन का पाठ करने से यह जाना जाता है कि इस प्रकार श्रौत और स्मार्त नित्य कर्मों में लगे हुए, परब्रह्म के निष्काम जिज्ञासु के प्रति आत्मा आदि से संबन्धित आर्ष दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ करता है। हमने महात्माओं से ऐसी आख्यायिका सुनी है कि पहले आर्यावर्त देश में एक त्रिशंकु नाम का राजा हुआ है, उसने सम्पूर्ण वेद पढ़ा था। वेद का मुख्य आशय जानकर उसने कहा कि मनुष्य को पहले

ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या व शिक्षा से युक्त उत्तम बुद्धि और शरीरसम्बन्धी बल को प्राप्त करके धर्मात्मतापूर्वक धनादि का उपार्जन करना चाहिए। तदनन्तर मनुष्य हृदय से शुद्ध और प्रतापी होकर परोपकारसंबन्धी अनेक शुभ कर्मों के सेवन से जगत् में अपनी शुभ अचल कीर्ति को स्थापित करे ॥ १ ॥

———❀❀❀———

अथ एकादश अनुवाक

केवल कर्म भी विविदिषा उत्पादन द्वारा मोक्ष की हेतु ब्रह्मविद्या में हेतु हैं। इस अभिप्राय से एकादश अनुवाक में उनके अनुशासन का विधान करते हैं—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

भावार्थ—आचार्य शिष्य को वेद पढ़ाकर उपदेश देता है कि सत्य भाषण कर। धर्म का आचरण कर। वेदाध्ययन से प्रमाद न कर। आचार्य के लिए यथेष्ट धन देकर वंशपरम्परा का छेदन मत कर। सत्य से चलायमान नहीं होना चाहिए। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। देहरक्षार्थ कार्य में प्रमाद न करना चाहिए। ऐश्वर्य देनेवाले कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय और प्रवचन में असावधानी नहीं करनी चाहिए ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य— आचार्य उपनयनपूर्वक शिष्य को वेदाध्ययन कराकर इस प्रकार वेद के अर्थ का ग्रहण कराते हैं—हे शिष्य! जो कहने योग्य बात प्रमाण से जैसी जानी गयी हो, उसे उसी प्रकार कह। श्रुतिविहित अग्निहोत्रादि धर्म का आचरण कर। अब एक बार अनुष्ठित पूर्वोक्त धर्म आदिकों के त्यागरूप प्रमाद का निषेध करते हैं—वेदाध्ययन से तू कदापि प्रमाद न कर। आचार्य के लिए विद्याप्राप्ति की दक्षिणास्वरूप गौ, सुवर्ण, शास्त्रादिरूप अभीष्ट धन का समर्पण कर, और उनकी आज्ञा से अनुकूल भार्या का ग्रहण करके पुत्रादि संतति के विस्तार का

उच्छेद न कर। पुत्र के उत्पन्न न होने पर पुत्रेष्टियाग से उसकी उत्पत्ति का यत्न करना ही चाहिए। मुक्तिसाधन प्रकरण में प्रजा के विस्तार का कथन अनुपयोगी है ऐसी शंका नहीं करनी। क्योंकि पितृऋण मोक्षप्राप्ति का प्रतिबन्धक है, अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए उसका दूर करना आवश्यक है। मनु ने भी कहा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य वैतानि मोक्षमिच्छेत् पतत्यधः॥

पहले कहे हुए सत्यादि धर्मों का कदाचित् भी आलस्य से अननुष्ठानरूप प्रमाद करना अनुचित है, यह कहते हैं—सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए। यहाँ सत्य से प्रमाद का अभिप्राय है असत्य का प्रसङ्ग, अर्थात् भूलकर भी झूठ न बोलना चाहिए। इसी तरह धर्म का अनुष्ठान न करना ही प्रमाद है, सो नहीं करना चाहिए। आत्मरक्षा करनेवाले आयु आरोग्यादि कुशलकारक वैदिक तथा लौकिक कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। ऐश्वर्य के उपायभूत कर्मों से प्रमाद नहीं करना चाहिए। वेदाध्ययन अध्यापन से प्रमाद नहीं करना चाहिए, ये दोनों नियम से कर्तव्य हैं। याग आदि देवकार्यं और श्राद्ध आदि पितृकार्यों से अकरणरूप प्रमाद नहीं करना चाहिए॥ १॥

विशेष—प्रकृत में आचार्य के कथन का यह अभिप्राय है कि मैंने जिसको नियमपूर्वक अर्थात् अखण्ड ब्रह्मचर्यादि अतिकठिन आचरण के साथ अपने समीप रखकर वेदाध्ययन कराया है उसकी विद्या सफल हो। किसी सांसारिक प्रलोभन में पड़कर ऐसा न हो कि वह विद्वान् होकर भी असत्यभाषी हो जाय और मेरे पढ़ाये हुए वेद को भूल जाय। इस लिए यहाँ "न प्रमदितव्यम्" प्रमाद नहीं करना चाहिए, इस पद की बार बार आवृत्ति की गयी है॥ १॥

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥ २॥

भावार्थ—तू, माता ही जिसका देव है ऐसा हो, पिता को देव माननेवाला हो, आचार्य को देव समझनेवाला हो और अतिथिदेव हो। जो अनिन्दित कर्म हैं, वे तुझे सेवन करने चाहिएँ, दूसरे नहीं। हमारे जो शुभ आचरण हैं, तुझे उन्हीं की उपासना करनी चाहिए, दूसरी तरह के कर्मों की नहीं॥ २॥



स्नातकों के प्रति आचार्य का दीक्षान्तभाषण —(शीक्षावल्ली, ११ अनुवाक)

સ્નાતકોને આચાર્યનો ઉપદેશ. —(શીક્ષાવલ્લી ૧૧ અનુવાક.)

वि॰ वि॰ भाष्य—तू माता को देवता के समान पूजनीय समझनेवाला हो, इसी प्रकार पिता, आचार्य और अतिथि को देवबुद्धि से पूजन करनेवाला हो। यह याद रख कि लोक में अनिन्द्य और निन्द्य ये दो प्रकार के कर्म हैं, तुझे लोक-प्रसिद्ध अनिन्दित जो शिष्टाचाररूप कर्म हैं उन्हीं का सेवन करना चाहिए और जो नरक देनेवाले शत्रुबधादि अभिचारादि निन्दित कर्म हैं उनको नहीं करना चाहिए। जो हम गुरुजनों द्वारा सुचरित, श्रुति स्मृति से अविरुद्ध कर्म हैं, वे हमारे शिष्य तुझ को नियम से करने योग्य हैं। और जो हम ने किसी को शापादि दिया हो या अपशब्द कहा हो तो तुझको उनकी नकल करके ऐसा न करना चाहिए। तभी तू "अभयं सत्त्वसंशुद्धिः" इस गीतोक्त दैवी संपत्ति का अधिकारी होगा॥ २॥

विशेष—'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते" इस स्मरण से पिता, आचार्य और अतिथि से भी बढ़कर मातृशक्ति की महिमा है। क्योंकि धारण तथा पोषण करना उसी का काम है। आचार्य ने शिष्य को माता पिता आचार्य और अतिथि के सत्कार करने का विशेष उपदेश दिया है। क्योंकि मनुष्य की स्थिति और अभिवृद्धि में इन चारों का सहयोग अत्यावश्यक है। यहाँ शङ्का होती है कि माता पिता और आचार्य की श्रेणी में अतिथि की गणना क्यों की गयी? उत्तर यह है कि जैसे माता पिता और आचार्य से मनुष्य के स्वार्थ की सिद्धि हुई है, उसी तरह अतिथिसत्कार की प्रथा से भी मनुष्यसमाज को बहुत सा व्यावहारिक लाभ होता है। सबको विदेश जाना पड़ता है, वहाँ वे किसी न किसी के अतिथि अवश्य होंगे। यदि अभ्यागतसम्मान की प्रथा प्रचलित रही, याने उनका सम्मान होता रहा तो विदेशों में सभी का पारस्परिक लाभ हो सकता है॥ २॥

बड़ों की सेवा के लिए कुछ विशेषता का उपदेश देते हैं, यथा—

ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्॥३॥

भावार्थ—जो कोई हम से भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनको तुम आसनादि देकर आराम पहुँचाना। श्रद्धा के साथ दान करना चाहिए, अश्रद्धा से नहीं। वित्त के अनुसार देना चाहिए। लज्जापूर्वक देना चाहिए। भय मानते हुए देना चाहिए। मित्रादि कार्य के निमित्त से देना चाहिए॥ ३॥

वि० वि० भाष्य—जो कोई आचार्यत्वादि धर्मों से युक्त होने के कारण हम से भी अत्यन्त श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उनको तुझे आसन प्रदान, पादप्रक्षालनादि शुश्रूषा से विश्राम देना चाहिए। अथवा ऐसे योग्य पुरुषों का आसन और स्थान देने में श्वास लेने से भी अधिक जल्दी करनी चाहिए। फिर उनके साथ विवाद का तो प्रसंग ही कहाँ रहा ? यह भी बात है कि किसी सभा के लिए उन्हें उच्च आसन प्राप्त होने पर तुझे दीर्घ निश्वास नहीं छोड़ना चाहिए। धनादि दान में कुछ विशेषता का उपदेश देते हैं—आस्तिक्य बुद्धि से अन्नादिकों का दान करना चाहिए। नास्तिक बुद्धि से नहीं देना चाहिए, क्योंकि 'श्रद्धा से रहित दान लोक परलोक दोनों में अनुपयोगी है। इस कारण श्रद्धा से युक्त होकर ही दान देना चाहिए। 'मेरे जैसे मनुष्य दान देते हैं, यदि मैं न दूँगा तो बड़ी लज्जा की बात होगी' इस प्रकार लोक-लज्जा से भी दान देना चाहिए। 'शास्त्र में ऋत्विक् आदिकों के लिए जो दान का विधान है, उसे यदि मैं न दूँगा तो मुझे प्रत्यवाय—पाप लगेगा' इस प्रकार शास्त्रभय से दान देना चाहिए। अथवा लोक में कृपणता-कंजूसी का अपवाद न फैल जाय, इस भय से दान देना चाहिए। अथवा 'दान सर्वोत्तम धर्म है, मुझ गृहस्थाश्रमी का यह धर्म लुप्त न हो जाय' इस धर्मभय से भी दान देना चाहिए। अथवा सर्वभूतों में आत्मबुद्धि से दान देना चाहिए, अथवा मित्रादि के कार्य के लिए देना चाहिए ॥ ३ ॥

भावार्थ—देश, काल तथा पात्र का विचार करके दान अवश्य देना चाहिए, उसकी मात्रा चाहे अधिक हो या न्यून हो। कहने का अभिप्राय यह है कि वित्तशाठ्य करना उचित नहीं है। आजकल के बहुत से लोगों का कथन यह है कि दान की प्रथा ही ठीक नहीं है। क्योंकि दान लेनेवालों का जीवन आलस्यपूर्ण हो जाता है। यह शङ्का यथार्थ नहीं है, प्रतीत होता है कि वे सज्जन दान का अर्थ ही नहीं समझे। सात्त्विक, राजस और तामस भेद से दान कई तरह का होता है, उसमें सात्त्विकदान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि यह देश काल और पात्र का विचार करके उसको दिया जाता है जिससे अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ न हो। कहने का अभिप्राय यह है कि खूब समझ बूझकर जो दान दिया जायगा, उससे देश तथा समाज की कोई हानि तो हो ही नहीं सकती, प्रत्युत लाभ ही होगा। केवल दान देने का ढंग चाहिए ॥ ३ ॥

इस प्रकार अनुष्ठान करने योग्य कर्मों का उपदेश हो चुका। इसके बाद कर्मानुष्ठान के समय यदि कोई सन्देह उत्पन्न हो जाय तो उसके दूर करने के लिए शिष्टाचार प्रमाण है, यह दिखाते हैं, यथा—

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि तुझको कर्म या आचार के विषय में कोई संदेह हो जाय तो उस देश में जो पूर्ण विचार कर सकते हों, लौकिक कर्म में नियुक्त, वैदिक कर्म में प्रवृत्त, अक्रूर बुद्धिवाले और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, इस अवसर पर वे जैसा व्यवहार करें वैसा ही तू भी करना ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—शिष्य के प्रति आचार्य का कथन है कि जब तुझ को दो या अधिक विरुद्ध अर्थप्रतिपादक वचन देखने से श्रौत तथा स्मार्त कर्मों में कभी संदेह हो जाय, जैसे—"उदिते जुहोति" 'अनुदिते जुहोति" तथा "सन्ध्यादेवता पुरुषमूर्तिः स्त्रीमूर्तिर्वा" इत्यादि स्थलों में कर्मविचिकित्सा, और 'मातुलसुता-विवाहमांसभक्षणादिके, आचरणीये न वा आचरणीये" ऐसी जगह वृत्तविचिकित्सा हो जाय, तो उस समय वहाँ जो नित्य विचारशील, नित्य नैमित्तिक आदि अनुष्ठान में स्वयंप्रवृत्त, आयुक्त—किसी दूसरे से प्रयुक्त न होकर स्वेच्छा से सत्कर्म में संलग्न, अक्रूर स्वभाववाले और धर्मकामी—जो कामना से विवेकशून्य न हों, ऐसे ब्राह्मण जिस कर्म या आचरण में, अर्थात् उक्त संमर्शादि पाँच विशेषणों से युक्त ब्राह्मण जैसा बर्ताव करें, उसी प्रकार तू भी राग द्वेष तथा औत्सुक्य आदि दोषों से रहित होकर बर्ताव—व्यवहार करना ॥ ४ ॥

विशेष—प्रकृत में आचार्य ने शिष्य को बहुत ही सुन्दर उपदेश दिया है। सबको सन्देह हो सकता है, यहाँ तक कि पण्डित को भी। सब संशयों की निवृत्ति शास्त्र करता है, किंतु विरुद्ध अर्थप्रतिपादक वचनों को देखकर शास्त्र में ही संशय हो जाय तो उसका निराकरण कौन करेगा? शिष्टाचार से कहो, तो यह कैसे जाना जायगा कि यह शिष्टजन है? ऐसी सब प्रतिकूल धाराओं का समाधान प्रकृत आचार्योपदेश से अच्छी तरह हो जाता है। उसका दिग्दर्शन करा देते हैं, यथा—

आचार्यचरण कहते हैं कि हे सुयोग्य शिष्यरत्न! तुझे कभी कर्मविचिकित्सा या वृत्तविचिकित्सा हो जाय तो ऊपर दर्शित पाँच योग्यतावाले शिष्टों के बर्ताव से समाधान कर लेना। इसका स्पष्ट अर्थ यह है—

१—कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक श्रौत और दूसरे स्मार्त। श्रौत कर्म में सन्देह—जैसे "उदिते जुहोति" "अनुदिते जुहोति" ये दो श्रुतिवाक्य हैं । एक तो कहता है कि सूर्योदय हो जाने पर अग्निहोत्र कर्म करना चाहिए, दूसरा कहता है कि यह कर्म सूर्योदय होने से पहले ही करना उचित है। यहाँ अधिकारी को संशय हो जाता है कि किस वचन के अनुसार कर्म किया जाय ?

२—इस प्रकार स्मार्तकर्म संध्या में किसी जगह तो सन्ध्या के देवता की मूर्ति का वर्णन पुरुषरूप से किया गया है, और कहीं स्त्रीरूप से। यहाँ भी संशय होता है कि किस रूप का ध्यान किया जाय ? यह कर्मविचिकित्सा हुई। विचिकित्सा नाम संशय का है।

३—कुल की परम्परा से जो कर्म होता चला आ रहा है उसे 'वृत्त' कहते हैं। यथा—कहीं लिखा है कि मामा की लड़की से विवाह करना चाहिए, और कहीं ऐसा नहीं करना लिखा है। ऐसे ही कहीं मांस खाने का विधान मिलता है और कहीं लिखा है कि नहीं भक्षण करना चाहिए। यहाँ सन्देह होता है कि क्या करना चाहिए? यह वृत्तविचिकित्सा है।

इस पर गुरु ने उत्तर दिया है कि सम्मर्शी, युक्त, आयुक्त, अलूक्ष—अरूक्ष, और धर्मकाम (इन शब्दों का अर्थ ऊपर कहा गया है); इन पाँच गुणों से युक्त जो ब्राह्मण हों, वे जैसा बर्ताव करते हों, उसी तरह तू भी किया कर। मनुष्य को 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' इस आचार का पालन करना चाहिए। श्रेष्ठ जन वही है, जो सदा अपने अभ्युदय-निःश्रेयस साधक कर्मों में लगा रहे, और किसी दूसरे की स्वार्थहानि न करता हो ॥ ४ ॥

अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसी प्रकार जिन पर संशययुक्त दोष आरोपित किये गये हों, उनके विषय में उस समय वहाँ के सम्पूर्ण विचारशील, निष्पक्ष बुद्धिवाले, धर्म के प्रेमी, लौकिक तथा शास्त्रीय कर्मों में लगे हुए ब्राह्मण जैसा बर्ताव करें, वैसा ही तू करना ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—अब शिक्षा के अनन्तर संदिग्ध धर्मनिर्णयों के विषय में आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं कि यदि तुझे अभ्याख्यातों में—पातक की शङ्का

से दूषित पुरुषों में 'इसके साथ व्यवहार करना चाहिए कि नहीं' यह संशय हो जाय, तो उस दशा में संमर्शादि पञ्च विशेषणविशिष्ट ब्राह्मण उसके साथ जैसा व्यवहार करें, तू भी वैसा ही करना ॥ ५ ॥

विशेष—अभ्याख्यात नाम अभ्युक्त, याने जिन पर कोई अभियोग लगाया गया हो। आचार्य के उपदेश का यह अभिप्राय है कि मनुष्य को सदा अच्छे समाज में रहना चाहिए। क्योंकि मनुष्य सामाजिक जीव है, वह अकेला रहकर जिन्दा नहीं रह सकता, यदि जीवित रहा तो मनुष्यत्व ही सम्पादन नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

उक्त अनुशासन का उपसंहार करते हैं, यथा—

एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैत-दुपास्यम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह आदेश—विधि है, यह उपदेश है, यह ही वेद का रहस्य है और यह ही ईश्वर की आज्ञा है। तुझे इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए, और यह ही अवश्य कर्तव्य है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—यह "सत्यं वद" यहाँ से लेकर "तथा तेषु वर्तेथाः" यहाँ तक जो वाक्यसंदर्भरूप आदेश है, वह श्रौत विधि है। आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! जिस प्रकार राजा अपने कर्मचारियों को काम करने की आज्ञा देता है, वैसे ही वेद भी वैदिक कर्मानुष्ठान करनेवालों को आज्ञा करता है। वेद का सत्य भाषण करने का ही मुख्य आदेश है। यह स्मार्त विधि है। 'एषा'—सत्यंवदादि उक्ति 'वेदे'-विधिमन्त्र के अर्थवादसमूह में, 'उपनिषद्'—रहस्य का सार भाग है। 'एतत्'—सत्यंवद इत्यादिक 'अनुशासनम्'—ईश्वर की आज्ञा है। उक्त प्रकार से अनुष्ठान करना चाहिए, इसी तरह उक्त कर्मजात की उपासना करनी योग्य है। यहाँ द्विरुक्ति उपासना के आदर के लिए है ॥ ६ ॥

विशेष—इस शिक्षावल्ली के अन्तिम अंश पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि मनुष्य बहुत कुछ अध्ययन करने मात्र से ही कृतकार्य नहीं हो सकता। जब तक वह शास्त्रोपदेश को अपने आचरण में नहीं लायेगा तब तक उसे सफल-प्रयास नहीं कहा जा सकता। शास्त्राध्ययन करके प्रतिकूलाचरण करनेवाला पुरुष अपना तो अहित करता ही है, साथ ही समाज में बुरा उदाहरण उपस्थित करने के

पाप का भागी होता है। प्रकृत प्रकरण में सत्य भाषण के लिए बहुत जोर दिया गया है। आर्य लोग सत्य को ही ब्रह्म कहते हैं, जो मनुष्य सत्य से जितना ही दूर है वह ईश्वर से भी उतने ही अधिक अन्तर पर है। जो ईश्वर से दूर होगा, वह उतना ही उसके ऐश्वर्य से रहित होगा। जिसके पास ईश्वर की विभूति न होगी वह साङ्गोपाङ्ग मिट जायेगा। अतः मनुष्य को अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के लिए सत्य का त्याग नहीं करना चाहिए, चाहे शरीर तथा स्व सर्वस्व भले ही नष्ट हो जाय॥ ६॥

अथ द्वादश अनुवाक

अध्यापन के अनन्तर शान्तिपाठ के प्रकार को कहते हैं, यथा—

शन्नो मित्रः शं वरुणः। शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः। शन्नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति॥ १॥

भावार्थ—हमारे लिए सूर्य सुखदायक हो, हमारे प्रति वरुण सुखप्रद हो, हमारे लिए अर्यमा सुखावह हो, हमारे लिए इन्द्र और बृहस्पति शान्तिकारक हों। जिसके पादविक्षेप का बहुत विस्तार है वह विष्णु हमारे लिए सुखदायक हों। वायुरूप ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायु देवता! तुम्हें नमस्कार है, तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, मैंने तुम्हीं को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है, तुम्हीं को ऋत कहा है, तुम्हीं को सत्य कहा है। तुमने मेरी रक्षा की है, और ब्रह्म का निरूपण करनेवाले आचार्य की रक्षा की है। अर्थात् मुझे विद्या से और आचार्य को वक्तृत्व शक्ति से युक्त किया है, मेरी रक्षा की है और वक्ता की भी रक्षा की है। (आवृत्ति आदर के लिए है) त्रिविध ताप की शान्ति हो॥ १॥

वि० वि० भाष्य—प्राण और दिन का अभिमानी मित्र देवता हमारा कल्याण करे, अपान और रात्रि का अभिमानी वरुण देवता हमारा मङ्गल करे। नेत्र और सूर्याभिमानी अर्यमा देवता हम को सुख दे, बल का अभिमानी इन्द्र और बुद्धि

का अभिमानी बृहस्पति हमारा मङ्गल साधन करे। राजा बलि के यज्ञ में चरणों को बढ़ाकर ब्रह्माण्ड को नापनेवाले विष्णु भगवान हम को सुखदायक हों। व्यापक ब्रह्मरूप वायु को प्रणाम है। हे वायुदेव! तुम्हारे लिए नमस्कार है, मैं ने तुम को ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है, निश्चयात्मक बुद्धिरूप और सत्यस्वरूप कहा है। उस वायुरूप ब्रह्म ने मेरी विद्याप्रदानरूप रक्षा की है और आचार्य की वक्तृत्वशक्तिप्रदानरूप रक्षा की है। मेरी रक्षा की है और वक्ता की रक्षा की है। त्रिविध तापों की शान्ति हो ॥ १ ॥

विशेष—जिस समय मनुष्य को किसी काम में सहायता लेनी होती है, तो वह यह कहता है कि 'आप मुझे साहाय्य प्रदान करें।' और जब कार्यसिद्धि हो जाती है तो वह धन्यवादपूर्वक यह कहता है कि 'आपने मेरी खूब सहायता की है।' इसी प्रकार से, इस शिक्षाध्याय के आरम्भ में जो शान्तिपाठ का मन्त्र आया है, उसकी क्रियाओं में काल का भेद ही केवल भेद है, जैसे वहाँ कहा है कि मैं आपको ही साक्षात् ब्रह्म कहूँगा वा सत्य कहूँगा। यह आरम्भिक शान्ति का कथन भविष्यत् काल की क्रियाओं से है। और यहाँ अन्त में 'मैं ने आप को साक्षात् ब्रह्म कहा वा सत्य कहा' इत्यादि भूतकाल की क्रियायें कही गयी हैं। स्पष्ट रूप से यहाँ यों समझो कि 'वह मेरी रक्षा करे' ऐसा आरम्भ में, और 'उसने मेरी रक्षा की' इत्यादि अन्त में कहा या माना जाता है। अर्थात् किसी कार्य या पढ़ने के आरम्भ में मनुष्य भविष्यत् की क्रियाओं से प्रतिज्ञा करे कि मैं ऐसा करूँगा, ईश्वर मेरी रक्षा करे। और कार्य वा पढ़ने की समाप्ति में भूतकाल की क्रियाओं से प्रतिज्ञा करे कि मैंने धर्मानुकूल सत्यादि का कथन किया, इससे उसने मेरी रक्षा की, इत्यादि। तात्पर्य यह है कि "शन्नः" यहाँ के इस मन्त्र में आरम्भ के मन्त्र की अपेक्षा केवल भूत काल की क्रियाओं का बदलना ही भेद है ॥ १ ॥

शीक्षावल्ली समाप्ता।

ब्रह्मानन्दवल्ली

अथ प्रथम अनुवाक

इस समय आगे कही जानेवाली परा विद्या की प्राप्ति के लिए विघ्नविनाशार्थ शान्तिमन्त्र को कहते हैं, यथा—

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इस मन्त्र का व्याख्यान पहले कर चुके हैं।

कर्म से अविरुद्ध संहितादि विषयक उपासनाओं का पहले वर्णन किया गया, उस के अनन्तर व्याहृतियों के द्वारा स्वाराज्यरूप फल देनेवाला हृदयस्थित सोपाधिक आत्मदर्शन कहा गया। किन्तु इतने ही से संसार के बीज का पूर्णतया नाश नहीं हो जाता। अतः सम्पूर्ण उपद्रवों के बीजभूत अज्ञान की निवृत्ति के लिए इस सर्वोपाधिरूप विशेष से रहित आत्मा का साक्षात्कार कराने के निमित्त इस मन्त्र का आरम्भ किया जाता है, यथा—

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त करता है, उसी विषय में यह ऋचा कही गयी है कि ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। जो मनुष्य उसे उत्कृष्ट बुद्धिरूप हृदयाकाश में स्थित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्म के स्वरूप से एक ही समय में सकल भोगों को भोगता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—सम्पूर्ण अनर्थों का मूल अविद्या है, उस की निवृत्ति उपासना से नहीं हो सकती, उस का नाशक तो ब्रह्मज्ञान है। उसी का श्रुति भगवती प्रतिपादन करती है कि "ब्रह्मवित् आप्नोति परम्"। जो पदार्थ सब से बड़ा हो याने विश्व जिस के अन्तर्भूत हो, उसी का नाम ब्रह्म है। उस व्यापक ब्रह्म को जो जानता है, उसे ब्रह्मवित् कहते हैं, वह देहत्यागानन्तर ब्रह्म में लय होकर ब्रह्मरूप हो जाता है। इसी को "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस मन्त्र में भी कहा है, याने वह सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है। ऐसे ब्रह्म को जो विवेकी पुरुष बुद्धिरूपी गुहा में वर्तमान देखता है, याने 'अहं ब्रह्मास्मि' करके साक्षात् कर लेता है, वह उस के साथ अभेद भावयुक्त हो सम्पूर्ण भोगों को एक ही समय में भोगता है। याने ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। प्रकृत मन्त्र में इति शब्द मन्त्रसमाप्ति का सूचक है ॥ १ ॥

विशेष—यहाँ सत्यादि ब्रह्म के स्वरूप हैं, तथा इतर जडादि वस्तुओं से उसके भेदक भी हैं। अतएव यह ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। इस लक्षण में 'सत्य' पद देने से मिथ्या की, 'ज्ञान' पद से जड़ की, तथा 'अनन्त' पद से परिच्छिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति होती है। ब्रह्म के दो लक्षण हैं, एक स्वरूप लक्षण और दूसरा तटस्थ लक्षण। जो असाधारण धर्म अपने आश्रय का स्वरूपभूत होकर उसको दूसरों से भिन्न करे उसे स्वरूपलक्षण कहते हैं। और जो असाधारण धर्म अपने आश्रय से भिन्न हो और कादाचित्क होता हुआ अपने आश्रय से भिन्नों की व्यावृत्ति करे, उसको तटस्थलक्षण कहते हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय करना ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण है। प्रकृत में "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" यह वाक्य सूत्रभूत है, जो सम्पूर्ण वल्ली के अर्थ का विषय है ॥ १ ॥

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस ब्राह्मणवाक्य से सूत्रित अर्थ संक्षेप से मन्त्र द्वारा कहा गया। फिर उसी अर्थ को विस्तार से कहने के लिए अगले ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है, यथा—

तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद् रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥२॥

भावार्थ—उस इस परमात्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, और वीर्य से मस्तक हाथ आदि आकृतिवाला पुरुष उत्पन्न हुआ है। वह यह प्रसिद्ध पुरुष अन्न के रस का विकार है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—'तस्मात्'—इस व्यवहित ब्राह्मणवाक्य से, 'एतस्मात्' इस पूर्वोक्त सत्यादि मन्त्रवाक्य से जिस आत्मा का कथन किया गया है, उस प्रत्यगरूप ब्रह्म से शब्दगुणवाला भूताकाश उत्पन्न हुआ। अर्थात् उसी ब्रह्म से शब्द, तन्मात्रा और आकाश सबसे पहले उत्पन्न हुआ। उस आकाशभावापन्न परमात्मा से शब्द, स्पर्श दो गुणोंवाला वायु उत्पन्न हुआ। वायु से शब्द, स्पर्श, रूप त्रिगुणवाला अग्नि, अग्नि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस चार गुणोंवाला जल, जल से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पञ्चगुणवती पृथिवी, पृथिवी से फलपाकान्त गोधूम यवादिरूप

ओषधियाँ, ओषधियों से व्रीहि—ओदनादिरूप अन्न, भक्षित अन्न से वीर्य और उस वीर्य से शिर, पाँव आदि आकृति विशेषवाला स्थूलदेही पुरुष उत्पन्न हुआ। वह अन्न से उत्पन्न, सर्वजनप्रत्यक्ष, शिर हाथोंवाला स्थूलशरीरी जो पुरुष हुआ वह अन्न के रस का विकार है ॥ २ ॥

विशेष—यद्यपि श्रुति में 'ब्रह्म सर्वव्यापक है तथा नित्य है और सर्वरूप है' ऐसा कहा गया है; तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि आकाशादि सर्व जगत् ब्रह्म से भिन्न है, अतः ब्रह्म को सर्वरूप कहना असंगत है। इस प्रकार की शंका की निवृत्ति के लिए ब्रह्म से आकाशादिकों की उत्पत्ति वर्णन करी है। जैसे मृत्तिका से उत्पन्न हुआ घटादि कार्य उससे भिन्न नहीं है, वैसे ही ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है; यही बोधन करने के लिए ब्रह्म से आकाशादिकों की उत्पत्ति कथन की गयी है। शुद्ध ब्रह्म जगत् का—आकाशादिकों का कारण नहीं है, अन्यथा मोक्ष अवस्था में भी जगदुत्पत्तिप्रसङ्ग दोष आ जायगा। अतः मायाविशिष्ट परमात्मा से ही जगत् उत्पन्न हुआ है। अर्थात् उससे आकाश उत्पन्न हुआ और आकाशरूप उपाधित-उपहित परमेश्वर से वायु उत्पन्न हुआ, इसी प्रकार अन्यान्यों की उत्पत्ति हुई। इसी परमात्मा ने इन सूक्ष्म पञ्चभूतों का पञ्चीकरण किया।

अब प्रसङ्गोपात्त पञ्चीकरण प्रकार का संक्षेप से वर्णन करते हैं, यथा—पहले पञ्च महाभूतों के दो दो भाग करके, प्रथम बड़े भाग को अलग रख दे, और दूसरे बड़े अर्ध भाग में से प्रत्येक के चार चार भाग करके अपने को छोड़कर अन्य चारों में बाँट दे, यह पञ्चीकरण हो जाता है। पृथ्वी आदिक भूतों के तामस भाग का यह पञ्चीकरण हुआ। उन भूतों के मिले हुए राजस भाग से प्राण की उत्पत्ति तथा भिन्न भिन्न राजस पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, जैसे—आकाश के राजस भाग से वागिन्द्रिय की, वायु के राजस अंश से हस्त, अग्नि के राजस अंश से पाद, जल के राजस अंश से गुदा तथा पृथिवी के राजस अंश से उपस्थ ये इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। भूतों के मिले हुए सात्विक भाग से अन्तःकरण उत्पन्न हुआ। वृत्तिभेद से अन्तः-करण चार प्रकार का है, जैसे—संकल्प विकल्परूप वृत्ति से मन, निश्चय वृत्ति से बुद्धि, स्मरण वृत्ति से चित्त और अहंकार वृत्ति से अहंकार कहाता है। इसी तरह आकाश के सात्विक भाग से श्रोत्र, वायु के सात्विक भाग से त्वचा, अग्नि के सात्विक भाग से चक्षु, जल के सात्विक भाग से रसना, और पृथिवी के सात्विक भाग से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई। इस तरह सूक्ष्म भूतों के सात्विक भागों से समष्टि व्यष्टिरूप सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हुआ। पञ्चीकृत इन स्थूल भूतों से ब्रह्माण्ड और उसमें चतुर्दश भुवन

उत्पन्न हुए। स्थूल पृथिवी से ओषधिरूप अन्न उत्पन्न हुआ। माता पिता द्वारा भक्षित अन्न से उत्पन्न वीर्य से शिर हस्त पादादिकोंवाले शरीर की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार आकाशादिक सर्व जगत् ब्रह्मात्मा से उत्पन्न होने के कारण उस से भिन्न नहीं है। इस कथन से यह निरूपण किया गया कि ब्रह्म अनन्त है।

अब उस ब्रह्म के ज्ञान के लिए श्रुति भगवती मुमुक्षु जनों पर कृपा करती हुई पञ्चकोशों का कथन करती है। पहले जिस ब्रह्म का निरूपण किया है, वह ब्रह्म ही साक्षीरूप से स्थित है। उस अन्तःसाक्षी के बोध के लिए श्रुति प्रथम अन्नमय कोश का निरूपण करती है। अन्न के भक्षण से शुक्र शोणित द्वारा उत्पन्न हुआ पुरुष-शरीर ही अन्नमय कोश है, इस शरीर से ही पुरुष को ब्रह्मज्ञान, धर्माधर्म का ज्ञान तथा लोक परलोक का ज्ञान होता है। पशु आदिक शरीर में ब्रह्मज्ञान आदिक नहीं हो सकते, इस से पशु आदिक शरीरों का त्याग करके पुरुषशरीर को ही अन्नमय कोशरूप से वर्णन किया है। इन पञ्चकोशों को जो आत्मरूप से कथन किया है वह "शाखा के अग्र भाग में चन्द्रमा है" इस न्याय की तरह आत्मा साक्षी के बोधन के वास्ते है, 'अन्नमयादिक ही आत्मा है' ऐसे निरूपण के लिए नहीं है। महात्मा लोगों का कथन है कि यहाँ 'सत्यज्ञानानन्त' स्वरूपलक्षण कहने के अनन्तर "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इस मन्त्र से जगत्कारणत्वरूप ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण सूचित किया गया है॥ २॥

शाखाग्र के लक्ष्य से चन्द्रमा को देखने की इच्छा करनेवाले की तरह पुरुष के चित्त की एकाग्रता के लिए याने ध्यान के लिए कोशों में पक्षीरूप से उपासना का विधान करते हैं, यथा—

तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ ३॥

भावार्थ—उसका यह प्रकृत शिर ही शिर है, यह ही दक्षिण पक्ष है याने दाहिना बाहु है। यह वाम पक्ष है याने बायाँ बाहुपक्ष है। यह गले से कमर तक शरीर का मध्य भाग आत्मा है, और यह कमर से तलुवे तक नीचे का भाग पूँछ है, तथा पूँछ ऊपर की देह का आधार है। उस के विषय में ही यह आगेवाला मन्त्र है॥ ३॥

वि० वि० भाष्य—यहाँ ध्यान के लिए अन्नमय कोश का पक्षीरूप से वर्णन है, जैसे पक्षी के शिर, वाम पक्ष, दक्षिण पक्ष, उदर और पुच्छ ये पञ्च अवयव

होते हैं, वैसे ही इस अन्नमयकोश की पञ्चावयव कल्पना करके कहते हैं। वे पञ्च अवयव ये हैं—अन्नमय कोशरूप पक्षी का यह प्रसिद्ध शिर ही शिर है। दक्षिण भुजा दाहिना पंख है। वाम भुजा उत्तर पंख है। यह प्रसिद्ध उदर उदर है। और नाभि के नीचे का पादपर्यन्त देश पुच्छ है। स्थिति का आधार होने से उस पुच्छ को ही 'प्रतिष्ठा' इस नाम से कथन किया गया है। इस ब्राह्मणोक्त अन्नमय कोश की उपासना के विषय में यह अगला मन्त्र प्रमाण है ॥ ३ ॥

विशेष—यह इस उपनिषद् का ब्रह्मानन्दवल्ली नामक दूसरा अध्याय है, इसमें मुख्य करके ब्रह्म के ही स्वरूप का निरूपण होना चाहिए। यदि ऐसा है तो यहाँ अन्नमयादि शरीरों के विचार का प्रारम्भ क्यों किया गया ? इस का उत्तर यह है कि इन पञ्च कोशों का विचार संशयरहित आत्मज्ञान की दृढ़ता के लिये ही किया गया है। जैसे लोक में चन्द्रमा को दिखानेवाला पुरुष पहले किसी वृक्ष की शाखा के अग्र भाग को चन्द्ररूप से दिखाता है। देखनेवाला दिगन्तरों को छोड़कर डाली के अगले भाग को देखता हुआ उसी के द्वारा चन्द्रमा को देख लेता है। उसी प्रकार श्रुति भी पूर्वोक्त ब्रह्म का बोध कराने की इच्छा से पञ्च कोशों को क्रम से आत्मरूप से दिखाती है। इस के बाद देखनेवाला पुरुष पूर्व पूर्व कोशों में आत्मबुद्धि का परित्याग करके सब कोशों के अधिष्ठानरूप सर्वान्तर्वर्तमान ब्रह्म को 'अहमस्मि' इस प्रकार देख लेता है ॥ ३ ॥



अथ द्वितीय अनुवाक

अब अन्न की महिमा का वर्णन करते हैं, यथा—

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः । अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति । येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । अन्नाद् भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति ॥ १ ॥

भावार्थ—पृथिवी पर जितने प्राणी रहते हैं, वे सब अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। फिर वे अन्न से ही जीवित रहते हैं, और अन्त काल में इसमें ही समा जाते हैं, क्योंकि अन्न ही सब प्राणियों से पहले उत्पन्न हुआ है, अतः अन्न ही सब का औषध है, अर्थात् सब प्राणियों के देह के क्षुधादाह को दूर करनेवाला है। जो उस अन्नरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं वे निःसंदेह सब प्रकार के अन्न को पाते हैं। क्योंकि अन्न ही सब प्राणियों में श्रेष्ठ है, इस कारण अन्न को सब का औषध कहते हैं। अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, और अन्न ही से सब वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है, अर्थात् उसे अन्नमयकोशरूप स्थूल शरीर-वाले प्राणी खाते हैं। और यह स्वयं भूतों को भक्षण करता है, इसी से यह अन्न शब्द से कहा जाता है। यहाँ पहला कोश समाप्त हुआ॥ १॥

वि० वि० भाष्य—रस बीजरूप से परिणाम को प्राप्त हुए अन्न से ही इस पृथ्वी में स्थित सब प्रजा उत्पन्न होती हैं, उस अन्न से ही सब जीते हैं और पृथ्वीरूप अन्न में हीं लीन हो जाते हैं। जो जीव जिसका भक्षण करता है वही पदार्थ उसका अन्न है, जैसे वृक्षादिकों का जल, सिंहादिकों का मांस और मनुष्यों का शाकादिक अन्न है। सब जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और लय अन्न में ही होती हैं अतः यह अन्न सब भूतों से बड़ा है, और सर्व रोगरूप क्षुधा का निवर्तक होने से सर्वौषधिरूप कहा गया है। जो मनुष्य सर्व भूतोत्पत्ति, स्थिति, लय के कारणरूप अन्न का जानकर सर्व भूतों में ज्येष्ठ तथा सर्वौषधरूप से अन्न की उपासना करते हैं, और अन्न को ही ब्रह्मरूप से मानते हैं ऐसे उपासक मनवाञ्छित अन्न की प्राप्तिरूप फल को प्राप्त होते हैं।

अन्न को ब्रह्म माननेवाले को सर्वान्न प्राप्त होते हैं, इसमें हेतु कहने के लिए फिर कथन करते हैं कि जिन जन्म जीवनादि के कारणों से अन्न ज्येष्ठ है, इसी से वह सर्वौषध कहा गया है। इसका पहले व्याख्यान कर चुके हैं। "अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्" इत्यादि वचन पहले कह चुके हैं, फिर इनका दुबारा उल्लेख क्यों किया गया? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि अन्नदेवतारूप विराट् की सब प्राणीरूप स्वकार्य में व्याप्ति है, अर्थात् विराट् अन्नरूप से प्राणिमात्र में व्याप्त हो रहा है, यह सूचन करने के लिए पुनरुक्ति है। "अन्नाद् भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते" यह पुनरुक्ति उपासना के उपसंहार के लिए है।

अब अन्न शब्द का निर्वचन करते हैं—जो प्राणियों द्वारा 'अद्यते'—खाया जाता है, और जो स्वयं भी प्राणियों को 'अत्ति—खाता है, इस लिए सम्पूर्ण प्राणियों

का भोज्य और उनका भोक्ता होने के कारण भी वह 'अन्न' कहाता है। इस वाक्य में इति शब्द प्रथम कोश के विवरण की परिसमाप्ति के लिए है ॥ १ ॥

विशेष—उपनिषद् के उपक्रम—आदि में तथा उपसंहार—समाप्ति में ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। अतएव अन्न आदिकों के ब्रह्मरूप से ध्यान का जो फल कथन किया गया है वह अर्थवाद है, वास्तविक नहीं। पूर्व पूर्व कोश में आत्मत्वबुद्धि का त्याग कराकर साक्षी आत्मा के बोधन में वेद का तात्पर्य है, तथा अन्नमय आदि पञ्च कोशों का पक्षीरूप से जो वर्णन है, वह भी केवल आत्मा के बोधन में प्रकार है, पक्षीरूप से उपासना करने में वेद का अभिप्राय नहीं है। जैसे कन्या को अरुन्धती का दर्शन कराने के लिए अनेक ताराओं को अरुन्धतीरूप से कथन किया जाता है, वैसे ही प्रत्यगात्मा के बोधन के निमित्त अन्नमयादिकों को आत्मरूप से कहा गया है। अन्नमयादिक की आत्मरूपता के बोधन के लिए अथवा अन्नमयादिकों की आत्मरूप से उपासना के निमित्त उनकी आत्मरूपता का कथन नहीं किया गया है ॥ १ ॥

इस प्रकार अन्नमय कोश को आत्मरूप से निरूपण करके अब उसके भीतर प्राणमय कोश को आत्मरूप से कहते हैं, यथा—

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥२॥

भावार्थ—उस इस अन्नरसमय पिण्ड से भिन्न, उसके भीतर रहनेवाला शरीर प्राणमय कोश है, उसके द्वारा यह पूर्ण है। वह यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार ही है, उस अन्नमय कोश की पुरुषाकारता के समान ही यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार है। उस प्राणमय शरीर का प्राण ही शिर है। व्यान वायु दहिना हाथ है। अपान वायु बाँयी भुजा है। आकाश याने समान वायु शरीर है–मध्यभाग है। और पृथिवी याने उदान वायु पूँछ है—नीचे का भाग है। वह प्राणमय शरीर का आधार है. उसमें यह मन्त्र प्रमाण है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्राह्मणवाक्य से कथन किये हुए और मन्त्र से कहे हुए, अन्नरस के विकार स्थूलदेह से अतिरिक्त, आत्मरूप से परिकल्पित, वायुरूप

प्राणमय कोश है। जैसे वायु से मशक भरी रहती है, वैसे ही आन्तरिक प्राणमय कोशरूप आत्मा से यह अन्नमय कोश पूर्ण है। यह प्राणमयकोश भी अन्नमय कोश की तरह शिर भुजा आदि से युक्त मनुष्य के आकार का है, उस प्राणमय कोश का मनुष्याकार अन्नमय कोश के आकार के समान है। जैसे साँचे में ढाला हुआ तरल पदार्थ उस में बनी हुई आकृति के सदृश हो जाता है, वैसे ही प्राणमय कोश भी अन्नमय कोश की तरह पुरुषाकारयुक्त हो जाता है। अन्नमय कोश के सदृश यह प्राणमय कोश स्वतन्त्र पुरुषाकार नहीं है, बल्कि अन्नमय कोश की पुरुषाकारता को आश्रय करके उसी के आकार सा इसका आकार है। इसी प्रकार पूर्व पूर्व कोश की पुरुषाकारता के अनन्तर उत्तर उत्तर पुरुषविधता आती जाती है, और पहला पहला अगले अगले से परिपूर्ण होता जाता है।

अब पुरुषाकारता को दिखाते हैं, याने प्राणमय कोश अवयववाला होने से अन्नमय कोश के सदृश है, यह कहते हैं, यथा—सारे शरीर में गमन करनेवाला व्यान दक्षिण पक्ष है। नीचे गमनशील अपान वायु उत्तर पक्ष है। आकाशदेवतावाला समान सर्वान्तर्गत अन्न जल को सम करनेवाला उदर है। पृथिवीदेवतावाला ऊर्द्ध्वगमनशील उदान पुच्छ है। और उदान वायु के शरीर से बाहर निकलने से सभी बाहर निकल जाते हैं, इससे उदान प्रतिष्ठा है। उस ब्राह्मणोक्त अर्थ में ही प्राणमयात्मविषयक यह वक्ष्यमाण मन्त्र कहा गया है ॥ २ ॥

विशेष—"पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा" इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि यदि उत्क्रमणशील उदान जब बाहर निकल जाय तो सब प्राणमय कोश बाहर चला जायगा। अतः पृथिवी देवता ने गुरुत्वशक्ति से उदान वायु की उत्क्रमणशक्ति को रोक लिया, इसी से यह प्रतिष्ठापदप्रयोग के योग्य हो गया, याने धारण करनेवाला हो गया। अर्थात् 'पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा'—पृथिवी का आश्रय अपान रखता है, इस लिए प्राणात्मा की स्थिति का आश्रय पृथिवी है। इसी कारण जब मनुष्य यानादि द्वारा आकाश में चढ़ता है तब उसको पृथिवी के साथ लगी अपान की आकर्षण-शक्ति खींचती है तथा अधिक ऊपर चढ़ने से जीवन का भी भय हो जाता है। इससे पृथिवी ही प्राणात्मा की स्थिति का आश्रय होने से पुच्छस्थानीय है ॥ २ ॥

अथ तृतीय अनुवाक

प्राण के विषय में श्लोक को कहते हैं, यथा—

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति । ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूताना-मायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ॥ १ ॥

भावार्थ—जो ये देवगण, मनुष्य, पशु और अन्य जीव हैं वे प्राण के अनुयायी होकर प्राणन क्रिया करते हैं, अर्थात् प्राणन क्रिया से चेष्टावान् होते हैं। प्राण ही प्राणियों का जीवन है, अतएव वह सर्वायुष कहाता है। जो प्राण को ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं याने सौ वर्ष तक जीते हैं। अर्थात् वे अल्प मृत्यु तथा अपमृत्यु से रहित हो जाते हैं। प्राण ही प्राणियों का आयु है, इस लिए उसको सर्वायुष कहते हैं। पूर्वोक्त अन्नमयकोश का शारीर आत्मा है, वही इस प्राणमय कोश का भी चिदात्मा है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—पञ्चवृत्त्यात्मक मुख्य प्राण का अनुसरण करके ही इन्द्रियाँ, मनुष्य, गवादि पशु और सब प्राणी चेष्टा करते हैं, याने प्राणों की क्रिया से ही सब क्रियावान् होते हैं। इस कारण मुख्य प्राण प्राणियों का जीवन है। जब तक इस शरीर में प्राण निवास करता है, तब तक सभी जीते हैं। अतः प्राण के जीवन का हेतु होने से वेद में इसका सर्वायुष नाम कहा गया है। अब प्राण की ब्रह्मरूपत्वेन उपासना करने से पूर्णायुलाभरूप फल प्राप्त होता है, यह कहते हैं—

जो अधिकारी प्राणमय आत्मा को 'प्राणोऽहमस्मि' इस प्रकार ब्रह्मरूप से चिन्तन करते हैं, याने उपासना करते हैं, वे शत संवत्सररूप आयु—जीवन को प्राप्त होते हैं। 'प्राणो हि भूतानामायुः' इत्यादि पुनरुक्तिवाक्य और इति शब्द का पहले व्याख्यान किया जा चुका है। जो चैतन्य आत्मा अन्नमय कोश—शरीर में है, वही प्राणमय कोश में भी स्थित है ॥ १ ॥

विशेष—इस मन्त्र में यह सूचित किया गया है कि अन्नमय कोश से आत्म-बुद्धि को हटाकर उसका प्राणमय कोश में ध्यान करना चाहिए। क्योंकि अन्नमय

कोश की अपेक्षा प्राणमय कोश सूक्ष्म है। शरीर और इन्द्रियों को धारण करनेवाले प्राणमय कोश में आत्मरूप से उपासना करनेवाला असमय में वृद्धवत् नहीं होता। न उसकी अल्पायु ही होती है और न अपमृत्यु ही, तथा न वह किसी कुयोनि में ही प्राप्त होता है। वह प्राणन शक्ति से सदा आनन्दित रहता है ॥ १ ॥

इस प्रकार द्वितीय प्राणमय कोश का निरूपण करके अब तीसरे मनोमय कोश का कथन करते हैं, यथा—

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥२॥

भावार्थ—उस इस प्राणमय कोश से अन्य, भीतर रहनेवाला आत्मा मनोमय है। इस मनोमय कोश से वह प्राणमय कोश व्याप्त है, वह यह निश्चय करके पुरुषाकार ही है। प्राणमय कोश की पुरुषाकारता के पश्चात् यह मनोमय कोश भी पुरुषाकार है, अर्थात् यह भी शिर आदि अवयवोंवाला है। अब इसके अवयवयुक्त पुरुषाकार को दिखाते हैं, जैसे—उस मनोमय कोश का यजुर्वेद शिर है, ऋग्वेद दक्षिण पक्ष है, साम उत्तर पक्ष है, आदेश—ब्राह्मणग्रन्थ आत्मा है, अथर्वणवेद पूँछ है। वही उस मनोमय कोश की प्रतिष्ठा—अधिष्ठान है, इसमें अगला मन्त्र प्रमाण है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्राह्मणोक्त और मन्त्रोक्त प्राणमय से व्यतिरिक्त, आभ्यन्तर, आत्मरूप से कल्पित मनोमय कोश पूर्ण है, वह प्राणमय का अन्तरात्मा है। जिस मनोमय से यह प्राणमय पूर्ण हो रहा है वह मनोमय कोश भी पुरुष के आकार का है, उस मनोमय कोश का मनुष्याकार प्राणमय कोश के मनुष्याकार के समान है। मनोमय आत्मा का, अनियताक्षर पादों में जिसकी समाप्ति हो वह मन्त्र-विशेषराशिरूप यजुर्वेद ही शिर है याने प्रधान शिररूप से उसका ध्यान करना चाहिए। ऋग्वेद दक्षिण पक्षरूप से ध्येय है। सामवेद वाम पक्षरूप से ध्यान करने योग्य है। ब्राह्मणभाग आत्मरूप से याने दक्षिण तथा उत्तर पक्ष के मध्यम भागरूप से ध्यातव्य है। और अथर्वा-अङ्गिरा से दृष्ट मन्त्ररूप अथर्ववेद पूँछरूप से

ध्यान करने योग्य है। उस ब्राह्मणोक्त अर्थ में यह वक्ष्यमाण श्लोक याने आगे कहा जानेवाला मनोमयात्मप्रकाशक मन्त्र प्रमाण है ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत में प्रधानता के कारण यजुर्वेद को शिर कहा गया है। यागादि में 'संन्निपत्य उपकारक' होने के कारण यजुर्वेद के मन्त्रों की इसलिए प्रधानता है कि स्वाहा आदि के द्वारा उन मन्त्रों से ही हवि दी जाती है। एक सन्निपत्य उपकारक और दूसरे आरात् उपकारक; ये दो प्रकार के यज्ञाङ्ग होते हैं। जो अङ्ग साक्षात् या परम्परा से प्रधान याग के स्वरूप को पूर्ण करके उससे अपूर्व की उत्पत्ति में उपयोगी होते हैं, वे सन्निपत्य उपकारक कहाते हैं। यजुर्वेद भी ऐसा ही है। प्रकृत मन्त्र में यजुः आदिकों को मनोमय कोश का शिर आदि बतलाया गया है। किन्तु बाह्य यजुः आदि का अन्तरङ्ग मनोमय से क्या सम्बन्ध है? इस शङ्का के समाधान में भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि सबसे पहले उच्चारण में मन का ही व्यापार होता है। जैसे—जठराग्नि द्वारा प्रेरित वायु का आघात कण्ठतालु आदि स्थानों में हुआ, उससे अस्फुट नाद हुआ, इस प्रकार क्रमशः स्वर और व्यञ्जन अभिव्यक्त हो जाते हैं। उनके संयोग से पद, उनसे पदसमूह और उनसे वाक्य की रचना होती है। इस परम्परा से मानसिक संकल्प के मूल से यजुः आदि मन्त्र अभिव्यक्त होकर कर्णेन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। अतएव यहाँ यजुर्विषयक मनोवृत्ति को यजुः कहना चाहिए, क्योंकि वह मनोवृत्ति से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार ऋग्विषयक वृत्ति को ऋक् और सामविषयक वृत्ति को साम कहा गया है। इस प्रकार की जो यजुःवृत्ति है, उसको यहाँ मनोमय कोश का शिर कहना उचित ही है। अथवा श्रुति में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए, इस कारण श्रौत विधि के बल से याने वेद में कथित होने के कारण यजुः को मनोमय का शिर मान लेने में ननु नच नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार आगे भी वाचनिकी, या यौक्तिकी, यथासंभव शिर आदि की कल्पना कर लेनी, क्योंकि सब जगह तर्क आदि से काम लेना ठीक नहीं है ॥ २ ॥

——❀❀❀——

अथ चतुर्थ अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य ॥ १ ॥

भावार्थ—जहाँ से मन के सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है, याने वाणीरूप वेद मन द्वारा जिस ब्रह्म को घटादिवत् प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जो मनोमय कोश का उपासक जानता है, वह कभी भय को प्राप्त नहीं होता। उस प्राणमयकोश का मनोमय कोश शारीरिक आत्मा है, अर्थात् प्राणमयकोश का जो शरीर में स्थित चिदात्मा है वह इस मनोमय कोश का भी आत्मा है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—संकल्पात्मक मनसहित यजुः आदि वाणी जिसको न पाकर निवृत्त हो जाती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जो विद्वान्—मनोमय कोश का उपासक जानता है, वह जन्म मरण आदि से कभी नहीं डरता। अर्थात् आवागमन से रहित होकर गर्भवासादि दुःखों से नहीं डरता, याने ब्रह्म हो जाता है। पहले कहे हुए प्राणमय शरीर का जो आत्मा है वह ही इस मनोमय शरीर का आत्मा है। इति शब्द मन्त्रसमाप्ति के लिए है ॥ १ ॥

विशेष—जैसे स्वप्रकाश ब्रह्म में मन और वाणी प्रवृत्त नहीं होती है, वैसे ही इस मनोमय कोशरूप ब्रह्म में मन वाणी की प्रवृत्ति नहीं होती है। अपने स्वरूप में अपनी प्रवृत्ति कहीं देखी नहीं गयी है, जैसे अग्नि अपने से भिन्न काष्ठ आदिकों का दाह करता है किन्तु अपना नहीं, वैसे ही मन वाणी अपने से भिन्न में प्रवृत्त होती हैं, किन्तु मनवाणीविशिष्ट आत्मरूप स्वरूप में नहीं। इसी प्रकार आनन्दरूप तथा ब्रह्मरूप जानकर जो मनोमय कोश का ध्यान करता है, ऐसा ध्याता पुरुष जन्म मरण आदि संसार के भय को प्राप्त नहीं होता। 'उस पूर्व कहे हुए प्राणमय कोश का यह मनोमय कोश आत्मा है' इस कथन से यह आया कि प्राणमय कोश में आत्मबुद्धि का परित्याग करके उपासक मनोमय कोश को अपना स्वरूप समझे ॥ १ ॥

अब चौथे विज्ञानमय कोश का वर्णन करते हैं, यथा—

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस इस मनोमय से दूसरा, उसके भीतर स्थित आत्मा विज्ञानमय कहाता है, उससे यह पूर्ण है। वह यह पुरुषाकार ही है। उसकी पुरुषाकारता के

बाद यह भी पुरुषाकार ही है। उसका श्रद्धा ही शिर है। ऋत दक्षिण पक्ष है। सत्य उत्तर पक्ष है। योग आत्मा है। और महत्तत्त्व पृष्ठभागरूप आधार है। इस विषय में यह अगला मन्त्र कहा गया है॥ २॥

वि॰ वि॰ भाष्य—उस ब्राह्मणवेदभाग और मन्त्रवेदभाग करके प्रतिपाद्य जो मनोमय कोश है, उसके अवान्तर, उससे भिन्न तथा उसके ही सदृश विज्ञानमय कोश है। निश्चयात्मक अन्तःकरण की वृत्ति का नाम विज्ञान है, उस विज्ञानमय कोश से वह मनोमय कोश व्याप्त है। यह विज्ञानमय कोश भी पुरुषाकार ही है। इस विज्ञानमय का पुरुषाकार मनोमय कोश के पुरुषाकार के सदृश है। इस विज्ञानमयकोश के पाँच अवयव हैं, जैसे विज्ञानमयकोश का सब कर्मों की मूलरूप आस्तिक्यबुद्धि ही शिर है, अर्थात् उसका प्रधान शिरस्त्वेन ध्यान करना चाहिए। शास्त्रानुसार कर्तव्यरूप से निश्चित जो ऋत है वह दक्षिण पक्ष है। शास्त्र से निश्चित अनुसन्धानरूप जो सत्य, वह उत्तर पक्ष है, याने उसका वाम पक्षरूप से ध्यान करना चाहिए। चित्तवृत्तिसमाधानरूप योग आत्मा है, याने उसका देह के मध्यभागरूप से ध्यान करना चाहिए। और महत्तत्त्व—हिरण्यगर्भ की समष्टिरूप बुद्धि पुच्छ—प्रतिष्ठा है। महत्तत्त्व को प्रथमज भी कहते हैं, वही विज्ञानमय का कारण होने से उसकी पुच्छप्रतिष्ठा है, क्योंकि कारण कार्यवर्ग की प्रतिष्ठा—आश्रय हुआ करता है, जैसे वृक्ष तथा लता गुल्मादि की प्रतिष्ठा पृथिवी है। महत्तत्त्व ही बुद्धि के सम्पूर्ण विज्ञानों का कारण है, इस लिए वह विज्ञानमय आत्मा की प्रतिष्ठा है। पूर्ववत् उसके विषय में ही यह श्लोक है, अर्थात् जैसे पहले श्लोक ब्राह्मणोक्त अन्नमय आदि के प्रकाशक हैं, उसी प्रकार यह विज्ञानमय का भी प्रकाशक श्लोक है॥ २॥

विशेष—संकल्प विकल्पादि चञ्चलता के कारण मनोमय आत्मा रजोगुणरूप है। उसकी अपेक्षा शान्ति, धीरता और गम्भीरतादि गुणयुक्त होने से सत्त्वगुणरूप विज्ञानमय आत्मा में समाधि या समाधान हो सकता है। उसमें आत्मत्वबुद्धि करके आनन्द का अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ समाधि पहले ठीक हो सकती है? प्रकृत में श्रद्धा को विज्ञानमय का शिर कहा गया है, इसका अभिप्राय यह है कि निश्चयात्मिका बुद्धि से सम्पन्न पुरुष को सबसे पहले कर्तव्य कर्म में श्रद्धा ही उत्पन्न होती है। अतः सम्पूर्ण कर्मों में प्रथम होने के कारण वह शिर के समान उस विज्ञानमय का शिर है॥ २॥

———❀❀❀———

अथ पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान्कामान्समश्नुत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ॥ १ ॥

भावार्थ—विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है, और वही कर्मों का भी विस्तार करता है। सब देवता ज्येष्ठ विज्ञान ब्रह्म की उपासना करते हैं। यदि उपासक 'विज्ञानं ब्रह्म'—विज्ञान ब्रह्म है, इस प्रकार जान जाय, और जानकर उस विज्ञान ब्रह्म को नहीं भूले, याने दृढ़ निश्चय करके उसकी उपासना करता रहे, वह साधक शरीर के पापों को नाश करके सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है, याने भोगों को सम्यक् प्रकार से भोगता है। उस मनोमय कोश का जो चिदात्मा शरीर में स्थित है वह ही इस विज्ञानमय कोश का भी आत्मा है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—विज्ञानवान् पुरुष श्रद्धा के साथ यज्ञ को करता है, ऐसा प्रतीत होता है कि मानो विज्ञान ही यज्ञादिक वैदिक कर्मों को और गमन आगमनादि लौकिक कर्मों को करता है। इन्द्रादि सब देवता भी इस विज्ञानमय को बड़ा जानकर उपासना करते हैं। ऐसे विज्ञानमय को जो पुरुष ब्रह्मरूप जानता तथा देहादिकों में आत्मत्वबुद्धिरूप प्रमाद नहीं करता, याने सदा ही विज्ञानमय को आत्मरूप से जानता है, वह मनुष्य देहाभिमान के अभाव से देहकृत सर्व पापों से रहित होकर सब कामनाओं को प्राप्त होता है। पूर्व मनोमय का यह विज्ञानमय आत्मा है ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत में कहा गया है कि विज्ञानमय आत्मा ब्रह्म है, ऐसा जानने-वाला ज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाता है। केवल ऐसा जान ही न ले बल्कि उस से प्रमाद भी न करे तो उक्त फल प्राप्त होता है। मनुष्य जब बाह्य अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि करता है तो इस प्रमाद से उसका कर्तव्यच्युत होना सम्भव है। उसकी निवृत्ति के लिए अन्नमय आदि में आत्मभाव को छोड़कर केवल विज्ञानमय ब्रह्म में ही आत्मत्व की भावना करके स्थित होना चाहिए। ऐसा होने से उपासक शरीर के

पापों से छूट जायगा। सम्पूर्ण पाप शरीराभिमान के कारण ही होते हैं, विज्ञानमय ब्रह्म में आत्मत्व का अभिमान करने से निमित्त का क्षय हो जाने पर उनका भी क्षय होना उचित ही है, जिस प्रकार छाते के हटा लेने पर छाया की निवृत्ति हो जाती है। अतः शरीराभिमान के कारण होनेवाले शरीरजनित सम्पूर्ण पापों को शरीर ही में त्याग कर विज्ञानमय ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हुआ साधक उसमें स्थित सारे भोगों का विज्ञानमय स्वरूप से पूर्णतया उपभोग करता है ॥ १ ॥

अब आनन्दमय आत्मा का वर्णन करते हैं, यथा—

तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस इस विज्ञानमय से अन्य, उसके भीतर आत्मा आनन्दमय है। उससे यह व्याप्त है। वह यह निश्चय आनन्दमय भी पुरुषाकार ही है। उस विज्ञानमय कोष की पुरुषाकारता के समान ही यह पुरुषाकार है। उसका प्रिय ही शिर है। मोद दक्षिण पक्ष है। प्रमोद उत्तर पक्ष है। आनन्द आत्मा है। और ब्रह्म पुच्छ—प्रतिष्ठा है। उसकी उपासना के विषय में यह मन्त्र है ॥ २ ॥

वि० बि० भाष्य—मन्त्र और ब्राह्मणभाग से प्रतिपाद्य, विज्ञानमय कोश के भीतर तथा उससे पृथक् आनन्दमय कोश है। इसका आनन्दमय कोश नाम इस लिए है कि इसमें आनन्द की प्राप्ति अधिक होती है, जैसे—शुभ कर्मों के फलानुभव-काल में अन्तर्मुख हुई अन्तःकरण की वृत्ति में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, आत्म-प्रतिबिम्बित वृत्ति आनन्दमय कही जाती है। अर्थात् पुरुष जब शुभ कर्मों के फल का अनुभव करता है, उस समय अन्तःकरण की वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है, उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह आनन्दमय कही जाती है। कर्मफल के समाप्त होने पर वह वृत्ति भी लीन हो जाती है। आनन्दमय आत्मा भोक्तारूप भी है। उसी आनन्दमय कोश से यह विज्ञानमय कोश परिपूर्ण है। वह आनन्दमय कोश भी पुरुषाकार है। उसके पाँच अवयवों का कथन करते हैं—उस आनन्दमय आत्मा का प्रिय—

इष्ट वस्तु के दर्शन से जन्य सुख शिर है, याने वह प्रधान शिरस्त्वेन ध्यान करने योग्य है। इष्ट पदार्थ का लाभजन्य सुखविशेष उसके दक्षिण और उत्तर पक्ष हैं. याने उसकी दहिने और बाँये हाथरूप से उपासना करनी योग्य है। प्रिय प्रमोद आदि अवयवों में सामान्यरूप से अनुगत सुख आनन्दमय का मध्य भाग है। और जो प्रकृत सत्यज्ञानानन्तलक्षण है तथा जिसके बोध के लिए अन्नमयादि पाँच कोशों का निरूपज किया गया है वह सर्वान्तर्भूत परब्रह्म आनन्दमय कोश का पुच्छरूप करके आधार है। वही ध्यान करने योग्य है। याने अज्ञानकल्पित जो कुछ द्वैत प्रपञ्च है उसका अवसानअवधि अद्वैत ब्रह्म ही है, वही प्रतिष्ठा है। क्योंकि सब कुछ ब्रह्म में ही कल्पित है। इसी अर्थ को अगले मन्त्र ने भी कहा है॥ २॥

विशेष—'आनन्दमय' इस शब्द से कार्यात्मा की प्रतीति होती है, क्योंकि यहाँ अन्नमय आदि भौतिक कार्यात्माओं का अधिकार है, उन्हीं के अन्तर्गत यह आनन्दमय भी है। और 'वह आनन्दमय आत्मा के प्रति संक्रमण करता है' इस अष्टम अनुवाक में कहे गये मन्त्रानुसार अन्नमयादि अनात्मा कार्यात्माओं का ही संक्रमण होता देखा गया है। स्वयं आत्मा का संक्रमण होना संभव नहीं है, याने आत्मा का आत्मा को प्राप्त होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अपने आत्मा में भेद का सर्वथा अभाव है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ आनन्दमय से कार्यात्माओं का ही ग्रहण है।

उस आनन्दमय आत्मा का पुत्रादि इष्ट पदार्थों के दर्शन से होनेवाला प्रिय ही प्रधानता के कारण शिर के समान शिर है। जो प्रकृत ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप है, जिसकी प्राप्ति के लिए अन्नमय आदि पाँच कोशों का उपन्यास किया गया है, जो उनकी अपेक्षा अन्तर्वर्ती है और जिस के द्वारा वे सब आत्मवान् हैं, वह ब्रह्म ही उस आनन्दमय की पुच्छ—प्रतिष्ठा है। याने अविद्या द्वारा कल्पना किये हुए सम्पूर्ण द्वैत का निषेधावधिभूत वह अद्वैत ब्रह्म ही उसकी प्रतिष्ठा है।

पञ्च कोशों को लक्ष्य करके अब तक जो कुछ कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत् का कारणरूप ब्रह्म तथा अधिष्ठानरूप ब्रह्म आनन्दमय पक्षी का पुच्छ है और वही प्रतिष्ठा है। इस आनन्दमय से ही विज्ञानमय परिपूर्ण है, इससे विज्ञानमय का यह आनन्दमय आत्मा है। विवेकी पुरुष को चाहिए कि विज्ञानमय कोश में आत्मत्वबुद्धि का परित्याग करके आनन्दमय कोश को आत्मरूप से निश्चय करे। इस प्रकार श्रुति में जो पञ्च कोशों का निरूपण किया गया है, वह केवल अधिष्ठान ब्रह्म के बोध के लिए है, अन्नमयादि पञ्च कोशों के निरूपण के लिए

नहीं। क्योंकि अधिष्ठान ब्रह्मात्मा के ज्ञान से मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है। और अन्नमयादिकों के ज्ञान से मुक्तिरूप फलप्राप्ति सम्भव नहीं। इस प्रकार विवेकी पुरुष को उचित है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन चार कोशों को अनात्मा जानकर आनन्दमय कोश का अधिष्ठानरूप, तथा पुच्छ की तरह पुच्छ जो ब्रह्म है उसका निश्चय करे। याने आनन्दमय ही आत्मा है, उसका ब्रह्म पुच्छ है, ऐसी धारणा करे। ब्रह्मज्ञान के लिए पञ्च कोश कहे गये हैं। एक एक कोश के पाँच पाँच अवयवों का वर्णन तो श्रुति ने किया, किन्तु पञ्चम आनन्दमय कोश के चार अवयवों का निरूपण करके श्रुति ने विचार किया कि आनन्दमय पक्षी का पुच्छरूप अवयव किस पदार्थ को कहा जाय ? अन्य कोई पदार्थ प्रतीत हो नहीं रहा है, ऐसा विचार करके, ब्रह्म पुच्छरूप नहीं है तो भी श्रुति ने अधिष्ठानरूप ब्रह्म को पुच्छरूप से कथन किया है। इससे अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान के लिए ही पञ्च कोशों का निरूपण किया गया है॥ २॥

——❀❀❀——

अथ षष्ठ अनुवाक

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती ३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता ३ उ॥ १॥

भावार्थ—यदि 'ब्रह्म नहीं है' जो ऐसा जानता है, वह सत्ताशून्य हो जाता है, और यदि 'ब्रह्म है' जो ऐसा जानता है तो उसको ब्रह्मवेत्ता लोग सत्तायुक्त समझते हैं। उस पूर्वोक्त विज्ञानमय कोश का यह आनन्दमय शरीरस्थित आत्मा है। अब ये अनुप्रश्न हैं, याने आचार्योपदेश सुनने के बाद शिष्य के ये प्रश्न हैं कि क्या कोई अज्ञानी मनुष्य यहाँ से मरकर परमात्मात्मा को प्राप्त हो सकता है या नहीं, एवं अज्ञानी की तरह कोई विद्वान् इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् परमात्मा को प्राप्त होता है कि नहीं ?॥ १॥

वि० वि० भाष्य—सब व्यवहारों से रहित तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों का

अविषय होने से 'ब्रह्म असत् है, अर्थात् है ही नहीं' जो मनुष्य इस प्रकार जानता है, वह पुरुषार्थशून्य होकर असत् के तुल्य हो जाता है। याने वह श्रद्धाहीन—नास्तिक हो जाता है इसी से वह असाधु समझा जाता है। और जो मनुष्य ब्रह्म को अखिल द्वैत प्रपञ्च का अधिष्ठान, कर्ता तथा लय का आधार जानता है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग परमार्थ से सद्रूप—ब्रह्मरूप मानते हैं। अतएव ब्रह्म है, ऐसा जानना चाहिए। कोई विद्वान् यहाँ इति शब्द का मन्त्रसमाप्तिरूप अर्थ मानते हैं। उस विज्ञानमय का यही शारीर—विज्ञानमय शरीर में रहनेवाला आत्मा है, वह कौन है ? आनन्दमय है।

पहले श्रवणविधि के प्रकार से आत्मतत्त्व को दिखाया गया है, अब मननविधि के द्वारा आत्मतत्त्व के लिए शिष्य के प्रश्नों को कहते हैं—

आकाश के तुल्य ब्रह्म की सब के साथ समानता होने के कारण आचार्य की उक्ति के अनु—पश्चात् किये जानेवाले ये प्रश्न अनुप्रश्न हैं, जैसे—अज्ञानी मनुष्य मरने के बाद प्रकाशात्म ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होता है या नहीं ? तथा विद्वान् उपर्युक्त ब्रह्म को प्राप्त होता है अथवा नहीं होता ? ब्रह्म किसी का भी पक्षपाती नहीं, क्योंकि वह सब के लिए समान है। जब कि ऐसी स्थिति है तो अविद्वान् उसको प्राप्त होता है या नहीं, तथा विद्वान् उसको प्राप्त करता है या नहीं ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत में प्रश्नोत्तर द्वारा जिस प्रकार आत्मा का निरूपण किया गया है, उसको दिखाते हैं, प्रथम प्रश्न—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वेदान्तियों का मानना मिथ्या है। क्योंकि जो ब्रह्म सत्यादिरूप होता तो पृथिवी जलादिकों की तरह सबको प्रतीत होना चाहिए था, पर ऐसा होता नहीं, अतः ब्रह्म नहीं है। द्वितीय प्रश्न—ब्रह्म सबका आत्मा है, उसका किसी से पक्षपात नहीं, इसलिए वह जैसे ज्ञानी को प्राप्त होता है, वैसे ही अज्ञानी को भी क्यों नहीं प्राप्त होता ? तृतीय प्रश्न—जैसे व्यापक आकाश की ज्ञानी को प्राप्ति और अज्ञानी को अप्राप्ति कहनी विरुद्ध है, वैसे ही सर्वत्र आत्मरूप से व्यापक ब्रह्म की ज्ञानी को प्राप्ति होती है, और अज्ञानी को नहीं, ऐसा कहना भी विरुद्ध है। यदि अज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त नहीं होता तो विद्वान् को भी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए। ये तीन प्रश्न हैं, इनमें से पहले दो का समाधान किया जाता है—हम मानते हैं कि ब्रह्म सबका आत्मा है, अतः अज्ञानी को भी प्राप्त है। किन्तु बात यह है कि ब्रह्मज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति द्वारा ज्ञानी पुरुष ब्रह्म को निरावरण आत्मरूप से जब जान जाता है, तब वह 'ब्रह्म को प्राप्त हुआ' ऐसा कहा जाता है। और अज्ञानी पुरुष का आवरण निवृत्त नहीं हुआ, अतः उसके प्रति 'अज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त नहीं हुआ' ऐसा कथन किया जाता है। जैसे—दो मनुष्यों

के घर पृथिवी में धन गड़ा हुआ है। एक मनुष्य किसी ज्ञाता के कथन से पृथिवी को खोदकर प्राप्त हुई निधि को प्राप्त करता है। दूसरा मनुष्य ज्ञाता पुरुष के न मिलने से प्राप्त हुई निधि को भी प्राप्त नहीं कर सका। इसी प्रकार किसी अधिकारी पुरुष को शुभ कर्मों से ब्रह्मनिष्ठ गुरु मिल गये, उन्होंने कहा कि तू शुद्ध सच्चिदानन्द निर्विकार परिपूर्णरूप ब्रह्म है, अपने ऐसे स्व स्वरूप को त्याग कर अपने को सुखी दुःखी तथा जन्म मरणवाला क्यों मानता है? ऐसे वाक्य को श्रवण करके वह शुद्ध अधिकारी प्राप्त ब्रह्म को प्राप्त होता है। और दूसरे मनुष्य को निष्काम कर्म के अभाव से अन्तःकरण की शुद्धि तथा ज्ञानी गुरु की प्राप्ति नहीं हो सकी। सामग्री के अभाव से उसे ज्ञान नहीं हुआ, अतएव वह मनुष्य प्राप्त ब्रह्म को भी प्राप्त न हो सका॥ १॥

आचार्य उत्तर देने के लिए भूमिका बाँधते हैं, यथा—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इद ँ सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनु प्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति॥ २॥

भावार्थ—इस परमात्मा ने इच्छा की कि 'मैं बहुत हो जाऊँ' अर्थात् मैं नाम रूप से बहुत होकर उत्पन्न होऊँ। अतः उसने तप किया। उसने तप—विचार करके इस नामरूपात्मक जगत् को रचा, जो कुछ यह दृश्यमान हो रहा है। इसको रचकर उसमें वह आप ही चैतन्यकलारूप से प्रविष्ट हो गया। उसमें प्रवेश करके फिर वह सत्यस्वरूप परमात्मा मूर्त-अमूर्त, कथन करने योग्य—न कथक करने योग्य, (नीच-ऊँच), आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन, और सत्य-असत्यरूप हो गया। यह जो कुछ है उसे ब्रह्मज्ञानी लोग 'सत्य' इस नाम से कथन करते हैं। उसके विषय में यह अगला मन्त्र कहा गया है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—सृष्टि के आदि काल में परमात्मा ने ऐसी इच्छा की कि 'मैं एक से अधिक हो जाऊँ, मैं प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ'। ब्रह्म की स्वरूप से तो

उत्पत्ति होनी सम्भव नहीं, अतः जल में सूर्यादि के प्रतिविम्बवत् अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिविम्ब पड़ना ही उसकी उत्पत्ति मानी गयी है, स्वरूप से नहीं। पहले उसने सृष्टि रचने का विचार किया, फिर उसने यह सम्पूर्ण जगत्, जो सबको प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है रचा। उस अपनी निर्माण की हुई सृष्टि में पीछे उसने आप ही प्रवेश किया, याने अखिल जीवों के अन्तःकरण को प्रतिविम्बित किया। क्योंकि जड में व्यापक का बास्तविक प्रवेश होना सम्भव नहीं। उस कार्यजगत् में वह प्रविष्ट होकर आप ही पृथ्वी, जल तथा तेज तीन स्थूल भूतों से चक्षुः इन्द्रिय आदिकों का विषय, मूर्तिमान् हो गया और वायु तथा आकाश इन दो सूक्ष्म भूतों से अमूर्तिमान् हो गया। याने परमात्मा मूर्त अमूर्त दोनों रूप से हो गया। वही निरुक्त और अनिरुक्त भी हो गया अर्थात् नाम रूप करके निरूपण करने योग्य अखिल भूत भौतिक कार्य, और जो निरूपण करने को अशक्य है वह भी स्वयं हो गया। वही निलय तथा अनिलय भी हो गया। जो किसी आधार के सहारे टिक सके वह 'निलय' है, जैसे वृक्ष गृह आदि। और जो ऐसा न हो वह 'अनिलय' है यथा आकाशादिक। विज्ञान और अविज्ञान भी वही हो गया, विज्ञान चेतनादि मनुष्यों का, और अविज्ञान पाषाणादि जड पदार्थों का नाम है। और वही सत्य, अनृत—असत्य भी हो गया। व्यवहार का जो विषय हो वह सत्य है, जैसे नदी के जलादिक, और असत्य प्रातिभाषिकपदार्थ शुक्ति रजतादिक हैं। यह जो परमार्थ सत्यस्वरूप ब्रह्म है, वही सत्-असत्, निरुक्त-अनिरुक्त, निलय-अनिलय, विज्ञान-अविज्ञान, और सत्य-अनृत रूप से हुआ है। इन सत् आदिकों को श्रुति खास तौर से फिर कहती है—'यदिदं किञ्च'—जो कुछ वस्तुमात्र है, उक्तानुक्त रूप जो कुछ भी है वह परमार्थसत्य है, याने उसको ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्मरूप करके ही कथन करते हैं। उस इस ब्राह्मणोक्त अर्थ के लिए ही वह (अगला) मन्त्र है। जिस प्रकार पूर्वोक्त पाँच पर्यायों में अन्नमयादि कोशों के प्रकाशक श्लोक थे, उसी तरह सबकी अपेक्षा आन्तरतम आत्मा के अस्तित्व को उसके कार्य द्वारा प्रकाशित करनेवाला भी यह मन्त्र है ॥ २ ॥

विशेष—पहले यह प्रश्न किया गया है कि 'जो ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त आदिरूप होता तो पृथिवी जल आदिकों की तरह हम सब को प्रतीत होता, पर ऐसा होता नहीं, इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्म है नहीं ?' प्रकृत मन्त्र में उसका उत्तर दिया गया है। ईश्वर ने जगत् रचा, उसमें स्वयं प्रविष्ट होकर उसे सत्ता स्फूर्तिवाला बनाया, इत्यादि कथन से ब्रह्म की सत्ता प्रमाणित होती है। परमात्मा का मुख्य प्रवेश होना तो बनता नहीं, क्योंकि परिच्छिन्न पदार्थ का ही मुख्य प्रवेश हो सकता है,

इससे प्रवेशकथन जीव की ब्रह्मरूपता के बोधन के लिए है। जैसे देवदत्त अपने घर में प्रवेश करता है, वह प्रवेशकर्त्ता बाह्यस्थित अपने रूप से भिन्न नहीं है, किंतु जो बाहर स्थित था, वही घर में विराजमान है। वैसे ही इस संघात में परिपूर्ण ब्रह्म ने ही जीवरूप से प्रवेश किया है। इससे जीव पूर्ण ब्रह्म से जुदा नहीं है याने ब्रह्म ही जीव है। इस तात्पर्यबोधन करने के लिए ही यह प्रवेशश्रुति अर्थवादरूपा है। ऐसा परमात्मा ही अन्तःकरण में स्थित हुआ द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता रूप से प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार कामना करनेवाला, विचार करनेवाला जगत् की उत्पत्ति करनेवाला, प्रवेश करनेवाला और मूर्त अमूर्त आदि रूपता को आप धारण करनेवाला ब्रह्म असत् कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। प्रथम प्रश्न का यह समुचित उत्तर हो गया।

इस मन्त्र में कहा गया है कि आत्मा ने उक्त कामनावाला होकर 'तप' किया। यहाँ तप शब्द से "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु० उ० १-१ ८) इस श्रुति से दर्शित 'ज्ञान' लिया गया है। आप्तकाम होने के कारण आत्मा के लिए अन्य तप तो सम्भव नहीं, यावे आत्मा को किस बात की कमी है जो वह तप के रगड़े में पड़े। 'उसने तप किया' इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा ने रचे जानेवाले जगत् की रचना आदि के विषय में आलोचना की ॥ २ ॥

——❀❀❀——

अथ सप्तम अनुवाक

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मान ँ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति ॥१॥

भावार्थ—पहले यह जगत् असत् ही था, याने अव्याकृत ब्रह्मस्वरूप ही था, उस अव्यक्त ब्रह्म से नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई। वह असत् ब्रह्म आप ही अपनी कामना से अपने को जगत्‌रूप से रचता भया। इस लिए वह सुकृत कहा जाता है, क्योंकि वह कारण से कार्य को प्राप्त होकर भी विकारी नहीं हुआ। यहाँ किसी को इति शब्द मन्त्रसमाप्त्यर्थक अभिमत है। वह जो प्रसिद्ध सुकृत है, वह निश्चय ही रस है याने साररूप है, क्योंकि मनुष्य इस रस को पाकर आनन्दित हो जाता है। यदि हृदयाकाश-बुद्धिरूप गुहा में वर्तमान यह आनन्दस्वरूप परमात्मा न हो तो कौन व्यक्ति अपानक्रिया करे और कौन प्राणनक्रिया कर सके ? निश्चय करके यह परमात्मा ही उन्हें आनन्दयुक्त करता है, क्योंकि इन्द्रियागोचर,शरीररहित, विशेषशून्य और आधाररहित ब्रह्म में जब यह उपासक अभयरहित स्थिति को प्राप्त होता है तो इसके बाद यह निर्भयता-अभयपद को प्राप्त हो जाता है। और जब यह इसमें थोड़ा सा भी भेद करता है, तब उसको भय होता है। भेददर्शी विद्वान् के लिए वह ब्रह्म ही भयरूप है। इसी अर्थ में यह श्लोक है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—यह सम्पूर्ण जगत् उत्पत्ति से पहले स्थूलरूप से रहित ब्रह्मरूप ही था, उस अविकृत ब्रह्म से ही स्थूल जगत् उत्पन्न हुआ। ब्रह्म ने अपने आप को जगत्‌रूप से उत्पन्न किया, इसी से श्रुति में ब्रह्म को सुकृत कहा गया है, इस नाम रूप जगत् को उत्पन्न करनेवाला ब्रह्म ही सुकृत है। मन्त्र में यहाँ तक सत्यरूप से ब्रह्म का निरूपण किया गया, अब आनन्दरूप से ब्रह्म का वर्णन करते हैं—

पहले कहा गया सत्यरूप ब्रह्मात्मा ही अपने स्वरूपभूत आनन्द से सम्पूर्ण जगत् को आनन्दित करता है, इससे वह रसरूप है याने साररूप है। ब्रह्म की आनन्दरूपता के विषय में विद्वान् का अनुभव ही प्रमाण है। पुत्र कलत्रादि विषयों को न प्राप्त हुआ भी विद्वान् उस आनन्दरूप ब्रह्मात्मा को प्राप्त करके परम आनन्दयुक्त देखने में आता है। इन्द्रियादि सहित इस स्थूल शरीर का जीवन भी आनन्दरूप आत्मा के बिना नहीं हो सकता। यदि सबका साक्षीभूत, हृदयाकाश में अर्थात् बुद्धिरूप गुहा में स्थित आनन्दरूप आत्मा न होता तो जीवन के हेतु प्राणादिकों के व्यापार को कौन करता ? प्राणादिकों का व्यापार जिस चेतन के अधीन है वही आनन्दरूप आत्मा सम्पूर्ण लोकों को सुख देता है। जो दृश्य प्रपञ्च से शून्य, शरीर से रहित, इयत्ता कथन करने के अयोग्य और किसी के आश्रित नहीं है, उस ब्रह्म में भय से रहित जो उपासक निष्ठा को प्राप्त होता है, वह निर्भय पद को प्राप्त कर लेता है। जो पुरुष उस अद्वैत ब्रह्म में किञ्चित् भी

भेद देखता है, वह द्रष्टा भय को प्राप्त होता है। जैसे एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा जाननेवाला विद्वान् भी अज्ञानी ही कहा जाता है, वैसे ही अद्वितीय ब्रह्म में भेदबुद्धि करनेवाला विद्वान् भी अज्ञानी ही है। जो विद्वान् 'ईश्वर अन्य है, मैं दूसरा हूँ' इस प्रकार की भेदबुद्धि करता है, उसके लिए ब्रह्म भय का हेतु है, इसी अर्थ को आगेवाला मन्त्र भी कहता है ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में कहा गया है कि भेददर्शी को भय होता है, इसका अभिप्राय यह है कि अविद्वान् को ही भेदबुद्धि करने से भय होता है यही बात नहीं, किन्तु विद्वान् को भी भय होता है। यहाँ तक है कि उपास्य उपासकभाव में भी भय ही होता है। द्वैत में ही उपास्य उपासकभाव संभव है, एक में यह भाव बनता ही नहीं। भेददर्शी विद्वान् के लिए वह ब्रह्म ही भयरूप है, याने ईश्वर मेरे से भिन्न है, तथा मैं संसारी जीव भिन्न हूँ, इस प्रकार थोड़ा सा भी भेद देखनेवाले विद्वान् के लिए ईश्वरसंज्ञक ब्रह्म ही भयरूप हो जाता है। अतः जो मनुष्य एक अभिन्न आत्मतत्त्व को नहीं देखता वह विद्वान् होने पर भी अविद्वान् ही है। इस मन्त्र में कहा गया है कि असत् से सत् उत्पन्न हुआ, इस से यहाँ वन्ध्यापुत्रादि अत्यन्त असत् पदार्थों का ग्रहण नहीं करना। क्योंकि असत् से सत् का जन्म होना असंभव है। यहाँ यह अर्थ करना कि 'असत्' शब्दवाच्य से ही 'सत्' याने जिसके नाम रूप का विभाग हो गया है, उस विशेष की उत्पत्ति हुई। प्रकृत मन्त्र में कहा गया है कि जो भी वह प्रसिद्ध सुकृत है वह निश्चय रस ही है। खट्टा मीठा आदि तृप्तिदायक और आनन्दप्रद पदार्थ लोक में 'रस' नाम से प्रसिद्ध है, इसको पाकर पुरुष आनन्दी याने सुखी होता है। असत् पदार्थ आनन्द का हेतु नहीं हो सकता, देखो—ब्रह्मनिष्ठ निरीह और निरपेक्ष महात्मा लोगों के पास बाह्य सुख के साधनों का अभाव देखने में आता है। तो भी वे उन लोगों से अधिक आनन्दमग्न दृष्टिगोचर होते हैं जिनके पास बाह्य रस का लाभ प्रदान करनेवाले सांसारिक साधनों की कुछ भी कमी नहीं है। इस से प्रतीत होता है कि उनका रस ब्रह्म ही है, अतः रस की तरह उनके आनन्द का कारण वह ब्रह्म ही है ॥ १ ॥

अथ अष्टम अनुवाक

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमा ँ सा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः॥ १॥

भावार्थ—इसके भय से वायु चलता है, इसके भय से सूर्य उदय होता है, इसके डर से अग्नि, इन्द्र और पाँचवा मृत्यु दौड़ता है, याने ये स्व-स्व कर्म में प्रवृत्त होते हैं। अब यह ब्रह्म के आनन्द की मीमांसा है,—साधु स्वभाववाला नवयुवक याने सदाचारी, अच्छा जवान, वेदादि विद्यासंपन्न, अत्यन्त आशावादी याने किसी दशा में भी निराश न होनेवाला, अत्यन्त दृढ़ याने हृष्टपुष्टाङ्ग शूरवीर और अतिबलवान् हो, यह धन धान्य से परिपूर्ण समग्र पृथिवी भी उसी के अधीन हो, उसको जो आनन्द प्राप्त है, वह एक मनुष्य का आनन्द है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—उस परमात्मा के भय से वायु चलता है, अर्थात् उसके द्वारा नियुक्त किये हुए नियम से वायु रात दिन निरन्तर गमन करता रहता है, अन्यथा किसी की भी प्राणन क्रिया न हो सके। उसी की आज्ञा से सूर्य नित्य ही उदय अस्त होता रहता है, अन्यथा किसी को लव निमेषादि काल का ज्ञान न हो सके। उसी के भय से अग्नि प्रज्वलित होता है, अन्यथा सांसारिक पाकादि कार्य न हो सकें। उस परमात्मा के भय से ही इन्द्र वर्षा करता है, अन्यथा 'वृष्टेरन्नं ततः प्रजा' यह व्यवस्था ही नष्ट हो जाय। और वायु अग्नि सूर्य तथा चन्द्रमा इन चार देवताओं की अपेक्षा पाँचवा मृत्यु भी प्रतिदिन प्राणियों के कर्मानुसार उन्हें नष्ट करने के लिए दौड़ता रहता है, अन्यथा जीर्ण शीर्ण पदार्थों से भरकर यह संसार ही शिथिल हो जाय। किसी विद्वान् के मत में यहाँ इति शब्द का मन्त्रसमाप्ति अर्थ है। अब ब्रह्मानन्द से ही ब्रह्मादिक आनन्दित हो रहे हैं, इस अर्थ के निरूपण के लिए विषयजन्य आनन्द की न्यूनता तथा अधिकता को दिखाते हैं—

ब्रह्मस्वरूप आनन्द ही सब में जैसे व्यापक है, उसका विचार करते हैं—इस मनुष्यलोक में जो मनुष्य सज्जनतापूर्ण यौवन अवस्थावाला हो, सुन्दररूप और उत्तम

स्वभाववाला हो, सब विद्याओं से सम्पन्न हो, माता पिता आचार्य आदिकों से शिक्षित हो, शूरवीर याने वज्रतुल्य अङ्गोंवाला हो, इन्द्र के समान बलवान् हो, और स्वर्णादि धन से तथा व्रीहि आदि अन्नों से परिपूर्ण सारी पृथिवी का पति हो, ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न चक्रवर्ती राजा को जितना आनन्द प्राप्त होता है, वह मनुष्यसम्बन्धी एकांश आनन्द है ॥ १ ॥

विशेष—पवन, सूर्य, अग्नि, चन्द्र और मृत्यु ये प्रधान शक्तियाँ जो नियम-पूर्वक अपने अपने कार्यसंपादन में लगी रहती हैं, इनका ऐसा करना किसी शासक के होने पर ही संभव है। जिस प्रकार राजा के भय से सेवक लोग अपने अपने कामों में लगे रहते हैं, उसी प्रकार ये जिसके भय से प्रवृत्त हो रहे हैं, वह उनके भय का कारण आनन्दस्वरूप ब्रह्म है। जिसके भय से वायु आदिक पाँचों रात दिन अपने अपने कार्य करने के लिए दौड़ते फिरते हैं, अर्थात् जिसके भय—शासनदण्ड के बल से स्व स्व कर्तव्य पालन करने में कहीं जरा भी नहीं चूकते, उसे तुम ब्रह्म जानो। जब कि वायु आदिक सर्व प्रधान देवताओं के भय का कारण ब्रह्म है तब अन्य तुच्छ जीवों का तो कहना ही क्या है ?

आगे के मन्त्रों के विचार से, तथा ब्रह्म की प्राप्ति में जो आनन्द है उससे बढ़-कर कोई आनन्द न होने के कारण वह सब आनन्दों का अवधि है, उस अपूर्व आनन्द के बोधन करने के लिए मानुषानन्द से आनन्दपरम्परा का आरम्भ किया जाता है ॥ १ ॥

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्य-गन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामा-नन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्ध-र्वाणामानन्दाः। स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामा-नन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवाना-मानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजा-नजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामा-

नन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ २ ॥

भावार्थ—पहले कहा गया जो मनुष्यानन्द है, उससे सौ गुना 'मनुष्य-गन्धर्वों' का एक आनन्द है, और जितना आनन्द उनको है उतना ही शुद्धचित्त निष्काम विद्वान् को प्राप्त है। जो ये मनुष्यगन्धर्वों के सौ आनन्द हैं, 'देवगन्धर्वों' का वह एक आनन्द है, वही अकामहत—जो कामनाओं से पीडित नहीं है उस श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। जितना आनन्द देवगन्धर्वों को प्राप्त होता है, उससे सौ गुना अधिक आनन्द नित्यलोकवासी 'पितृगण' को प्राप्त होता है, तथा उतना ही आनन्द शुद्धान्तः-करण, निष्काम श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। चिरलोक के वासी पितृगण के जो सौ आनन्द हैं, वही 'आजानज' देवताओं का एक आनन्द है और वह अकामहत—कामना से रहित वेदवेत्ता को भी प्राप्त है। जितना आनन्द आजानज देवताओं को प्राप्त है, उससे सौ गुना अधिक आनन्द उन 'कर्मदेवताओं' को मिलता है, जो अग्निहोत्रादि कर्म की महिमा से देवभाव को प्राप्त हुए हैं, और जितना आनन्द उनको प्राप्त होता है उतना ही कामनारहित विद्वान् को होता है। कर्मदेव देवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वही 'देवताओं' का एक आनन्द है, और वह सर्वकामनाविवर्जित वेदज्ञ विद्वान् को भी प्राप्त है। जितना आनन्द देवताओं को होता है उससे शतगुण अधिक आनन्द 'इन्द्र' को होता है, और उतना ही आनन्द इच्छाओं का त्याग करनेवाले शास्त्रज्ञ को होता है। इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं, वही 'बृहस्पति' का एक आनन्द है, और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। जितना आनन्द बृहस्पति को होता है, उससे सौ गुना अधिक आनन्द 'प्रजापति' को होता है, और उतना ही आनन्द निष्काम विद्वान्

को होता है। एवं जितना आनन्द एक प्रजापति को होता है, उससे भी शतगुण अधिक आनन्द 'ब्रह्मा' को प्राप्त होता है, तथा जितना आनन्द ब्रह्मा को होता है उतना ही कामनारहित विद्वान् को प्राप्त है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो बाह्य आभ्यन्तर सब प्रकार से सुखी है, जिसके लिए किसी प्रकार का अभाव नहीं है, ऐसे सम्राट् को जो आनन्द है—सुख है, वह एक मनुष्यानन्द हुआ, याने वह मनुष्यसम्बन्धी एक अंश आनन्द है। इस आनन्द से शतगुण अधिक आनन्द 'मनुष्यगन्धर्व' को होता है, (जो मनुष्य होते हुए कर्म और उपासना के बल से गन्धर्वता को प्राप्त हो गये हैं, अन्तर्धान आदि शक्ति जिन में है और जो दूसरे द्वीपों में रहते हैं, उन्हें मनुष्यगन्धर्व कहते हैं), वही आनन्द कामनाहीन ज्ञानी को भी प्राप्त है। इसी प्रकार पहले पहले पर्यायों की अपेक्षा अगले अगले पर्यायों में शतगुण अधिक आनन्द का वर्णन किया गया है। किसी भी श्रेणी में जो भी आनन्द है, उतना आनन्द उसको भी है जिस ने कामनाओं का परित्याग कर दिया है और जो वेद शास्त्रों का ज्ञाता है। जैसे—मनुष्यगन्धर्व से 'देवगन्धर्व' का आनन्द सौगुना है (देवगन्धर्व उनको कहते हैं जो कल्प के आदि में ही देवयोनि में उत्पन्न हुए हैं), इन के जितना आनन्द ब्रह्मज्ञानी को भी है। देवगन्धर्वों के आनन्द से सौगुना अधिक आनन्द नित्यलोकों में निवास करनेवाले अग्निष्वात्तादि पितरों को होता है (अग्निष्वात्तादि पितृगण चिर काल पर्यन्त पितृलोक में सुख का अनुभव किया करते हैं), वैसा ही आनन्द निष्काम विद्वान् को भी होता है। पितृगणों से सौगुना अधिक सुख 'आजानज देवताओं को होता है (आजान देवलोक को कहते हैं, स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान से उस लोक में जो देवयोनि को प्राप्त हुए हैं वे आजानज देवता कहाते हैं), वैसा ही सुख निष्काम ज्ञानी को भी है। आजानज देवताओं से सौगुना अधिक सुख 'कर्मदेवताओं' को होता है (जो श्रौत कर्मों की महिमा से देवभाव को प्राप्त हुए हैं, उनको कर्मदेवता कहते हैं), उतना ही सुख विद्वान् निस्पृह को भी है। जो सुख कर्मदेवताओं को है उस से सौगुना अधिक सुख 'देवताओं' को प्राप्त है (जो पहले से ही देवयोनि में उत्पन्न हुए हों वे देवता कहाते हैं), उतना सुख इच्छारहित ब्रह्मज्ञानी को भी प्राप्त है। देवताओं के आनन्द से सौगुने आनन्द का अधिकारी इन्द्र है (जो सौ अश्वमेध के अनन्तर देवताओं का राजा हुआ है उसे इन्द्र कहते हैं), उतना ही सुख निरिच्छुक वेदवेत्ता को भी प्राप्त है। बृहस्पति का आनन्द इन्द्र के सौगुने आनन्द से बढ़कर है (जो तपश्चर्या और विद्वत्ता के प्रभाव से

देवताओं के राजा इन्द्र का गुरु है, वह बृहस्पति है)। बृहस्पति के समान सुख निरभिलाष विद्वान् को भी प्राप्त है। बृहस्पति के आनन्द से प्रजापति का आनन्द सौगुना अधिक है (विराट् का नाम प्रजापति है, जो त्रिलोकी का शरीर है याने जो सब से प्रथम उत्पन्न हुआ है), वैसा सुख निष्काम विद्वान् को भी प्राप्त है। और प्रजापति के आनन्द से शतगुण अधिक आनन्द ब्रह्मा को प्राप्त है (सर्वप्रधान त्रिदेवों में जिसका प्रतिष्ठित पद है और जो वेदों का ज्ञाता, व्याख्याता तथा उपदेष्टा आदि है उसका नाम ब्रह्मा है)। जो सुख ब्रह्मा को है वही आनन्द उसको भी प्राप्त है जिसने कामनाओं का तृणवत् परित्याग कर दिया है और जो वेद शास्त्रादिकों का मर्मज्ञ है ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत में मनुष्यानन्द से मनुष्यगन्धर्व का आनन्द सौ गुना अधिक कहा गया है, इसका तत्त्व यह है कि मनुष्यगन्धर्व अन्तर्धानादि की शक्ति से सम्पन्न तथा सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों से युक्त होते हैं। अतः उन्हें शीतोष्णादि द्वन्द्वों का थोड़ा प्रतिघात होता है और वे द्वन्द्वों का सामना करनेवाली सामर्थ्य तथा साधन से सम्पन्न होते हैं। इस लिए उस शीतोष्णादि द्वन्द्व से प्रतिहत न होनेवालों को यदि आघात-आक्रमण हो भी जाय तो उसका प्रतिकार करने में समर्थ होनेसे चित्तप्रसाद प्राप्त होता है और प्रसादविशेष से उसके सुखविशेष की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार पूर्व पूर्व भूमि की अपेक्षा आगे आगे की भूमि में प्रसाद की विशेषता होने से सौ सौ गुने आनन्द का उत्कर्ष होना सम्भव ही है। "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" इस वाक्य का सम्बन्ध जैसे मनुष्यगन्धर्वानन्द आदि सबके साथ किया है, वैसे ही मनुष्यानन्द के साथ क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि विषयभोग और कामनाओं से व्याकुल न रहनेवाले श्रोत्रिय के आनन्द का उत्कर्ष मानुषानन्द की अपेक्षा सौ गुना है, अर्थात् मनुष्यगन्धर्व के आनन्द से कम न बतलाना ही उसका आशय है। यहाँ पर मनुष्यगन्धर्व से लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त सबके सुख में तारतम्य है—न्यूनाधिकता है, पर अकामहत श्रोत्रिय के आनन्द में [illegible] नहीं है। क्योंकि विषय के उत्कर्ष और अपकर्ष से सुख का भी उत्कर्ष और में यह बात [illegible] किन्तु कामनारहित पुरुष के लिए सुख का उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं अपकर्ष होता है, [illegible] अकामहत की विशेषता है। भाव यह है कि मनुष्यगन्धर्व हुआ करता। इस लिए [illegible] एक से दूसरे सौ सौ गुना अधिक आनन्दवाले व्यक्ति हैं, से लेकर ब्रह्मा तक जितने [illegible] अपेक्षया शतगुणित आनन्द है, वह अकामहत श्रोत्रिय को प्रत्येक का जो जो [illegible] भी प्राप्त है।

प्रकृत में बोधन करने [illegible] के लिए ब्रह्मा का आनन्द सबसे बढ़कर कहा गया है।

वह ब्रह्म का आनन्द, ब्रह्मानन्द–आत्मानन्द का लेश मात्र है। ब्रह्म आनन्द का समुद्र है, उसके एक बिन्दु से अखिल विश्व आनन्दित हो रहा है। उस निरतिशयानन्द तथा निरवधिकानन्द, आनन्दघन से वृष्टिवत् सचराचर आप्यायमान हो रहे हैं—सराबोर हो रहे हैं।

जब कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मानन्दयुक्त हो रहा है, तो शरीर के हाथ पाँव आदि अंशों के अभेद की तरह अंशभूत विषयानन्द अंशी ब्रह्मानन्द से भिन्न नहीं ठहरता। ऐसी दशा में शास्त्र तथा महात्मा लोग विषयानन्द को बुरा क्यों बताते हैं? इससे तो विषयानन्द की निन्दा से ब्रह्मानन्द भी निन्दित हो जाता है, क्योंकि दोनों में अभेद है। इसका समाधान यह है कि ब्रह्मानन्द और विषयानन्द में वास्तविक भेद न होने पर भी औपाधिक भेद है। जैसे गङ्गाजल स्वभावतः शुद्ध होता है पर वह कुत्ते की खाल में भर दिया जाय या उसमें मल-मूत्रादि सम्मिलित हो जायँ तो मलिन उपाधि के कारण वह अपेय तथा रोगजनक हो जायगा। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द का जो लेशमात्र आनन्द है वह विषयों के साथ सम्बद्ध होने से दुःखजनक हो जाता है। क्योंकि विषयरूप उपाधियाँ दुःखरूप हैं, अतः तत्सम्बद्ध आनन्द भी दुःखरूप हो जाता है। विषयानन्द को सोपाधिक होने के कारण दुःखजनक होने से शास्त्र और सन्तों ने इसकी निन्दा की है, और ब्रह्मानन्द निरुपाधिक आनन्द है इससे इसमें दुःख का लेश भी नहीं है।

दूसरी यह भी बात है कि उपाधि के स्वल्प तथा क्षणिक होने के कारण विषयानन्द भी स्वल्प तथा क्षणिक है। यदि ऐसे विषयानन्द से मनुष्य तृप्त हो जायगा तो वह जन्म मरण से कभी छुटकारा नहीं पा सकता। अतएव हे जिज्ञासुओ? नित्यानन्द की प्राप्ति तथा "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्" याने जन्म मरण की निवृत्ति के लिए शास्त्र और सन्तजन विषयानन्द की समालोचना करते हैं तो क्या अनुचित है? उन महात्माओं को तो पहाड़ की चोटी पर खड़े होकर डिण्डिमघोष के साथ–गले में ढोल डालकर बड़े जोर से चिल्लाकर विषयानन्द की निन्दा करनी चाहिए थी, जिससे कि जगत् विष (जो पहले से बचकर अमृतपुत्र हो जाय ॥ २ ॥ सुख इच्छारहित

अब इस मीमांसा के फल का उपसंहार किया जात आनन्द का अधिकारी

स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये हुआ है उसे इन्द्र कहते । बृहस्पति का आनन्द

एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्न विद्वत्ता के प्रभाव से

क्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह जो यह आत्मा पुरुष में है याने पञ्चकोशात्मक देह में है तथा जो आत्मा आदित्यमण्डल में है, वे दोनों एक ही हैं। जो साधक इस तत्त्व को जानता है वह इस लोक से चलकर याने दृष्ट और अदृष्ट विषयसमूह से निवृत्त होकर अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है। इसी प्रकार वह इस प्राणमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस मनोमय आत्मा को प्राप्त होता है, इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है, और इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करता है। इस विषय में यह अगला मन्त्र कहा है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जो आनन्दस्वरूप आत्मा सब पुरुषों के शरीर में स्थित है, वही आदित्यमण्डलस्थ पुरुष में भी रहता है, दोनों एक ही हैं। जो अधिकारी आत्मा के इस अभेद को याने ब्रह्मात्मा को अपना आत्मा करके जानता है, वह इस लोक से (दृष्ट और अदृष्ट इष्ट विषयों का समुदाय ही यह लोक है) 'प्रेत्य' प्रत्यावर्तन करके (लौटकर), अर्थात् उससे निरपेक्ष होकर इस उपर्युक्त अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है। अर्थात् वह विषयसमूह को अन्नमय शरीर से भिन्न नहीं देखता। तात्पर्य यह है कि वह सम्पूर्ण स्थूल भूतवर्ग को अन्नमय शरीर ही समझता है। उस के भीतर वह सम्पूर्ण कोशों में स्थित विभागहीन प्राणमय आत्मा को देखता है, और फिर क्रमशः इस मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि तत्पश्चात् वह इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय और अनाश्रय आत्मा में अभयस्थिति प्राप्त कर लेता है। इसी अर्थ में यह श्लोक भी है, याने इस प्रकरण के अर्थात् ब्रह्मानन्दवल्ली के अर्थ को संक्षेप से प्रकाशित करने के [illegible] अगला मन्त्र है ॥ ३ ॥

[illegible]—पहले आकाश से लेकर अन्नादिकों की उत्पत्ति करके आनन्दमय [illegible] में प्रवेश किया। इस लिए नानारूपों से वह सभी प्राणियों में [illegible] में भी व्याप्त हो रहा है। कामनारहित वेदवेदान्तादिशास्त्र- [illegible] करता है। वही आनन्दरूप है, एक है, और भेद से रहित है,

भयह वार्ता [illegible] अपकर्ष होता है, [illegible] हुआ करता। इस लिए [illegible] से लेकर ब्रह्मा तक जितने प्रत्येक का जो जो भी प्राप्त है। अन्य [illegible]

प्रकृत में बोधन करने [illegible]

याने औपाधिक भेदविवर्जित है। अध्यात्मरूप नेत्रों में वा पञ्चकोशरूप देह में तथा अधिदैव आदित्यमण्डल में स्थित ब्रह्मात्मा में भेद नहीं है। इस प्रकार आत्मा को अभेद रूप से जानता हुआ विद्वान् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय इन पञ्चकोशों में आत्मत्वबुद्धि का परित्याग करके ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है ॥३॥

अथ नवम अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एत ँ ह वाव न तपति। किमह ँ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मान ँ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मान ँ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत् ॥ १ ॥

भावार्थ—मन सहित वाणी जिसको न पाकर लौट आती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जाननेवाला जन्म मरण आदि भय से कभी नहीं डरता है। 'बड़े दुःख की बात है कि मैंने सत्कर्म क्यों नहीं किया, पापकर्म को क्यों किया ?' विद्वान् को इस प्रकार का पश्चात्ताप सन्तप्त नहीं कर सकता। उन्हें इस प्रकार जाननेवाला, याने पाप पुण्य ही सन्ताप देनेवाले हैं, इस तरह समझनेवाला जो ब्रह्मवेत्ता अपने आत्मा को प्रसन्न करता है, उसे ये दोनों आत्मस्वरूप ही दिखाई देते हैं। ऐसा वह है, जो इस प्रकार अद्वैत आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानता है। ऐसी यह उपनिषद् है, याने रहस्यविद्या है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस निर्विकल्प अद्वैत आनन्दस्वरूप आत्मा को वाणियाँ न पाकर अर्थात् सामर्थ्यहीन होकर मनसहित लौट आती हैं, ऐसे ब्रह्मानन्द को पूर्वोक्त प्रकार से जाननेवाला पुरुष किसी से भय नहीं पाता। मरण काल समीप आने पर 'मैंने सत्कर्म क्यों नहीं किये ?' ऐसा सन्ताप और 'मैंने पाप कर्म क्यों किये ?' ऐसा नरक में गिरने आदि के समय का पश्चात्ताप; ये दोनों जैसे अज्ञानी को दुःख देते हैं, वैसे इस ज्ञानी को नहीं तपाते। क्योंकि जो ऐसा ज्ञानी है वह इन दोनों तापों के हेतु शुभ-अशुभ कर्मों को आत्मभाव से देखकर अपने को तृप्त करता है याने इन

दोनों को आत्मरूप देखता है। इस कारण इसको पुण्य पाप ताप नहीं देते हैं। जो ऐसा जानता है वह अद्वैत आनन्दरूप ब्रह्म को जानकर तृप्त होता है। ताप देनारूप फल से हीन होने के कारण आत्मभाव से देखे हुए पुण्य पाप उसके जन्म के आरम्भ-कर्ता नहीं होते, अर्थात् वह ज्ञानी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इस ब्रह्मानन्द-वल्ली में ब्रह्मविद्यारूप उपनिषद् अर्थात् सकल विद्याओं का परम रहस्य कहा गया है ॥ १ ॥

विशेष—जो विद्वान् है, ब्रह्मवेत्ता है, उसे पुण्य पाप बाधक नहीं होते, क्योंकि वह उनको अपना आत्मरूप समझता है। क्योंकि उस विद्वान् से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे कि उसे भय हो। अविद्यावश ब्रह्म से थोडा सा भी अन्तर करने पर जीव को भय होता है, अतः तिमिररोगी के देखे हुए द्वितीय चन्द्रमा के समान विद्वान के अविद्याकार्यभूत भय के निमित्त का नाश हो जाने के कारण वह किसी से नहीं डरता, ऐसा कहना ठीक ही है। जैसे अग्नि सब को जला देता है किन्तु अपने स्वरूप का दाह नहीं करता, वैसे ही सब कर्मों को अपना आत्मरूप जाननेवाले विद्वान् को पुण्यकर्म न करने का तथा पापकर्म करने का संताप तपाय-मान नहीं कर सकता है ॥ १ ॥

ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्त।

——❀❀❀——

भृगुवल्ली

अथ प्रथम अनुवाक

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवा-वहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पिछली ब्रह्मानन्दवल्ली में यह कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी के किये हुए शुभ अशुभ कर्म सन्ताप तथा जन्मान्तर के हेतु नहीं होते हैं। और ब्रह्मविद्या की समाप्ति भी उसी पहली वल्ली में की गयी है। अब ब्रह्मविद्या के साधन जो तप तथा अन्नादि विषयक उपासनायें हैं, उनका निरूपण करने के लिए इस वल्ली का आरम्भ किया जाता है। 'प्रिय पुत्र के लिए ब्रह्मविद्या का उपदेश करे, दूसरे के प्रति

न करे' यह कथन इसी लिए है कि ब्रह्मविद्या जैसे सर्वोत्तम तत्त्व का प्रदान अन्तरङ्ग प्रियतम को ही करना चाहिए। क्योंकि उत्तम पदार्थ के लिए सत्पात्र का होना आवश्यक है, अतएव इस ग्रन्थ में ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए पितापुत्र के संवाद का वर्णन करते हैं, यथा—

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत् प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तँ होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १॥

भावार्थ—वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता के पास गया और बोला—हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए। यह सुन भृगु ने वरुण से कहा कि अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी ये ब्रह्म हैं, याने ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार हैं। फिर वरुण ने उससे कहा–निश्चय ही जिससे सब भूत उत्पन्न हुए, जिसके आधार से जीवित रहते हैं,और विनाश काल में जिसमें प्रवेश कर जाते हैं याने लीन हो जाते हैं तथा तदात्मभाव याने एकरूपता को प्राप्त हो जाते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, वही ब्रह्म है। भृगु ने तप किया, उसने तप करके यह जाना—॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पूर्वकाल में वरुण ऋषि के पुत्र भृगु नामक ऋषि हो गये हैं, उन्होंने अपने पिता के पास जाकर इस प्रकार का प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप जिस ब्रह्म को जानते हैं, मेरे प्रति उसका ही उपदेश कीजिए। इस प्रश्न को सुनकर पिता वरुण ने यह विचार किया—यदि यह भृगु बुद्धिमान् होगा तो आत्मा की प्राप्ति में साधनभूत पदार्थों द्वारा उस वास्तविक आत्मा का निश्चय कर लेगा। इससे मैं आत्मप्राप्ति में साधनरूप पदार्थों का निरूपण करूँ।

यह विचार कर ऋषि अन्नमय स्थूल शरीर, पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और चार अन्तःकरण; जीव साक्षी की प्राप्ति में द्वाररूप इन पदार्थों का निरूपण करके ब्रह्मप्राप्ति में द्वारभूत ब्रह्म के लक्षण का कथन करते हैं कि हे भृगु! जिस उपादान कारण से ये सब भूत उत्पन्न होते हैं तथा जिस कारण से प्राणों को धारण करते हैं, एवं मरकर उसी में प्रविष्ट याने लय होते हैं और तादात्म्य को प्राप्त

हो जाते हैं, ऐसे कारण को तुम ब्रह्म जानो, वही कारण ब्रह्म है। ऐसा सुनकर पुत्र भृगु ने निश्चय किया कि पिताजी ने तो मुझ को ब्रह्म का उपदेश कर दिया है, परन्तु उस ब्रह्म का प्रत्यक्ष इन्द्रियसंयमरूप तप तथा विचाररूप तप के बिना नहीं हो सकता। अतः मैं तप करूँ। इसके बाद जिसका नाम मनन है ऐसा विचाररूप तप भृगु ने किया ॥ १ ॥

विशेष—भृगु ने सुन रखा था कि कोई ब्रह्म नाम का तत्त्व है, जिसको जानकर जीव सदा के लिए दुःखों से छुटकारा पा सकता है। भृगु के यह पूछने पर पिता ने उसे साधनों सहित ब्रह्म का उपदेश किया। यद्यपि अन्नादि वस्तु ब्रह्म नहीं है तथापि अन्न प्राण आदि अर्थात् शरीरादि के द्वारा ब्रह्म को जान सकते हैं। इस कारण शिष्य की बुद्धि की परीक्षा करने के लिए पहले अन्न आदिकों को ब्रह्म बताया। यह भी बात है कि इस अनुवाक में किया गया ब्रह्म का लक्षण सामान्य होने से अन्नादि में भी घटता है। प्रकृत में ब्रह्म का क्रमशः उपदेश दिया गया है, साक्षात् नहीं। अभिप्राय यह है कि सुयोग्य विद्वान् गुरु के समझाने का तरीका यह है—पहले वह स्थूल वस्तुओं के क्रम से सूक्ष्म सूक्ष्म को धीरे धीरे समझता है, एक साथ नहीं। फिर शिष्य की बुद्धि पर बोझ डालता हुआ उसी के मुख से कहलाता है। यहाँ भी इसी शैली का अनुसरण किया गया है। पुत्र के पूछने पर पिता ने "अन्नं प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनः, वाचम्" यह वाक्य कहा, अर्थात् अन्न याने शरीर, उसके भीतर अन्नभक्षण करनेवाला प्राण, तदनन्तर विषयों की उपलब्धि के साधनभूत चक्षु श्रोत्र मन और वाक् ये ब्रह्म की प्राप्ति में द्वाररूप हैं। इस प्रकार इन द्वारभूत अन्नादिकों को बतलाकर पिता ने भृगु को ब्रह्म का (तटस्थ) लक्षण दिखा दिया। तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति, स्थिति और लय काल में प्राणी जिसकी तद्रूपता का त्याग नहीं करते; यही उस ब्रह्म का लक्षण है, तू उसे जान। याने पिता ने पुत्र को 'उक्त लक्षणयुक्त ब्रह्म को अन्नादि के द्वारा प्राप्त कर' ऐसा बोधन कराया। जगत् में ज्ञान के जितने साधन हैं, उनमें सर्वोत्कृष्ट साधन तप है। यहाँ तप शब्द से विचार अर्थ लिया गया है, यथा—

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।

श्री सुरेश्वराचार्य ने भी तप शब्द से विचार अर्थ का ही ग्रहण किया है, यथा

अन्वयव्यतिरेकादिचिन्तनं वा तपो भवेत्।
अहं ब्रह्मेति वावाक्यार्थबोधायालमिदं यतः ॥

सूतसंहिता में भी परमेश्वर महादेवजी ने कहा है, यथा—

कोऽहं मुक्तः कथं केन संसारं प्रतिपन्नवान् ।
इत्यालोचनमर्थज्ञास्तपः शंसन्तिः पण्डिताः ॥

उस भृगु ने इस प्रकार तप याने विचार किया कि मेरे पिता का कहा हुआ यह लक्षण कहाँ घटता है तथा कहाँ यह लक्षण परिपूर्ण होता है ? इसका एकाग्र चित्त से उसने पर्यालोचन—खूब विचार किया ॥ १ ॥

——✻❀❀——

अथ द्वितीय अनुवाक

अन्नं ब्रह्मेति-व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । त ँ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ २ ॥

भावार्थ—भृगु ने 'अन्नं ब्रह्म' ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय करके अन्न से ही ब्रह्मा से तृणपर्यन्त ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए अन्न से ही जीते हैं, विनाश काल में अन्न में ही लीन होते हैं और उसी में एकरूप को प्राप्त हो जाते हैं । ऐसा जानकर वह फिर भी संशययुक्त होकर अपने पिता वरुण के पास जाकर बोला—भगवन् ! मुझको ब्रह्म का उपदेश दीजिए । वरुण ने यह सुन उससे कहा— तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है । तब भृगु ने तप किया ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—भृगु ने निश्चय किया कि अन्न ही ब्रह्म है, क्योंकि आब्रह्म स्तम्बपर्यन्त—ब्रह्मा से लेकर तृण तक सब अन्न से ही उत्पन्न होते हैं और उससे ही जीते हैं, फिर उसमें ही लीन हो जाते हैं, और उसमें ही तादात्म्य को प्राप्त हो जाते हैं । प्रकृत में अन्न से समष्टिशरीराभिमानी विराट् का ग्रहण करना, क्योंकि ये सब चराचर प्राणी विराट् से ही उत्पन्न होते हैं, उसी से प्राण धारण करते हैं, और फिर मरने के बाद उसी में समा जाते हैं । कुछ दिन तप करके याने विचार करके भृगु को यह प्रतीत हुआ कि उत्पत्तिवाला तथा नाशवाला पदार्थ अनित्य होता है, अतः उक्त दोषों से युक्त होने के कारण अन्न ब्रह्म

कैसे हो सकता है ? इस संदेह की निवृत्ति के लिए भृगु ने पिता के पास जाकर कहा कि हे प्रभो ! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए। वरुण ने कहा कि तप से ब्रह्म को जान, तप ही ब्रह्म है। यह सुन भृगु ने तप का अनुष्ठान किया ॥ १ ॥

विशेष—अन्न ही ब्रह्म है, अन्न से—समष्टि विराट्रूप अन्न से तथा व्यष्टि स्थूलशरीररूप अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीते हैं और अन्त में उसी में समा जाते हैं। ऐसे अन्नमय को ब्रह्मरूप जानकर फिर उस के विषय में विचार करके भृगु ने उसमें अनेक दोष देखे, यथा—१—समष्टि स्थूल शरीर विराट् का देह तो उत्पत्ति-नाशवान् है, जड़ तथा परिच्छिन्न है, अतः वह ब्रह्म नहीं है। एवं व्यष्टि स्थूल देह भी जड़, परिच्छिन्न तथा उत्पत्ति-नाशवान् प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। २—देह को आत्मा मानने में स्थूल शरीर के नाश हो जाने पर सुख दुःख का अनुभव क्यों नहीं होता, यह शंका होती है। ३—नवीन उत्पन्न हुए बालक की दुग्ध पान में प्रवृत्ति देखकर भी यह कहा जा सकता है कि देह आत्मा नहीं है। क्योंकि इस जन्म में तो उसको अनुकूल पदार्थ का ज्ञान न होने के कारण संस्कारजन्य स्मृति के अभाव से स्तनपान में प्रवृत्ति होनी संभव नहीं, किन्तु होती है। अतः इस देह से भिन्न अनुकूल स्मृति आदिकों का आश्रय आत्मा होना चाहिए। ४—देह में "जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति" ये षड् विकार रहते हैं। जैसे—माता के रक्त और पिता के शुक्र से इसकी उत्पत्ति होती है। त्वचा, अस्थि, मांस, नाड़ी और मज्जा आदि अपवित्र पदार्थों से यह पूर्ण है, अनन्त रोगों का आश्रय है, प्राण के निकलने से अग्नि से भस्म हो जाता है, कोई जीव भक्षण कर ले तो मलभाव को ग्रहण कर लेता है, यदि कुछ दिन मरा पड़ा रहे तो कृमियों में परिणत होता है और अन्न के बिना यह ठहर नहीं सकता,—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

ऐसे अनेक दोषों से ग्रस्त, परम अशुद्ध देह कदापि आत्मा नहीं हो सकता। ऐसा तप याने विचार कर भृगु ने पिता से फिर ब्रह्मतत्त्वोपदेश की प्रार्थना की। पिता ने उत्तर दिया कि विचार बिना आत्म-साक्षात्कार हो नहीं सकता। यह सुन भृगु ने विचार किया ॥ १ ॥



अथ तृतीय अनुवाक

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

भावार्थ—प्राण ब्रह्म है, ऐसा तप के द्वारा भृगु ने जाना। क्योंकि प्राण से ही सब प्राणी जन्म लेते हैं, जन्म लेकर प्राण से ही जीवन धारण करते हैं, फिर प्राण में ही जाकर प्रवेश कर जाते हैं। ऐसा जान लेने के अनन्तर भृगु ने पिता वरुण के पास जाकर कहा—हे भगवन्! मुझ को ब्रह्म के विषय में शिक्षा दीजिए। पिता ने कहा—हे सौम्य! तप के द्वारा ब्रह्म को जानने का यत्न कर, तप ही ब्रह्म का साधन है। यह सुन उसने तपस्या की ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—क्रियाशक्ति का आश्रय होने से प्राण शब्द का लक्ष्यरूप हिरण्यगर्भ ही ब्रह्म है, यह भृगु ने जाना। सब जीव प्राणविशिष्ट देह से—हिरण्यगर्भ से उत्पन्न, वर्द्धित हो उसी में समा जाते हैं। फिर प्राण के ब्रह्म होने में भी भृगु ने अनेक दोष देखे। अतः फिर पिता के समीप जाकर ब्रह्मज्ञानविषयक जिज्ञासा की। पिता के तप-विचार करने के लिए कहने पर भृगु ने विचार किया ॥ १ ॥

विशेष—प्राण के ब्रह्म होने में ये दोष हैं—समष्टि-व्यष्टि प्राण तो जड हैं, वे बिना जल के सहारे टिक नहीं सकते, मन के अधीन हैं, और ज्ञानशक्ति से रहित हैं। अतः प्राण ब्रह्म नहीं हो सकते ॥ १ ॥

———❀❀❀———

अथ चतुर्थ अनुवाक

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुप-

ससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तँ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

भावार्थ—भृगु तप करके यह जान सका कि मन ब्रह्म है। क्योंकि सब जीव मन से उत्पन्न, प्रतिपालित और उसी में लीन हो जाते हैं। उसने ऐसा जानकर फिर पिता से कहा कि भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या के विषय में शिक्षा दो। पिता ने तप को ब्रह्मप्राप्ति का साधन बताया। ऐसा सुनकर उसने तप किया॥ १॥

वि० वि० भाष्य—आधिदैविक समष्टि अन्तःकरण ही ब्रह्म है, ऐसा उसने जाना। भृगु ने जब इस मनोमय में ब्रह्म के लक्षण की योजना की, तो उस में अनेक दोष देख फिर पिता के पास जाकर ब्रह्मज्ञान विषयक जिज्ञासा की। पिता ने ब्रह्मप्राप्ति का साधन तप—विचार बताया। यह सुन भृगु ने विचार किया॥ १॥

विशेष—मन के ब्रह्म मानने में ये दोष हैं, जैसे मन चंचल है; समष्टि व्यष्टिरूप मन उत्पत्तिवाला है, परिछिन्न है, अन्न की शुद्धि से शुद्ध होता है, और उस की अशुद्धि से मलिन हो जाता है। सुषुप्ति में इन्द्रियों सहित लीन हो जाता है, विज्ञानरूप कर्ता के अधीन है, और अन्न के बिना नष्ट जैसा हो जाता है। मन को ब्रह्म मानने में उक्त अनेक दोष हैं॥ १॥

——❀❀❀——

अथ पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तँ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १॥

भावार्थ—विज्ञानरूप बुद्धि ही ब्रह्म है, भृगु तप से यह जान सका। क्योंकि

विज्ञान से ही ये सकल प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहकर उसी में लीन हो जाते हैं। ऐसा जान लेने पर वह फिर पिता वरुण के पास जाकर कहने लगा कि हे भगवन्! ब्रह्म का उपदेश दीजिए। यह सुन पिता ने कहा कि तू तप के द्वारा ब्रह्म को जानने का यत्न कर, क्योंकि तप ही ब्रह्मज्ञान का साधन है। यह श्रवण करने के अनन्तर उसने तप किया ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—अब भृगु ने आधिदैविक महत्तत्त्व ही ब्रह्म है यह जाना, उसमें फिर ब्रह्म के लक्षण को घटाया। तब वहाँ भी अनेक दोषों को देखकर फिर उसने पिता से ब्रह्म को जानने की अभिलाषा प्रकट की। पिता ने तप करने को ही कहा और उसने तप किया ॥ १ ॥

विशेष—विज्ञानमय को ब्रह्म मानने में निम्नलिखित दोष हैं—समष्टि व्यष्टि रूप विज्ञान उत्पन्न होता है तथा नष्ट हो जाता है, परिच्छिन्न है, सुषुप्ति में लीन हो जाता है, और इसमें स्थूल शरीरादिकों के समान ममता की विषमता है। इस कारण विज्ञानमय ब्रह्म नहीं है ॥ १ ॥

——❀❀❀——

अथ षष्ठ अनुवाक

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

भावार्थ—भृगु ने आनन्द ही ब्रह्म है ऐसा तप करके जाना। क्योंकि आनन्द से ही ये सकल प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीवन धारण करते हैं, और प्रयाण काल में आनन्द में ही जाकर लीन हो जाते हैं। वह यह भृगु की जानी हुई और वरुण द्वारा उपदेश की हुई विद्या परमाकाश में स्थित है। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म में स्थित होता है, वह अन्नवाला और अन्न का भोक्ता होता है,

पुत्र पौत्रादि सन्तान, हस्ती अश्व आदि पशु तथा ब्रह्मतेज के कारण महत्त्वशाली होता है, और कीर्ति से बड़ा होता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—भृगु ने आनन्दमय में ब्रह्म के लक्षण की योजना करके इस आनन्दमय को ही ब्रह्म जाना। क्योंकि सर्पादि द्वेष्यों में और तृणादि उपेक्ष्यों में किसी पुरुष की प्रवृत्ति सुख के लिए नहीं होती, किन्तु सुख के लिए अनुकूल अन्नादिकों में प्रवृत्ति होती है, और स्त्री आदिकों के आनन्द से ही जगत् की उत्पत्ति आदि देखने में आती है। इससे सिद्ध होता है कि आनन्दमय ही ब्रह्म है। इसके बाद उसने विचार किया कि उपाधिरूप अज्ञान के जड़ होने से आनन्दमय में भी ब्रह्मरूपता नहीं हो सकती। इसके अनन्तर वह भृगु शेष जो पुच्छरूप अधिष्ठान ब्रह्म है, तथा उत्पत्ति आदिकों से रहित है, और सबमें व्यापक एवं सबका आत्मा है, ऐसे आनन्द-रूप ब्रह्म को अपना स्वरूप निश्चय करके मोक्ष को प्राप्त हो गया। यह वरुण द्वारा उपदेश की हुई तथा भृगु से निश्चय की हुई, ब्रह्मविद्या हृदय में स्थित ब्रह्म का आत्म-रूप से बोधन करती है। अतः जो अधिकारी इस ब्रह्मविद्या को प्राप्त करेगा, वह भृगु की तरह मोक्ष को प्राप्त होगा।

जीवन्मुक्त विद्वान् में भी देहपात से पहले अविद्या लेशमात्र रह जाती है, ऐसे द्वैताभास से युक्त पुरुष के लिए श्रुति भगवती इष्ट फल का वर्णन करती है, जैसे—वह विद्वान् बहुत अन्नवाला हो जाता है और वह खाकर खूब पचा भी लेता है। क्योंकि निरोग होने के कारण उसकी जठराग्नि खूब प्रज्वलित रहती है, और वह लोक में बड़े ही महत्त्व को प्राप्त हो जाता है। वह जिन साधनों से बड़ा समझा जाता है, उन्हें भगवती श्रुति कहती है, यथा—वह कलत्र पुत्रादि प्रजा से, गौ अश्वादि पशुओं से, शम दम, ज्ञानादि के निमित्तरूप ब्रह्मतेज से और शिष्टाचार के निमित्तभूत यश से लोक में बहुत बड़प्पन को प्राप्त हो जाता है ॥ १ ॥

विशेष—तप से शुद्धान्तःकरण भृगु ने प्राणादिकों में पूर्णतया ब्रह्म का लक्षण न देखकर धीरे धीरे अन्तःप्रविष्ट हो तपरूप साधन के द्वारा ही सबकी अपेक्षा अन्तर-तम आनन्द को ब्रह्म जाना। अतः जिसको ब्रह्म जानने की अभिलाषा हो उसे साधन-रूप से बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरण का समाधान करके तप ही करना चाहिए। याने खूब विचार करना योग्य है, इस प्रकरण का यह तात्पर्य है। अब आख्यायिका से निवृत्त होकर श्रुति बतलाती है कि अन्नमय आत्मा से प्रारम्भ हुई, भृगु की जानी हुई तथा वरुण की कही हुई वह विद्या परमाकाश में—हृदयाकाशस्थित गुहा के भीतर अद्वैत परमानन्द में प्रतिष्ठित है, याने वहीं इसका पर्यवसान होता है। इसी प्रकार जो

कोई दूसरा पुरुष भी इसी क्रम से तपरूप साधन के द्वारा क्रमशः अनुप्रवेश करके आनन्द को ब्रह्मरूप से जानता है, वह इस प्रकार विद्या में स्थिति लाभ करने से आनन्द अर्थात् परब्रह्म में स्थिति प्राप्त करता है, याने ब्रह्म ही हो जाता है ॥ १ ॥

——❀❀❀——

अथ सप्तम अनुवाक

यद्यपि विद्वान् के लिए कोई कर्तव्य बाकी नहीं रह जाता, तथापि अन्न की स्तुति करना उसका कर्त्तव्य है, यथा—

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥१॥

भावार्थ—अन्न की निन्दा न करे । यह ब्रह्मवेत्ता का व्रत है । प्राण ही अन्न है । शरीर अन्न का भोक्ता है । प्राण में शरीर की स्थिति है । और शरीर में प्राण स्थित है । इस प्रकार यह अन्न अन्न में स्थित है (शरीर प्राण के आश्रित है, और शरीर का आश्रय प्राण हैं, अतः वे एक दूसरे के अन्न हैं) । इस प्रकार जो इस अन्न को अन्न में स्थित जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है, याने परब्रह्म में स्थिति प्राप्त करता है और अन्नवान्, अन्नभोक्ता, सन्तान, पशु तथा ब्रह्मतेज से एवं कीर्ति से भी बड़ा होता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह कभी भी अन्न की निन्दा न करे, यदृच्छा से याने प्रारब्धभोग से समय पर जैसा रूखा सूखा वैध अन्न प्राप्त हो जाय, तो उसको आदरपूर्वक भक्षण कर लेना चाहिए । याने जैसे गुरुनिन्दा करनी अनुचित है उसी प्रकार अन्नविषयक गर्हित धारणा भी बुरी है । यह विद्वान का व्रत है याने इस सिद्धान्त का व्रत की तरह अनुष्ठान करना चाहिए । यह व्रतोपदेश अन्न की स्तुति के लिए है, क्योंकि यह ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है ।

अब इस समय जो विचार करने में असमर्थ मन्दाधिकारी हैं उनके लिए अन्न-अन्नाद-रूप से काम्य, प्राणादि उपासनाभूत गौण साधनों का विधान करते हैं,—'प्राण इति ।' इस पर शङ्का होती है कि ऐसा करने से ब्रह्मविद्या के विच्छेद का प्रसङ्ग आ

जाताहै। उत्तर यह है कि यद्यपि काम्यसाधन प्राजापत्यादिफल के सम्पादक हैं तो भी ये निष्काम भावना से अनुष्ठित किये जायँ तो चित्त की एकाग्रता द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में हेतु हो सकते हैं। पाँच वृत्तियोंवाला प्राणरूप वायु प्रसिद्ध ही अन्न है। शरीर अन्न का भक्षण करनेवाला है, क्योंकि शरीर बिना प्राण के स्थित नहीं रह सकता और प्राण की भी शरीर के बिना स्थिति नहीं रह सकती। जो उपासक इस अन्न को अन्न में स्थित जानता है वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है, अर्थात् स्वयं ब्रह्म हो जाता है। वह अन्नवाला तथा अन्न खानेवाला, प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज और कीर्ति से महान् हो जाता है॥ १॥

विशेष—जो जिसके भीतर स्थित रहता है, वह उसका अन्न हुआ करता है, प्राण शरीर में स्थित है अतः प्राण अन्न है, और शरीर अन्नाद है। इसी प्रकार शरीर भी अन्न है, तथा प्राण भी अन्नाद है, क्योंकि प्राण में शरीर स्थित है, शरीर की स्थिति प्राण के अधीन है। अतः शरीर और प्राण ये दोनों अन्न और अन्नाद हैं। क्योंकि वे एक दूसरे में स्थित हैं इस लिए अन्न हैं, और क्योंकि एक दूसरे के आधार हैं इस लिए अन्नाद हैं। अतएव प्राण और शरीर दोनों ही अन्न भी हैं और अन्नाद भी हैं। भाष्यकार कहते हैं कि जो इस प्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है वह अन्न-अन्नादरूप से ही स्थित होता है और वह अन्नवान्, अन्नाद तथा प्रजा पशु तेज कीर्ति की महिमावाला होता है।

मनुष्य को सदा 'अन्ननिन्दात्याग' रूप व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। अन्न ही प्राण है, यह शरीर की रक्षा का हेतु है, शरीर के रहते ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्वर्ग की सिद्धि हो सकती है। अन्न परम्परा से बहुत बड़े कार्य का साधक है। जो अन्न के तत्त्व को जानता है, इसका युक्ति से सेवन करता है तथा दान देता है उसे बल, पुत्रादि, ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा किसी बात की कमी नहीं रह जाती। याने वह सभी सुखों का भागी हो जाता है॥ १॥



अथ अष्टम अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य

एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

भावार्थ—अन्न का त्याग न करे। यह व्रत है। क्योंकि जल ही अन्न है, ज्योति—तेज अन्न का भोक्ता है। जल में ज्योति प्रतिष्ठित है और ज्योति में जल स्थित है। इस प्रकार ये अन्न में अन्न स्थित हैं। जो इस प्रकार अन्न में स्थित अन्न को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् ब्रह्म में तन्मयतारूप स्थिति को पाता है। वह बहुत अन्नवाला और अन्न को खानेवाला, सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज और कीर्ति से बड़ा होता है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—शरीर और प्राण ये दोनों अन्न-अन्नादता गुणवाले हैं, अतः उपासक के प्रति 'अन्न परित्याग न करनारूप व्रत' को कहते हैं, जैसे—अन्न के उपासक को यह उचित है कि स्वल्प और मोटे अन्न का भी त्याग न करे। याने बहुत मामूली अन्न सामने आ जाय तो उसका परित्याग न करे। लोक में यह देखने में आता है कि शुभ अशुभ याने अच्छे बुरे अन्न को देखकर उनके गुण तथा दोष की कल्पना करके, जो अच्छा होता है उसे ग्रहण कर लिया जाता है और जो साधारण हुआ, उसका परित्याग कर देते हैं। ऐसा न करना चाहिए, यहाँ तक ध्यान रखना चाहिए कि थाली में परोसा हुआ सब खा लेना उचित है, याने कभी भी भूठा अन्न न छोड़े। यह उपासक का नियम है, व्रत है। यहाँ कहा गया है कि अशुभ अन्न का भी परित्याग न करे, इसका अभिप्राय यह है कि अशुभ याने स्वल्प मोटा मामूली देर सबेर में जैसा भी अन्न मिल जाय उसे त्यागना नहीं चाहिए। हाँ, अशुभ याने शास्त्रीय दोष से दूषित अन्न हो तो उसका त्याग कर देना ठीक है। 'आपो वा अन्नम्, ज्योतिरन्नादम्'—यहाँ शरीरसंघात के भीतर जो जल और तेज है, उसका ग्रहण किया गया है। क्योंकि प्राण तथा शरीर का समभिव्याहार है—साथ है। इससे जल में ज्योति और ज्योति में जल प्रतिष्ठित है। जो उपासक ऐसा जानता है, वह बहुत अन्नवाला, अन्न खाकर पचानेवाला, सन्तान पशु तेज और यश से नामवरी प्राप्त करनेवाला होता है ॥ १ ॥

विशेष—बहुत से लोगों का स्वभाव होता है कि वे अन्न की प्रतिकूल समालोचना किया करते हैं। वे अपने पापों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते। उन्हें मालूम होना चाहिए कि वे किसी रोगविशेष के कारण तथा ऋतु के शीतोष्ण

सहन करने की शक्ति न रखने के निमित्त से तथा दौर्बल्य की वजह से अन्न को—तद्भव पदार्थों को सेवन करने की सामर्थ्य नहीं रखते। उन्हें कोई अन्न खुश्की करता है, कोई खाँसी तो कोई गरमी-सरदी आदि। यह अन्न का दोष नहीं है, यह तो अपने पापों का फल है। पुण्यात्मा पत्थर भी खाकर पचा डालने की शक्ति रखते हैं। नीरोग होने के कारण उनकी जठराग्नि भट्टी की तरह धधकती रहती है। जल और ज्योति विना किसी का जीवन स्थिर नहीं रह सकता, ऐसा मानकर इसको अन्न कहा है। ईश्वर का धन्यवाद देकर प्रारब्धवश से जब जैसा अन्न प्राप्त हो उसको खा लेना चाहिए। ऐसे शान्ति तथा सन्तोष से खाये हुए अन्न से जो रजो—वीर्य रक्त अस्थि आदि बनेंगे वे धर्म की सेवा में लगेंगे। और आवश्यकता पड़ गई तो राष्ट्रीय—भवन—निर्माण के निमित्त नींव में काम आवेंगे, अतः मुमुक्षु अधिकारी अन्न की शिकायत कभी न करे॥ १॥



अथ नवम अनुवाक

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या॥ १॥

भावार्थ—अन्न को बढ़ावे-संचय करे, यह व्रत है। पृथिवी अन्न है, आकाश अन्न का भोक्ता है। पृथिवी में आकाश स्थित है, और आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। इस प्रकार यह अन्न अन्न में स्थित है। जो इस अन्न में स्थित अन्न को जानता है वह प्रतिष्ठित होता है। विशेष अन्न का अध्यक्ष और उसे खाकर पचा डालने की सामर्थ्यवाला होता है। तथा वह सन्तति, हाथी-घोड़े आदि पशुओं, को प्राप्तकर तेजस्वी—प्रभाववान् और नेकनाम होता है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—अन्न बहुत संग्रह करे। यह व्रत—अनुष्ठान बहुत काम का है। पृथिवी अन्न है, आकाश अन्नाद है। प्रकृत में उस पृथिवी-आकाश

का ग्रहण है जो इस शरीरसंघात के भीतर प्रविष्ट है। घड़े में आकाश की तरह पृथिवी में आकाश वर्तमान है, और आकाश में पृथिवी स्थित है, क्योंकि कार्य कारण के आश्रित रहता ही है। जो इस प्रकार से अन्न में अन्न को प्रतिष्ठित जानता है, वह ब्रह्म में तन्मयतारूप स्थिति को प्राप्त होता है। वह अन्नवान्, अन्नाद, वंश, पशु, तेज और यशयुक्त होकर महिमा को पाता है॥ १॥

विशेष—मनुष्य को अन्न खूब एकत्र करना चाहिये। यदि धन का संग्रह करे तो वह भी अन्न के लिए करे, किसी भोग-विलास के लिए नहीं। संन्यासी महात्मा लोग तो गृहत्यागी—विरक्त होते हैं, पर वे भी अन्न दान करते हैं। आज भी भारतवर्ष में संन्यासियों तथा अन्य महात्माओं के जितने मठ, मन्दिर, स्थान, आश्रम, अखाड़े, गुरुद्वारे, संगत आदि नामक निवासस्थान हैं, उनमें बिना भेदभाव के मुक्तहस्त से अन्न वितरण किया जाता है।

एक संन्यासी कहा करते थे कि मूर्ख के त्याग से विद्वान् का संग्रह अच्छा है। संग्रह न करना तो संन्यासी का सर्वोत्तम कर्तव्य है, पर यदि वह विचारवान् महात्मा संग्रह भी करता है तो अपने लिए नहीं, दूसरों को अन्न दान के लिए करता है। अधिकांश महात्माओं के स्थान में आज भी यह नियम है कि भोजन के समय जो मनुष्य आ उपस्थित होगा, उसे पङ्क्ति में समान भोजन दिया जायगा। हाँ यह अवश्य है कि वर्णाश्रम नियमानुसार उसके बैठाने याने भोजन का स्थान देने अर्थात् पङ्क्ति में लेने में कुछ अन्तर अवश्य रहता है, पर अन्न-दान में जरा भी अन्तर नहीं होने दिया जाता है। भाव यह है कि साधुओं के भण्डार में जो भोजन राँधा जायगा, वह समान भाव से सब को मिलेगा। साधुओं में भोजनविषयक पङ्क्तिभेद को बहुत बुरा मानते हैं। उनका यह नियम तभी निभ सकता है, जब कि वे अन्न का बहुत संग्रह करेंगे। श्रुति भगवती इस प्रकार के पुण्य करने को मरने पर मोक्षप्रद और जीवितावस्था में पुत्र-कलत्र, गौ हाथी, ब्रह्मतेज प्रदान करनेवाला और जगत् में कीर्तिरूप महत्त्व प्राप्त करानेवाला बताती है॥ १॥



अथ दशम अनुवाक

पृथिवी और आकाश की जो मनुष्य अन्न-अन्नादरूप से उपासना करता है, उसके नियम का विधान करते हैं, यथा—

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद्व्रतम् । तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् । अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद्वै मुखतोऽन्न ँ राद्धम् । मुखतोऽस्मा अन्न ँ राध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्न ँ राद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्न ँ राध्यते । एतद्वा अन्ततोऽन्न ँ राद्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्न ँ राध्यते ॥ १ ॥

भावार्थ—अपने यहाँ ठहरने के निमित्त आये हुए किसी को निषेध न करे। यह व्रत है। इस कारण किसी न किसी प्रकार से बहुत सा अन्न इकट्ठा करे। सज्जन गृहस्थ को उचित है कि वह अभ्यागत से कहे कि मैंने अन्न-भोजन तैयार कर लिया है। जो पुरुष प्रथम अवस्था में या परम आदर के साथ वह सिद्ध किया हुआ—राँधा हुआ अन्न अभ्यागत को देता है, उसके पास अन्न भी प्रथम अवस्था में या परम आदर के साथ प्राप्त होता है। जो मध्यतः—मध्यम आयु में अथवा मध्यमवृत्ति से सिद्ध किया हुआ अन्न देता है, उसे मध्यम आयु में अथवा मध्यम वृत्ति से ही अन्न प्राप्त होता है। और जो अन्तिम अवस्था में या अधम भाव से अन्न देता है उसको भी अन्तिम अवस्था में या अधमभाव से अन्न प्राप्त होता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—पृथिवी और आकाश की अन्न और अन्नादरूप से उपासना करनेवाले के यहाँ निवास करने के लिए आये हुए किसी भी व्यक्ति का वह निवारण न करे। यह नियम कर ले कि जो मेरे घर द्वार पर आयेगा, मैं उस अतिथि को ठहरने का स्थान अवश्य दूँगा। जब किसी को रहने की जगह दी जाय तो उसे भोजन भी अवश्य देना चाहिए। इसलिए जिस किसी भी विधि से खूब अन्न का संग्रह करे, और अतिथियों को खिलाये। सज्जन जनों का यह आचार है कि वे स्वगृहागत अतिथियों से समय पर निवेदन करते हैं कि भगवन् ! अन्न सिद्ध हो गया, याने भोजन तैयार है। जो लोग पहली अवस्था से अथवा सत्कारपूर्वक—श्रद्धा भक्ति से अन्नदान करते हैं उन्हें उसी प्रकार कई गुना अधिक ही अन्न प्राप्त होता है। जो मध्यम उपचार से देते हैं उन्हें मध्यम से, और जो जन असत्कार से देते हैं उन्हें बुरे व्यवहार के साथ अन्न प्राप्त होता है। याने जो जैसे देगा, वह वैसे ही पायेगा ॥१॥

विशेष—अपने यहाँ अतिथिरूप से ठहरने के लिए आये हुए किसी ब्राह्मणादि

को, या धर्मोपदेशक अथवा विरक्त, अभ्यागत संन्यासी महात्मा को निषेध न करे, कि यहाँ न टिको, यहाँ ठहरने योग्य स्थानादि नहीं हैं। यही नहीं, प्रत्युत ठहराकर उनका अन्न जल आसनादि से यथाविधि सत्कार करे। बल्कि यह नियम कर ले कि मैं अभ्यागतों को ही नहीं, प्रत्युत दीन दुःखियों को भी अवश्य अन्नदान किया करूँगा। धर्मशास्त्रों में ऐसा विधान है—

उत्तमस्याऽपि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।
पूजनीयो यथा योग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः॥
'सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः।' 'अतिथिदेवो भव।'

इत्यादि अनेक वचनों में यहाँ तक कहा गया है कि जो गृहागत अतिथि वहाँ से निराश लौट जाता है, वह गृहस्थ को अपने पाप देकर और उसके पुण्य लेकर चला जाता है। बहुत से विदेशी पर्यटक जो हिन्दू राज्यकाल में भारतवर्ष में भ्रमण करने आये थे, उन्होंने स्वदेश जाकर कहा था कि भारतीय बड़े मेहमानभक्त होते हैं। हम जहाँ जाते थे, पानी माँगने पर दूध दिया जाता था। धर्मशास्त्रों में इसे अतिथि-सत्कार कहा है। इसे ही 'नृयज्ञ' भी कहते हैं। श्रुति भगवती कहती है कि जो सत्कार के साथ अतिथि को अन्न खिलाता है, उस अन्नदाता को जन्मान्तर में उससे सहस्रगुण ही क्यों, बल्कि लाख गुना अधिक अन्न प्राप्त होता है। और दाता जिस अवस्था में देता है, उसी दशा में पाता है। जैसे देवदत्त ने युवावस्था में, अथवा बड़े सत्कार से अन्न प्रदान किया तो वह कई गुना होकर उसे जवानी में तथा ससम्मान मिलेगा, याने जन्म धारण करते ही पहली उम्र में उसे अन्न प्राप्त होगा। मध्यम आयु में या साधारण सत्कार के साथ दिया जायगा तो उसी आयु में वैसे ही व्यवहार से उसे पायेगा। और अन्त में वृद्धावस्था में देगा, तथा बुरे बर्ताव के साथ देगा तो वह बुढ़ापे में खराब तरीके से प्राप्त करेगा। अतः अन्नदान शुरू से ही प्रारम्भ कर देना चाहिए॥ १॥

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः॥ २॥

भावार्थ—जो ऐसा जानता है, वह पीछे कही हुई रीति से ब्रह्म की उपासना करता है याने उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है। ब्रह्म की उपासना का वर्णन अब आगे खरी रीति से किया जाता है—ब्रह्म वाणी में क्षेमरूप से स्थित है ऐसी

उपासना करे। ब्रह्म प्राण अपान में योग क्षेमरूप से स्थित है, इस प्रकार उपासनीय है। कर्मरूप से हाथों में, गतिरूप से चरणों में, और त्यागरूप से गुदा में उपासनीय है। यह मनुष्यसम्बन्धिनी उपासना है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से अन्न के माहात्म्य को और उसके दान के फल को जानता है, उसी को उपर्युक्त फल की प्राप्ति होती है। अब ब्रह्म की उपासना का प्रकार दूसरी तरह से कहा जाता है, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व अतिगहन है अतः भगवती श्रुति उसके बोधन के लिए बार-बार भिन्न भिन्न प्रकार से उपदेश देती है। ब्रह्म वागिन्द्रिय में क्षेमरूप से स्थित है, उसकी इस प्रकार उपासना करनी चाहिए। वाणी में जो शक्ति है उसकी क्षेम याने रक्षा ब्रह्म ही कर रहा है। वह वहाँ क्षेमरूप में विद्यमान है, अतः वह क्षेमरूप से उपासितव्य है। वह ब्रह्म प्राण और अपान में योग तथा क्षेमरूप से स्थित है, याने प्राण में योगरूप से (अप्राप्त की प्राप्ति योग है) और अपान में क्षेमरूप से (प्राप्त की रक्षा क्षेम है) विद्यमान है। अर्थात् वह प्राण अपान की शक्तियों का योग क्षेम करनेवाला है, उसकी वहाँ उस रूप में उपासना करनी उचित है। पाँवों में गतिरूप से वह उपासनीय है। और गुदा में त्यागरूप से स्थित ब्रह्म उपासितव्य है। मलत्याग की शक्ति उसी की दी हुई है, ऐसा न हो तो—याने समय पर खुलकर मलत्याग न हो तो शरीर रुग्ण हो जायगा। आयुर्वेद की दृष्टि में मलावरोध सब रोगों का मूल माना गया है। अभ्यासियों का अनुभव है कि जिस दिन यथावत् मलत्याग नहीं होता उसदिन उनका मन भजन में नहीं लगता। अतः जो मलत्याग की शक्ति है वह उसी की है, वह वहाँ उसी रूप में उपासितव्य है। यह आध्यात्मिक उपासना है॥ २॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में "क्षेमः इति वाचि" इस कथन का यह भाव है कि विद्या पढने से प्राप्त किये हुए ज्ञान की वाणी में रक्षा करना, अथवा गुरुमुख से सुने हुए धर्म की या ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान की वाणी में रक्षा करना और वहाँ क्षेमरूप से ब्रह्म को समझना चाहिए। ऐसा होने से वाणी की शक्ति का कभी दुरुपयोग नहीं हो सकेगा। वाणी में बड़ी शक्ति है, इसके दुरुपयोग से बड़े बड़े अनर्थ हो गये हैं, और इसी के सदुपयोग ने महान् अनर्थों से जगत् को बचा लिया है। इस वाणी में क्षेमरूप से ब्रह्म की उपासना करनेवाला सदा लोककल्याण करने का कारण होगा। इसी प्रकार प्राण, अपान, हस्त, पाद और पायु में भी समझ लेना। 'इति मानुषीः समाज्ञाः' याने ये सब मनुष्य के शरीर से करने योग्य कामों की आज्ञायें हैं॥ २॥

अब देवताओं से सम्बन्धित उपासना कही जाती है, यथा—

अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे॥ ३॥

भावार्थ—देवताओं में भी ब्रह्म की उपासना करे, जैसे—वृष्टि में तृप्तिरूप से, बिजली में बलरूप से, पशुओं में कीर्तिरूप से, तारागणों में प्रकाशरूप से और उपस्थ में प्रजा, अमृतत्व तथा आनन्दरूप से ब्रह्म की उपासना करे॥ ३॥

वि० वि० भाष्य—अब आध्यात्मिक उपासना (देवसम्बन्धिनी) कही जायगी, तृप्तिरूप से वृष्टि में ब्रह्म उपासनीय है। क्योंकि वर्षा से अन्नादि उत्पन्न होते हैं और उनसे प्राणिमात्र सन्तृप्त होते हैं। अतः वृष्टि में वह ब्रह्म तृप्तिरूप से विद्यमान है। वह बिजली में बलरूप से स्थित है। यह तो आजकल के सभी लोगों को अनुभूत है कि बिजली में कितनी सामर्थ्य है, जो काम हजारों आदमी वर्षों में नहीं कर सकते उसे विद्युत्शक्ति क्षणमात्र में करके धर देती है। ब्रह्म वहाँ उस रूप से उपास्य है। पशुओं में वह यशरूप से उपासना करने के योग्य है, पशु बड़े यशस्वी होते हैं, जो दूध, दही, घृत, सवारी, कृषिकार्य रोम आदि द्वारा जीवित दशा में मनुष्य के परम सहायक हों और मरने पर चर्म खाद अस्थि आदि से उसे लाभ पहुँचावें, कहो, उनसे बढकर संसार में और कौन नामवर हो सकता है ? यह कितना यश है ? ज्योतिरूप से नक्षत्रों में वही विद्यमान है, वहाँ वह प्रकाशरूप से उपास्य है। पुत्र पौत्र आदि प्रजा, अमृतत्व और आनन्दरूप से उपस्थ स्थान में वह उपास्य है। अमृत नाम पुत्रजन्म से पितृऋण विमोचन द्वारा पिता को जो शान्ति प्राप्त होती है वही यहाँ अमृत पद से विवक्षित है। ये तीनों उपस्थहेतु से होते हैं, इस कारण उस में प्रजापत्यादिरूप से ब्रह्म स्थित है, ऐसी उपासना करनी चाहिए॥ ३॥

विशेष—'अथ दैवीः' यहाँ देव नाम सूर्य तथा आकाशादिकों का है, उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले कार्य दिखाये गये। "प्रजातिः अमृतम् आनन्दः इति उपस्थे" इस मन्त्र में तथा अन्यत्र भी लिङ्गेन्द्रिय का फल आनन्द बताया गया है। इस आनन्द से विषयानन्द विवक्षित है। प्रतीत होता है ब्रह्मानन्द की उपमा के लिए विद्वानों को लोक में आज तक विषयानन्द जैसा प्रसिद्ध दृष्टान्त अन्य कोई मिला ही नहीं है, याने यही सर्वोपरि दृष्टान्त है। विषयानन्द

सर्वानुभूत है, इस दृष्टान्त का अङ्गीकार ब्रह्मानन्द का महत्त्व मुमुक्षु को हृदयङ्गम कराने के लिए है। बाल के अग्रभाग का जैसा हजारवाँ हिस्सा होता है अथवा महासागर की जैसी एक बूँद होती है, वैसे ही उस से कम ब्रह्म के आनन्द का अंश विषयानन्द में प्रतीत होता है। संसार में मनुष्य विषयानन्द के लिए कैसे कैसे छल कपटादि व्यवहार करता है, मनुष्य का अधिकांश परिश्रम इसी सुखोपभोग के लिए है। बहुतों ने अपनी धनधान्यादि सभी सामग्री इसी सुख की आग में झोंक दी है। अधिकांश लोग इसी के लिए सब कुछ कर रहे हैं। जो आनन्द का सागर है, जिसके जरा से आनन्द से सब आनन्दित हो रहे हैं, उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। सत् शास्त्रों के विचार तथा महात्माओं की संगति से जिनका मन ब्रह्मज्ञान की ओर झुक गया, वे विषय के आनन्द में कदापि नहीं पड़ते। क्योंकि उन्हें सर्वोपरि बड़े आनन्द का स्वाद मिल गया। यह संसार का नियम है कि जब बड़ा अधिकार और अधिक सुख मिल जाता है तब छोटे को सभी छोड़ देते हैं ॥ ३ ॥

सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति ॥ ४ ॥

भावार्थ—आकाश में सर्वरूप से ब्रह्म स्थित है, वहाँ उसकी सर्वरूप से उपासना करे। वह ब्रह्म सब का आधार है, इस भाव से उसकी उपासना करे। ऐसी उपासना करनेवाला उपासक प्रतिष्ठावान् होता है। वह महः है—बड़ा है, याने वह महः नामक व्याहृतिरूप है। अथवा तेज है, इस भाव से उसकी उपासना करे। इस से उपासक महान्—बड़ा होता है। ब्रह्म मनस्वरूप है, इस से अधिकारी मनन करने की शक्तिवाला होता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—आकाश में ब्रह्म सर्वरूप से स्थित है, अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न आकाश ही सम्पूर्ण जगत् का आश्रय है ऐसी उपासना करनी चाहिए। प्रतिष्ठा गुणवाले की उपासना करने से मनुष्य प्रतिष्ठावाला हो जाता है, याने जो अधिकारी इस प्रकार उपासना करता है वह स्वयं सर्वाधिष्ठानरूप ब्रह्म हो जाता है। वह ब्रह्म महः—महत्त्व गुणवाला है, वह उस रूप से उपास्य है। ऐसी उपासना करनेवाला महान् हो जाता है, याने प्रजा आदि सामग्रियों से समृद्ध हो जाता है।

यह ब्रह्म मननगुणवाला है, इस प्रकार की उपासना करनेवाला ईश्वर का मनन करने में सामर्थ्यवाला हो जाता है ॥ ४ ॥

विशेष—"सर्वम् इति आकाशे, तत् प्रतिष्ठा इति उपासीत, प्रतिष्ठावान् भवति" आकाश में सब स्थित हैं, और आकाश की स्थिति ब्रह्म में है, इसलिए जो ब्रह्म को सबका आधार मानकर उपासना करता है, वह भी दूसरे साधारण लोगों का आधार हो जाता है। वह बहुत से दीन दुःखी तथा कुटुम्बियों का पालन पोषण द्वारा धारण करता है, याने उसके सहारे से बहुतों का जीवन चलता है। तात्पर्य यह है कि जो महत्त्व उपास्य में होता है, वही उपासक में भी आ जाता है। इसी प्रकार 'महः, मनः' के उपासकों में भी ऐसी सामर्थ्य आ जाती है ॥ ४ ॥

तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद् ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः ॥ ५ ॥

भावार्थ—'वह नमः है' इस भाव से ब्रह्म की उपासना करे। जो ऐसी उपासना करता है, उसके पास सम्पूर्ण काम्य पदार्थ याने सब भोग्य पदार्थ आकर चरणों में नम्र हो जाते हैं। 'वह ब्रह्म है' जो इस प्रकार उपासना करता है, वह व्यापकता को पाता है। 'वह ब्रह्म का परिमर याने आकाश है' उपासक को चाहिए कि इस प्रकार की उपासना करे। इससे द्वेष करनेवाले उसके शत्रु मृत्यु को प्राप्त होते हैं, और उससे डाह करनेवाले अप्रिय, भाई के पुत्र हों तो वे भी मर जाते हैं ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—वह ब्रह्म नमन गुणवाला है, इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिए। अर्थात् वह ब्रह्म नमस्कार करने योग्य है, यदि कोई उसकी ऐसी उपासना करे तो उस उपासक के आगे सब विषय स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। वह ब्रह्म विराट्रूप व्यापक है, इस प्रकार की उपासना करनेवाला स्वयं व्यापक हो जाता है। मायोपाधिक ब्रह्म के स्वरूप से स्थित आकाश को परिमर कहते हैं, जो परिमरत्व गुणवाले आकाश की उपासना करता है, उससे द्वेष करनेवाले शत्रु और द्वेष करनेवाले कौटुम्बिक विद्वेषी भी मर जाते हैं ॥ ५ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में कहा गया है कि 'वह ब्रह्म का परिमर है' इस प्रकार उसकी उपासना करे। जिस में विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि ये पाँच देवता लीन होते हैं—मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वह वायु ब्रह्म का परिमर है। वह वायु आकाश से अभिन्न है, इस लिए आकाश ही ब्रह्म का परिमर है। तात्पर्य यह निकला कि वायुरूप आकाश की 'यह ब्रह्म का परिमर है इस भाव से उपासना करे ॥ ५ ॥

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह जो आत्मा इस पुरुष में है, और वह जो इस आदित्य में है, एक है। जो ऐसा जानता है, वह इस लोक से छुट्टी पाकर इस अन्नमय आत्मा का अतिक्रमण कर, इस प्राणमय शरीर को लाँघकर, इस मनोमय आत्मा का प्रतिसंक्रमण कर, इस विज्ञानमय शरीर का उल्लंघन कर, और इस आनन्दमय आत्मा को लाँघकर इच्छानुसार अन्न को पानेवाला तथा यथेच्छ रूपों को धारण करनेवाला होकर आगे कहा जानेवाला साम गायन करता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जो 'गुहानिहित' इस वाक्य से कहा गया, आकाशादि को रचकर बाद में उसमें प्रविष्ट, यह प्रत्यगात्मा शरीर में व्यष्टि उपाधि से वर्तमान है, और जो विद्वानों को प्रत्यक्ष, परमानन्दात्मा आदित्यमण्डल में वर्तमान है, वह दो प्रकारों से कहा गया चेतन वस्तुतः एक है—भेदरहित है। जो मनुष्य जीवात्मा तथा परमात्मा के अभेद को जानता है वह इस लोक से मरकर याने दृष्ट-अदृष्ट इष्ट विषयसमूह से निवृत्त होकर अन्नरस के विकार अन्नमय स्थूलदेह को, जिसे भ्रान्ति से आत्मा मान रखा है उसको उल्लंघन करके, वायुविकार प्राणमय को, संशयात्मक वृत्तिवाले अन्तःकरणरूप मनोमय को, निश्चयात्मक वृत्तिमत् अन्तःकरणरूप विज्ञानमय को, और निद्रात्मक सुखानुभवरूप आनन्दमयात्मा को अतिक्रमण

करके (ये उत्तरोत्तर एक दूसरे से अन्तरङ्ग हैं) इच्छामात्र से बहु अन्नवाला होकर, जैसा मन करे वैसा शरीर धारण करनेवाला होकर इन शास्त्रप्रसिद्ध भू आदि लोकों में विचरता हुआ—सबको आत्मरूप से अनुभव करता हुआ एवं साम को गायन करता हुआ स्थित होता है ॥ ६ ॥

विशेष—प्रकृत में कहा गया है कि साधक कृतकृत्य हो आगे कहे अनुसार साम गायन करता हुआ लोकों में विचरता है। इसका अभिप्राय सन्तजन यों लगाते हैं कि अविद्याकल्पित शरीरों को त्यागकर और सत्य, ज्ञान, अनन्त आदि धर्मवाले, आनन्दस्वरूप, अजन्मा, अमृतमय, अद्वैत, ब्रह्मरूप फल को पाकर वह इच्छानुसार अन्न प्राप्त करनेवाला, इच्छानुसार रूपों को धारण करनेवाला होकर इन पृथिव्यादि आदि लोकों में विचरता हुआ अर्थात् सर्वात्मरूप से इन लोकों को आत्मस्वरूप करके अनुभव करता हुआ आगे कहे जानेवाले साम का गायन करता है ॥६॥

अब सामवेद के गायन के स्वरूप को कहते हैं, जैसे—

हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो ३ ऽहमन्नादो ३ ऽहमन्नादः। अह ँ श्लोककृदह ँ श्लोककृदह ँ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि। यो मा ददाति स इदेव मा ३ वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३ द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा ३ म्। सुवर्नज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—क्या गायन करता है ? 'हा३वु, हा३वु, हा३वु' यह। और—मैं अन्न हूँ (भोग्य पदार्थ हूँ) [इसे तीन बार कहना]। मैं ही अन्नाद हूँ (भोक्ता हूँ) [इसे तीन बार कहना]। मैं ही श्लोककृत् हूँ (लोक नाम अन्न और अन्नाद संघात, उसका चेतनावान् कर्ता हूँ) [मूल में जो इनका तीन बार उच्चारण किया गया है वह विस्मयता प्रकट करने के लिए है]। मैं ही इस सत्यासत्यरूप जगत् के पहले उत्पन्न हुआ हूँ। मैं ही देवताओं से प्रथम वर्तमान, विराट् तथा अमृतनाभि—अमृतत्त्व का केन्द्रस्वरूप हूँ। जो मुझ अन्नस्वरूप को अन्नाभिलाषी को प्रति दिन देता है वह अवश्य ही मेरी रक्षा करता है। किन्तु जो ऐसा नहीं करता (मुझ अन्नस्वरूप को दान नहीं करता हुआ स्वयं भोगता है) उस अन्न खानेवाले को मैं अन्नरूप से

भक्षण करता हूँ। मैं इन सम्पूर्ण लोकों का नाश करता हूँ। मेरी ज्योति सूर्य के समान नित्य प्रकाशस्वरूप है। ऐसी यह उपनिषद् विद्या है। जो इसे इस रीति से जानता है, उसे पूर्वोक्त फल की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—'हावु' शब्द विस्मय का वाचक है, उसमें विशेषता दिखाने के लिए तीन बार आवृत्ति की गयी है। अहो! बड़े आश्चर्य की बात है, बडा आश्चर्य है, महान् आश्चर्य है! क्योंकि अद्वैत आत्मरूप निरञ्जन होकर भी मैं अन्न हूँ—मैं अन्न हूँ—मैं अन्न हूँ! मैं अन्न का भोक्ता हूँ, मैं अन्न का भोक्ता हूँ! मैं अन्न का भोक्ता हूँ मैं कार्यकारण नाम अन्न और अन्नादरूप संघात का कर्ता चेतनावान् हूँ—····चेतनावान् हूँ—······चेतनावान् हूँ! मूर्त अमूर्तरूप जगत् में प्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भ मैं ही हूँ, और व्यष्टिरूप देवताओं से प्रथम विराट्रूप तथा अमृतनाभि मैं ही हूँ, अर्थात् सब प्राणियों का अमृतभाव मुझमें ही स्थित है। जो कोई मुझ अन्न को अन्न के अभिलाषी को देता है, वह मानो इस प्रकार से मेरी रक्षा करता है, और जो कोई मुझ अन्न को समय पर आये हुए अतिथि को अर्पण न करके अपने आप-अकेला ही खाता है, उस अन्नभक्षण करनेवाले पुरुष को उलटा मैं अन्न ही भक्षण कर जाता हूँ। क्योंकि ब्रह्मादिकों से भोगने योग्य या जिसमें सकल भूतों का निवास है ऐसे भुवन का मैं ही रुद्ररूप से संहार करता हूँ। मैं सूर्य के समान सदा काळज्योतिःस्वरूप हूँ। जो ऐसा जानता है वह सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का भागी होता है—निःश्रेयसाधिगम करता है। यह वर्णन उपनिषद् नाम—परमात्मसम्बन्धी ज्ञान का है ॥ ७ ॥

विशेष—"यः एवम् वेद इति उपनिषद्" (यह सब कौतुक-आश्चर्यजनक कुतूहल-मेरा ही है) इति—उक्त दो वल्लियों में इस तरह प्रतिपादन किये हुए परमात्मविषयक ज्ञानस्वरूप में कोई भी अन्य मुमुक्षु शान्त, दान्त, उपरत, सहनशील और सावधान होकर, भृगु के समान बड़ा भारी तप करके इस उपनिषद् के रहस्य को इस प्रकार जान लेता है, उसको भी भृगु के जैसा फल प्राप्त होता है।

समानरूप होने के कारण ब्रह्म ही 'साम' है, विद्वान् अपना अनुभव प्रकट करनेवाले ब्रह्म के गायन को करता हुआ इस संसार में विचरता है। जैसे भगवती श्रुति केवल मुमुक्षु जनों के बोधन करने के लिए नाना प्रकार से आत्मा का उपदेश देती है, वैसे ही विद्वान् भी मोक्षार्थियों के बोधनार्थ अपने अनुभव को गायन से प्रकट करता हुआ जगत् में विचरा करता है ॥ ७ ॥

भृगुवल्ली समाप्ता।

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इस प्रकार यह तैत्तिरीयोपनिषद् पर श्री स्वामी विद्यानन्दजी महाराज द्वारा विरचित विद्याविनोद भाष्य समाप्त हुआ ।





ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

ऐतरेयोपनिषद्

विद्याविनोद भाष्यसहित

प्रथम अध्याय, प्रथम खण्ड

ऋग्वेद के ऐतरेयारण्यक में पाँच आरण्यक और उन आरण्यकों में अठारह अध्याय हैं। उसमें द्वितीयारण्यक के चौथे अध्याय से छठे अध्याय पर्यन्त याने इन तीन अध्यायों में जीवब्रह्मविषयक आत्मविद्या का निरूपण किया गया है, ये ही तीन अध्याय 'ऐतरेयोपनिषद्' कहाते हैं। श्री शङ्कराचार्य ने इस पर भाष्य की रचना की है। आचार्यचरण कर्म और कर्मसमुच्चित ज्ञान को मुक्ति का साधन नहीं मानते। उन्होंने अपने भाष्य में केवल ज्ञान को ही मोक्ष का साधन अङ्गीकार करने में अकाट्य युक्ति प्रमाण दिये हैं। वे ज्ञान का अधिकारी एक मात्र संन्यासी को ही मानते हैं। गृहस्थ कामनाओं से रहित नहीं हो सकता, ऐसा होने पर वह गृहस्थाश्रम का निर्वाह नहीं कर सकता। 'मायायां सर्वसम्भवः' न्याय से यदि कोई (ऐसा है तो कठिन) गृहस्थाश्रम में भी शुद्धचित्त पुरःसर ज्ञान प्राप्त कर ले तो उसे स्वतः परिव्राजकत्व—अलिङ्ग संन्यास प्राप्त हो गया समझो।

इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं। पहले अध्याय में आत्मज्ञान के हेतुरूप वैराग्य की सिद्धि के लिए जीव की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। उन्हें इस अध्याय में 'आवसथ' कहा है। और परमपदप्राप्ति के एक मात्र साधन आत्मज्ञान का द्वितीय अध्याय में वर्णन करके फिर तीसरे अध्याय में उसीका प्रतिपादन किया गया है। यह इस उपनिषद् का अतिसंक्षिप्त भाव है।

इस ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् का उपदेश पूर्वकाल में सर्ववेदार्थज्ञ, परम विरक्त, निवृत्तिमार्गानुयायी, परमविद्वान, ब्रह्माजी के पुत्र सनकादि ऋषियों ने वामदेव आदि मुमुक्षु जनों को दिया था।

अन्यान्य उपनिषदों के याने ब्रह्मविद्या के जो अनुबन्धचतुष्टय हैं, वे ही इस उपनिषद् के भी जानने चाहिएँ।

ब्रह्म का सार्वात्म्य प्रतिपादन करना ही इस उपनिषद् का मुख्य उद्देश्य है। इस में गौ, अश्व आदि शरीरों की अपेक्षा मनुष्यशरीर को श्रेष्ठ प्रतिपादन किया गया है, यही शरीर ब्रह्मतत्त्व प्राप्त करने का अधिकारी है। जो परम दुर्लभ मनुष्य-शरीर को प्राप्त करके ब्रह्मानन्द से विमुख हो विषयानन्द में संसक्त होकर इस शरीररत्न को कौड़ियों के भाव बेच रहे हैं, उनके लिए किस कृपालु को कष्ट न होगा? परम कृपावती भगवती श्रुति का ऐसे जीवों के उद्धार के लिए यह ऐतरेयोपनिषद्-उपदेशरूप यत्न है। अब इसका शान्तिपाठ कहते हैं—

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भावार्थ—मेरी वागिन्द्रिय मन में स्थित हो और मन वाणी में स्थित हो। ऐसा न हो कि मेरी वाणी कुछ कहे और मन कुछ और ही सोचे, अर्थात् वाणी और मन एक दूसरे के अनुकूल रहें। तुम मेरे समक्ष आविर्भूत होओ। तुम मेरे लिए वेद को लाओ। मेरा श्रवण किया हुआ मुझे परित्याग न करे। मैं अपने इस अध्ययन के द्वारा रात दिन एक कर दूँ। अर्थात् हे वाक्! और हे मन! तुम्हारे द्वारा मैं जिस वेदज्ञान को प्राप्त करूँ, उसे कभी न भूलूँ, प्रत्युत उसके अध्ययन में रात दिन लगा रहूँ। मैं ऋत भाषण करूँ और सत्य बोलूँ, अर्थात् जो मन में हो उसी को कहूँ। ब्रह्म मेरी रक्षा करे, वह वक्ता की रक्षा करे। वह मेरी रक्षा करे, और वक्ता की रक्षा करे—वक्ता की रक्षा करे। त्रिविध ताप की शान्ति हो॥

वि० वि० भाष्य—मेरी वाणी और मन एक होकर कथन में प्रवृत्त हों, इससे मैं सचाई को पा सकूँगा। हे वाणि! तथा हे मन! तुम दोनों स्व-स्व-शक्ति से सम्पन्न हो जाओ। ऐसा होने पर तुम्हारी सहायता से मुझे वेदतत्त्व प्राप्त हो सकेगा। साथ ही यह भी हो कि मैं उसे भूलने न पाऊँ। मुझ में यह अनुराग उत्पन्न हो जाय कि मैं रात दिन अध्ययन में लगा रहूँ। ऐसा न हो कि मैं कहूँ कुछ और ही,

मन में कुछ अन्य ही हो, और करूँ कुछ भिन्न ही। ब्रह्म मेरी रक्षा करे, जिससे मेरा अभ्यास विघ्नों से शिथिल न होने पाये, और जो मेरे अध्ययनाभ्यास में सहायक है उसकी भी ब्रह्मशक्ति रक्षा करे। बार बार कहता हूँ कि मेरी और वक्ता की रक्षा हो। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तापों की शान्ति हो ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि हमारे जो काम हों, मन से हों। हम शास्त्रचिन्तन में लगे रहें। हम वेदों के उपदेशों को न भूलें। हमारा व्यवहार तदनुसार ही हो। हम अच्छे रहें, हमारे उपदेष्टा भी सुरक्षित रहें, यही बार बार चाहा गया है ॥

ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् के पूर्व गत तीन अध्यायों में प्राणोपासना का सविस्तर वर्णन किया गया है। अब कर्मकाण्डोक्त कर्म और उपासना से शुद्धान्तःकरण तथा इस से ही साधनचतुष्टयसम्पन्न ब्रह्मविद्या के अधिकारी की ब्रह्मस्वरूपावस्थानरूप मोक्ष की सिद्धि के लिए आगे कहे जानेवाले तीन अध्यायों में केवल आत्मविद्या का आरम्भ किया जाता है, यथा—

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥ १ ॥

भावार्थ—यह नामरूपात्मक जगत् उत्पत्ति से पहले अद्वैतरूप एक आत्मा ही था, और वह कुछ भी व्यापारवाला नहीं था। उसने विचार किया कि मैं लोकों की रचना करूँ ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—उत्पत्ति से पहले यह जगत् नाम रूपादि भेद के व्यक्त न होने के कारण 'आत्मा' इस शब्द की प्रतीति का ही विषय था। इस समय नाम रूपादि भेद के व्यक्त हो जाने से वह अनेक शब्दों की प्रतीति का विषय हो गया, पर वह 'आत्मा' इस शब्द की प्रतीति का विषय भी रहा आया,। जैसे फेन की नामरूपात्मक अभिव्यक्ति से पहले जल ही था, फिर अभिव्यक्त होने पर 'जल' और 'फेन' नाम से अलग कहा जाने लगा। सर्वज्ञस्वरूप आत्मा ने चिन्तन किया, कैसा ईक्षण—चिन्तन किया ?—मैं प्राणियों के कर्मफलोपभोग के आश्रयभूत अम्भ आदि लोकों की रचना करूँ ॥ १ ॥

विशेष—'इतरा' नाम की कोई विदुषी स्त्री थी, उसके पुत्र ऐतरेय ऋषि ने शिष्यों को पढ़ाकर इस उपनिषद् का प्रचार किया था। इस कारण इसका 'ऐतरेयोपनिषद्'नाम प्रसिद्ध हो गया। इसका भी प्रतिपाद्य ब्रह्म एक और अखण्ड है, साधनों

के बिना उसका ईक्षण—चिन्तन सम्भव नहीं। फिर उस सिद्धकाम को ईक्षण की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? उत्तर यह है कि उसे कुछ भी करने में साधनों की आवश्यकता नहीं है। फिर उस परम स्वतन्त्र से कौन पूछे कि वह चिन्तन क्यों करता है। वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है, वह किसी के निग्रहावग्रह से दूर है ॥ १ ॥

स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः । पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

भावार्थ—उसने अम्भ, मरीचि, मर और आप इन लोकों को रचा। जो द्युलोक से परे और स्वर्ग जिसका आश्रय है, वह अम्भ है। अन्तरिक्ष मरीचि है। पृथिवी मर है तथा जो नीचे है वह आप है ॥ २ ॥

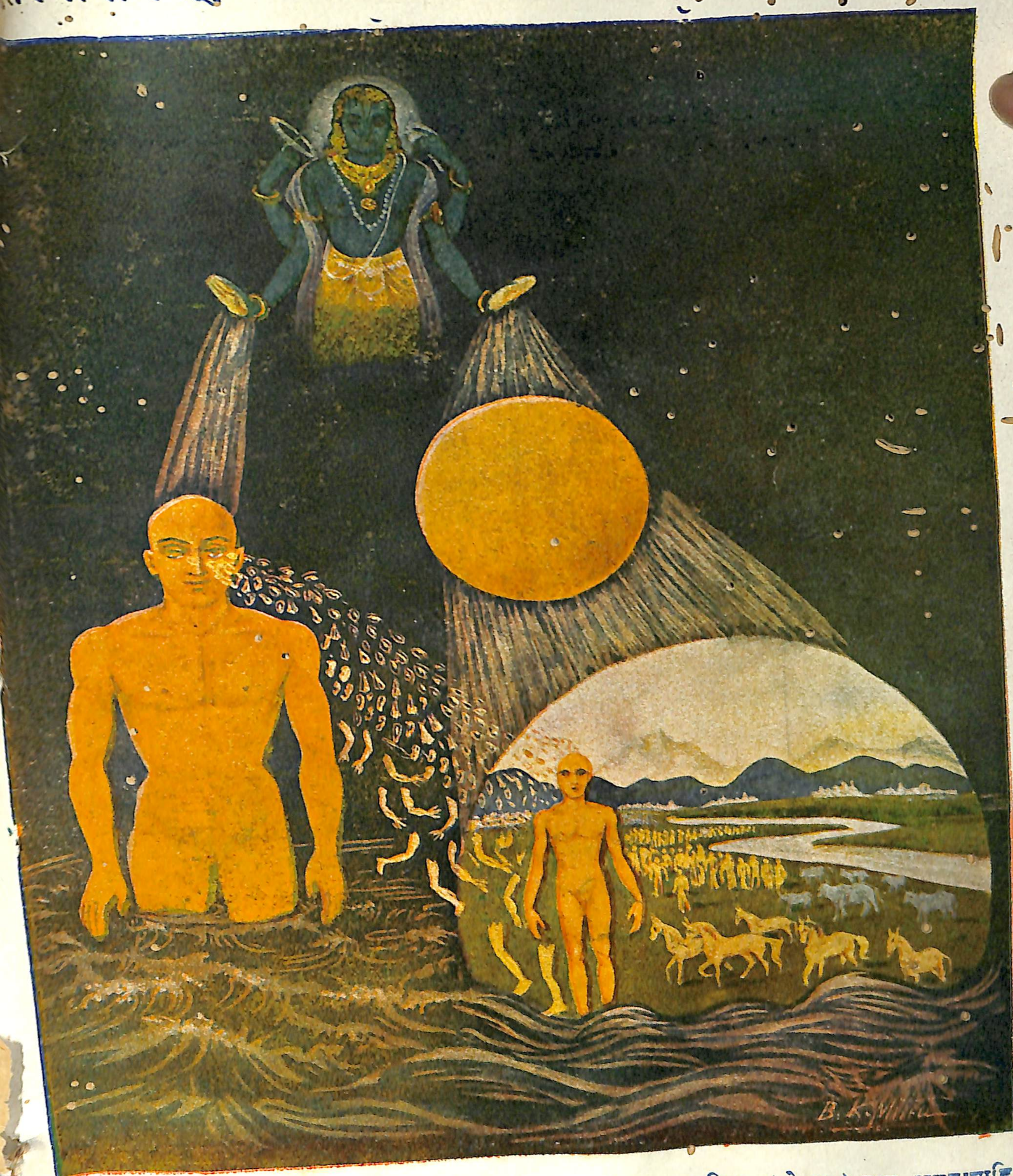
वि० वि० भाष्य—इस प्रकार ईक्षण यानी आलोचना करके उसने अम्भ, मरीचि, मर और आप इन लोकों की रचना की। वह अम्भ शब्द से कहा जानेवाला जो लोक है द्युलोक से परे है, वह जल (मेघों) को धारण करनेवाला होने से 'अम्भ' शब्द से कहा जाता है। उस अम्भ लोक का द्युलोक प्रतिष्ठा यानी आश्रय है। स्वर्ग से नीचे जो अन्तरिक्ष नाम आकाश है, वह सूर्य की किरणों के सम्बन्ध से मरीचि नामवाला लोक है। जिस पर प्राणी मरते हैं, ऐसा मर नामवाला यह पृथ्वीलोक है। जो पृथिवी से नीचे लोक है वह जल की अधिकता के कारण आप नाम से कहा जाता है ॥ २ ॥

विशेष—परमात्मा इस सृष्टि का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी है। उससे उत्पन्न सभी लोक यद्यपि पञ्चभूतमय हैं, तथापि अम्भ, मरीचि, मर और आप ये लोक जल की अधिकता होने के कारण 'आप' ही कहे जाते हैं ॥ २ ॥

लोकों की सृष्टि को कहकर अब श्रुति लोकपालों की सृष्टि का कथन करती है, यथा—

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति । सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उसने सोचा कि 'ये लोक तो बनकर तैयार हो गये, अब लोकपालों की रचना करनी ठीक है। ऐसा विचार कर उसने जल से ही पुरुष को निकाल कर अवयववाला किया ॥ ३ ॥



आत्मा द्वारा लोक (भूत), पुरुषपिण्ड (विराट्), इन्द्रिय (देवता) तथा अन्नपानादि सहित प्राणीसृष्टि का आरम्भ।—(१ अध्याय)

આત્મા દ્વારા લોક (ભૂત), પુરૂષપિણ્ડ (વિરાટ્), ઇન્દ્રિય (દેવતા) તથા અન્નપાનાદિ સહિત પ્રાણી સૃષ્ટિનો આરમ્ભ. —(૧ અધ્યાય).



वि० वि० भाष्य—उसने विचार किया कि ये लोक तो मैंने रच दिये, परन्तु कोई रक्षक न होने से ये नष्ट हो जायँगे, अतः इनके रक्षार्थ लोकपालों की रचना होनी चाहिए। ऐसा विचार कर उसने जल आदि पञ्च भूतों से पुरुषाकार, शिर हाथ आदिवाले विराट् पुरुष को ग्रहण कर उसको अपनी चेतन सत्ता से युक्त करके रच दिया ॥ ३ ॥

विशेष—जिस प्रकार कुम्हार पृथिवी से मिट्टी का पिण्ड निकालकर घड़ा आदि बनाता है, उसी प्रकार उसने अवयवों की योजना करके पुरुषशरीर की रचना की। विद्वानों का कथन है कि मनुष्य आदि के शरीरों की उत्पत्ति मुख्य कर अग्नि, सोम इन दो देवताओं से हुई मानी गयी है, उनमें पृथिवीतत्त्व मुख्य उपादान है। तो भी सोमतत्त्व की प्रधानता मानकर ही उपनिषदादि ग्रन्थों में पुरुष को अधिकांश 'सोम्य' यह विशेषण या सम्बोधन दिया गया है। पुरुष के शरीर का कारण वीर्य भी जलतत्त्वप्रधान सौम्य है, स्त्री अप्रधान है, वह पुरुष के अधीन रहनेवाली है। यहाँ 'मूर्छन' का अर्थ कठिन करना है, जैसे कुम्भकार तालाब के जल के नीचे से गीली मिट्टी लाकर उसे सुखाकर कड़ी करता है, वैसे ही यहाँ परमात्मा ने किया ॥ ३ ॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डम् । मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस ईश्वर ने विराट् पुरुष के विषय में विचार किया। उस संकल्पित पिण्ड से अण्डे के समान मुख उत्पन्न हुआ, अर्थात् जैसे पक्षी का अण्डा फूटता है, जैसे उसमें से मुँह निकलता है, वैसे ही उस संकल्प किये हुए पिण्ड से मुख निकला। मुख से वाणी, वाणी से अग्नि—अग्निरूप लोकपाल

निकला, दो नाक के गोळक निकले, नासिकारन्ध्रों से प्राण हुआ, प्राण से वायु। इसी तरह आँखों के दो गोलक निकले, आँखों के गोलकों से चक्षु इन्द्रिय, चक्षु से आदित्य निकला, फिर दो कानों के गोळक हुए, कानों से श्रोत्रेन्द्रिय और श्रोत्र से दिशायें निकलीं। तदनन्तर त्वचा प्रकट हुई, त्वचा—चमड़े से रोम, रोमों से ओषधि एवं वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। इसी प्रकार हृदय निकला, हृदय से मन, मन से चन्द्रमा निकला। फिर नाभि उत्पन्न हुई। नाभि से अपान और अपान से मृत्यु प्रकट हुआ। इसके बाद जननेन्द्रिय, उससे वीर्य, उससे आप उत्पन्न हुआ ॥४॥

वि० वि० भाष्य—उस पुरुषाकार पिण्ड के उद्देश्य से ईश्वर ने तप-उसका अभिध्यान यानी संकल्प किया। उस अभितप्त ईश्वर के संकल्परूप तप से तपे हुए पिण्ड का मुख प्रकट हुआ। याने उस में मुखाकार छिद्र इस प्रकार हो गया जैसे पक्षी का अण्डा फट जाता है। उस छिद्ररूप मुख से वागिन्द्रिय और उस वाणी से उसका अधिष्ठाता लोकपाल अग्नि हुआ। इसी प्रकार नासिकारन्ध्र, उस से प्राण और उस से वायु हुआ। इस प्रकार सभी जगह इन्द्रियगोळक, इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता देव, ये तीनों ही क्रमशः उत्पन्न हुए। इसी प्रकार इस मन्त्र के भावार्थ में कथन किये हुए क्रम के अनुसार अन्य लोकपाल आदिकों की उत्पत्ति के विषय में समझ लेना ॥ ४ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का अभिप्राय लोकपाल अग्न्यादि देवताओं की उत्पत्ति दिखाने में है, अन्य वस्तुओं का व्याख्यान उन्हीं के प्रसङ्ग से है। यहाँ अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, ओषध्यादिसम्बन्धी वायु, चन्द्रमा, मृत्यु और जलतत्त्व इन आठ देवताओं की क्रम से उत्पत्ति दिखाने का यह भी प्रयोजन है कि पर-पर के साथ पूर्व पूर्व देवता का कार्यकारणभाव सम्बन्ध है याने पूर्व-पूर्व के अभाव में पर-पर नहीं रह सकते। इन आठों में तीन भाग हैं, पहला अधिष्ठान या आश्रय, जिसको इन्द्रिय-गोळक या छिद्र अथवा द्वार भी कहते हैं। द्वितीय उन छिद्रों में रहनेवाली इन्द्रिय-शक्ति है। तीसरा देवता या उस-उस इन्द्रिय का कार्यकारणरूप विषय है। यह इनका विवेक है ॥ ४ ॥



अथ द्वितीय खण्ड

इस प्रकार पूर्व खण्ड में समष्टि इन्द्रियों की और उनके अभिमानी देवताओं की उत्पत्ति कही है। इस समय उन देवताओं के भोग के योग्य देहसृष्टि को, और

व्यष्टि देहों में भोग के लिए देवताओं के व्यष्टिरूप से प्रवेश का कथन करने की इच्छा से उसके उपोद्घातरूप से पहले भूख तथा प्यास की रचना को दिखाते हैं, यथा—

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर से लोकपाल बनाकर रचे हुए वे ये इन्द्रियाभिमानी अग्नि आदि देवता इस बड़े भारी संसारसागर में गिर गये। स्रष्टा परमात्मा ने उस प्रथम उत्पन्न किये हुए विराट् पुरुषमय पिण्डरूप आत्मा को भूख और प्यास से युक्त किया। उन देवताओं ने स्रष्टा से कहा कि हमारे लिए कोई आश्रय स्थान बताइए, याने हमको ऐसा स्थान दीजिए जिसमें स्थित होकर हम अन्न भक्षण कर सकें, याने अन्न का आहार पा सकें ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—इन्द्रिय और उनके अभिमानी अग्नि आदिक देवता उत्पन्न होकर समुद्र की तरह अत्यन्त विस्तृत ब्रह्माण्डरूप विराट् के शरीर में गिर गये। उन्हें वहाँ क्षुधा और तृषा की व्याधि लग गयी। उन्होंने पितामह परमेश्वर से प्रार्थना की कि 'हमें वह जगह बता दीजिए जहाँ हम अपनी भूख प्यास शान्त कर सकें। इस कथन का अभिप्राय यह है कि हे भगवन् ! यह विराट् का शरीर अत्यन्त विस्तारवाला है, यह हमारे भोग के योग्य नहीं है; हम इस लम्बे चौड़े विराट् देह में व्याप्त होकर नहीं स्थित हो सकते, याने उस पूरे का हम उपयोग नहीं कर सकते, फिर इस देह की पूर्ति के लिए हम अन्न का सम्पादन भी नहीं कर सकते। अतः जिससे हम किसी अल्प शरीर में रहकर उस शरीर की पूर्ति भर अन्न सम्पादन में समर्थ हो सकें ऐसे व्यष्टि शरीर की रचना हमारे निवास के लिए कर दीजिए। अग्नि आदि लोकपालों ने प्रभु से ऐसा कहा ॥ १ ॥

विशेष—जब कि कर्म और उपासना से प्राप्त हुए देवताओं के शरीरों में भी दुःख का आक्रमण हो जाता है, तब अन्य मनुष्य आदिकों का तो कहना ही क्या है ? इस अभिप्राय के बोधन के लिए श्रुति में विराट् के शरीर को समुद्ररूप से वर्णन किया है ॥ १ ॥

ऐसा कहा जाने पर ईश्वर ने यह किया—

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥

भावार्थ—उन देवताओं के लिए परमात्मा गौ ले आया । यह देखकर देवगण बोले–यह हमारे लिए काफी न होगा । फिर वह उनके लिए घोड़ा ले आया । उसे भी उन्होंने पर्याप्त नहीं है, ऐसा कहकर अस्वीकार कर दिया ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—देवताओं के ऐसा कहने पर स्रष्टा ने उनके आगे एक गौ के आकार का पिण्ड लाकर खड़ा कर दिया । फिर देवताओं के 'यह ठीक नहीं है' ऐसा कहने पर उसने अश्व का पिण्ड उनके समक्ष उपस्थित किया । उसे भी देवताओं ने स्वीकार नहीं किया ॥ २ ॥

विशेष—पञ्च भूतों से एकत्र करके परमेश्वर ने देवताओं को गाय दिखाई तो देवता बोले कि इसके तो ऊपर के दाँत ही नहीं हैं, यह तो दूब आदि घासों की जड़ नहीं उखाड़ सकती, यह काम आने में असमर्थ है, अतः हमें नहीं चाहिए । इसी प्रकार घोड़े के प्रति भी कहा कि इस के दोनों ओर दाँत हैं, पर यह पशु होने के कारण विवेकरहित है, यह हमारे उपभोग के लिए न हो सकेगा ॥ २ ॥

परमेश्वर ने सोचा कि ये गौ-अश्व-शरीरों की तरह सभी तिर्यक् देहों (मनुष्य से अतिरिक्त जीवमात्र तिर्यक् कहाते हैं) से सन्तुष्ट न होंगे, अतः वह उनसे भिन्न देहपिण्ड लाया, यथा—

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति । पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥३॥

भावार्थ—वह उनके लिए उनका योनिस्वरूप पुरुष ले आया । वे खेदरहित होकर बोले—यह अधिष्ठान सुन्दर बना है, निश्चय पुरुष ही सुकृत है—सुन्दर रचना है । स्रष्टा ने उन देवताओं से कहा—अपने अपने आश्रयस्थान में प्रवेश करो ॥३॥

वि० वि० भाष्य—ईश्वर के लाये हुए मनुष्याकार पिण्ड को देखकर देवगणों ने खेद त्यागकर कहा कि यह देह हमें पसन्द है, आपने इसे अपनी माया से रचा है, अतः सुकृत है । याने अच्छा बनाया है, या पुण्यरूप है, याने पुण्यों का फल है । यह सुन ईश्वर ने आज्ञा दी कि अब देखते क्या हो, इसके प्रत्येक अङ्ग पर यथा योग्य अधिकार कर लो ॥ ३ ॥

विशेष—ईश्वर ने उन देवताओं की प्रसन्नता के लिए एककम चौरासी लाख देह रचकर दिखाये, पर देवों ने एक भी पसन्द न किया। जब मनुष्य को उपस्थित किया तो वे प्रसन्न होकर कहने लगे कि यह तो बड़ा सुन्दर है, इसे धर्म का ज्ञान है, यह ब्रह्मज्ञानवान् भी है, तथा लोक परलोक का ज्ञाता है। ईश्वर ने कहा—जब ऐसा है तो इसे अपना निवासस्थान बना लो॥ ३॥

'ऐसा ही हो' इस प्रकार राजा की आज्ञा पाकर जैसे नगरी में सेनाध्यक्ष आदि प्रवेश कर जाते हैं, उसी प्रकार—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्॥ ४॥

भावार्थ—अग्नि वाणीरूप होकर मुख में प्रवेश कर गया, वायु ने प्राण होकर नासिकारन्ध्रों में प्रवेश किया, आदित्य चक्षु इन्द्रिय होकर नेत्रों में घुस गया, दिशायें श्रवणेन्द्रिय होकर दोनों कानों में प्रवेश कर गईं, ओषधि और वनस्पतियाँ रोम होकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा ने मन बनकर हृदय में प्रवेश किया, मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रवेश कर गया, और जल ने वीर्य होकर लिङ्ग में प्रवेश किया॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—ईश्वर की आज्ञा से सब देवताओं ने मनुष्यशरीर के सब अवयवों पर यथायोग्य अधिकार कर लिया। यद्यपि ईश्वर ने देवताओं को ही मनुष्यशरीर में प्रवेश करने की आज्ञा दी है, इन्द्रियों को नहीं, तथापि इन्द्रियों के बिना देवताओं को साक्षात् भोजनादि भोग भोगना असम्भव है, अतः उनका प्रवेश तो स्वतः हो गया। जो देव जहाँ जैसे प्रविष्ट हुआ है उसका उल्लेख उपर्युक्त भावार्थ में स्पष्ट है॥ ४॥

विशेष—महात्मा लोग कहते हैं कि उपनिषद् में (प्रकृत मन्त्र में) इन देवताओं का प्रवेश कहा है, यह उपलक्षण है याने दिग्दर्शन है। इनके अतिरिक्त अन्य जो देवसमूह हैं, विद्वानों को उनका प्रवेश भी यथायोग्य जान लेना चाहिए।

इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य अकेला नहीं है, वह देवसंघीभूत है। यदि वह अनर्थ करता है तो सभी देवताओं को संकुचित करता है, देवों को कुपित करता है ॥४॥

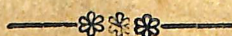
इस प्रकार जब देवगणों ने आश्रय प्राप्त कर लिया तो इसके अनन्तर, याने देवों के आश्रय पा लेने पर—

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

भावार्थ—भूख प्यास ने उस परमात्मा से कहा कि हमारे लिए भी कोई स्थान बताओ। यह सुन उसने उनसे कहा—मैं तुम दोनों को इन देवताओं में ही भागीदार—हिस्सेदार बनाने की व्यवस्था करूँगा। इस कारण किसी भी देवता के निमित्त हविःरूप अन्न दिया जाता है, उस देवता की हवि में भूख प्यास भी भागीदार—साझी होती हैं ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—क्षुधा तृषा के अभिमानी देवता अपना कोई स्थान न देखकर परमेश्वर से बोले—हे जनक! कृपा करके हमको कोई आश्रय प्रदान कीजिए। परमेश्वर ने उनके लिए अध्यात्म और अधिदैवरूप देवताओं में ही स्थान देकर कहा—इन देवताओं की तृप्ति से ही तुम्हारी तृप्ति होगी ॥ ५ ॥

विशेष—यह देखने में आता है कि सूर्य आदिक देवताओं को घृतादिरूप हवि का दान करने से उनकी क्षुधा तृषा शान्त होती हैं। और रूपादि-विषयभूत हवि का दान करने से नेत्रादिकों की क्षुधा तृषा दूर होती हैं। जीव में क्षुधा तृषा की प्रतीति इन्द्रिय देवतादि उपाधि के द्वारा ही है, इसी से श्रुति में उन इन्द्रिय तथा देवताओं में ही क्षुधा तृषा आदिकों के समावेश का कथन किया गया है ॥ ५ ॥



अथ तृतीय खण्ड

इस प्रकार देवताओं और इन्द्रियों की उत्पत्ति कहकर उनकी प्रवृत्ति का कारण जो क्षुधा तृषा हैं, उनके भोगसाधन की सृष्टि को कहा, अब भोग्य सृष्टि को कहते हैं, यथा—

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

भावार्थ—तदनन्तर उसने विचार किया कि इन सब लोकों को और लोकपालों को भी मैंने रच दिया। अब मैं इनके लिए अन्न की रचना करूँ ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे पुत्र पौत्रादिकों के न कहने ,पर भी पिता अन्न आदिकों से उनकी रक्षा करता है, वैसे ही परमेश्वर देवतारूप पुत्रों की रक्षा के लिए अन्नोत्पत्ति का विचार करने लगा ॥ १ ॥

विशेष—ईश्वर ने सृष्टि तो रच दी, पर उसकी रक्षा के लिए विचार करने लगा। उसने यह सोचा कि इनको जब भूख प्यास की बाधा होती है तो उसकी निवृत्ति के लिए अन्न चाहिये, अब मैं उस अन्न को रचूँगा ॥ १ ॥

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायताऽन्नं वै तत् ॥ २ ॥

भावार्थ—उसने आपों-जलों को उद्देश्य करके तप किया। उन अभितप्त आपों से एक मूर्ति उत्पन्न हुई। यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई है वही अन्न है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—ऐसा विचार करके परमेश्वर ने संकल्प किया कि जल आदि पञ्च भूतों से अन्त उत्पन्न हो। इस प्रकार ईश्वर के विचार से जल आदि पाँच भूतों से कठिनरूप और शरीर धारण में समर्थ चर अचर मूर्ति उत्पन्न हुई। जैसे—चररूप चूहा बिल्ली के लिए, और अचररूप धान्य आदि मनुष्यों के लिए। यह जो प्रसिद्ध मूर्ति प्रकट हुई, निःसन्देह वह अन्न हुआ ॥ २ ॥

विशेष—परमेश्वर ने विचार करके पञ्च भूतों से नाना प्रकार के अन्न उत्पन्न किये। जैसे—सिंह आदिकों को मांस, मनुष्यों को व्रीहि आदिक, सर्प आदिकों को मेंढक और बिडाल आदिकों को मूषक जैसे अन्न उत्पन्न किये ॥ २ ॥

अन्नसृष्टि को कहकर अन्वय-व्यतिरेक से उसके ग्रहण के साधन का निश्चय करते हैं, यथा—

तदेनत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत् तद्वाचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस इस लोकपालों के भोजनार्थ रचे गये अन्न ने उनकी ओर से मुख फेरकर भागना चाहा। तब प्रथम उत्पन्न हुए विराट् पुरुष ने उसे वाणी से ग्रहण करना चाहा, किन्तु वह उसे वागिन्द्रिय से ग्रहण न कर सका। यदि वह उसे वाणी से ग्रहण कर सकता तो सब लोग, जो आगे आगे हुए, अन्न शब्द कहकर ही तृप्त हो जाया करते॥ ३॥

वि० वि० भाष्य—व्रीहि यव आदि अन्न जब उस आदि पुरुष के सामने रखा गया तो वह भोक्ता को अपना मृत्यु जानकर भागा, जैसे चूहा बिल्ली के सामने से भागता है। उसने वाणी से अन्न को खाना चाहा, पर ऐसा न कर सका। यदि वह ऐसा कर सकता तो इस समय के सब भोक्ता लोग भोग्य वस्तु अन्न का वाणी से उच्चारण करके ही तृप्त हो जाया करते। किसी के अन्न खाने की आवश्यकता न होती॥ ३॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में कहा गया है कि भोक्ता को अपना काल समझकर अन्न ने भागना चाहा, याने छिप जाने का यत्न किया। यद्यपि चेतन होने के कारण मूषकरूप अन्न तो विडाल के सामने से भाग सकता है, तथापि व्रीहि यवादि अन्न अचेतन होने के कारण कैसे भाग सकते हैं? इस कथन का अभिप्राय यह है कि भागना नाम भोक्ता के शरीर में प्रविष्ट न होना—याने बाहर ही स्थित रह जाना, यही श्रुति का तात्पर्य है॥ ३॥

आगे का प्रसङ्ग भी इसी के समान है, जैसे—

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ४॥

भावार्थ—उस आदिपुरुष ने पूर्वोक्त अन्न को प्राण से ग्रहण करना चाहा, याने घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण करना चाहा—सूँघकर ग्रहण करना चाहा। पर वह ऐसा न कर सका। ऐसा हो जाता तो आजकल के लोग अन्न को सूँघकर तृप्त हो जाया करते॥ ४॥

अगला मन्त्र भी ऐसा ही है, यथा—

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ५॥

भावार्थ—नेत्र से ग्रहण करने की इच्छा करने पर भी वह अन्न को आँखों

से न प्राप्त कर सका। यदि वह ऐसा करता तो आज भी लोगों की अन्न के देखने से ही भूख भाग जाती ॥ ६ ॥

निम्नोक्त वचन भी इसी अभिप्रायवाला है, यथा—

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—आदिपुरुष ने श्रोत्र से अन्न ग्रहण करने की इच्छा की, पर सफल न हो सका। यदि ऐसा होता तो क्या ही बात थी? आजकल के हमारे जैसे लोग अन्न का नाम सुनते ही तृप्त हो जाया करते। पर ऐसा नहीं होना था न हो सका ॥ ६ ॥

अधोलिखित मन्त्र में ऐसी ही बात है, यथा—

तत्त्वचाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—उसने इसे त्वचा से ग्रहण करना चाहा—खाना चाहा, किन्तु वह त्वगिन्द्रिय से ऐसा न कर सका। यदि ऐसा हो जाता तो लोग अन्न को छूकर तृप्त हो जाया करते ॥ ७ ॥

अगला वचन भी ऐसी ही बात कहता है, यथा—

तन्मनसाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्। स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—उस विराट् पुरुष ने अन्न को मन से खाने की इच्छा की, पर सफलता न मिली। ऐसा हो जाता तो सब रगड़े झगड़े ही दूर हो जाते। आजकल के जो लोग विराट् पुरुष से उत्पन्न हुए हैं उन सबका मन के संकल्प करने मात्र से पेट भर जाता ॥ ८ ॥

वक्ष्यमाण वचन भी ऐसे ही अभिप्राय को बोधन करता है, यथा—

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

भावार्थ—लिङ्ग से ग्रहण करने का विचार भी उसका सफल न हो सका।

अन्यथा आज सभी लोग उसी से वीर्य की तरह अन्न का विसर्जन करके ही तृप्त हो जाते ॥ ९ ॥

इस प्रकार वह आदिपुरुष उस प्राण, चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, मन और शिश्न द्वारा उस-उस इन्द्रिय के व्यापार से अन्न ग्रहण करने में असमर्थ हुआ तो पीछे—

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत्। सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

भावार्थ—उसने अपान से ग्रहण करना चाहा, तब इसे ग्रहण कर लिया, अर्थात् मुख के छेद से नीचे को आनेवाले वायु के द्वारा खा लिया। वह यह अपान वायु ही अन्न का ग्रहण करनेवाला है और यही निश्चय करके अन्न द्वारा अन्न के भोक्ता की आयुर्वृद्धि करनेवाला है। याने जो वायु अन्नायु है, वह यह अपान वायु ही है, यह प्रसिद्ध है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—"तत्प्राणेनाजिघृक्षत्" इस चौथे मन्त्र से लेकर "तदपानेनाजिघृक्षत्" इस दसवें मन्त्र तक याने उपर्युक्त सात मन्त्रों का अर्थ प्रायः एक जैसा होने के कारण उन प्रत्येक पर भाष्य और विशेष नामक व्याख्या नहीं की गयी। यहाँ सब का एकत्र व्याख्यान करते हैं, यथा—अन्न उत्पन्न करके परमेश्वर ने देवताओं को आज्ञा दी कि यह अन्न तुम्हारे लिए रचा गया है, इसे ग्रहण करो। वस्तुतः आत्मा में तो अन्न आदिकों का भोक्तृत्व सम्भव नहीं, किन्तु अपान-वृत्तिमान् प्राण उपाधि से ऐसा कहा जाता है।

परमात्मा की आज्ञा पाकर जब देवता अन्न ग्रहण करने में प्रवृत्त हुए तो अन्न उनको अपना मृत्यु समझकर उनके सामने से भागने की सोचने लगा, याने उनके भीतर जाने में आनाकानी करने लगा। इस अवसर पर यह इन्द्रियों सहित स्थूल शरीर वाणी से अन्न के ग्रहण करने की इच्छा करने लगा, किन्तु अपान वायु के बिना ग्रहण करने में समर्थ न हो सका। इसी प्रकार प्राण, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, मन और उपस्थ आदिकों से भी वह पिण्ड अन्न ग्रहण न कर सका। पश्चात् अपान वायु की सहायता से मुखछिद्र द्वारा उस पिण्ड ने अन्न ग्रहण किया। इसी से अपान वायु को अन्न का ग्राहक कहते हैं।

इस प्रकार परमेश्वर ने लोकों की, शरीरों की और भोगसाधन वागादिक इन्द्रियों की उत्पत्ति की। विराट् से समष्टि शरीर में देवताओं की लोकपाल-रूप से स्थिति की और व्यष्टि स्थूल शरीरों में सूर्यादि देवताओं की करणों के

अधिष्ठातारूप से स्थापना की। फिर अन्न को उत्पन्न करके अपानवृत्तिमान् प्राण से ही अन्न के ग्रहण का बोधन किया। अपान वायु वह है जो किसी भी वस्तु को नीचे की ओर ले जाता है, यही खाये हुए अन्न को ढकेलकर ठिकाने पर पहुँचा देता है ॥ १० ॥

विशेष—इस प्रकरण में यह आख्यायिका आयी है कि परमेश्वर ने लोकपालों के आहारार्थ जिस अन्न को रचा, उसने उनकी ओर से मुँह फेरकर भागना चाहा। "तदेनत् सृष्टं पराङत्यजिघांसत्" यह वहाँ का मन्त्र है। इस का अभिप्राय यह है कि जड़ चेतन सभी पदार्थों में भक्ष्य के व्याकुल होने का कारण भक्षक की प्रबलता है। पात्र में भरकर जल अग्नि के ऊपर रखा जाता है, जब अग्नि उसे जलाने याने खाने लगता है तो वह बोलता है, और भाफ बनकर भागने का व्यापार करता है, याने वह अग्नि से अलग होकर छुटकारा पाकर ऊपर को भागता है। विद्युत् तथा वायु के भय से बादल गरजते और इधर उधर भागते हैं। चूहा बिल्ली को, मृग सिंह को, कुत्ता व्याघ्र को, चिड़िया बाज को और सर्प नकुल को देखकर दूसरी ओर को भाग जाते हैं। भारतीय महावैज्ञानिक वसु महाशय ने यन्त्र से यह सिद्ध करके दिखाया है कि काटने के शस्त्र को देखकर वृक्ष सङ्कुचित हो जाता है—कुम्हला जाता है। कारण स्पष्ट है कि शस्त्र उसे खा जायगा। संसार में यह नियम नहीं है कि भोक्ता भोक्ता ही रहेगा, स्थानान्तर में व्यक्त्यन्तर के समक्ष अन्यत्र का भोक्ता ही दूसरी जगह भोज्य हो जाता है। इस प्राकृतिक भाव को लेकर कहा गया है कि अन्न ने भागने की चेष्टा की ॥ १० ॥

इस प्रकार आत्मा का संसारित्व सिद्ध करने के लिए याने उसे संसारी पुरुष बनाने के लिए भोग की सृष्टि का निरूपण करके इस समय भोग के स्वामी को दिखाने के लिए स्रष्टा ईश्वर के ईक्षण—इच्छा को कहते हैं, यथा—

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

भावार्थ—उस ईश्वर ने विचार किया कि यह कार्यरूप पिण्ड मेरे बिना

कैसे रहेगा ? वह सोचने लगा कि इस पिण्डरूप पुर में मैं किस मार्ग से प्रवेश करूँ ? उसने फिर विचार किया—यदि मेरे बिना वागिन्द्रिय उच्चारण कर ले, यदि प्राण से प्राणनक्रिया कर ली जाय, घ्राणेन्द्रिय सूँघ ले, यदि नेत्र देख लें, यदि कान सुन लें, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया जाय, यदि मन विचार कर ले, यदि अपान वायु से भक्षण कर लिया जाय और यदि शिश्न विसर्जन याने त्याग कर ले तो मैं कौन रहा ? ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—फिर उस जनक ने प्रवेश के लिए विचार किया कि अपानादि सहित यह संघात मेरे बिना कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे राजा के बिना नगर की शोभा नहीं, वैसे ही चेतन बिना इस संघात की कार्यसिद्धि नहीं हो सकती। इस कारण मैं संघात में शब्दादिकों के भोग के लिए तथा स्वस्वरूप के ज्ञान के अर्थ अवश्य प्रवेश करूँ। इस प्रकार उसने प्रवेश का संकल्प करके प्रवेश के मार्ग का विचार किया कि क्रियाशक्तिवाले प्राण ने तो पादाग्र भाग से प्रवेश किया है, ज्ञानशक्ति के अभाव से जड़ः प्राण को गुणदोष का विवेक ही नहीं है, इसी से वह प्राण पादाग्ररूप निकृष्ट मार्ग से इस शरीर में प्रविष्ट हुआ है। और चेतनरूप से मुझे इसमें अवश्य प्रवेश करना योग्य है, किन्तु जिन मार्गों से मेरे भृत्य प्राणादि प्रविष्ट हुए हैं, वहाँ से प्रवेश करना उचित नहीं है, और मुझको प्रवेश करना अवश्य है। ऐसा विचार उसने किया ॥ ११ ॥

विशेष—ईश्वर ने विचारा कि यदि मेरे बिना ये सब वाणी आदि इन्द्रियों के बोलने आदि के व्यापार हो जाते तो मेरा कोई प्रयोजन ही नहीं था। भाव यह है कि राजा की प्रेरणा के बिना नगर की शोभा व्यवस्था आदि कार्यों के समान ईश्वर की प्रेरणा के बिना इनका होना असम्भव है ॥ ११ ॥

इस प्रकार वागादि इन्द्रियों की व्यवहारसिद्धि के लिए और स्वस्वरूप के बोध के लिए मुझे इसमें अवश्य प्रवेश करना चाहिए, ऐसा ईक्षण—विचार करके परमात्मा ने यह किया—

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

भावार्थ—वह इस सीमा—ब्रह्मरन्ध्र को चीरकर इसी के द्वारा प्रविष्ट हो गया। वह यह द्वार 'विदृति' नामवाला है, यह आनन्ददायक है। उस पुरेश्वर के

तीन स्थान हैं, तीन स्वप्न हैं, "अयम्, आवसथ३" यही स्थान है, यही स्थान है, यही स्थान है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—ईश्वर ने शरीर में ब्रह्मरन्ध्र, केशविभाग स्थान या त्रिकपाल स्थान से प्रवेश किया। ज्ञानेन्द्रियों का बाहुल्य मूर्धा में ही उपलब्ध होता है, यही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का स्थान है। इसका नाम विदृति इसलिए है कि इसको विदीर्ण करके परमात्मा ने इससे होकर प्रवेश किया है। यही मार्ग उपासक के ब्रह्मलोक में जाने का है। पुर में प्रविष्ट हुए राजा के समान, इस प्रकार रचना करके उसमें जीवरूप से प्रवेश करनेवाले उस ईश्वर के तीन आवसथ हैं, १—जाग्रत् काल में इन्द्रियों का स्थान दक्षिण नेत्र, २—स्वप्न काल में मन के भीतर और ३—सुषुप्ति में हृदयाकाश के अन्दर। अथवा आगे बतलाये जानेवाले पितृदेह, मातृगर्भाशय और अपना शरीर ये तीन आवसथ हैं। तथा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं ॥ १२ ॥

विशेष—वह ईश्वर मूर्द्धारूप ऊपर की सीमा में छेद करके उस द्वार से शरीर में घुसता है। बाल्यावस्था के समय मूर्द्धा में यह छेद पिलपिला सा स्पष्ट दीखता है।

नेत्रे जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाचरेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं तद्विलक्षणम् ॥ १ ॥

यह ब्रह्मोपनिषद् में लिखा है कि जागरित अवस्था में नेत्र में, स्वप्न समय कण्ठ में और सुषुप्ति समय हृदय में जीव रहता है। प्रकृत मन्त्र में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को स्वप्न इस वास्ते कहा गया है कि परमार्थ ज्ञान से रहित होने के कारण अज्ञानी की जाग्रत् अवस्था भी स्वप्न के समान है, याने संसार में जो जागता है, उसका वह ज्ञानसम्बन्धी जागने की अपेक्षा सोना ही है ॥ १२ ॥

अध्यारोप को कहकर अब अपवाद कहा जाता है, यथा—

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिती ३ ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमात्मा देह में प्रविष्ट होकर अवस्थात्रय से संयुक्त हो संसारी हो गया। याने शरीर में प्रवेश करके जीवरूप से उत्पन्न हुए उस परमेश्वर ने

भूतों को तादात्म्यभाव से ग्रहण किया। फिर गुरुकृपा से बोध होने पर 'यहाँ मेरे सिवा अन्य कौन है' ऐसा कहा और 'मैंने इस अपने आत्मस्वरूप को देख लिया है' इस प्रकार उसने इस पुरुष को ही पूर्णतम ब्रह्मरूप से देखा ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—उस अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्यात्मा ने शरीर में प्रविष्ट होने पर सम्पूर्ण भूतों को 'मैं मनुष्य हूँ' 'सुखी हूँ' 'दुखी हूँ' इस प्रकार से तादात्म्य भाव से स्पष्ट जाना, और कहा कि इस शरीर में अपने से भिन्न अन्य आत्मा नहीं है। इसने उस पुरुष को ही अर्थात् अपने को ही आकाश के समान व्यापक परिपूर्ण विश्वरूप देखा और कहा कि मैंने स्वरूप का दर्शन किया है। अर्थात् 'इदम्' इस शब्द का वाच्य जो साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर्यामी ब्रह्म है, उसको अपरोक्षरूप से देखा है ॥ १३ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र के अन्त में 'इती ३' इस शब्द के अन्त में जो प्लुत उच्चारण है, वह विचार प्रदर्शित करने के लिए है। लोक में किसी बड़े कठिन काम की सिद्धि हो जाने पर पुकारकर कहने की चाल है, इसी प्रकार यहाँ भी प्लुत उच्चारण किया है ॥ १३ ॥

क्योंकि जो जीवरूप से सबके भीतर रहनेवाला है, उस ब्रह्म को 'इदम्' इस प्रकार उसने साक्षात् अपरोक्षरूप से देखा था, परोक्षरूप से नहीं—

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

भावार्थ—इस लिए परमात्मा का नाम 'इदन्द्र' हुआ, वह 'इदन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि उसका नाम इदन्द्र है, तथापि ब्रह्मज्ञ लोग उसे परोक्ष रूप से 'इन्द्र' कहकर पुकारते हैं, क्योंकि देवता लोग परोक्षप्रिय ही होते हैं, देवता परोक्षप्रिय ही होते हैं ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—"यः इदम् द्रः पश्यति" जो इस शरीर को भले प्रकार से देखता है, वह 'इदन्द्र' नाम क्षेत्रज्ञ है। उस 'इदन्द्र' नामवाले परमात्मा को ब्रह्मज्ञानी पुरुष अत्यन्त पूज्य होने के कारण और उसका प्रत्यक्ष नाम लेने के भय से व्यवहारार्थ परोक्ष 'इन्द्र' नाम से कहते हैं। क्योंकि देवता परोक्ष से प्रेम करते हैं, देवता परोक्षप्रिय ही होते हैं ॥ १४ ॥

विशेष—'परोक्षप्रिया हि देवाः' इस वाक्य को द्वितीय बार कहने का यह अभिप्राय है कि उपर्युक्त कथन सत्य है। दूसरी बात यह है कि अध्याय की समाप्ति भी हो रही है। जगत् में प्रतिष्ठित लोगों के प्रति आचार्य, गुरु, पण्डित, श्रोत्रिय, अग्निहोत्री, वाजपेयी और महाराज, साहब आदि शब्दों से व्यवहार करना अच्छा समझा जाता है। क्योंकि उन आचार्य आदि को देवदत्त, यज्ञदत्त प्रभृति नामों से पुकारना प्रिय नहीं माना जाता। इसी प्रकार यहाँ सबसे बड़े प्रतिष्ठित महान् ईश्वर का साक्षात् निज 'इदन्द्र' नाम से व्यवहार न करके उसी अर्थ का बोधन करनेवाला परोक्ष नाम 'इन्द्र' रख लिया गया। निज नाम की अपेक्षा नामान्तर ही परोक्ष होते हैं। सब नामान्तर वर्णों के परिवर्तन से होते हैं॥ १४॥

तृतीय खण्ड और प्रथम अध्याय समाप्त।



अथ द्वितीय अध्याय

इस प्रकार अध्यारोप अपवादों से निष्प्रपञ्च आत्मतत्त्व का निरूपण करके ज्ञान का हेतु जो वैराग्य है, उसकी सिद्धि के लिए 'आवसथ' शब्द से कही गयी बीभत्सरूप पूर्वोक्त जीवावस्था को कहते हैं, यथा—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्त-देतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म॥१॥

भावार्थ—सबसे पहले यह स्थूल शरीर पुरुषशरीर में गर्भरूप से स्थित रहता है, यह जो रेत-वीर्य है वह अन्नमय पिण्ड के सब अङ्गों से उत्पन्न हुआ सार है। इस आत्मरूप तेज को पुरुष अपने शरीर में ही पोषण करता है। पुरुष जब ऋतुकाल में उस वीर्य को स्त्रीरूप अग्नि में सींचता है, तब इसे गर्भावस्था में उत्पन्न करता है। यह सिंचन इसका पहला जन्म है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—दसवें द्वार को विदीर्ण करके प्रविष्ट, जीवभाव को प्राप्त आत्मा का शरीर अन्न द्वारा पिता के वीर्य में आकर स्थित होता है। यह सम्पूर्ण अङ्गों का सार है, जो इसका संरक्षण करता है वह ओजस्वी होता है। मनुष्य अपने शरीर के साररूप वीर्य को अपने में ही गर्भ की तरह धारण करता है, ऋतुकाल में

स्त्री उसको धारण करती है, कालान्तर में वह जीवान्तर विशिष्ट मनुष्यशरीर से उत्पन्न होता है। सिंचन समय में पुरुषस्थान से निकलना, यह प्रथम जन्म है ॥ १ ॥

विशेष—मनुष्य को, विशेषतः जिज्ञासु-मुमुक्षु को अपनी उत्पत्ति के तत्त्व को जानना आवश्यक है। जिसे जितना ही तत्त्वज्ञान होगा, वह उतना ही दुःखों से बचेगा। कुछ जीव सूर्य चन्द्रमा आदि लोकान्तरों से आकर पृथिवी में जन्म लेते हैं, वे वर्षादि के द्वारा पृथिवी में, वहाँ से ओषधियों में, वहाँ से अन्न रस रुधिरादि धातुओं में होते हुए पुरुषशरीर एवं वीर्य के साथ गर्भाशय में प्रवेश करके प्रकट होते हैं। इसे जानना चाहिए ॥ १ ॥

वह बाह्य वस्तु कष्टप्रद न होकर तादात्म्यभाव को प्राप्त कर लेता है, यह कहते हैं, यथा—

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति। यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार हाथ पाँव आदि अपने शरीर के अवयव होते हैं, उसी प्रकार यह वीर्य स्त्री के आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है, याने तादात्म्यभावापन्न हो जाता है। अतः वह स्त्रीशरीर को पीड़ा नहीं पहुँचाता। वह गर्भिणी पति के आत्मा को उदर में प्रविष्ट हुआ जानकर गर्भ के अनुकूल बर्ताव करती हुई उसका पालन करती है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—माता के उदर में प्राप्त हुआ जीव उसके स्तन आदिकों की तरह अङ्गभूत हो जाता है, इसी से वह माता को अन्य काँटे आदि की तरह क्लेशदायक नहीं होता। माता उसकी अनुकूल अन्न पानादि द्वारा पूरी रक्षा करती है ॥ २ ॥

विशेष—अन्य का वीर्य स्त्री को तादात्म्य होकर कष्ट नहीं पहुँचाता, यह प्रकृत मन्त्र में कहा है। किन्तु गर्भ से स्त्री को मर्मान्तक व्यथा होती देखी गयी है। इस विषय में यह कहना है कि जैसे व्रण, उदरशूल तथा शिरोव्यथा आदि स्त्री के अपने शरीर से उत्पन्न होनेवाले कष्ट होते हैं, उसी प्रकार गर्भवृद्धि तथा प्रसव आदि का क्लेश तो होता ही है। किन्तु बाण लगने से या बाल खा जाने से जैसा कष्ट होता है वैसा नहीं होता। गर्भधारण से तो स्त्रियों को हर्ष होता देखा गया है; यह उनकी तकलीफ तपस्वियों के तप करते समय की सी है ॥ २ ॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह पति के गर्भभूत आत्मा का पालन करती है, अतः वह गर्भिणी स्त्री अपने पति द्वारा पालनीया है, क्योंकि स्त्री गर्भाधान की विधि से पथ्यादि के द्वारा युक्ताहार विहार से गर्भ का पोषण करती है, अतः उस समय पति को उसकी सावधानतापूर्वक रक्षा करनी उचित है। तथा वह पिता गर्भ की उत्पत्ति से पहले, ठीक उत्पत्ति के समय और उत्पत्ति के बाद उस कुमार को जात-कर्मादि संस्कारों से संस्कृत करता है। पिता जो पुत्रों का संस्कार करता है सो इस प्रकार इन लोकों की—पुत्र पौत्रादिकों की वृद्धि से वह अपना ही संस्कार करता है। क्योंकि ये लोक इसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुए हैं। उस संसारी जीव का यह दूसरा जन्म है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस पितारूप मनुष्य को क्लेश देनेवाले वीर्यरूप पुत्र को स्त्री ने गर्भ में धारण किया है, अतः उपकार करनेवाली स्त्री का पति को भी अनेक अनुकूल वस्त्राच्छादनों द्वारा सदा पोषण करना चाहिए। पिता पुत्रोत्पत्ति से पूर्व, प्रसवकाल में तथा उसके बाद भी शास्त्रोक्त जो संस्कार करता है, वह उन संस्कारों से अपना ही पालन करता है, क्यों कि ये सब लोक इसी प्रकार पुत्रोत्पादन आदि के द्वारा रक्षित होते हैं। माता के गर्भ से बाहर निकलना, यह जीव की दूसरी अवस्था है ॥ ३ ॥

विशेष—इस मोक्षप्रकरण में पुत्रोत्पत्ति का प्रसङ्ग देखकर यह न समझ लो कि पुत्रोत्पत्ति मोक्ष का साधन है। यह तो शुभ लोकों का ही कारण है, मुक्ति का नहीं। हाँ यह बात है, पिता पुत्र का संस्कार करेगा, वह पुत्र अपने पुत्र को संस्कृत करेगा, फिर वह भी अपने पुत्र को संस्कारी बनायेगा, इस प्रकार परंपरा से सुसंस्कृत व्यक्ति सुपात्र होने के कारण ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो सकता है ॥ ३ ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते।

अथास्याऽयमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस पिता का यह पुत्ररूप आत्मा पिता के स्थान पर पुण्य कर्मों को करने के लिए घर में पिता का प्रतिनिधि होता है। इसके अनन्तर इसका यह पितृरूप आत्मा कृतकृत्य होकर बुढापे में यहाँ से चल बसता है। यहाँ से जाने के बाद ही वह कर्मफल भोगने के लिए फिर जन्म लेता है। यही इसका तीसरा जन्म है ॥ ४ ॥

त्रि० वि० भाष्य—"आत्मा वै जायते पुत्रः" इस न्याय से पिता के 'एक अपना, दूसरा पुत्र का' ये दो शरीर होते हैं। इन दोनों में नवीन, कार्यक्षम पुत्र का शरीर शुभ कर्मों के करने के लिए घर में पिता का प्रतिनिधि हो जाता है। पिता ऋणत्रय से मुक्त हो कृतार्थ होकर बुड्ढा होने से मर जाता है। मरकर फिर दूसरे शरीर में, जो माता पिता के रजोवीर्य से गर्भ में तैयार रहता है, 'तृण-जलौका' न्याय से प्रवेश कर जाता है। इस जीव का यह तीसरा जन्म है ॥ ४ ॥

विशेष—प्रकृत में जो दो जन्म कहे हैं, वे पुत्र के कहे हैं, यह तीसरा जन्म भी पुत्र का ही कहना चाहिए, पिता का नहीं। यह कहना तो ठीक है, पर पिता पुत्र के अभेद से—ऐकात्म्यविवक्षा से ऐसा कहा गया है। यहाँ तीनों जन्मों की बार बार आवृत्ति का वर्णन संसारविरक्ति सूचित करने के लिए है। देखो—पिता के शरीर में अत्यन्त अपवित्र वीर्यरूप में स्थिति, इसके बाद मूत्रेन्द्रिय से बाहर निकलना, अनन्तर मल-मूत्र से भरे माता के पेट में विष्ठाकृमि की तरह रहना और फिर योनि से बाहर निकलना; यह कितना कष्ट है? इस से बढकर और वैराग्य का कारण क्या हो सकता है? ॥ ४ ॥

पूर्वोक्त निन्दित संसार का विनाश ज्ञान बिना नहीं हो सकता, तत्त्वज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है, यह दिखाने के लिए मन्त्र का उदाहरण देते हैं—

तदुक्तमृषिणा। गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

भावार्थ—यही बात ऋषि—मन्त्र ने भी कही है,—"मैंने गर्भ में रहकर ही मन की वृत्तियों को अथवा अग्नि आदि देवताओं के जन्मों के वृत्तान्त को जान लिया था। मुझ को अनेकों लोहे के समान अभेद्य शरीररूप पुरियों ने पिंजरे में बन्द किये हुए पक्षी के समान रक्षा करके रखा था। परन्तु मैं संसाररूप फाँसी में से नीचे को देखता हुआ, अर्थात् ऊपर के लोकों के सुखों की ओर ध्यान न देकर नीचे के लोकों के कष्ट की ओर ध्यान देता हुआ आत्मज्ञान के शक्तिरूप वेग से बाज पक्षी के समान जाल काटकर निकल आया हूँ।" वामदेव ने गर्भ में रहते हुए ही ऐसा कहा था ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—वामदेवजी ने कहा था कि मैंने माता के गर्भ में रहते हुए ही यह जान लिया था कि अग्नि, वायु आदि देवताओं की उत्पत्ति परमात्मा से ही हुई है। आत्मज्ञान की उत्पत्ति से पहले मैं लोहे के पिंजरे में चोर की तरह सैकड़ों जन्मों के शरीरों में बँधा पड़ा था। पर अब मैं जाल को काटकर बाज की तरह संसार के जाल से निकल आया हूँ ॥ ५ ॥

विशेष—माता के गर्भ में जहाँ कि श्रवणादि ज्ञानसामग्री का अभाव है, वामदेव को वहाँ ज्ञान कैसे हो गया ? उत्तर यह है कि पूर्व जन्म में जो श्रवणादिक किये थे, उस सामग्री से जब प्रतिबन्धक निवृत्त हो गया तो ऋषि को ज्ञानोत्पत्ति में क्या बाधा रह जाती है ? ॥ ५ ॥

इस प्रकार आत्मज्ञान के दोषशून्य फल का बोधन करने के लिए वामदेव ने जो ज्ञानफल प्राप्त किया है, उसे दिखाते हैं, यथा—

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह वामदेव ऋषि आत्मतत्त्व को जानकर प्रारब्ध कर्म के क्षीण होने पर, याने इस देह का पतन होने पर उत्क्रमण करके परमात्मभाव को प्राप्त हो, उस स्वर्ग लोक में—जो इन्द्रियों का विषय नहीं है ऐसे स्वप्रकाश में, सब कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो गया, अमर हो गया ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—ऐसा जाननेवाला वह वामदेव ऋषि परमात्मज्ञान की शक्ति से इस शरीरबन्धन को तोड़कर परमार्थस्वरूप हो गया। अर्थात् अधोगतिरूप

संसार से निकलकर निर्मल, अजर, अमर, अनन्त, एकरस, स्व स्वरूपभूत स्वर्गलोक में आत्मज्ञान के द्वारा सकल कामनाओं को हस्तगत करके अमर हो गया ॥ ६ ॥

विशेष—'स्वर्गे लोके'—वामदेव इन्द्रियागोचर, निरतिशय ब्रह्मानन्दरूप स्व प्रकाश में, तैत्तिरीयोपनिषद् में कहे हुए सार्वभौम से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त आनन्दों को प्राप्त करके तत्त्वज्ञान के प्रभाव से देहपातानन्तर, देहान्तरसम्बन्ध के अभाव के कारण देह-प्राण-वियोगरूप मरण से रहित हो गया। 'समभवत्' 'समभवत्' यह द्विरुक्ति वामदेव के आत्मज्ञान की परिसमाप्ति दिखाने के लिए है ॥६॥

प्रथम खण्ड और द्वितीय अध्याय समाप्त।



अथ तृतीय अध्याय

श्रुति द्वारा वामदेव आदि आचार्यों की परम्परा से प्रकाशित तथा ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में अत्यन्त प्रसिद्ध, ब्रह्मविद्यारूप साधन को किये हुए, सर्वात्मभावरूप फल की प्राप्ति करनेवाले आधुनिक मुमुक्षु और ब्रह्मजिज्ञासु ब्राह्मण लोग जीवभाव-पर्यन्त, साध्य-साधनरूप अनित्य संसार से निवृत्त होने की इच्छा से परस्पर विचार करते हुए पूछते हैं—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

भावार्थ—हम 'यह आत्मा है' ऐसा कहकर जिस की उपासना करते हैं, वह कौन है? जिस इन्द्रिय के द्वारा लोग रूप को देखते हैं, जिससे सुना जाता है, जिससे सूँघा जाता है, जिससे वाक्य का उच्चारण किया जाता है, याने जिससे वाणी का विश्लेषण किया जाता है, और जिससे स्वाद बेस्वाद जाना जाता है; वह कौन सा आत्मा है? ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जो यह 'अहम् प्रत्यय' का विषय आत्मा है, जिसकी उपासना करके वामदेव ऋषि अमर हो गये, उसी आत्मा के जानने की इच्छा से कुछ दूसरे लोग परस्पर पूछते हैं—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इस श्रुति में

निरुपाधिक आत्मा का और "स एतमेव सीमानं विदार्य" इस में सोपाधिक आत्मा का श्रवण है, इनमें प्रत्यक् चेतन आत्मा कौन है, जिसकी हम उपासना करें? काष्ठादि में अग्नि की तरह अहंप्रत्ययगम्य चेतन आत्मा का सामान्य रूप तो प्रसिद्ध है, किन्तु जो विशेष रूप से आत्मा अप्रकट है, उसको कहते हैं—जैसे पात्रों के जलों में सूर्य-प्रतिबिम्ब अलग अलग प्रतीत होता है, वैसे ही बाह्य करणों—इन्द्रियों में भी चेतन का प्रतिबिम्ब पृथक् विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। जिस चक्षु इन्द्रिय से अभिव्यक्त चेतन द्वारा इन्द्रियादिसंघात का अभिमानी लौकिक पुरुष रूप को देखता है, वही चेतन आत्मा है। इसी प्रकार जिस श्रोत्रेन्द्रिय करके, जिस घ्राणेन्द्रिय करके, जिस वागिन्द्रिय करके, और जिस रसना इन्द्रिय करके अभिव्यक्त चेतन द्वारा पुरुष शब्द, गन्ध, बोल-चाल और रस का अनुभव करता है, वही चेतन आत्मा है॥ १॥

विशेष—एक ब्रह्म, दूसरा जीव, इन दोनों में से उपासना करने योग्य कौन सा है? आत्मा तो दोनों ठहरे। बिना आत्मज्ञान के कल्याण नहीं। इच्छा, द्वेष, भय, मोह, क्षुधा, तृषा, निद्रा, और मल मूत्र की पीड़ा; इन आठ दोषों से संसार व्याप्त हो रहा है, आत्मबोधशून्य पुरुष के ये अष्ट दोष अचिकित्स्य हैं। अब अति संक्षेप से उक्त आठ दोषों की व्यापकता दिखाते हैं—

१—इच्छा—सात्त्विक, राजस, तामस भेद से पुरुष तीन प्रकार के होते हैं। सात्त्विक मोक्ष की इच्छा करते हैं, राजस मोक्ष और विषय दोनों की इच्छा करते हैं, तथा तामस केवल विषयों की इच्छा करते हैं। इच्छा बिना कोई जीव नहीं है।

२—द्वेष—सात्त्विक पुरुष का विषयों से द्वेष है, राजस का शत्रुओं से, और तामस का शत्रुओं, मित्रों तथा सन्तजनों से द्वेष है। द्वेष बिना भी कोई नहीं।

३—भय—सात्त्विक पुरुष को प्रमाद से, राजस को यमराज से, तामस को राजा से तथा राजपुरुषों से भय होता है। भय से भी कोई नहीं बचा।

४—मोह—सात्त्विक मनुष्य को आत्मा का अज्ञानरूप मोह है, राजस को शास्त्र विद्या तथा आत्मा के अज्ञान का, और तामस को सर्व विषयों में अज्ञान से मोह है।

५—६—७—८—क्षुधा, तृषा, निद्रा—ये दोष सात्त्विक, राजस तथा तामस तीनों पुरुषों को समान हैं। मल-मूत्रादि पीड़ा भी सबको समान है। यह दोषाष्टक आत्मज्ञान बिना कदापि निवृत्त न होगा। इसी लिए जिज्ञासा की गयी है कि 'हम जिसकी उपासना करें, वह आत्मा कौन है?'॥ १॥

पहले जो एक ही अनेक प्रकार से विभिन्नों का कारण बतलाया गया है वह कौन है ? इस विषय में कहते हैं, यथा—

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् । संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—जो यह हृदय है, वही मन है। संज्ञान, (चैतन्यरूप) आज्ञान, (ईश्वरभाव, प्रभुता) विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति (रोगादिनिमित्तक दुःख), स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, (प्राण), काम और वश (मनोज्ञ वस्तुओं के स्पर्शादि की कामना); ये सभी प्रज्ञान के नाम हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्र में आत्मा के नामों का वर्णन किया गया है, यथा—१—हृदय में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, सगुण-निर्गुण रूप से आत्मा की उपासना भी हृदयदेश में होती है, इससे आत्मा का प्रथम नाम 'हृदय' है। २—आत्मा सब का मनन करता है, तथा मनन करके ही आत्मा का निश्चय होता है, इन दो कारणों से आत्मा का 'मन' भी नाम है। ३—अपने में कल्पित जगत् का प्रकाशक होने के कारण चेतन का 'संज्ञान' नाम है। ४—सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वायु, अग्नि, वरुण, यम और कुबेरादि सब को आज्ञा में रखने के निमित्त से आत्मा का नाम 'आज्ञान' है। ५—गीत, वाद्य और चौसठ कलाओं का ज्ञाता होने से आत्मा का नाम 'विज्ञान' पड़ गया। ६—वर्तमान पदार्थों के जानने के कारण इसका नाम 'प्रज्ञान' है। ७—ग्रन्थ के अर्थों को धारण करनेवाला होने से आत्मा 'मेधा' कहा गया। ८—घटादिकों का प्रकाशक होने से आनन्दस्वरूप आत्मा 'दृष्टि' नामवाला हो गया। ९—जिस अन्तःकरण की वृत्ति से दुःखित हुआ भी पुरुष इन्द्रियों को धारण करता है, तद्वृत्तिविशिष्ट आत्मा का नाम 'धृति' है। १०—सब प्राणियों के हृदय में स्थित होकर शुभाशुभ का ज्ञाता होने से वह 'मति' नामवाला है। ११—संकल्प-विकल्पात्मक मन को अधीन करनेवाली जो बुद्धि की वृत्ति है, तद्विशिष्ट आत्मा को 'मनीषा' कहते हैं। १२—अध्यात्मादि त्रिविधदुःखजन्य जो अन्तःकरण की वृत्ति है, उसका प्रकाशक होने से वह 'जूति' कहाया। १३—भूत पदार्थों का स्मरण करनेवाली वृत्ति के साथ मिलने से उसका 'स्मृति' नाम हो गया। १४—शुक्ल पीत रक्तादि अनेक रूपों से आत्मा ही

संकल्प करता है, अतः वह 'संकल्प' नामवाला हो गया। १५—घटादिकों के निश्चय करने से उसका 'क्रतु' नाम है। १६—अपनी समीपता से प्राणों में चेष्टा करानेवाला होने से वह 'असु' कहाया। १७—अप्राप्त विषय की तथा दुःखनिवृत्ति की इच्छा के कारण वह 'काम' नामक हो गया। १८—और मनोज्ञ वस्तुओं के सुख की अभिलाष-वृत्ति का प्रकाशक होने से उस आत्मा का 'वश' नाम पड़ गया॥ २॥

विशेष—पूर्वोक्त जितनी अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं, उनसे आत्मा भिन्न है, उक्त सब वृत्तियों में आत्मा प्रतिबिम्बित है, अतः ये सब तद्वृत्त्युपाधि द्वारा लक्षित चेतन के नाम हैं, उपाधिविनिर्मुक्त के नहीं। वस्तुतः यावत् भूतभौतिक-प्रपञ्च आत्मा से अतिरिक्त नहीं है। देवदत्त, यज्ञदत्त, घट, पट, कुड्य तथा वृक्षादि ये सभी नाम आत्मा के हैं। अन्तःकरण में साक्षीरूप से आत्मा के प्रथम निश्चय के कारण उक्त अठारह नामों का कथन किया गया है, वास्तव में सब नाम आत्मदेव के हैं॥ २॥

इस समय तत्पदार्थ के विचार में आत्मा का निर्णय दिखाते हैं—

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषी-त्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेत-राणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म॥ ३॥

भावार्थ—यह प्रज्ञानरूप आत्मा ही ब्रह्म है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही ये अग्नि आदि सारे देवता हैं। यही पञ्चभूत—पृथिवी, वायु, आकाश, जल, और तेज है, यही सर्पादिक कीड़ों सहित उनका कारण तथा अन्य अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, अश्व, गौ, मनुष्य एवं हाथी है। जो कुछ भी इन से अतिरिक्त यह जंगम—चलनेवाले, पतत्री—उड़नेवाले, तथा स्थावर—पर्वत, वृक्ष आदि प्राणिवर्ग हैं, वे सब प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान में ही स्थित हैं, याने निरुपाधिक चैतन्य में ही वर्तमान हैं। लोक प्रज्ञानेत्र है, प्रज्ञा नाम—प्रज्ञप्ति, ऐसा वह ब्रह्म ही है,

जिस से नयन किया जाय—ले जाया जाय वह नेत्र हुआ, अर्थात् प्रज्ञा-चैतन्य ही नेत्र—व्यवहार का कारण—साधन है जिसका—ऐसा लोक है। प्रज्ञा ही उसका लयस्थान है, अर्थात् प्रज्ञा जगत् का आश्रयभूत है, अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—यह आत्मदेव ही सूक्ष्म समष्टि शरीर का अभिमानी ब्रह्मारूप है, स्थूल समष्टि शरीर का अभिमानी विराट्रूप है, इस आत्मा ने ही अपने स्वरूप को प्रकट किया है, इस से यह इन्द्र है। यह आत्मा प्रजापति, अग्नि, वायु, वरुण तथा यमादि सर्वदेवरूप है। ये पंच भूत भी आत्मा से भिन्न नहीं, सर्पादि तुच्छ जीव जो दूसरे सर्पादिकों के भी कारण हैं, वे सब आत्मा से भिन्न नहीं, वे सब आत्मा ही हैं। अण्डज, पिण्डज, उद्भिज, जरायुज आदि सब ही आत्मरूप हैं। हिरण्यगर्भ से लेकर जितने स्थावर जंगम जीव हैं सब प्रज्ञानेत्र हैं, प्रज्ञा—बुद्धि-नेत्रवाले हैं। जैसे शुक्ति में रजत आरोपित है, उसी प्रकार प्रज्ञान—ब्रह्म में सब कल्पित है। यह लोक प्रज्ञानेत्र है, बुद्धिरूप प्रज्ञा—ब्रह्म चेतन जिसके व्यवहार का कारण हो ऐसा है। प्रज्ञा—ब्रह्म प्रतिष्ठा है, याने उत्पत्ति, स्थिति एवं सब के लय का स्थान चेतन ही है, चेतन से भिन्न जगत् की अपनी सत्ता कुछ भी नहीं है। बस, सब कुछ प्रज्ञानरूप ब्रह्म ही है। पहले जो यह प्रश्न किया गया था कि वह आत्मा कौन है? उसका उत्तर है कि वह आत्मा प्रज्ञानरूप है ॥ ३ ॥

विशेष—यह कहा गया कि वे सब ही आत्मरूप हैं, सब को आत्मा ने ही रचा है। किंतु उसका रचना ऐसे ही मिथ्या है, जैसे मायावी के रचे पदार्थ होते हैं। यह आत्मदेव सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से रहित है और ज्ञानरूप है, इसी से यह प्रज्ञा तथा प्रज्ञान कहा गया है। जैसे वृक्ष के सजातीय द्वितीय वृक्ष हैं, पाषाणादि विजातीय हैं, पत्र पुष्पादि स्वगत भेद हैं। एवं इसके जैसा दूसरा आत्मा न होने से सजातीय भेद नहीं है। अज्ञान, तत्कार्य उस में कल्पित हैं, इससे विजातीय भेद का अभाव है। निरवयव होने से आत्मा में स्वगत भेद भी नहीं है। प्रज्ञानरूप ब्रह्म सब में व्यापक है, इन सब लोकों का प्रज्ञानरूप ब्रह्म ही नेत्र है। जैसे चर्ममय नेत्र और इन में स्थित नेत्रेन्द्रिय से हमारा बाहर का काम चलता है, उसी प्रकार प्रज्ञानरूप नेत्र से सबका व्यवहार चल रहा है। मांसमय नेत्रगोलक तथा वहाँ स्थित इन्द्रियाँ जगत् का आश्रय नहीं हैं, और यह प्रज्ञानरूप नेत्र तो सबका आश्रय है। यह प्रज्ञानरूप नेत्र ही साक्षीरूप से मनुष्य, देव, गन्धर्व, पशु, पक्षी और वृक्षादिकों में स्थित है ॥ ३ ॥

अब ब्रह्मात्मैक्यवेत्ता को जो फल होता है, वह कहा जाता है—

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ॥ ४ ॥

इत्योम्

भावार्थ—वह वामदेव ऋषि इस प्रत्यक् चेतन रूप से ही इस लोक से उत्क्रमण कर, इन्द्रियागोचर स्वर्गलोक में सब इच्छाओं को पाकर याने इच्छित पदार्थों को प्राप्त करके अमर हो गया, अमर हो गया ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—इस प्रज्ञान को जो मनुष्य ब्रह्मरूप से जान गया, वह विद्वान् वामदेव की तरह देहादिकों में आत्माभिमान का त्याग करके सुखस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो सब कामनाओं को पा गया, याने उसे अमृतत्व की उपलब्धि हो गयी। जिसे पाकर सब कामनायें सफल हो जाती हैं, उसे पाने के बाद फिर कुछ पाना ही बाकी नहीं रह जाता। जिस प्रकार सनकादिक तथा वामदेव के उपदेश से अधिकारी-वैराग्यादि साधनसम्पन्न ऋषि ज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त हो गये, वैसे ही जो कोई भी अन्य अधिकारी वैराग्यदि साधनों द्वारा यह ज्ञान प्राप्त कर लेगा, वह विदेहमुक्ति को प्राप्त करेगा। इस में जरा भी संशय नहीं है ॥ ४ ॥

विशेष—पहले मन्त्र में जीवात्मा के साथ परमात्मा की एकता कही गयी है और इस मन्त्र में उसके फल का प्रतिपादन किया गया है। 'समभवत्' 'समभवत्' यह द्विरुक्ति अध्याय की समाप्ति की सूचिका है। उक्त आत्मतत्त्व के जिज्ञासुओं, मुमुक्षुओं तथा अन्य अधिकारियों को यह सब 'स्वीकार है' इसके बोधन के लिए, अन्त में 'ओम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा इस ग्रन्थ में जिस आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है उसे श्रोताओं के 'हुंकरण' पूर्वक दृढीकरण के लिए यह ओम् का उच्चारण है। फिर बात यह भी है कि ओम् परम मङ्गलवाचक परमात्मा का मुख्य नाम है, इसका उच्चारण ग्रन्थरूप कार्य की समाप्ति होने पर अवश्य करना चाहिए, कहा भी है—

ओङ्कारश्चाऽथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

उपनिषत्संबन्धी तृतीय अध्याय समाप्त।



अथ शान्तिपाठः

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविराविर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।



इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास जगद्गुरु महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज द्वारा विरचित विद्याविनोद नामक अष्टोपनिषद् भाष्य समाप्त हुआ ।

शुभं भूयात्



श्रीमद्गौडपादाचार्यविरचिता—

माण्डूक्यकारिका:

ब्रह्मविद्या की प्रतिपादक सभी उपनिषदों में माण्डूक्य उपनिषद् सब से अधिक निराला महत्त्व रखती है। क्योंकि इसके परिमित, कुल बारह मन्त्रों में ही प्रमेयभूत जीवब्रह्म–ऐक्य की प्रक्रिया भली प्रकार समझा दी गयी है। जब कि इतनी सी बात के लिए अन्यान्य ग्रन्थ भारी वागाडम्बर के द्वारा बड़ी कठिनता के साथ ही श्रम-पूर्वक समझे जा सकते हैं। इसीलिए भगवान् राम की हनुमानजी के प्रति यह 'मौक्तिकी' उक्ति प्रसिद्ध है कि "माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये।" माण्डूक्य-उपनिषद् की इस उत्तमता को देखकर ही अद्वैतवादी आचार्यों के परमगुरु श्री गौडपाद आचार्य ने इस पर कारिकारूप निबन्ध की रचना की है, जिससे कि अद्वैतसिद्धान्त की दृढता के साथ ही उस पर उठनेवाले संदेह और आक्षेपों का भी निराकरण हो जाय। उक्त उपनिषद् के साथ ही इन कारकाओं को पढनेकी परिपाटी है, अतः इन्हें परिशिष्टरूप में भाषाटीका सहित ग्रन्थान्त में प्रकाशित कर उक्त उपनिषद् की अङ्गविकलता की यथासाध्य पूर्ति की जा रही है।

माण्डूक्योपनिषद् के छै मन्त्रों के व्याख्यानरूप गौडपादाचार्यकृत क्रमशः नौ श्लोक या कारिका हैं। एवं सातवें मन्त्र की व्याख्यानरूप भी नौ कारिका, इसके बाद चार मन्त्रों की अर्थप्रतिपादक पाँच और बारहवें मन्त्र की अर्थप्रतिपादक एक सौ बानवे कारिकाएँ हैं। उक्त कारिकाओं में चार प्रकरण हैं, जिनमें पहले 'आगम प्रकरण' में २९ कारिका, दूसरे 'वैतथ्य प्रकरण' में ३८, तीसरे 'अद्वैत प्रकरण' में ४८ और चौथे 'अलातशान्ति प्रकरण' में १०० कारिका हैं, जो सब मिलकर २१५ होती हैं। संक्षेप में अर्थसहित कारिकाओं का क्रम निम्नलिखित है। कारिका अध्ययन करने से पहले माण्डूक्य-उपनिषद् का अनुशीलन आवश्यक है। कारिकाओं की पूर्वापर संगति का यही प्रकार है।

अथ आगमप्रकरणम्

बहिःप्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥ १ ॥

बाहर की स्थूल प्रज्ञावाला विभुरूप विश्व है, अन्तर की सूक्ष्म प्रज्ञावाला तैजस है तथा प्राज्ञ प्रज्ञानघन है। इस प्रकार एक ही पुरुष (जीवात्मा) को तीन प्रकार से कहा है ॥ १ ॥

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥ २ ॥

दक्षिण नेत्ररूप द्वार में प्रधानरूप से स्थूल विषयों के द्रष्टा विश्व की तथा मन के भीतर तैजस की, हृदयाकाश में प्राज्ञ की उपलब्धि होती है। एवं एक ही आत्मा शरीर में तीन प्रकार से व्यवस्थित है ॥ २ ॥

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥ ३ ॥

जाग्रत् अवस्था का अभिमानी विश्व स्थूल विषयों का तथा स्वप्नाभिमानी तैजस वासनामय सूक्ष्म भोगों का भोक्ता है, और सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी प्राज्ञ आनन्द को भोगनेवाला है, इस रीति से हे सोम्य ! तीन प्रकार को भोगों को जानो ॥ ३ ॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥ ४ ॥

शब्दादि स्थूल भोग विश्व को तथा वासनामय सूक्ष्म भोग तैसज को और आनन्द प्राज्ञ को तृप्त करता है। इस तरह तीन प्रकार की तृप्ति को समझो ॥ ४ ॥

त्रिषु धामसु यद् भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥ ५ ॥

हे सोम्य ! जाग्रदादि तीनों स्थानों में जो भोज्य और भोक्ता कहे गये हैं, इन दोनों को जो जानता है, वह भोगों को भोगता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता ॥ ५ ॥

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून् पुरुषः पृथक् ॥ ६ ॥

यह निश्चित बात है कि विद्यमान पदार्थों की ही उत्पत्ति होती है। प्राणरूप

पुरुष सर्व जगत् को और चेतनात्मक पुरुषचैतन्य के अंश जीवों को पृथक् पृथक् प्रकट करता है ॥ ६ ॥

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥

वेदमतावलम्बियों से अन्य जो सृष्टि के विषय में विचार करनेवाले हैं, वे लोग भगवान् की विभूति को ही जगत् में उत्पन्न मानते हैं, तथा दूसरे तत्त्ववेत्ता लोगों के द्वारा यह सृष्टि स्वप्नरूप और मायारूप बतलाई गयी है ॥ ७ ॥

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥ ८ ॥

किसी का सृष्टि के विषय में ऐसा निश्चय है कि ईश्वर की इच्छामात्र ही सृष्टि है । तथा कालचिन्तक ज्योतिषी लोग काल से ही भूतों की उत्पत्ति मानते हैं ॥ ८ ॥

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ ९ ॥

अन्य लोग 'भोगार्थ सृष्टि है' ऐसा मानते हैं और कुछ लोग 'क्रीडा के लिए है' ऐसा कहते हैं । वस्तुतः स्वयंप्रकाश परमेश्वर का यह स्वभाव ही है, क्योंकि पूर्ण-काम को कौन इच्छा ही है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥ ९ ॥

निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥ १० ॥

तुरीय आत्मा समस्त दुःखों की निवृत्ति में ईशान–प्रभु-याने समर्थ है, क्योंकि उसका विज्ञान दुःखनिवृत्ति का कारण है । वह सब पदार्थों का अद्वैतरूप है, अतएव विकार को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् स्वरूप से च्युत नहीं होता, और यह देव चौथा तथा विभु याने व्यापक माना गया है ॥ १० ॥

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्ध्यतः ॥ ११ ॥

विश्व तैजस दोनों कार्य कारण से बद्ध हैं, प्राज्ञ केवल कारणबद्ध ही है । तथा तुरीय में तो विश्व तैजस ये दोनों ही सिद्ध नहीं हैं ॥ ११ ॥

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत् सर्वदृक् सदा ॥ १२ ॥

प्राज्ञ न अपने को, न पराये को, न सत्य को, न झूठ को कुछ भी नहीं जानता, किन्तु वह तुरीय निरन्तर सबका द्रष्टा है ॥ १२ ॥

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥ १३ ॥

द्वैत का अग्रहण तो प्राज्ञ और तुरीय दोनों ही को तुल्य है, परन्तु प्राज्ञ; विश्व तैजसादिरूप द्वैत के बोध की उत्पत्ति का कारण जो तत्त्व का अबोधरूप बीजनिद्रा याने मूलाविद्या, उससे युक्त है और तुरीय में वह निद्रा नहीं है ॥ १३ ॥

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥ १४ ॥

आदि के दोनों विश्व और तैजस; रज्जु सर्पवत अध्यस्त अन्यथाग्रहण-रूप स्वप्न से तथा तत्त्व के अबोधमय अज्ञानरूप निद्रा से युक्त हैं, और प्राज्ञ तो स्वप्न रहित केवल निद्रा—अज्ञान से ही युक्त है । किन्तु निश्चित पुरुष अर्थात् तत्त्वमस्यादि महावाक्यार्थ के सम्यक्-ज्ञान से निश्चय को प्राप्त हुए ब्रह्मवेत्ता लोग तुरीय में न निद्रा ही को देखते हैं, न तो स्वप्न ही को ॥ १४ ॥

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥ १५ ॥

तत्त्व के अन्यथा ग्रहणवाले को स्वप्न होता है, तथा उसके न जाननेवाले को निद्रा होती है । और इन दोनों विपरीत ज्ञानों का क्षय हो जाने पर तुरीयपद की प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुद्ध्यते तदा ॥ १६ ॥

जब अनादि माया से सोये हुए जीव को किसी परमकारुणिक गुरु के द्वारा तत्त्वमस्यादि उपदेशों से जागरण होता है, उसी समय वह अज, अनिद्र और स्वप्न-रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥ १७ ॥

प्रपञ्च यदि विद्यमान हो तब इसकी निवृत्ति हो—इसमें सन्देह नहीं है । परन्तु वास्तविक यह प्रपञ्चरूप द्वैत तो स्वप्नवत् तथा रज्जुसर्पवत् मायामात्र है, परमार्थतः अद्वैत ही है ॥ १७ ॥

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥ १८ ॥

शास्ता, शास्त्र और शिष्य इस प्रकार का विकल्प यदि किसी से कल्पित हो तो उसकी निवृत्ति भी हो, परन्तु यह भेदवाद तो उपदेश के निमित्त ही है. परमार्थ तत्त्व के ज्ञान हो जाने पर यह उपदेष्टादि द्वैत नहीं रहता ॥ १८ ॥

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥ १९ ॥

विश्व का अकारमात्रारूपत्व कथन करने की जब इच्छा होती है तो उस समय उसके आदिपने की तुल्यता उत्कट याने प्रकट ही है । 'मात्रासम्प्रतिपत्तौ'—यह 'अत्वविवक्षायाम्' इस पद की ही व्याख्या है । अभिप्राय यह है कि जिस समय विश्व अकारमात्रारूप है, ऐसा ज्ञान होता है, उस समय व्याप्ति की समानता स्पष्ट ही दिखाई देती है ॥ १९ ॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥ २० ॥

तैजस के उकारविज्ञान में अर्थात् तैजस उकारमात्रारूप है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर उत्कर्षता स्पष्ट ही देख पड़ती है, तथा उभयत्व की समानता भी स्पष्ट ही है ॥ २० ॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥ २१ ॥

प्राज्ञ के मकारभाव में अर्थात् प्राज्ञ मकारमात्रारूप है—ऐसा ज्ञान होने पर उनके मान की समानता स्पष्ट है । प्राज्ञ मकाररूप है, ऐसा निश्चय होने पर तो लय-सामान्य भी स्पष्ट ही है ॥ २१ ॥

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥ २२ ॥

जो पुरुष जाग्रदादि तीनों स्थानों में अकारादि तीन मात्रा और विश्वादि तीन पाद, इनके अभेदभाव को निश्चयपूर्वक यथार्थ जानता है, वह विद्वान् इस लोक में समस्त प्राणियों का पूजनीय तथा वन्दनीय होता है ॥ २२ ॥

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥ २३ ॥

अकार विश्व को प्राप्त कराता है तथा उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को, किन्तु मात्रारहित ओंकार में कोई गति नहीं होती ॥ २३ ॥

ओङ्कारं पादशो विद्यात् पादा मात्रा न संशयः ।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २४ ॥

ओंकार को पादशः जाने, याने विश्वादि पाद ही मात्राएँ हैं और अकारादि मात्रा ही पाद हैं । इसमें कुछ भी संशय नहीं । इस तरह ओंकार को विश्वादि पादों के क्रम से जानकर कुछ भी चिन्तन न करे । तात्पर्य यह है कि निर्विशेष आत्मा को अनुभव करनेवाले आत्मवेत्ताओं को इस लोक में कुछ चिन्तनीय रह ही नहीं जाता ॥ २४ ॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥

ओंकार निर्भय ब्रह्म है, इसलिए ओंकार ही में चित्त को लगावे । प्रणव में नित्ययुक्त पुरुष को कहीं भी भय नहीं होता । तात्पर्य यह है कि ओंकार के निरन्तर विधि से उच्चारणरूप जप तथा पाद और मात्रा की एकता के विचार के बाद अनहदध्वनि का साधन करनेवाले पुरुष को कहीं भी भय नहीं होता ॥ २५ ॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥ २६ ॥

ओंकार ही अपर ब्रह्म है और ओंकार ही परब्रह्म भी कहा गया है, वह ओंकार अपूर्व—अकारण, अन्तर-बाह्यशून्य, अकार्य तथा विकार रहित है ॥ २६ ॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥ २७ ॥

ओंकार ही सब का आदि, मध्य तथा अन्त है, अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय प्रणव ही है । इस तरह प्रणव को जानने के बाद उस परमार्थज्ञ को आत्मभाव प्राप्त हो जाता है, क्योंकि 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' ॥ २७ ॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २८ ॥

समस्त प्राणिसमुदाय के हृदय में स्थित प्रणव को ही ईश्वर समझो । इस प्रकार हृदय में आकाशवत् महासूक्ष्म चैतन्य सर्वव्यापी ओंकार को जानकर आत्मवेत्ता पुरुष शोक नहीं करता ॥ २८ ॥

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥ २९ ॥

ओंकार मात्राहीन है, अनन्तमात्र है, द्वैत का उपशमस्थान तथा मंगलमय है। ऐसा ओंकार जिस को सम्यक् प्रकार से ज्ञात हुआ हो, वही परमार्थ तत्त्व का मनन करनेवाला मुनि है, इस से इतर जन मुनि नहीं है ॥ २९ ॥

इति आगमप्रकरणम् ।

——※※※——

अथ वैतथ्यप्रकरणम्

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥ १ ॥

देह के अन्तर्वर्ती संकुचित नाडीजाल में पर्वत हस्ती आदि भावों का होना संभव नहीं है, अतः बुद्धिमान् पुरुष स्वप्नावस्था में दृष्ट सब पदार्थों को मिथ्या कहते हैं ॥ १ ॥

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते ॥ २ ॥

काल के अल्प होने से वह शरीर से बाहर जाकर स्वप्न के पदार्थों को नहीं देखता और जागरण होने पर भी कोई पुरुष उस देश में विद्यमान नहीं रहता। इसलिए भी स्वप्नदृष्ट पदार्थ मिथ्या हैं ॥ २ ॥

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ॥ ३ ॥

स्वप्नावस्था में "रथादि नहीं है" इत्यादि श्रुति में भी स्वप्नदृष्ट रथादि का अभाव युक्तिपूर्वक सुना गया है, अतः ब्रह्मवेत्ता लोग श्रुति द्वारा प्राप्त मिथ्यात्व को ही स्वप्न में स्पष्ट बतलाते हैं ॥ ३ ॥

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥ ४ ॥

जैसे स्वप्नावस्था में दृष्टपदार्थ मिथ्या हैं वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी दृष्ट पदार्थ मिथ्या हैं। केवल शरीर के भीतर स्थित होने में ही स्वप्नदृष्ट पदार्थों का जाग्रत्दृष्ट पदार्थों से भेद है ॥ ४ ॥

स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ ५ ॥

इस प्रकार दृश्यत्व, असत्यत्वादि प्रसिद्ध हेतुओं से जाग्रत् स्वप्नादि के पदार्थों में समानता होने के कारण विवेकी पुरुष 'जाग्रत् तथा स्वप्न' इन दोनों स्थानों को एक ही बतलाते हैं ॥ ५ ॥

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ ६ ॥

जो मृगतृष्णा के समान आदि और अन्त में नहीं है वह वैसे ही वर्तमान में भी नहीं है। जैसे मृगतृष्णा असत् होकर भी सत् जैसी देख पड़ती है, वैसे ही ये सकल पदार्थ असत् के सदृश होकर भी सत् के समान देख पड़ते हैं ॥ ६ ॥

सप्रयोजनता तेषां, स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ७ ॥

जाग्रत् में जो अन्नपानादि की सप्रयोजनता देखी गयी है, स्वप्न में उससे विपरीत ही है। अतः सादि तथा सान्त होने के कारण वे निश्चय मिथ्या ही कहे गये हैं। याने जाग्रत् में जाग्रत् सत्य है और स्वप्न असत्य, स्वप्न में स्वप्न सत्य है और जाग्रत् असत्य। अतः दोनों की सत्य असत्यता सापेक्ष और व्यभिचारी होने से दोनों ही भ्रान्तिमात्र हैं ॥ ७ ॥

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम् ।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ॥ ८ ॥

जैसे इन्द्रादि देवताओं के सहस्रनेत्रत्वादि धर्म हैं, वैसे ही स्वप्न भी स्थानी स्वप्नद्रष्टा आत्मा का अपूर्व धर्म है। स्वप्नद्रष्टा स्वप्न के पदार्थों को इसी प्रकार जाकर देखता है जैसे लोक में किसी मार्गविशेष को पूछकर शिक्षित पुरुष उस मार्ग से अपने अभीष्ट लक्ष्य पर जाता हुआ उसे देखता है ॥ ८ ॥

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥ ९ ॥

स्वप्नावस्था में भी शरीर के भीतर चित्त से कल्पित वस्तु असत् तथा चित्त से बाहर चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा गृहीत सत् सा जान पड़ता है, परन्तु इन दोनों का ही मिथ्यात्व सिद्ध है ॥ ९ ॥

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥ १० ॥

इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी चित्त के भीतर कल्पित वस्तु असत् तथा चित्त से बाहर इन्द्रियों द्वारा गृहीत वस्तु सत् सा जान पड़ता है। परन्तु इन दोनों ही को मिथ्या मानना श्रेयस्कर है ॥ १० ॥

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि ।
क एतान् बुद्ध्यते भेदान् को वै तेषां विकल्पकः ॥ ११ ॥

यदि जाग्रत् स्वप्न दोनों ही स्थानों के पदार्थ मिथ्या हैं तो ये किसके द्वारा जाने जाते हैं ? और किसके द्वारा इनकी कल्पना की जाती है ? ॥ ११ ॥

कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुद्ध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ १२ ॥

आत्मारूपी देव अपनी माया से रस्सी में सर्प के समान अपने में आप ही को कल्पना करता है, उसी के द्वारा सब भेद जाने जाते हैं। यही वेदान्त का निश्चय है ॥ १२ ॥

विकरोत्यपरान् भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् ।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥ १३ ॥

प्रभु अपने चित्त में वासनारूप से स्थित लौकिक पदार्थों के नाना रूप वही करता है। तथा बहिश्चित्त होकर पृथिवी आदि नियत पदार्थों की भी कल्पना करता है॥१३॥

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ॥ १४ ॥

जिन आन्तरिक पदार्थों की कल्पना काल के समय में होती है, तथा जो बाह्य द्विकालिक पदार्थ हैं, वे सब कल्पित ही हैं । उनकी द्विकालिकत्वादि विशेषता कल्पितत्व के सिवा किसी अन्य कारण से नहीं है ॥ १४ ॥

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥ १५ ॥

जो मन के अंदर भावनारूप होने से अस्पष्ट पदार्थ हैं, और मन के बाहर जो प्रतीयमान पदार्थ स्पष्ट होते हैं, वे सब मन के स्फुरणमात्ररूप होने से कल्पित ही हैं। उनकी विशेषता केवल इन्द्रियों के भेद में है ॥ १५ ॥

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्विधान् ।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव, यथाविद्यस्तथा स्मृतिः ॥ १६ ॥

सब से पहले उस प्रभु से जीव की कल्पना की गयी, फिर अनेक तरह के बाह्य तथा आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना की गयी। वह जीव जैसा विज्ञानवाला होता है वैसा ही स्मृतिवाला होता है ॥ १६ ॥

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार अनिश्चित रज्जू अन्धकार में 'सर्प है' 'जल की धारा है' 'दण्ड है' इत्यादि प्रकारों की कल्पनाओं से कल्पित होती है, उसी तरह आत्मा भी तरह तरह की कल्पनाओं से कल्पित होता है ॥ १७ ॥

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥ १८ ॥

'यह रज्जू ही है' ऐसा रज्जू का निश्चय होने पर सर्पादि विकल्पों की निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'अद्वैत ही है' ऐसा निश्चय होने पर प्रपञ्च विकल्प की निवृत्ति हो जाती और सर्वसंसारधर्मशून्य आत्मा का निश्चय हो जाता है ॥ १८ ॥

प्राणादिभिरनन्तैस्तु भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम् ॥ १९ ॥

जो यह प्राणादि अनन्त भावों से विकल्प को प्राप्त हुआ है, यह उस देव की माया ही है, जिस से कि वह स्वयं भी मोह को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः ।
गुणा''इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः ॥ २० ॥

प्राण के उपासकों का कहना है कि प्राण ही जगत् का कारण है। प्रत्यक्षवादी चार्वाकों का कहना है कि पृथिव्यादि चार भूतों से ही जगत् की रचना है। सांख्यवादी कहते हैं कि गुण ही सृष्टि के हेतु हैं। शैवों का कथन है कि तत्त्व अर्थात् आत्मा, अविद्या और शिव ये तीन ही जगत् के प्रवर्तक हैं ॥ २० ॥

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः ।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ॥ २१ ॥

पादों के ज्ञाता कहते हैं कि विश्वादि पाद ही अखिल व्यवहार के प्रवर्तक हैं। वात्स्यायनादिक कहते हैं कि शब्दादि विषय ही परमार्थतत्त्व है। पौराणिकों की

उक्ति है कि लोक ही सत्य हैं। तथा देवतोपासकों का वक्तव्य है कि इन्द्रादि देवता ही सृष्टि की उत्पत्ति करनेवाले हैं ॥ २१ ॥

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ॥ २२ ॥

वेदवेत्ता चार वेदों ही को, यज्ञवेत्ता यज्ञों ही को, भोक्ता के ज्ञाता भोक्ता ही को आत्मा कहते हैं। सूपकार स्वाद के वश हुए भोज्य को ही परमार्थ तत्त्व कहते हैं २२

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ॥ २३ ॥

सूक्ष्म तत्त्वज्ञ आत्मा को अणुपरिमाण कहते हैं और स्थूलवादी स्थूल। साकार के उपासक परमार्थ वस्तु को मूर्तिमान् मानते हैं। शून्यवादियों के मत में वह मूर्तिरहित है ॥ २३ ॥

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥ २४ ॥

ज्योतिषी लोग काल को ही परमार्थरूप से कल्पना करते हैं। स्वरोदयशास्त्र के वेत्ता लोग 'दिशाएँ ही सत्य वस्तु हैं' ऐसा कहते हैं। वादवेत्ता कहते हैं कि धातुवाद (रसायन), मन्त्रशास्त्र आदि ही परमार्थ सत् वस्तु हैं। भुवनकोश के वेत्ताओं की कल्पना में चतुर्दश भुवन सत्य वस्तु हैं ॥ २४ ॥

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥ २५ ॥

मनवेत्ता मन ही को, बुद्धि के ज्ञाता बुद्धि ही को आत्मा मानते हैं। चित्तवेत्ता लोग चित्त ही को परमार्थ वस्तु कहते हैं। धर्म और अधर्म को जाननेवाले मीमांसक धर्माधर्म को ही परमार्थरूप कहते हैं ॥ २५ ॥

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥ २६ ॥

कुछ सांख्यवादी पचीस तत्त्वों को, पातञ्जल मत को माननेवाले छब्बीस तत्त्वों को, और पाशुपत इकतीस तत्त्वों को परमार्थ सत्य मानते हैं। तथा अन्य मतावलम्बी परमार्थ को अनन्त भेदों से युक्त बतलाते हैं ॥ २६ ॥

लोकांल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः।
स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथापरे ॥ २७ ॥

लौकिक पुरुषों के सिद्धान्त में लोकों को रंजन (प्रसन्न) करना ही परमतत्त्व है। आश्रमवादी लोग आश्रमों ही को, लिङ्गवादी शाब्दिक स्त्रीलिङ्ग, पुंल्लिङ्ग, नपुंसक लिङ्गों को, तथा दूसरे लोग पर अपर ब्रह्म को ही सत्य बतलाते हैं ॥ २७ ॥

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥ २८ ॥

सृष्टिवेत्ता सृष्टि को, लयवादी लय को, स्थितिवेत्ता स्थिति को सत्य कहते हैं। इस प्रकार उक्तानुक्त सभी वाद इस आत्मतत्त्व में निरन्तर कल्पित हैं ॥ २८ ॥

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति।
तं चावति स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ॥ २९ ॥

आचार्य शिष्य को जिस भाव का उपदेश देता है, वह उसी भाव को देखता है, वह भाव तद्रूप होकर उस व्यक्ति की रक्षा करता है। उस भाव में 'यही सत्य है' इस प्रकार का अभिनिवेश उस भाव के ग्रहण करनेवाले को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत् सोऽविशङ्कितः ॥ ३० ॥

रज्जू में सर्प के समान आत्मा में कल्पित इन प्राणादि भावों से यह आत्मा पृथक् नहीं है, तो भी अज्ञानियों द्वारा 'प्राणादि भावों से आत्मा भिन्न है' ऐसी कल्पना की गयी हैं। इस बात को जो वास्तविक रूप से जानता है वह निर्भय होकर वेदार्थ की कल्पना कर सकता है ॥ ३० ॥

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ ३१ ॥

जैसे स्वप्न, माया, गन्धर्वनगरादि असत् हैं, इस प्रपञ्च को वैसे ही विचक्षण पुरुषों ने वेदान्तों में "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतियों से रज्जुसर्पवत् असत् बतलाया है ॥ ३१ ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३२ ॥

न निरोध (प्रलय) है, न जनन है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है, परमार्थतः यही बात है ॥ ३२ ॥

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा ॥ ३३ ॥

प्राणादि असद्भावों से तथा अद्वैतरूप से यह आत्मा कल्पित हो रहा है। वे असद्भाव भी अद्वैत से ही कल्पित हैं, अतः अद्वैत भाव ही मंगलमय है ॥ ३३ ॥

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन।
न पृथङ् नापृथक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥ ३४ ॥

यह अखिल प्रपञ्च न आत्मस्वरूप से है, और न अपने ही स्वरूप से कुछ है। कोई भी पदार्थ न ब्रह्म से पृथक् है और न अपृथक् ही, ऐसा तत्त्वज्ञानियों का कहना है ॥ ३४ ॥

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥ ३५ ॥

राग, भय तथा क्रोधादि समस्त दोषरहित, सर्वदा मनन करनेवाले, वेद-पारगामी याने तत्त्वज्ञानियों द्वारा ही सर्वविकल्परहित, द्वैतरूप प्रपञ्चोपशम, अद्वय आत्मा देखा जा सकता है। अन्य तार्किकादिकों से नहीं ॥ ३५ ॥

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत् स्मृतिम्।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥ ३६ ॥

इसलिए इस आत्मतत्त्व को ऐसा जानकर अद्वैत में मन को लगावे। उस अद्वैत को जानकर याने 'मैं ही परब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान प्राप्तकर लोक में जडवत् आचरण करे ॥ ३६ ॥

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ३७ ॥

संन्यासी स्तुति नमस्कारादि और स्वधाकार (पैत्रकर्म) से रहित हो एवं गृहादि तो क्या, शरीर की भी उपेक्षा कर आत्मा में ही विश्राम करनेवाला हो जाय, तथा अनायास प्राप्त पदार्थ से ही संतुष्ट रहे ॥ ३७ ॥

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥ ३८ ॥

पुनः विवेकी पुरुष को उचित है कि आध्यात्मिक तत्त्व को जानकर तथा बाह्य तत्त्व का भी अनुभव कर ब्रह्ममय हो उसी में रमण करनेवाला हो जाय। अर्थात् बाह्यरत होकर कभी तत्त्व से च्युत न हो ॥ ३८ ॥

इति वैतथ्यप्रकरणम्।

——❀❀❀——

लौकिक पुरुषों के सिद्धान्त में लोकों को रंजन (प्रसन्न) करना ही परमतत्त्व है। आश्रमवादी लोग आश्रमों ही को, लिङ्गवादी शाब्दिक स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग, नपुंसक लिङ्गों को, तथा दूसरे लोग पर अपर ब्रह्म को ही सत्य बतलाते हैं ॥ २७ ॥

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥ २८ ॥

सृष्टिवेत्ता सृष्टि को, लयवादी लय को, स्थितिवेत्ता स्थिति को सत्य कहते हैं। इस प्रकार उक्तानुक्त सभी वाद इस आत्मतत्त्व में निरन्तर कल्पित हैं ॥ २८ ॥

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ॥ २९ ॥

आचार्य शिष्य को जिस भाव का उपदेश देता है, वह उसी भाव को देखता है, वह भाव तद्रूप होकर उस व्यक्ति की रक्षा करता है। उस भाव में 'यही सत्य है' इस प्रकार का अभिनिवेश उस भाव के ग्रहण करनेवाले को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत् सोऽविशङ्कितः ॥ ३० ॥

रज्जू में सर्प के समान आत्मा में कल्पित इन प्राणादि भावों से यह आत्मा पृथक् नहीं है, तो भी अज्ञानियों द्वारा 'प्राणादि भावों से आत्मा भिन्न है' ऐसी कल्पना की गयी है। इस बात को जो वास्तविक रूप से जानता है वह निर्भय होकर वेदार्थ की कल्पना कर सकता है ॥ ३० ॥

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ ३१ ॥

जैसे स्वप्न, माया, गन्धर्वनगरादि असत् हैं, इस प्रपञ्च को वैसे ही विचक्षण पुरुषों ने वेदान्तों में "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतियों से रज्जुसर्पवत् असत् बतलाया है ॥ ३१ ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३२ ॥

न निरोध (प्रलय) है, न जनन है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है, परमार्थतः यही बात है ॥ ३२ ॥

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः ।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद‌द्वयता शिवा ॥ ३३ ॥

प्राणादि असद्भावों से तथा अद्वैतरूप से यह आत्मा कल्पित हो रहा है। वे असद्भाव भी अद्वैत से ही कल्पित हैं, अतः अद्वैत भाव ही मंगलमय है ॥ ३३ ॥

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन।
न पृथङ् नापृथक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥ ३४ ॥

यह अखिल प्रपञ्च न आत्मस्वरूप से है, और न अपने ही स्वरूप से कुछ है। कोई भी पदार्थ न ब्रह्म से पृथक् है और न अपृथक् ही, ऐसा तत्त्वज्ञानियों का कहना है ॥ ३४ ॥

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥ ३५ ॥

राग, भय तथा क्रोधादि समस्त दोषरहित, सर्वदा मनन करनेवाले, वेद-पारगामी याने तत्त्वज्ञानियों द्वारा ही सर्वविकल्परहित, द्वैतरूप प्रपञ्चोपशम, अद्वय आत्मा देखा जा सकता है। अन्य तार्किकादिकों से नहीं ॥ ३५ ॥

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत् स्मृतिम्।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥ ३६ ॥

इसलिए इस आत्मतत्त्व को ऐसा जानकर अद्वैत में मन को लगावे। उस अद्वैत को जानकर याने 'मैं ही परब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान प्राप्तकर लोक में जडवत् आचरण करे ॥ ३६ ॥

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ३७ ॥

संन्यासी स्तुति नमस्कारादि और स्वधाकार (पैत्रकर्म) से रहित हो एवं गृहादि तो क्या, शरीर की भी उपेक्षा कर आत्मा में ही विश्राम करनेवाला हो जाय, तथा अनायास प्राप्त पदार्थ से ही संतुष्ट रहे ॥ ३७ ॥

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥ ३८ ॥

पुनः विवेकी पुरुष को उचित है कि आध्यात्मिक तत्त्व को जानकर तथा बाह्य तत्त्व का भी अनुभव कर ब्रह्ममय हो उसी में रमण करनेवाला हो जाय। अर्थात् बाह्यरत होकर कभी तत्त्व से च्युत न हो ॥ ३८ ॥

इति वैतथ्यप्रकरणम्।

अथ अद्वैतप्रकरणम्

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः॥ १॥

उपास्य-उपासकभाव का आश्रय लेनेवाला जीव कार्यब्रह्म में ही रहता है, और वह यह भी जानता है कि उत्पत्ति से पूर्व सब अज था, अतः वह कृपण याने क्षुद्र माना गया है॥ १॥

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम्।
यथा न जायते किञ्चिज्जायमानं समन्ततः॥ २॥

अतः अब मैं सब जगह समानता को प्राप्त अकृपणभाव याने अजन्मा ब्रह्म का वर्णन करता हूँ, जिससे यह ज्ञात हो जायगा कि किस प्रकार सब ओर उत्पन्न होने पर भी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ॥ २॥

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम्॥ ३॥

आकाशवत् आत्मा घटाकाशों के समान जीवरूप से कहा गया है तथा घटादि के समान देहादिसंघातरूप से भी उदित हुआ है। आत्मा की उत्पत्ति के विषय में यही दृष्टान्त है॥ ३॥

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि॥ ४॥

जैसे घटादिकों के नाश होने पर घटाकाशादि महाकाश में लीन हो जाते हैं, वैसे ही उपाधि के नाश होने पर जीव भी आत्मा में लीन हो जाते हैं॥ ४॥

यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः॥ ५॥

जैसे एक घटाकाश के रज, धूम आदि से युक्त होने पर भी सम्पूर्ण घटाकाशादि उन से युक्त नहीं होते, वैसे ही एक जीव के सुखादियुक्त होने पर भी समस्त जीव सुखादि से संयुक्त नहीं होते॥ ५॥

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥ ६॥

जिस प्रकार घट, कमण्डलु और मठादि उपाधियों के निमित्त से घट मठादि

आकाशों के रूप, कार्य तथा नामों में भेद है, परन्तु आकाश में कोई भेद नहीं। उसी प्रकार जीवों के विषय में भी निर्णय समझना चाहिए ॥ ६ ॥

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥ ७ ॥

जैसे महाकाश का घटाकाश न विकार है, न अवयव है, वैसे ही जीव भी आत्मा का विकार या अवयव नहीं है ॥ ७ ॥

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्माऽपि मलिनो मलैः ॥ ८ ॥

जैसे अविवेकी पुरुषों की दृष्टि में आकाश मेघादि मलों के कारण मलयुक्त प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियों की दृष्टि में आत्मा भी रागद्वेषादि मलों से मलिन जान पड़ता है ॥ ८ ॥

मरणे संभवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ॥ ९ ॥

यह आत्मा समस्त शरीरों में मृत्यु, जन्म, लोकान्तर गमन तथा स्थिति में भी आकाश से विलक्षण नहीं है। तात्पर्य यह है कि इन सब प्रपञ्चों में रहते हुए भी यह आकाशवत् विकाररहित और व्यापक है ॥ ९ ॥

संघाताः स्वप्नवत् सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ॥ १० ॥

देहादि अखिल संघात स्वप्नवत् आत्मा की माया से विरचित हैं। उनकी अधिकता अथवा सर्वसमानता में कोई हेतु नहीं है ॥ १० ॥

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥ ११ ॥

तैत्तिरीयोपनिषद् में जिन अन्नरसमय, प्राणमय आदि कोशों की विवेचना की है, आकाश के समान परमात्मा ही उन कोशों का आत्मा या जीवरूप से प्रकाशित किया गया है ॥ ११ ॥

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम्।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाकाशः प्रकाशितः ॥ १२ ॥

जैसे पृथिवी तथा उदर में एक आकाश प्रकाशित है, वैसे ही जिसमें

ब्रह्मविद्यासंज्ञक मधु—अमृत का ज्ञान है, उस "मधुब्राह्मण" में अध्यात्म और अधिदैवत इन दोनों स्थानों में एक ही ब्रह्म का निरूपण किया गया है ॥ १२ ॥

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥ १३ ॥

युक्ति और श्रुति से निर्णीत जीव और आत्मा के एकत्व की स्तुति व्यासादि मुनियों ने की है । एवं कुतार्किकों द्वारा कल्पित नानात्वदर्शन की उन्होंने निन्दा की है । इसलिए एकत्व ही ठीक है ॥ १३ ॥

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम् ।
भविष्यद्वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥ १४ ॥

"यतो वा इमानि०" "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि उत्पत्तिप्रतिपादक वाक्यों से जो जीव और परमात्मा का पृथक्त्व कथन किया गया है, उसे मुख्य अर्थ स्वीकार करना ठीक नहीं, वह "ओदनं पचति" के समान भविष्यद्वृत्ति से गौण अर्थ है १४

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥ १५ ॥

उपनिषदों में जो मृत्तिका, लोहखण्ड और स्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों द्वारा भिन्न भिन्न रीति से सृष्टि बतलाई गयी है, वह जीव और आत्मा के एकत्व निश्चय की उपलब्धि में उपायभूत है । वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है ॥ १५ ॥

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः ।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥ १६ ॥

हीन, मध्यम तथा उत्कृष्ट दृष्टिवाले तीन प्रकार के अधिकारी पुरुष हैं, उन पर कृपा करके हीन तथा मध्यम अधिकारी के लिए उपासना और कर्म का, और उत्तम अधिकारी के लिए ब्रह्मात्मैकत्व का उपदेश किया गया है ॥ १६ ॥

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुद्ध्यन्ते तैरयं न विरुद्ध्यते ॥ १७ ॥

अपने सिद्धान्त की रचना में कपिल, कणाद, बुद्ध और अर्हत् की दृष्टियों का अनुसरण करनेवाले द्वैतवादी लोग आग्रही होने के कारण आपस में द्वेष रखते हैं, किन्तु अद्वैतात्मदर्शन उनसे द्वेष नहीं रखता ॥ १७ ॥

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते ॥ १८ ॥

वास्तविक अद्वैत है, और द्वैत उसके कार्यरूप से वर्णित है। द्वैतवादियों के सिद्धान्त में परमार्थ और अपरमार्थ उभय रीति से द्वैत ही है, अतः उनसे इसका कोई विरोध नहीं है ॥ १८ ॥

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाऽजं कथञ्चन।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताम मृतं व्रजेत् ॥ १९ ॥

परमार्थसत् अद्वैत माया से ही भेदवान् प्रतीत होता है और किसी रीति से नहीं। यदि उसमें तत्त्वतः भेद हो तो अमृत, अज, सत्स्वरूप होकर भी आत्मा मर्त्यता को प्राप्त हो जाय ॥ १९ ॥

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ २० ॥

जो वावदूक ब्रह्मवादी लोग आत्मतत्त्व की उत्पत्ति परमार्थतः सिद्ध करना चाहते हैं, सो बिलकुल असंभव है। क्योंकि स्वभाव से ही अजात, अमृत आत्मतत्त्व किस प्रकार मरणशीलता को प्राप्त हो सकता है ॥ २० ॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ॥ २१ ॥

अमृत वस्तु कभी मरणशील नहीं हो सकती, और मरणशील का अमर होना संभव नहीं। स्वभाव की विपरीतता याने अपने स्वरूप से च्युति किसी प्रकार नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम्।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥ २२ ॥

जिस वादी के सिद्धान्त में स्वभाव से अमृत पदार्थ भी मरणशीलता को प्राप्त हो जाता है, उसके मतानुसार जन्म होने के कारण वह अमृत पदार्थ चिरस्थायी कैसे हो सकता है ? ॥ २२ ॥

भूततोऽभूततो वाऽपि सृज्यमाने समा श्रुतिः।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद् भवति नेतरत् ॥ २३ ॥

वास्तविक अथवा अवास्तविक किसी भी प्रकार की सृष्टि होने में श्रुति तो समान ही होगी। इस लिए उनमें जो निश्चित और युक्तियुक्त सिद्धान्त होगा, उसी में श्रुति का तात्पर्य हो सकता है, दूसरे में नहीं ॥ २३ ॥

नेह नानेति चाऽऽम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥ २४ ॥

यदि यथार्थ में ही सृष्टि हुई हो, तब तो नाना वस्तु सत्य ही हो जायेंगी। अतः इस द्वैतभाव के निषेध के लिए "नेह नानास्ति किञ्चन" यह श्रुति दिखलाई गयी। यह सृष्टि वास्तव में नहीं है किन्तु मया से है। इसी से श्रुति कहती है कि "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" "अजायमानो बहुधा विजायते" 'वह परमात्मा माया से ही उत्पन्न होता है' ॥ २४ ॥

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिद्ध्यते ।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिद्ध्यते ॥ २५ ॥

"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते" इस श्रुति में सम्भूति (हिरण्यगर्भ) के उपास्यत्व की निन्दा की गयी है। यदि सम्भूति परमार्थ सत्स्वरूप होती तो उसकी निन्दा सम्भव नहीं थी। तथा "इसे कौन उत्पन्न करे" इस श्रुतिवाक्य द्वारा कारण का प्रतिषेध किया गया है ॥ २५ ॥

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाऽजं प्रकाशते ॥ २६ ॥

आत्मा की दुर्बोधता माननेवाली श्रुति पुनः पुनः उपायान्तर से उसी का प्रति-पादन करने की इच्छा से, पहले जो कुछ व्याख्या की है उसकी "स एष नेति नेति" इस वाक्य से असत्यता प्रतिपादन करती है। अतः आत्मा के अग्राह्यत्व हेतु से ही अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः ।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥ २७ ॥

सत् पदार्थ की उत्पत्ति माया से ही हो सकती है, तत्त्वतः नहीं । जिसके सिद्धान्त में यथार्थतः उत्पत्ति होती है उसके मतानुसार भी जननशील पदार्थ की ही उत्पत्ति हो सकती है ॥ २७ ॥

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥ २८ ॥

असत् पदार्थ की उत्पत्ति तो माया से अथवा तत्त्वतः किसी भी रीति से होनी असंभव है। वन्ध्यापुत्र की उत्पत्ति न वस्तुतः होती है, न माया से ही ॥२८॥

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ॥ २९ ॥

जैसे स्वप्नावस्था में मन माया से ही ग्राह्य-ग्राहकत्वरूप द्वैत के आभास से स्फुरित होता है, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी माया से ही वह मन द्वैताभासरूप से स्फुरित होता है ॥ २९ ॥

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥ ३० ॥

इसमें संशय नहीं कि स्वप्नकाल में अद्वय मन ही द्वैत रूप से भासित होता है । इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी निःसन्देह अद्वय मन ही द्वैतरूप से भास रहा है ॥ ३० ॥

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित् सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ३१ ॥

यह जो कुछ चर और अचर द्वैत दिखाई देता है, वह सब मन का ही दृश्य है । क्योंकि मन के अमनीभाव, निरोध अर्थात् अभ्यास वैराग्य द्वारा रज्जू के समान संकल्पशून्य हो जाने पर द्वैत की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ३१ ॥

आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥ ३२ ॥

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" जब इस श्रुति से आत्म-सत्य का बोध होने पर मन किसी संकल्प को नहीं करता, तब वह अमनीभाव को प्राप्त हो जाता है । उस समय ग्राह्य वस्तु का अभाव हो जाने से वह ग्रहण विकल्प-शून्य हो जाता है ॥ ३२ ॥

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुद्ध्यते ॥ ३३ ॥

सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित अतएव अजन्मा ज्ञान को विवेकी लोग ज्ञेय ब्रह्म-स्वरूप कहते हैं । ब्रह्मविषयक ज्ञान अज तथा नित्य है, उस अजज्ञान से अजन्मा आत्मतत्त्व अपने आप ही जाना जाता है ॥ ३३ ॥

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥ ३४ ॥

निगृहीत, सब प्रकार की कल्पनाओं से रहित तथा विवेकयुक्त चित्त का जो

(समाधिदशा में) व्यापार है; वह योगियों को विशेषरूप से जानना चाहिए। समाधि अवस्था के व्यापार से सुषुप्ति अवस्था का व्यापार दूसरा ही (शिथिल ज्ञान-मूलक) है ॥ ३४ ॥

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥ ३५ ॥

सुषुप्तिकाल में मन का अविद्या में लय हो जाता है, और निरुद्ध होने पर उसमें लय नहीं होता । क्योंकि उस समय तो चारों ओर से चित्प्रकाशमय निर्भय ब्रह्म की ही सत्ता रहती है ॥ ३५ ॥

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथञ्चन ॥ ३६ ॥

वह ब्रह्म अजन्मा, अज्ञानरूप निद्रा से शून्य, स्वप्नशून्य, नाम रूप से रहित, नित्यप्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ है । उसमें किसी प्रकार का कर्तव्य शेष नहीं रहता है ।

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥ ३७ ॥

वह ब्रह्म सब प्रकार के शब्दोच्चारण से प्रकट नहीं किया जा सकता, वह सब प्रकार के अन्तःकरण के व्यापार से ऊपर, असीमशान्त, नित्यप्रकाश, समाधिस्वरूप अचल तथा अभय है ॥ ३७ ॥

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥ ३८ ॥

उसमें किसी तरह का चिन्तन नहीं है, किसी प्रकार का उपादान और त्याग भी नहीं है । उस समय विषय का अभाव होने के कारण आत्मा में ही स्थित ज्ञान अग्नि की उष्णता के समान स्वसदृशरहित और समता को प्राप्त हो जाता है ॥३८॥

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ ३९ ॥

सम्बन्धरूप सभी स्पर्शों से रहित होने के कारण यह उपनिषदों में 'अस्पर्श योग' नाम से स्मरण किया गया है । यह सभी योगियों को कठिनता से दिखाई देता है । इस अभयपद में भयदर्शी अविवेकी योगी लोग इससे भय मानते हैं ॥ ३९ ॥

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥ ४० ॥

निर्भयता, दुःखनाश, ज्ञान और क्षयशून्य शान्ति ये सब योगियों के मन के निरोध के ही अधीन है ॥ ४० ॥

उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः ॥ ४१ ॥

यदि जैसे कुशा के अग्रभाग से एक एक बूँद द्वारा समुद्र का जल सुखाया जा सकता है, तो वैसे ही बिना कष्ट उठाये मन का निग्रह भी हो सकता है, याने मनोनिग्रह धैर्य रखने और कष्ट उठाये बिना असंभव है ॥ ४१ ॥

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥ ४२ ॥

काम्य तथा भोगरूप विषयों में विक्षिप्त चित्त का उपाय से आत्मा में निरोध करे। और सुषुप्ति अवस्था में भी आयासरहित स्थिति को प्राप्त हुए चित्त का निग्रह करे। क्योंकि बिना निग्रह के तो जैसा काम है वैसी ही लयावस्था भी है ॥ ४२ ॥

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ ४३ ॥

अविद्या से प्रतीत होनेवाला अखिल प्रपञ्च दुःखरूप है, ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए कामनाजनित भोगों से चित्त को निवृत्त करे। इस प्रकार 'यह सब अजन्मा ब्रह्म ही है' ऐसा निरन्तर स्मरण करता हुआ वह उससे विपरीत द्वैतजात को नहीं देखता है ॥ ४३ ॥

लयं संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः ।
सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार ज्ञान और वैराग्य इन दोनों उपायों से सुषुप्ति में लीन हुए चित्त को आत्मविवेकदर्शन में लगावे। तथा कामना और भोगों में विक्षिप्त हुए चित्त को पुनः शान्त करे। यदि इन दोनों की मध्यावस्था में चित्त रहे तो उसे रागयुक्त समझे। उस अवस्था से भी उसे उपायपूर्वक साम्यावस्था में स्थित करे। जिस समय वह साम्यावस्थाप्राप्ति के अभिमुख हो उस समय उसे विचलित न करे, याने विषयाभिमुख न करे ॥ ४४ ॥

नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात् प्रयत्नतः ॥ ४५ ॥

उस साम्यावस्था में प्राप्त सुख का आस्वादन न करे, प्रत्युत विचारशीला बुद्धि

के द्वारा उस से निःस्पृह रहे। फिर जब सुखराग से निवृत्त होकर निश्चलस्वभाव हुआ चित्त बाहर निकलने लगे तो उसे प्रयत्नपूर्वक आत्मा में एकाग्र करे ॥ ४५ ॥

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥ ४६ ॥

जिस समय सुषुप्ति में चित्त का लय न हो तथा उसकी विषयों में विक्षिप्ति भी न हो और वायुशून्य स्थान में रखे हुए दीपक के समान निश्चल तथा अनायास, अर्थात् किसी भी कल्पित विषयभाव से चित्त प्रकाशित न हो, उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है ॥ ४६ ॥

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ॥ ४७ ॥

उस अवस्था में जो आत्मसत्यबोधरूप परमार्थसुख का अनुभव होता है, उसे ब्रह्मवेत्ता लोग स्वस्थ (अपने आत्मा में ही स्थित), शान्त (सब प्रकार के अनर्थ से निवृत्त), सनिर्वाण (कैवल्य के सहित), अवर्णनीय, निरतिशय सुखस्वरूप, अजन्मा ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न तथा सर्वज्ञ अवस्था बतलाते हैं ॥ ४७ ॥

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ ४८ ॥

किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। जिस निरतिशय सुखस्वरूप अज ब्रह्म में कोई उत्पन्न नहीं होता, वही सर्वोत्तम सत्य है ॥ ४८ ॥

इति अद्वैतप्रकरणम्।

———❀❀❀———

अथ अलातशान्तिप्रकरणम्

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥ १ ॥

ज्ञेय से अभिन्न, आकाशतुल्य ज्ञान के द्वारा आकाशसदृश जीवों को जिसने जान लिया है, ऐसे पुरुषोत्तम भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

समस्त प्राणियों के लिए सुखदायक, हितकारी, विवादशून्य और अविरोधी जो अस्पर्शयोग है, जिस का शास्त्रों ने उपदेश किया है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ ।२।

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ॥ ३ ॥

कुछ सांख्यमतावलम्बी द्वैतवादी वस्तु की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। दूसरे बुद्धिशाली नैयायिक वैशेषिक परस्पर विवाद करते हुए अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं ॥ ३ ॥

भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते ।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥ ४ ॥

किसी का कथन है कि सद्वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती और किसी का कहना है कि असद् वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती । इस प्रकार विवाद करनेवाले ये द्वैतवादी अजातवाद को ही स्पष्ट करते हैं। (श्लोक में 'द्वैतवादियों को ही व्यंग्य से अद्वैतवादी कहा है) ॥ ४ ॥

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥ ५ ॥

उन द्वैतवादियों से स्पष्ट अजातवाद का हम भी समर्थन करते हैं। हम उन के साथ विवाद नहीं करते । अतः हे शिष्य ! तुम लोग भी विवादरहित परमार्थ-दर्शन को अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ ६ ॥

वादी लोग अजात पदार्थ की उत्पत्ति मानते हैं। किन्तु जो पदार्थ अवश्य ही अजात और अमृत है, वह मर्त्यभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ ६ ॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद्भविष्यति ॥ ७ ॥

अमृत पदार्थ कभी मरणशील नहीं हो सकता, और मरणशील अमृत नहीं हो सकता । क्योंकि प्रकृति का भाव अन्यथा किसी तरह नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥ ८ ॥

जिसके सिद्धान्त में प्रकृति से ही अमृतधर्म मर्त्यभाव को प्राप्त हो जाता है, उसके मतानुसार उत्पत्ति होने के कारण वह अमृत पदार्थ चिरस्थायी कैसे हो सकेगा ? ॥ ८ ॥

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥ ९ ॥

योगसिद्धिजन्या सांसिद्धिकी प्रकृति, अग्नि आदि की दहनरूप स्वाभाविकी प्रकृति, पक्षी आदि में जन्म से ही उत्पन्न उडनारूप सहजा प्रकृति, किसी के द्वारा सम्पादन न की हुई जलों की प्रवाहरूपा अकृता प्रकृति, जो कभी अपने स्वभाव का परित्याग न करती हो वह, ऐसी ये सब प्रकृति हैं । ऐसा जानना चाहिए ॥ ९ ॥

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ॥ १० ॥

सब जीव प्रकृति से ही जरा मरणादि विकारों से रहित हैं । उनके जरा मरण को माननेवाले लोग जरा मरण की चिन्ता से अपने स्वभाव से विचलित हो जाते हैं ॥ १० ॥

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।
जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ॥ ११ ॥

सांख्यमतावलम्बी के सिद्धान्त में कारण ही कार्य है, उसके मुताबिक कारण की ही उत्पत्ति होती है । जन्म लेनेवाला जन्मरहित कैसे है ? और वह भिन्न (विदीर्ण) होता है तो नित्य कैसे है ? ॥ ११ ॥

कारणाद्यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि ।
जायमानाद्धि वै कार्यात् कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥ १२ ॥

यदि कारण से कार्य अन्य नहीं है, तब तुम्हारे मत में कार्य भी अज सिद्ध हुआ । यदि ऐसी बात है तो उत्पत्तिमत् कार्य से अनन्य होने पर कारण की निश्चलता किस प्रकार सिद्ध है ? ॥ १२ ॥

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥ १३ ॥

जिस के सिद्धान्त में अज पदार्थ से ही कार्य उत्पन्न होता है तो निश्चय है कि इसका कोई दृष्टान्त उसके पास नहीं है । और जात वस्तु से कार्योत्पत्ति स्वीकार की जाय तो कोई व्यवस्था ही नहीं बनती, अनवस्था दोष आ जाता है ॥ १३ ॥

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ॥ १४ ॥

जिन वादियों के सिद्धान्त में धर्मादि का आदि कारण देहादिसंघातरूप फल तथा देहादिसंघातरूप फल का आदि कारण धर्माधर्मादि है, उन वादियों के द्वारा हेतु और फल का अनादित्व प्रतिपादन किस प्रकार किया जाता है ? ॥ १४ ॥

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ॥ १५ ॥

जिनके सिद्धान्त में हेतु का कारण फल, तथा फल का कारण हेतु है, उनका माना हुआ जन्म ऐसा ही है जैसे पुत्र से पिता की उत्पत्ति होना ॥ १५ ॥

संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया ।
युगपत्संभवे यस्मादसंबन्धो विषाणवत् ॥ १६ ॥

तुम्हें हेतु तथा फल की उत्पत्ति में क्रम स्वीकार करना उचित है । अन्यथा दोनों के साथ साथ उत्पन्न होने में दायें बायें सींगों के समान परस्पर कार्यकारणरूप सम्बन्ध ही स्थापित नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिद्ध्यति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ॥ १७ ॥

तुम्हारे सिद्धान्त में यदि फल से हेतु की उत्पत्ति होती है तो उसका हेतुरूप से सिद्ध ही होना असम्भव है । और असिद्ध हेतु से फल की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।
कतरत् पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥ १८ ॥

यदि हेतु की फल से सिद्धि तथा फल की हेतु से सिद्धि मानते हो तो यह बतलाओ कि इन दोनों में पहले कौन हुआ ? जिसकी पूर्व सिद्धि की अपेक्षा से पीछे होनेवाले की सिद्धि स्वीकार की जाय ॥ १८ ॥

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथ वा पुनः ।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ॥ १९ ॥

यह असामर्थ्य तुम्हारे तत्त्व के अविवेक से है, नहीं तो तुम जो कार्य कारण का पौर्वापर्यरूप क्रम कहते हो उसका अन्यथाभाव हो जायगा। इस प्रकार हेतु फल का कार्यकारणभाव असम्भव होने से बुद्धिमानों ने समस्त पदार्थों की अनुत्पत्ति ही प्रकाशित की है ॥ १९ ॥

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः।
न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥ २० ॥

यदि कहो कि बीजाङ्कुर नाम का दृष्टान्त है तो यह भी ठीक नहीं। वह तो हमेशा साध्य के ही सामान है, और साध्य के सदृश हेतु साध्य की सिद्धि में उपयोगी नहीं होता ॥ २० ॥

पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम्।
जायमानाद्धि वै धर्मात् कथं पूर्वं न गृह्यते ॥ २१ ॥

पौर्वापर्य का अज्ञान अनुत्पत्ति का ही प्रकाशक है, क्योंकि यदि वस्तुतः कार्य की उत्पत्ति हुई होती तो उसके कारण का ग्रहण क्यों नहीं होता ? ॥ २१ ॥

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥ २२ ॥

स्वतः अथवा परतः किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सत्, असत् अथवा सदसत्, ऐसी किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ २२ ॥

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥ २३ ॥

आदिरहित फल से किसी भी हेतु की उत्पत्ति नहीं हो सकती और अनादि हेतु से फल भी उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि जिस पदार्थ का कोई कारण नहीं, उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती ॥ २३ ॥

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥ २४ ॥

प्रज्ञप्ति याने शब्द स्पर्शादि को सनिमित्त अर्थात् बाह्य विषयों से युक्त स्वीकार करना उचित है। अन्यथा द्वैत के नाश की प्रसक्ति हो जायगी। इसके अलावा वह्निदाहादि क्लेश की उपलब्धि से भी अन्य मतावलम्बियों के शास्त्र द्वारा कथित द्वैत की सत्ता स्वीकार की गयी है ॥ २४ ॥

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात्।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त युक्तिदर्शन से तुम प्रज्ञप्ति की सविषयता को स्वीकार करते हो, किन्तु वास्तविक दृष्टि से हम उस विषय की अविषयता को मानते हैं ॥ २५ ॥

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक्। २६ ॥

चित्त किसी वस्तु का स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार न किसी अर्थाभास ही का ग्रहण करता है। क्योंकि वस्तु है ही नहीं, अतः वस्तु का आभास भी उस चित्त से अलग नहीं है ॥ २६ ॥

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों अवस्थाओं में चित्त कभी किसी विषय को स्पर्श नहीं करता। पुनः उसे निमित्त के बिना ही विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है ? २७

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥ २८ ॥

अतः चित्त की भी उत्पत्ति नहीं होती और न चित्त के दृश्य की ही उत्पत्ति होती है। जो उसका जन्म देखते हैं, वे अवश्य ही गगन में पक्षी आदि का चरण-चिह्न देखते हैं ॥ २८ ॥

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति ॥ २९ ॥

क्योंकि अज चित्त की ही उत्पत्ति होती है, अतः अजाति ही उसकी प्रकृति है, और प्रकृति का विपरीतपना किसी प्रकार नहीं होगा ॥ २९ ॥

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥ ३० ॥

अतीतकोटि से रहित संसार का अन्तवत्त्व युक्ति से सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार विज्ञानप्राप्ति के समय होनेवाले आदिमान् मोक्ष की अनन्तता भी नहीं होगी ।३०।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ ३१ ॥

जो मृगतृष्णा के समान आदि तथा अन्त में नहीं है, उसी प्रकार वह वर्तमान में भी नहीं है। जैसे मृगतृष्णा असत् होकर भी सत् देख पड़ती है, वैसे ही ये पदार्थसमूह असत् के सदृश होकर भी सत् के समान देख पड़ते हैं ॥ ३१ ॥

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ३२ ॥

जाग्रत् में जाग्रत् सत्य और स्वप्न असत्य है तथा स्वप्न में स्वप्न सत्य और जाग्रत् असत्य है। अतः इन दोनों की सत्यता तथा असत्यता सापेक्ष और व्यभिचारी है, इस से दोनों ही असत्य भ्रान्तिमात्र हैं ॥ ३२ ॥

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात् ।
संवृतेऽस्मिन् प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥ ३३ ॥

जब कि देह के अन्दर दृष्ट होने के कारण स्वप्नावस्था के पदार्थ मिथ्या हैं, तो इस संकुचित स्थान में अर्थात् निरवकाश ब्रह्म में पदार्थों का दर्शन कैसे हो सकता है ?

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद् गतौ ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते ॥ ३४ ॥

अन्य देश के जाने में जो समय लगता है, स्वप्नावस्था में उस काल का अनियम होने से स्वप्न की वस्तुओं को उनके पास जाकर देखना असंभव है । जागरण होने पर भी कोई उस स्वप्नदृष्ट देश में नहीं रहता ॥ ३४ ॥

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते ।
गृहीतं चापि यत्किञ्चित् प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥ ३५ ॥

स्वप्नावस्था में सुहृद् इत्यादि के साथ वह स्वप्नदर्शी पुरुष जिन विचारों को करता है, जागने पर उन्हें नहीं पाता । तथा स्वप्नावस्था में जो कुछ मिलता है जागने पर उसकी उपलब्धि नहीं होती ॥ ३५ ॥

स्वप्ने चावस्तु कः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥ ३६ ॥

स्वप्न में जो शरीर है वह भी अपदार्थ है, क्योंकि उससे पृथक् एक दूसरा शरीर देखा जाता है । जैसा वह शरीर है वैसा ही अखिल चित्त दृश्य अपदार्थ रूप है । ३६

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते ।
तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ॥ ३७ ॥

जाग्रत् के समान ही ग्राह्य ग्राहकत्व रूप से स्वप्न का ग्रहण होता है । अतः जाग्रत् स्वप्नावस्था का कारण है । किन्तु जाग्रत् का कार्य होने के कारण उस स्वप्न-द्रष्टा के ही लिए जाग्रत् अवस्था सत्य है ॥ ३७ ॥

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् ।
न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्ति कथञ्चन ॥ ३८ ॥

उत्पत्ति के अप्रसिद्ध होने से सब कुछ अज ही कहा जाता है । इसके सिवा किसी प्रकार सत् से असत् की उत्पत्ति हो भी नहीं सकती ॥ ३८ ॥

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥ ३९ ॥

मनुष्य जाग्रत् में जिन असद् वस्तुओं को देखता है उन्हीं का संस्कार उसके हृदय में हो जाता है, जिससे स्वप्न में भी उन्हें देखता है। स्वप्नावस्था में असद् वस्तुओं को ही देखता है, परन्तु जागने पर उन्हें नहीं देखता ॥ ३९ ॥

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा ।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत् कुतः ॥ ४० ॥

न तो असत् वस्तु ही असत् हेतुवाली है, और न सत् वस्तु ही असत् हेतु-वाली है। इसी प्रकार सत् वस्तु भी सत् कारणवाली नहीं है। फिर असत् वस्तु ही सत् हेतुवाली कैसे हो सकती है ? ॥ ४० ॥

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान् भूतवत् स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्तत्रैव पश्यति ॥ ४१ ॥

जैसे मनुष्य अविवेक के कारण जाग्रत् काल की मिथ्या वस्तुओं को परमार्थवत् स्पर्श करता हुआ सा कल्पना करता है, वैसे ही स्वप्न में भी अविवेकवश स्वप्न की वस्तुओं को उसी काल में देखता है ॥ ४१ ॥

उपलम्भात् समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ॥ ४२ ॥

पदार्थों की उपलब्धि से और वर्णाश्रमादि धर्मों के सम्यक् आचरण से जो वस्तुओं के अस्तित्व को मानते हैं और उनकी नई उत्पत्ति से डरते हैं, अद्वैतवादी विद्वानों ने उन्हीं के लिए जाति याने जगत् की उत्पत्ति का उपदेश दिया है ॥ ४२ ॥

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये ।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥ ४३ ॥

जो लोग इस प्रकार वस्तुओं की उपलब्धि और वर्णाश्रमादि आचारों के कारण अज पदार्थों से भय माननेवाले हैं, उन सन्मार्गावलम्बी पुरुषों को जाति की उप-लब्धि के कारण होनेवाले दोष नहीं होंगे। क्योंकि वे विवेकमार्ग में प्रवृत्त हैं, और यदि कुछ दोष होगा भी तो वह अल्प ही होगा ॥ ४३ ॥

उपलम्भात् समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।
उपलम्भात् समाचरादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥ ४४ ॥

उपलब्धि और आचरण के कारण जैसे मायाकल्पित हाथी को 'हाथी है' ऐसा कहा जाता है, ऐसे ही उपलब्धि और आचरण के कारण भेदरूप द्वैत पदार्थ है, ऐसा कहा जाता है। किन्तु उपलब्धि और आचरण द्वैतप्रपञ्च के सद्भाव में हेतु नहीं है ४४

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥ ४५ ॥

जो कुछ जाति के सदृश प्रतीत होनेवाला, चल के सदृश प्रतीत होनेवाला और वस्तु के सदृश प्रतीत होनेवाला है, वह परमार्थतः अज, अचल और अपदार्थ-रूप शान्त एवं अद्वय विज्ञान ही है ॥ ४५ ॥

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः ।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ॥ ४६ ॥

ऊपर कहे हुए कारणों से चित्त की उत्पत्ति नहीं होती । इसी से ब्रह्मवेत्ताओं ने धर्म यानी आत्मा को अज माना है । ऐसा जाननेवाले बाह्य एषणाओं से मुक्त हो फिर अविद्यारूप अन्धकार के समुद्र में नहीं गिरते हैं ॥ ४६ ॥

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा ।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥ ४७ ॥

जैसे अलात याने उल्का का घूमना ही सीधे-टेढ़े आदि रूपों में प्रतीत होता है, वैसे ही इन्द्रिय और विषयरूप से विज्ञान का अविद्या के कारण ही स्पन्दन असम्भव है।

अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥ ४८ ॥

जैसे स्पन्दन से रहित अलात आभासशून्य तथा अज है, वैसे ही अविद्या से स्पन्दनयुक्त होनेवाला विज्ञान अविद्या की निवृत्ति होने पर जाति आदि रूपं से स्पन्दित न होकर आभासशून्य अज और अचल है ॥ ४८ ॥

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥ ४९ ॥

अलात के स्पन्दनयुक्त होने पर वे सीधे टेढे आदि आभास अन्यत्र से आकर अलात में उपस्थित नहीं हो जाते, तथा स्पन्दनरहित अलात से वे कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते, और न उस निस्पन्द अलात में ही प्रवेश कर जाते हैं ॥ ४९ ॥

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥ ५० ॥

उनमें द्रव्यत्व का योग नहीं होता, अतः वे घर आदि से निकलने के समान अलात से भी नहीं निकलते ऐसे ही आभासत्व में कुछ विशेषता न होने से विज्ञान में प्रतीत होनेवाले जात्यादि आभास में भी समझना चाहिए ॥ ५० ॥

निज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतो भुवः।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥ ५१ ॥

विज्ञान के स्पन्दनयुक्त होने पर उसमें प्रतीत होनेवाले आभास कहीं अन्यत्र से आकर विज्ञान में उपस्थित नहीं हो जाते। तथा स्पन्दरहित उस विज्ञान से वे कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते, और न उस निस्पन्द विज्ञान में ही प्रवेश कर जाते हैं।

न निर्गतास्ते विज्ञानाद् द्रव्यत्वाभावयोगतः।
कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ॥ ५२ ॥

द्रव्यत्व के अभाव का योग होने से वे विज्ञान से भी नहीं निकले, क्योंकि अभावरूप होने के कारण जन्य-जनकत्व की अनुपपत्ति होने से वे सदा ही अनिर्वचनीय हैं ॥ ५२ ॥

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥ ५३ ॥

द्रव्य का हेतु द्रव्य ही हो सकता है और वह भी अन्य द्रव्य का अन्य ही द्रव्य हेतु होना चाहिए। परन्तु आत्माओं का द्रव्यत्व अथवा अन्यत्व किसी भी प्रकार संभव नहीं है ॥ ५३ ॥

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वाऽपि न धर्मजम्।
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार न चित्त से बाह्य पदार्थों की उत्पत्ति हुई है, न बाह्य पदार्थों से चित्त की ही उत्पत्ति हुई है। इसलिए ब्रह्मवेत्ता लोग कार्य कारण की अनुत्पत्ति ही निश्चित करते हैं ॥ ५४ ॥

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ ५५ ॥

जब तक हेतु और फल का आत्मा में आरोपित करना है तभी तक हेतु और फल उत्पन्न भी होते हैं। उनका आवेश नष्ट हो जाने पर पुनः हेतु और फलरूप संसार उत्पन्न नहीं होता ॥ ५५ ॥

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

जब तक हेतु और फल का आग्रह है तब तक संसार विस्तृत है। हेतु और फल का आवेश क्षीण होने पर विद्वान् संसार को प्राप्त नहीं होता ॥ ५६ ॥

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै ।
सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥ ५७ ॥

अविद्याविषयक लौकिक व्यवहार से संपूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतः उस अविद्या के अधिकार में कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। वास्तविक दृष्टि से तो सब कुछ अज ही है, अतः किसी का विनाश भी नहीं होता ॥ ५७ ॥

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥ ५८ ॥

जीव उत्पन्न होते हैं, यह बात जो कही गई है सो ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुतः जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। उनका जन्म केवल माया के समान है, और वह माया भी परमार्थ में नहीं है ॥ ५८ ॥

यथा मायामयाद्बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः ।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ॥ ५९ ॥

जैसे मायामय बीज से मायामय अङ्कुर की उत्पत्ति होती है, वह न नित्य होता है और न नश्वर ही। ऐसी ही युक्ति धर्मों के विषय में भी समझनी चाहिए ॥५९॥

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥ ६० ॥

इन समस्त आत्माओं में नित्य अनित्य नामों की प्रवृत्ति नहीं। जिनका वर्णन करने के लिए शब्द भी प्रवृत्त नहीं होते हैं, उनमें नित्य-अनित्य-विवेक भी नहीं कहा जा सकता ॥ ६० ॥

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥ ६१ ॥

जैसे स्वप्न में द्वयाभास चित्त माया से चलता है, वैसे ही जाग्रत् में भी द्वयाभास चित्त माया से ही चलता है, अर्थात् स्फुरित होता है ॥ ६१ ॥

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥ ६२ ॥

जैसे स्वप्न में अद्वैतचित्त ही निःसंदेह द्वैतरूप से भासित होता है, ऐसे ही जाग्रत् में भी अद्वय मन ही द्वैतरूप से भासित होता है, इस कथन में कोई संशय नहीं है ६२

स्वप्नदृक् प्रचरन् स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान् स्वेदजान् वाऽपि जीवान् पश्यति यान् सदा ॥६३॥

स्वप्नद्रष्टा स्वप्नस्थानों में घूमता हुआ दशों दिशाओं में स्थित जिन स्वेदज अथवा अण्डज प्राणियों को सदा देखता है (वे वस्तुतः उस से भिन्न नहीं होते) ।६३।

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥ ६४ ॥

जो स्वप्न देखनेवाला है, उसके जो चित्तदृश्य हैं वे उससे भिन्न नहीं होते। ऐसे ही उस स्वप्नद्रष्टा का यह चित्त भी उसी का दृश्य है, अतः वह भी उससे भिन्न नहीं।

चरञ्जागरिते जाग्रद् दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान् स्वेदजान् वापि जीवान् पश्यति यान् सदा ॥ ६५ ॥

जाग्रत् अवस्था का साक्षी जाग्रत् काल में घूमते घूमते दशों दिशाओं में स्थित जिन अण्डज अथवा स्वेदज जीवों को सदा देखता है, ॥ ६५ ॥

जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥ ६६ ॥

वे जाग्रत् चित्त के दृश्य उस से भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार वह जाग्रत् चित्त भी जाग्रत् द्रष्टा का दृश्य है, अतः वह भी उस से भिन्न नहीं है ॥ ६६ ॥

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति नोच्यते ।
लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते ॥ ६७ ॥

जीवादि विषय की अपेक्षा से चित्त, और चित्त की अपेक्षा से जीवादि ये एक दूसरे के दृश्य हैं। वे हैं क्या वस्तु, सो नहीं कहा जा सकता। वे दोनों प्रमाण-रहित हैं, और केवल तच्चित्तता के कारण ही ग्रहण किये जाते हैं ॥ ६७ ॥

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६८ ॥

जैसे स्वप्न के जीव की उत्पत्ति होती है और मरण होता है, वैसे ही सब जीवों की उत्पत्ति और मरण होता है ॥ ६८ ॥

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६९ ॥

जैसे मायामय जीव की उत्पत्ति होती है और मरण होता है, वैसे ही सब जीवों के उत्पत्ति मरण होते हैं ॥ ६९ ॥

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि वा ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ७० ॥

जैसे मन्त्रादि से विरचित जीव उत्पन्न होता है और मरता है, वैसे ही संत्र जीव उत्पन्न होते और मरते हैं ॥ ७० ॥

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥ ७१ ॥

वस्तुतः किसी जीव की उत्पत्ति नहीं होती, उसकी उत्पत्ति की संभावना ही नहीं है। उत्तम सत्य वह है जिस में किसी पदार्थ का जन्म ही नहीं हो ॥ ७१ ॥

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद् द्वयम् ।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ ७२ ॥

विषय और इन्द्रियों से युक्त सम्पूर्ण द्वैत चित्त का ही स्फुरण है, परन्तु चित्त विषयशून्य है अतएव उसे नित्य असंग कहा गया है ॥ ७२ ॥

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।
परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥ ७३ ॥

जो वस्तु कल्पित व्यवहार का हेतु होती है वह वस्तुतः नहीं होती । यदि परमतावलम्बियों के तन्त्रों की परिभाषा के अनुसार हो भी, तो वह वस्तुतः नहीं हो सकती।

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः ।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ॥ ७४ ॥

शास्त्रादि कल्पित व्यवहार के कारण ही उसे 'अज' ऐसा कहा जाता है। परमार्थतः तो वह अज भी नहीं है। पर-मतों से सिद्ध भ्रमजनित व्यवहार के अनुसार ही वह उत्पन्न होता है। अतः उसका निषेध करने के लिए ही उसे 'अज' कहा है।७४।

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते ॥ ७५ ॥

लोगों को असत्यभूत द्वैत में केवल आग्रहमात्र है। परमार्थ में द्वैत है ही नहीं। अतः जिसका मिथ्या द्वैतविषयक आग्रह निवृत्त हो गया है, उसका फिर जन्म नहीं होता ॥ ७५ ॥

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान् ।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥ ७६ ॥

जिस समय चित्त उत्तम, मध्यम, अधम कारणों को प्राप्त नहीं करता, उस समय उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती। क्योंकि कारण का अभाव होने पर फिर कार्य कहाँ हो सकता है ॥ ७६ ॥

अनिमित्तस्य चित्तस्य याऽनुत्पत्तिः समाऽद्वया ।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार निमित्तशून्य चित्त का जो मोक्षसंज्ञक उत्पत्त्यभाव है, वह सर्वदा निर्विशेष और अद्वितीय है। वह मोक्षसंज्ञक अनुत्पत्ति पहले से ही अनुत्पन्न और अद्वय चित्त की होती है, क्योंकि बोध से पहले भी वह द्वैत और जन्म चित्त का ही दृश्य था ॥ ७७ ॥

बुद्ध्वाऽनिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन् ।
वीतशोकं तथाऽकाममभयं पदमश्नुते ॥ ७८ ॥

अनिमित्तता को ही परमार्थरूप जानकर और किसी अन्य धर्मादि कारण को न पाकर विद्वान् कामना एवं शोकादि से रहित अविद्याशून्य निर्भय याने मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है ॥ ७८ ॥

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते ।
वस्त्वभावं स बुद्ध्वैव निःसङ्गं विनिवर्तते ॥ ७९ ॥

अविद्याजनित असत्याभिनिवेश के कारण ही चित्त तदनुरूप विषयों में प्रवृत्त होता है। जब द्वैतवस्तु का अभाव जान लेता है, तब मिथ्या अभिनिवेशजनित विषय से निरपेक्ष हो लौट आता है ॥ ७९ ॥

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥ ८० ॥

उस समय द्वैत से निवृत्त और विषयान्तर में अप्रवृत्त चित्त की निश्चला—ब्रह्मस्वरूपा स्थिति रहती है। वह परमार्थदर्शी ज्ञानियों का ही विषय है, अतः परमसाम्य, निर्विशेष, अज और अद्वय है ॥ ८० ॥

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुः स्वभावतः ॥ ८१ ॥

वह अज, अनिद्र, अस्वप्न तथा स्वयंप्रकाश है। यह आत्मा नामक धर्म वस्तुस्वभाव से ही सदा भासमान है ॥ ८१ ॥

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा ।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥ ८२ ॥

जो द्वैत वस्तु का अभिनिवेश है उससे वह भगवान् बिना आयास के ही आच्छादित हो जाता है, और सदा बड़ी कठिनाई से प्रकट होता है ॥ ८२ ॥

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥ ८३ ॥

कोई वादी कहता है—आत्मा है। दूसरा वैनाशिक कहता है—नहीं है। तीसरा अर्धवैनाशिक कहता है—है भी और नहीं भी है, तथा अत्यन्तशून्यवादी का कथन है कि नहीं है-नहीं है। इनमें अस्तिभाव चल है, और नास्तिभाव स्थिर है। इस प्रकार क्रमशः चल, स्थिर उभयरूप और अभावरूप कोटियों से विवेकहीन भगवान् को आच्छादित ही करते हैं ॥ ८३ ॥

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥ ८४ ॥

जिनके आग्रह से आत्मा निरन्तर ही आवृत रहता है, वे ये चार ही कोटियाँ हैं। इन से असंस्पृष्ट भगवान् को जिसने देखा है, वही सर्वज्ञ याने परमार्थ को जाननेवाला है ॥ ८४ ॥

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम् ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥ ८५ ॥

इस समस्त सर्वज्ञता तथा आदि, मध्य, अन्त से शून्य अद्वय ब्राह्मण्यपद को लाभकर भी क्या वह ज्ञानी पुरुष पुनः किसी चेष्टा को करता है ? अर्थात् नहीं करता ॥ ८५ ॥

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्छमं व्रजेत् ॥ ८६ ॥

उन ब्राह्मणों का विनय क्या है ? ऐसी जिज्ञासा का उत्तर है कि 'आत्मस्वरूप में स्थित रहना' यही उनका स्वाभाविक शम है। तथा स्वभाव से ही वे जितेन्द्रिय हैं, अतः उनका दम भी यही है। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुष स्वाभाविकी उपशान्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ ८६ ॥

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते ।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ॥ ८७ ॥

व्यावहारिक सत् वस्तु सहित तथा उपलब्धि सहित ग्राह्यग्रहणरूप द्वैत लौकिक याने जाग्रत् कहलाता है। वस्तुशून्य, सोपलम्भ, स्थूल से भिन्न लौकिक यानी स्वप्नावस्था है ॥ ८७ ॥

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ॥ ८८ ॥

वस्तु और उपलब्धि, दोनों से शून्य अवस्था लोकोत्तर सुषुप्ति कही गयी है। इस प्रकार निरन्तर ही ज्ञान, ज्ञेय तथा परमार्थसत्य तुरीय स्वरूप विज्ञेय का विद्वानों से निरूपण किया गया है ॥ ८८ ॥

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम्।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ॥ ८९ ॥

लौकिकादि विषयक ज्ञान तथा लौकिकादि विषयक ज्ञेयरूप तुरीय को जान लेने पर इस लोक में उस महाबुद्धिमान् को सर्वज्ञता की उपलब्धि हो जाती है ॥८९॥

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ॥ ९० ॥

जाग्रदादि हेय, ब्रह्मरूप ज्ञेय, पाण्डित्यादि प्राप्तव्य और रागादि प्रशमनीय; ये सब से पहले जानने योग्य हैं। इनमें से ज्ञेय ब्रह्म परमार्थतत्त्व है और शेष तीनों अविद्याकल्पित हैं ॥ ९० ॥

प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किञ्चन ॥ ९१ ॥

समस्त जीवों को प्रकृति से ही आकाश के तुल्य और आदिशून्य यानी नित्य जानना चाहिए। उनका कहीं कुछ भी अर्थात् अणुमात्र भी नानात्व नहीं है ॥ ९१ ॥

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ९२ ॥

अखिल आत्मा प्रकृति से ही नित्य, ज्ञानस्वरूप और निश्चित स्वरूप हैं। जिसको अपने में ऐसी शान्ति है, वह पुरुष मोक्ष के लिए समर्थ हो जाता है ॥ ९२ ॥

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः।
सर्वे धर्माः समाऽभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ॥ ९३ ॥

सब जीव सर्वदा ही शान्त स्वरूप, अज, स्वभाव से ही अत्यन्त उपरत, सम तथा अभिन्न हैं। क्योंकि आत्मतत्त्व अजन्मा, समतारूप और विशुद्ध है, उसकी शान्ति अथवा मोक्ष बनता नहीं है ॥ ९३ ॥

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥ ९४ ॥

जो लोग सदा भेद में ही विचरण करनेवाले हैं निश्चय ही उनकी विशुद्धि नहीं होती। द्वैतवादी लोगों की प्रवृत्ति भेद की ओर होती है अतः वे दीन कहे गये हैं ॥९४॥

अजे साम्ये तु ये केचिद् भविष्यन्ति सुनिश्चिताः।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥ ९५ ॥

जो अजन्मा, समताक्रूप, परमार्थतत्त्व में पूर्णतया निश्चित हैं, वे ही लोक में निरतिशय तत्त्वविषयक ज्ञानवाले हैं। उस तत्त्व का अवगाहन करने की शक्ति सामान्य लोगों में नहीं होती ॥ ९५ ॥

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते।
यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ ९६ ॥

जन्मशून्य आत्माओं में स्थित अज नित्यज्ञान कहा गया है, जो कि अन्य विषयों में मिलनेवाला नहीं। कारण यह है कि वह ज्ञान अन्य विषयों में प्रविष्ट ही नहीं होता, अतः उसे असंग कहा गया है ॥ ९६ ॥

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः ॥ ९७ ॥

अन्य वादियों के सिद्धान्तानुसार अणुमात्र भी वैधर्म्य होने पर अज्ञानी पुरुषों की असंगता कभी हो नहीं सकती, पुनः उसकी आवरणच्युति अर्थात् बन्धनाश के विषय में तो कहना ही क्या है ॥ ९७ ॥

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुद्ध्यन्त इति नायकाः ॥ ९८ ॥

सम्पूर्ण आत्मा अविद्यादि बन्धनरहित, प्रकृति से ही निर्मल, नित्यबुद्ध तथा मुक्त हैं। तो भी बोधशक्तिवाले लोग उनके विषय में 'जाने जाते हैं' इस प्रकार कहते हैं ॥ ९८ ॥

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम् ॥ ९९ ॥

आकाशसदृश पूज्यवान् अथवा प्रज्ञावान् परमार्थदर्शी का ज्ञान विषयों में प्रविष्ट नहीं होता, और न सम्पूर्ण आत्मा ही कहीं जाते हैं। यह बात बुद्धदेव ने नहीं कही, बल्कि यह औपनिषद सिद्धान्त है ॥ ९९ ॥

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम्।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथा बलम् ॥ १०० ॥

अस्ति नास्ति आदि चारों कोटियों रहित होने के कारण दुर्विज्ञेय, अतएव मन्दबुद्धियों के लिए दुष्प्रवेश्य तथा अजन्मा, निर्विशेष और विशुद्ध पद को भेदशून्य जानकर हम उसे यथाशक्ति नमस्कार करते हैं ॥ १०० ॥

इति अलातशान्तिप्रकरणम्।

इति श्रीमद्गौडपादाचार्यविरचिता माण्डूक्यकारिकाः।

अध्यात्मरामायण (विशेषाङ्क)

गीताधर्म के नौवें दशवें बारहवें वर्षों के विशेषाङ्करूप में यह ग्रन्थ तीन खण्डों में अब तक प्रकाशित हो चुका है।

रामायण की कथाओं के सहारे परब्रह्म परमात्मा श्री राम के आध्यात्मिक स्वरूप को प्रकट करनेवाली यही एकमात्र रामायण है, जो कि श्री वेदव्यास द्वारा ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत रची गई है। वाल्मीकीय रामायण, वासिष्ठ रामायण आदि की अपेक्षा इस अध्यात्मरामायण का अधिक वैशिष्ट्य देखकर ही श्री तुलसीदासजी ने अपनी रामायण में इस का प्रायः अनुसरण किया है।

जीव, जगत्, माया, अविद्या, ईश्वर, ब्रह्म, सृष्टिप्रक्रिया, चित्जडग्रन्थि, भक्ति, ज्ञान, क्रियायोग, इन सभी विषयों को इस ग्रन्थ में श्री रामकथा के सहारे सरलता से समझाया गया है। सुप्रसिद्ध 'गीतागौरव भाष्य' की शैली पर प्रासंगिक दृष्टान्त और उपदेशों के साथ सरल व्याख्या है। दो भागों की द्वितीय आवृत्ति भी हो चुकी है।

गीता के प्रमेयविषय इस में विस्तारपूर्वक समझाये गये हैं, वेदान्त के गहन विषयों का स्पष्टीकरण बहुत ही सरल हुआ है। अब थोड़ी सी प्रतियाँ और बची हैं, इस लिए मँगाने में शीघ्रता करनी चाहिए।

पक्की जिल्द, रंगीन सादे डेढ सौ चित्र, प्रायः पाँच सौ से उपरांत पृष्ठ समेत, प्रत्येक भाग का मूल्य (डाक खर्च सहित) ... ५) पांच रु०।

व्यवस्थापक—

गीताधर्मकार्यालय, काशी।

